परमपूज्य आचार्य श्री १०८ श्री महावीरकीर्तिजी महाराज

जन्म
वि० स० १९६७

मुनि दीक्षा
वि० स० १९९९

नाम वृन्दादेवी था। ये पद्मावती पुरवाल जाति के प्रसिद्धकुल महाराजा खानदान के थे। आपके माता पिता वडी धार्मिक प्रवृत्ति के थे। धार्मिक कामो मे उनकी बहुत रुचि थी। अतिथि–सत्कार करने मे सदैव तत्पर रहते थे। इनके पिताजी एक कुशल व्यापारी थे। उसीसे वे अपने परिवार का पालन पोपण करते थे।

आचार्य महाराज अपने माता पिता के तृतीय सुयोग्य पुत्र थे। जिनका पूर्व नाम महेन्द्रकुमार था। इनके चार भाई हुए जिनमे कन्हैयालाल और धर्मेन्द्रनाथ वडे हैं और सन्तकुमार तथा राजकुमार उपनाम विलासराय छोटे है। ये सभी अपना अलग अलग व्यवसाय करते हैं। इनमे श्री कन्हैयालालजी और सन्तकुमारजी तो अच्छे व्यापारी हैं तथा धर्मेन्द्रनाथजी तथा राजकुमारजी दोनो कुशल चिकित्सक है।

इन पाच भाइयो मे केवल महेन्द्रकुमारजी ही 'होनहार विरवान के होत चीकने पात' के अनुसार एक ऐसे नर रत्न निकले जिनने अपने आदर्श त्याग और तपस्यामय जीवन से सारे विश्व मे एक महान लोकोत्तर अवस्था प्राप्त की है। भगवान महावीर की तरह इनने अपना महावीरकीर्ति नाम सार्थक कर दिखाया है।

श्री महेन्द्रकुमार की प्रारभिक शिक्षा फिरोजावाद के एक स्कूल मे हुई। दस वर्ष की अवस्था मे स्नेहमयी माता का देहान्त हो गया। उसके वाद आपका मन विषण्ण हो गया और यही से ससार की असारता को लक्ष्य मे लेकर आपके मन मे विरक्ति के भाव जाग्रत हुए तथा आत्म-कल्याण करने के लिये आपने पहले जैनधर्म के शास्त्रो का विशेप ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक समझा और इसीलिए दि० जैन महाविद्यालय व्यावर, सरसेठ हुकमचन्द महाविद्यालय इन्दौर एव अन्य सस्कृत महाविद्यालय मे जाकर वहा पर आपने अनेक विपयो पर शास्त्री कक्षा तक ज्ञान प्राप्त किया। आपकी बुद्धि तीक्ष्ण और प्रतिभायुक्त होने से आपने शीघ्र ही अनेक विपयो का सहज मे ज्ञान प्राप्त कर लिया। न्याय-तीर्थ, आयुर्वेदाचार्य आदि की परीक्षाए देकर उनमे आप उत्तीर्ण हुए। सस्कृत, व्याकरण, साहित्य, न्याय सिद्धान्त आदि अनेक विपयो का गहन अध्ययन कर आपने अच्छी योग्यता हासिल कर ली थी। साथ-साथ आपने अनेक भाषाओ का ज्ञान भी अच्छा प्राप्त कर लिया था।

शिक्षा प्राप्त करते-करते आप युवावस्था को प्राप्त हो गये। इस अवस्था मे सहज ही मनुष्य के मन मे कामवासना और भोगविलास की प्रवृत्ति तीव्र हो उठती है और उसको परितृप्त करने के लिये तथा गृहस्थ जीवन मे प्रवेश करने के लिए मनुष्य उद्यत हो जाता है। परिवार के लोग भी मनुष्य को इसी ससार चक्र मे फसाने के लिये आतुर हो जाते हैं। श्री महेन्द्रकुमार को परिवार के लोगो ने भी ऐसा ही करने को कहा। किन्तु महेन्द्रकुमार का मन अपनी स्नेहमयी माता के वियोग [illegible] इस असार ससार से उदासीन हो गया था, धर्म शिक्षा के सस्कारो ने इस उदा-

सीनता को विरक्ति मे परिवर्तित कर दिया और उन्होने अपने परिवार के लोगो द्वारा रखे गये विवाह के प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। उन्होने इस उभरती जवानी मे ही आजन्म अखण्ड ब्रह्मचर्य से रहने का व्रत ग्रहण कर लिया।

सोलह वर्ष की अवस्था मे ही आपने श्रावक धर्म का निर्दोष आचरण करना प्रारम्भ कर दिया तथा कठोर व्रतो का पालन करने लगे और तपस्या के वल से पापो का नाश करने लगे।

असार ससार, शरीर और भोग से आपकी निर्मोह वृत्ति दिन पर दिन वढने लगी और वीस वर्ष की अवस्था मे ही आपने परमपूज्य महान् तपस्वी, परम निर्भीक, प्रखर प्रभावी वक्ता १०५ आचार्यकल्प श्री चन्द्रसागरजी महाराज के साथ सप्तम प्रतिमा ब्रह्मचर्य रूप से रह कर आपने परम-पूज्य आचार्य १०८ वीरसागर महाराज से वि० सं० १९९४ मे टाकाटूका (मेवाड) मे क्षुल्लक दीक्षा ग्रहण की। अव आप सारा समय ज्ञान प्राप्ति मे लगाने लगे। इस कारण क्षयोपशम विशेष वढ गया। चार पाच वर्ष तक आप क्षुल्लक रूप मे रह कर वत्तीस वर्ष की अवस्था मे पूज्य १०८ आचार्य श्री आदिसागरजी महाराज से सर्वसग परित्याग कर दिगम्वर जैनेन्द्री दीक्षा धारण की। आपका दीक्षान्त नाम महावीर कीर्ति रखा गया। आप वास्तव मे महावीर ही थे।

वीतराग मार्ग के अनुसार व्रत अनुसरण करने मे और कठोर तपस्या करने मे आप सदैव निर्भीक और कठोर रहते थे आगम के प्रकाश मे आप अपनी दिगम्वर जैन साधु चर्या निर्दोषता के साथ पालन करते थे। आप सिंहवृत्ति के आदर्श एव महान तपस्वी थे।

दिगम्वर साधु अवस्था धारण कर कुछ वर्ष तक आप दक्षिण प्रान्त मे विहार कर धर्म का उद्योत करते रहे। इनके दीक्षा गुरु पूज्य १०८ आदिसागरजी महाराज ने सल्लेखना पूर्वक वीर मरण किया। तव उसके पहले अपने सघ मे आचाराग के अनुसार आपने विशिष्ट योग्यता को धारण करने वाले विद्वान तपस्वी पूज्य १०८ महावीरकीर्त्ति को अपने आचार्य पट्ट पर आसीन किया। आचार्य होकर आप वहुत योग्यता पूर्वक चतुर्विध सघ का सचालन करने लगे। वास्तव मे परम पूज्य आचार्य १०८ महावीरकीर्त्तिजी मे आचार्य पद के अनुसार सव गुण प्रकाशमान थे। आप महाव्रतो का आचरण निर्दोषता से पालन करते थे तथा आप शास्त्र पारगत महान विद्वान थे। आप अनेक भाषाओ के ज्ञाता थे। कठोर तपस्या कर कर्म निर्जरा करते थे। आप मे अपूर्व क्षमा शक्ति थी आप निर्भय होकर महाव्रतो का आचरण कर दिगम्वर जैन धर्म की महान प्रभावना करते थे।

आपने अपने चतुर्विध सघ के साथ भारत के प्राय. सभी देशो मे जैसे दक्षिण महाराष्ट्र, गुजरात, राजस्थान, मालवा, मध्य प्रदेश, उडीसा, उत्तर प्रदेश, वगाल, विहार आदि मे विहार कर

दिगम्बर जैन धर्म का प्रचार किया। समाज को त्याग और सयम की तरफ प्रवृत्त किया तथा अनेको को मुनि, आर्यिका, ऐलक, क्षुल्लक, ब्रह्मचारी आदि की दीक्षा देकर आत्म-कल्याण मे लगाया। पूज्य आचार्य श्री की वाणी मे भारी प्रभाव था। जिसके कारण उनके धर्म उपदेश को लोग जल्दी हृदयगम कर लेते थे।

पूज्य आचार्यश्री महान उपसर्ग विजयी और निर्मोही साधु रत्न थे। आप अपने शरीर से भी नि.स्पृह रहते थे। कठिन से कठिन प्राण घातक उपसर्ग होने पर भी आपने अपने शरीर की जरा भी परवाह नही की। उपसर्ग और परिषहो को सहन करने मे आप हिमालय की तरह अडिग थे।

एक वार जव आप राजस्थान मे भ्रमण कर रहे थे तव एक किसी गुन्डे ने धर्म द्वेष से और दुष्टता से पीठ पीछे से वहुत जोर से लाठी का प्रहार किया। इस भयकर प्रहार से आचार्य श्री की पीठ सूज गयी और वहा पर एक वहुत वडा घाव हो गया। इस घाव से वहुत भारी वेदना होती थी परन्तु आचार्य श्री ने वहुत शान्ति पूर्वक उस वेदना को सहन कर लिया। पुलिस मारनेवाले अपराधी को पकड कर जव पूछताछ करने लगी तथा उसको महाराज के पास लाया गया तो पूज्य महाराज ने करुणा कर उसे क्षमा कर दिया। तथापि कोर्ट ने उस अपराधी को छह माह की जेल की सजा दी। महाराज श्री को जव यह मालूम पडा तो उनको वहुत भारी दु ख हुआ।

इस घटना से पूज्य आचार्यश्री की क्षमाशीलता, साहस और समता का वड़ा भारी अद्भुत परिचय मिलता है। ऐसे उपसर्ग इनके जीवन मे अनेको वार आए। इसी धैर्य और साहस के साथ आपने उन्हे सहन किया है।

इसी प्रकार उपसर्ग आप पर तव हुआ जव आप वडवानी सिद्ध क्षेत्र पर ध्यान मे मग्न थे। पर्वत के ऊपरी भाग मे मधु मक्खियो का एक वहुत वडा छत्ता था। किसी दुष्ट मनुष्य ने छत्ते पर एक पत्थर मारा। आचार्य श्री के ध्यान मे विघ्न डालने के लिए पत्थर लगा कर स्वय तो भाग गया, लेकिन सब मधु मक्खिया उडी और वे महाराज के शरीर से चिपट गयी और आचार्य श्री को काटने लगी। महाराज श्री का शरीर लोहू लुहान हो गया और भयकर रूप से सूज गया। फिर भी आचार्य श्री ध्यान से बिल्कुल डिगे नही। भयकर पीडा को सहज भाव से सहन किया। जरा भी विचलित [illegible] तथा मुह से उफ तक नही निकला। लोग एक मधुमक्खी के काटने से आसमान को नीचे [illegible] देते है। पर जहा सैकडो मधु मक्खियो ने मिलकर काटा और उनके शरीर पर चिपटी रही उस समय उनको कितनी भयकर पीडा तथा दु ख हुआ होगा ? यह सहज ही जाना जा सकता है। जब भक्तो को इस महान उपसर्ग का पता चला वे महाराज के पास गये तथा महाराज श्री का उप-

रूप चारित्र देकर उनके मानव जीवन का सुधार किया है। वास्तव मे सच्ची आध्यात्मिक शिक्षा का प्रसार और प्रचार ऐसे सर्व सग परित्यक्त साधु सतो से ही होता है।

पूज्य आचार्य महावीरकीर्तिजी महाराज एक आदर्श साधु रत्न थे। शरीर से पूर्ण निःस्पृह रहकर आप सदैव ज्ञान और ध्यान मे अनुरक्त रहते थे। दिन मे केवल चार घन्टा बोलते थे। शेष समय हमेशा मौन रखते थे।

ख्याति लाभ पूजा जैसी अनुचित प्रवृत्तियो से सदैव दूर रहते थे। क्षमा और शान्ति की रम मूर्ति थे, करुणा के सागर थे, सिद्ध क्षेत्र वदना के भक्त शिरोमणि थे, रत्नत्रय धर्म की महान् भूति थे और सच्चे आध्यात्मिक महात्मा सद्गुरु थे। परम पूज्य आचार्य श्री की श्रेष्ठ निर्दोष पस्या का यह प्रभाव है कि आपका जहाँ जहाँ विहार होता था वहाँ किसी प्रकार का सकट, भिक्ष आदि नही होता था तथा धर्म की महान प्रभावना और प्रचार होता था।

पूज्य श्री के गुण अपरिमित हैं। उनका कहाँ तक कोई वर्णन कर सकता है कि उन जैसे रम दिगम्बर वीतराग साधु रत्न ऐसे कठिन दुर्धर समय मे विद्यमान हुए हैं।

नादगाँव (नासिक)
विजया दशमी
वीर निर्वाण सम्वत्
२४९६

आचार्य चरण सेवी :
तेजपाल काला, साहित्यभूषण,
सह-सम्पादक जैन दर्शन तथा
सं० मत्री भा. शान्तिवीर दि० जैन सिद्धांत सरक्षिणी सभा

पंरण

श्रद्धेय स्याद्वाद वारिधि, वादिगजकेशरी, न्यायवाचस्पति

श्रीमान् पं० गोपालदासजी वरैया

गुरुवर !

जैन समाज मे तो आप सर्वमान्य मुकुट थे ही, पर अन्य विद्वत्समाज मे भी आपका प्रतिभामय प्रखर पाण्डित्य प्रख्यात था। आपके उद्देश्य बहुत उदार थे, परन्तु सामयिक प्रगतिके समान धार्मिक सीमाके कभी बाहर न हुए। जैसे अकिंचिनताने आपका साथ नही छोडा वैसे ही स्वावलम्बन और निरीहता का साथ आपने भी कभी नही छोडा।

ऐसे समयमे जब कि उच्चतम कोटिके सिद्धान्त ग्रथो के पठन पाठनका मार्ग रुका हुआ था, आपने अपने असीम पौरुषसे उन ग्रथोके मर्मी १५-२० गण्यमान्य विद्वान् तैयार कर दिये, इतना ही नही, किन्तु न्याय सिद्धान्त विज्ञताका प्रवाह बराबर चलता रहे इसके लिये मोरेनामे एक विशाल जैन सिद्धान्त महा विद्यालय भी स्थापित कर दिया, जिससे कि प्रतिवर्ष सिद्धान्तवेत्ता विद्वान् निकलते रहते हैं। जैनधर्मकी वास्तविक उन्नति का मूल कारण यह आपकी कृति जैन समाज के हृदय मन्दिर पर सदा अकित रहेगी।

पञ्चाध्यायी एक अपूर्व सिद्धान्त ग्रन्थ होने पर भी बहुत कालसे लुप्त प्राय था, आपने ही अपने शिष्यो को पढाकर इसका प्रसार किया। कभी २ इसके आधार पर अनेक तात्विक-गम्भीर भाषणो मे श्रोतृ समाजको भी इस ग्रन्थके अमृतमय रससे तृप्त किया है।

पूज्यवर ! आपके प्रसाद से उपलब्ध हुए इस ग्रन्थकी यह टीका आज आपके ही कर कमलोमे टीकाकार द्वारा सादर-सप्रेम-सविनय सर्मपित की जाती है।

यदि आपके समक्ष ही इसके समर्पणका सौभाग्य मुझे प्राप्त होता तो आपको भी इस बालकृतिसे सन्तोष होता और मुझे आपकी हार्दिक समालोचनासे विशेष अनुभव तथा परम हर्ष होता, परन्तु लिखते हुए हृदय विदीर्ण होता है कि इस अनुवादकी समाप्ति के पहले ही आप स्वर्गीय रत्न बन गये। आपके इस असमय स्वर्गारोहणसे प्रतीत होता है कि आपको अपनी निष्काम कृतिका फल देखना अभीष्ट नही था। अन्यथा कुछ काल और ठहरकर आप अपने शिष्यवर्गका अनुभव बढाते हुए उसकी कार्य परिणति से निज कृतिकी सफलता पर सन्तुष्ट होते।

आपका प्रिय शिष्य—

मक्खनलाल शास्त्री

सिद्धान्तवेत्ता, विद्वानों का सृजन करने वाले
सिद्धान्त शास्त्र पंचाध्यायी के प्रथम अध्यापन और प्रचारकर्ता
सिद्धान्त मर्मज्ञ महा विद्वान्

स्याद्वाद वारिधि, वादिगज केसरी, न्याय वाचस्पति
स्व० श्रीमान् पं० गोपालदासजी सा० वरैया
मोरेना

सुधर्मध्यान प्रदीप, सुधर्म श्रावकाचार, जिन चतुर्विशतिका आदि
गभीर महान् सस्कृत शास्त्रो के रचयिता तथा परमपूज्य
आचार्य शातिसागरजी सघस्थ मुनिराजो को
सस्कृत का अध्ययन कराने वाले

सुधर्मध्यान प्रदीप, सुधर्म श्रावकाचार, जिन चतुर्विंशतिका आदि
गंभीर महान् संस्कृत शास्त्रों के रचयिता तथा परमपूज्य
आचार्य शान्तिसागरजी संघस्थ मुनिराजों को
संस्कृत का अध्ययन कराने वाले
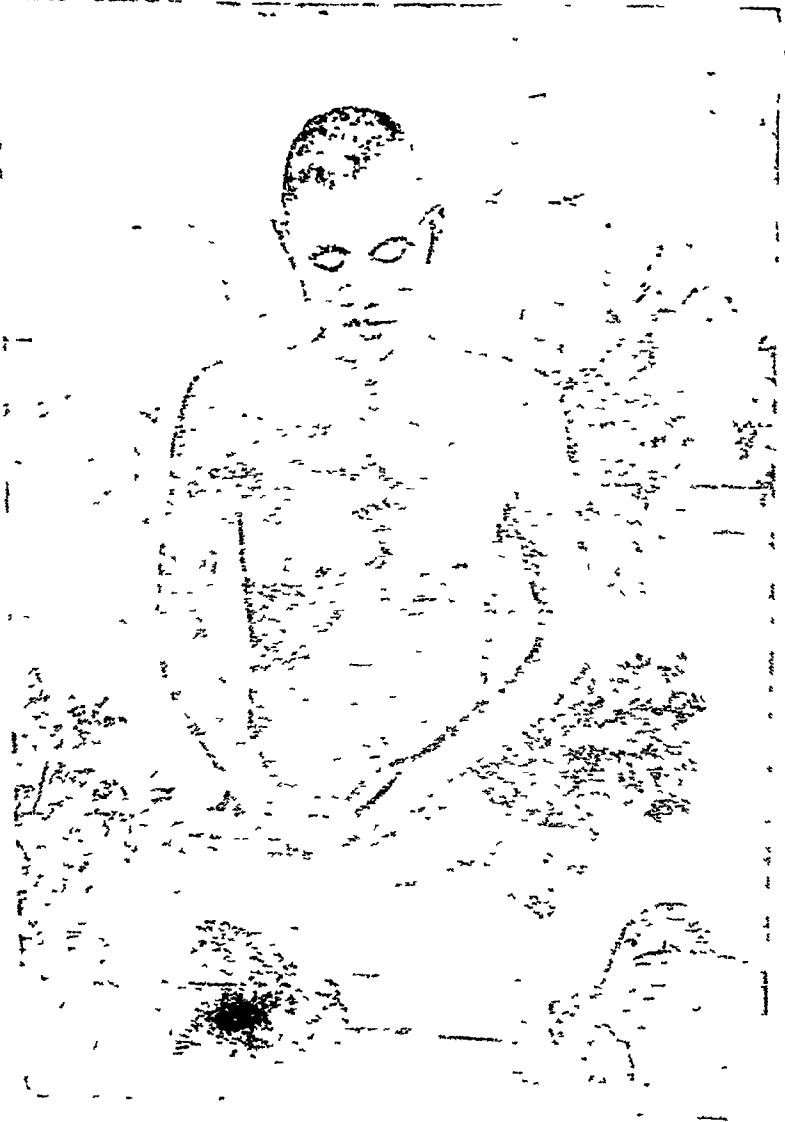
विद्वन्मणि मुकुट परम पूज्य श्री १०८ श्री आचार्य
सुधर्मसागरजी महाराज

लगभग एक शत (एक सौ) चारों अनुयोगों के संस्कृत शास्त्रों के

टीकाकार, सिद्धान्त शास्त्रों के तल स्पर्शी

महा विद्वान्

धर्मरत्न, सरस्वती दिवाकर

स्व० श्रीमान् पं० लालारामजी शास्त्री

फिरोजाबाद

❋ श्री वर्द्धमानाय नमः ❋

—

वीरं विराग सर्वज्ञं त्रियोगेन नमाम्यहम्।
जगद्धिताय मोक्षस्य मार्गो येन प्रदर्शितिः॥

श्री ग्रन्थराज पञ्चाध्यायी शास्त्र का पुन: प्रकाशन हो रहा है यह बड़े हर्ष एवम् हित की बात है। हमारी लिखी सुबोधिनी हिन्दी टीका की सर्वत्र बहुत मांग थी। हमारे पास अनेक पत्र आते रहे हैं। उसका पहला संस्करण समाप्त हो चुका है। अब यह दूसरा संस्करण प्रकाशित हो रहा है।

पञ्चाध्यायी का महत्त्व और उसकी अत्युपयोगिता

परम पूज्य चारित्रचक्रवर्ती योगीन्द्र चूड़ामणि श्री १०८ आचार्य शान्तिसागर महाराज ने इस पञ्चाध्यायी की सुबोधिनी टीका का कई बार स्वाध्याय किया। जब हम बारामती (पूना) मे उनके पवित्र दर्शन के लिये गये थे वहाँ उनकी अभिरुचि एवं आज्ञा से एक माह रह कर धवल सिद्धान्त शास्त्र का वाचन हमने किया था तब प्रसङ्ग पाकर महाराज ने पञ्चाध्यायी की सुबोधिनी टीका की बहुत प्रशंसा की थी, उन्होने कहा था कि यह पञ्चाध्यायी अनुपम एव अपूर्व ग्रन्थ है। इसमे द्रव्य गुण पर्याय प्रमाण नय और सम्यग्दर्शन का स्वरूप वर्णन महत्त्वपूर्ण है। ग्रन्थ के अनुसार सबो के समझने योग्य विस्तार से जो सरल टीका तुमने की है वह बहुत उपयोगी है। परम पूज्य आचार्य वीरसागरजी महाराज ने प० खूबचन्दजी शास्त्री द्वारा ईसरी मे पञ्चाध्यायी का वाचन कराया उस समय महाराज ने पञ्चाध्यायी को अपूर्व ग्रन्थ बताया, अन्य अनेक उपस्थित पुरुषो ने जिनमे उदासीनाश्रम के अधिष्ठाता स्वाध्यायशील विद्वान् श्री ब्र० सुरेन्द्रनाथजी आदि ने पञ्चाध्यायी ग्रन्थ के तत्त्वविवेचन की भूरि भूरि प्रशन्सा की थी। इसी प्रकार समस्त परम पूज्य मुनिराजो, पूज्य विदुषी आर्यिकाओं तथा विद्वानो ने इस ग्रन्थराज पचाध्यायी और उसकी सुबोधिनी टीका की बहुत प्रशसा की है।

यह ग्रन्थराज पठन पाठन में कैसे आया ?

सिद्धान्त एव संस्कृत ग्रन्थो के मर्मज्ञ विद्वान् आगरा निवासी स्व० श्री प० बल्देवदासजी ने पंचाध्यायी का अध्ययन श्रद्धेय श्री गुरुवर प० गोपालदासजी वरैया को कराया था, स्याद्वाद वारिधि

वादिगज केसरी न्याय वाचस्पति पूज्य पं० गोपालदासजी वरैया ने गोमट्टसार, लब्धिसार, क्षपणासार, त्रिलोकसार आदि सिद्धान्त ग्रन्थों के साथ इस पचाध्यायी ग्रन्थ को बड़ी लगन और बड़े उल्लास के साथ हमको और हमारे सहपाठी विद्वानो को पढाया। पाठ दो घन्टा चलता था। अनेक शङ्का समाधान भी होते थे। उस समय बाहर के भी कई महानुभाव पाठ के समय उपस्थित होते थे। उन सबों को बहुत आल्हाद एव आनन्द होता था।

टीका बनाते समय खोज

पचाध्यायी ग्रन्थ की सुबोधिनी टीका सबसे पहले हमने बनाई है। कोल्हापुर यन्त्रालय द्वारा प्रकाशित मूल प्रति पर से यह टीका की गई है। मूल प्रति को पढते समय हम शुद्ध कर लेते थे। अजमेर के शास्त्र भडार की लिखित मूल प्रति से छूटे हुये पाठो को भी हमने सुधारा था। यात्रा करते समय जैनविद्री (श्रवण वेल गोला) मे श्रीमद्राज मान्य दौर्वलि शास्त्री के प्राचीन ग्रन्थ भडार से प्राप्त लिखित मूल प्रति से भी अपनी प्रति का हमने मिलान किया था। इस भाँति इस मूल पचाध्यायी के सशोधन मे हमने यथा साध्य प्रयत्न किया है जिससे कठिनाई का अनुभव भी किया। फिर भी दो तीन स्थलो पर छदोभंग तथा चरण भग अभी रह गये हैं जो विना आधार के संशोधित नहीं करके ज्यो के त्यो रख दिये गये हैं।

मूल—प्रेरणा

कई संस्कृत शास्त्रो के रचयिता परम पूज्य श्री १०८ आचार्य सुधर्मसागर महाराज (हमारे सगे बडे भाई साहब) ने पचाध्यायी ग्रंथ का अध्ययन करके हमको प्रेरित किया था कि इस महान् शास्त्र की हिन्दी टीका तुम अवश्य बनाओ यह समाज को तत्त्वबोध कराने वाला गम्भीर ग्रन्थ है। यह पचाध्यायी की सुबोधिनी टीका उन्हींके आदेश का सर्वहितकर मधुर फल है। उनका मंगलमय आशीर्वाद हमारा सहायक है।

संशोधन महत्कार्य

इस सुबोधिनी हिन्दी टीका का संशोधन, परिवर्धन आदि धर्मरत्न सरस्वती दिवाकर गोमट्पूज्य प० लालारामजी शास्त्री महोदय (हमारे सगे बड़े भाई साहब) ने किया है वे हमारे विद्या गुरु भी थे। इसलिये हम उनको स्मरण पूर्वक सविनय प्रणामाञ्जलि समर्पित करते हैं।

प्रकाशन कार्य

साहेब श्री सेठ चांदमलजी पांड्या (गोहाटी) की धर्मनिष्ठा, दान शीला, धर्म पत्नी श्रीमती सौ० भंवरीदेवीजी की ओर से यह सटीक पञ्चाध्यायी ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है इस सम्यग्ज्ञान वर्धक सद्भावना और उदारता पूर्ण द्रव्य के सदुपयोग के लिये हम माननीय रायसाहेब और उनकी सौ० सहधर्मिणीजी को साभार धन्यवाद देते हैं।

इस ग्रन्थ का मुद्रण श्री बाबू नेमीचन्दजी बाकलीवाल के कमल प्रिन्टर्स-मदनगंज किशनगढ से हो रहा है। स्पष्ट मुद्रण एवम् शुद्धता का ध्यान रखने के लिये हम उन्हे भी धन्यवाद देते हैं।

हमारा प्रयास कहाँ तक सफल है

इस ग्रंथ की टीका बनाते समय हमको किसी ग्रन्थ विशेष की सहायता नहीं मिली। कारण कि मूल ग्रन्थ के सिवा इस ग्रन्थ की कोई संस्कृत टीका अथवा हिन्दी टीका या कोई टिप्पणी अभी तक हमारे देखने या सुनने में नहीं आई है। अतः हम नहीं कह सकते कि हमारा प्रयत्न कहाँ तक सफल हुआ है विद्वद्वर्ग इसका स्वयं अनुभव करेंगे तथा सावधानी के पश्चात् भी त्रुटियाँ रह गई हो तो इसके लिये क्षमा करेंगे।

पौष शुक्ला ११
वी० नि० सं० २४९९

निवेदक

मक्खनलाल शास्त्री
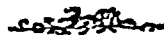
श्री तत्त्वार्थ राजवार्तिक, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय तथा ग्रन्थराज पचाध्यायी
के टीकाकार एव अनेक सैद्धान्तिक पुस्तको के लेखक तथा
अनेक उद्भट विद्वानो को तैयार करने वाले महा विद्वान्

विद्यावारिधि, न्यायालकार, वादीभकेसरी विद्वत्तिलक, न्याय दिवाकर, धर्मवीर
श्री पं० मक्खनलालजी शास्त्री, प्राचार्य महोदय
मोरेना

सरल टीकाए बनाई हैं। मूल ग्रन्थो के विरुद्ध उन्होने एक भी बात नही लिखी है अत उनकी टीकायें ग्रंथानुरूप पूर्ण प्रमाण मानी जाती है उन्होने करीब १०० ग्रथो की टीकाये रचने के साथ भक्तामर शतद्वयी आदि स्वतत्र सस्कृत ग्रन्थ भी रचे हैं। भा० दि० जैन महासभा के वे स० महामत्री भी थे। परम पूज्य आचार्य शान्तिसागर महाराज से उन्होने दूसरी प्रतिमा के व्रत लिये थे। मैनपुरी मे उनकी सर्राफे की दुकान थी उनके पुत्र पौत्र है।

आचार्य सुधर्मसागर महाराज

श्री धर्मरत्न प० लालारामजी शास्त्री से छोटे और मुझसे बडे भाई श्री प० नन्दनलालजी शास्त्री थे, वे उच्च कोटि के विद्वान् बने, वैद्य भी थे, बम्बई मे वैद्यक भी करते थे और वहाँ के सरस्वती भवन की सम्हाल भी करते थे। बम्बई के प्रसिद्ध जौहरी श्री सेठ घासीलालजी पूनमचदजी से भाई साहब प नन्दनलालजी शास्त्री ने कहा कि परम पूज्य आचार्य शान्तिसागरजी को दक्षिण से उत्तर मे विहार कराना अत्यन्त लाभदायक होगा अतः आप सघ भक्त बनकर समाज शिरोमणि बनो इसके लिये ३-४ लाख रुपये खर्च करने का सकल्प कर लो। जौहरीजी ने भाई साहब की बात स्वीकार कर ली तब जौहरीजी और पण्डित नन्दनलालजी दोनो ने दक्षिण जाकर आचार्य महाराज से प्रार्थना की दोनो ने कहा कि महाराज उधर प्रान्त मे जनेऊ धारण करने की पृथा भी बहुत कम रह गई है जल भी अशुद्ध बहुभाग मे ग्रहण होने लगा है अत आपके विहार से सब सुधार होगा। तब महाराज ने कहा कि जौहरी घासीलालजी की भक्ति भी प्रशसनीय है परन्तु तुम्हारे सरीखा विद्वान् सघ मे नही रहेगा तब तक हम उत्तर मे विहार नही करेगे। इतना सुनते ही भाई साहब ने तुरन्त सप्तम प्रतिमा महाराज से ले ली। अपने पुत्र और हम सब भाइयो का मोह छोडकर सघ मे वे साथ रहे। पीछे प० नन्दनलालजी शास्त्री मुनि हुए फिर बहुत वर्षो पीछे आचार्य हुए। मुनि पद मे उनका नाम सुधर्मसागरजी रखा गया। परम पूज्य आचार्य सुधर्मसागरजी ने परम पूज्य मुनिराज कुन्थुसागरजी चन्द्रसागरजी, वीरसागरजी, नेमिसागरजी आदि सबो को सस्कृत का अध्ययन कराया और सुधर्म ध्यान प्रदीप, सुधर्म श्रावकाचार जिन चतुर्विंशतिका आदि सस्कृत ग्रन्थो की रचना की, उन ग्रथो की सरल हिन्दी टीका सरस्वती दिवाकर पण्डित लालारामजी शास्त्री ने की है। आचार्य सुधर्मसागर महाराज ने समाज का बहुत कल्याण किया, साथ ही हमारी पदमावती पुरवाल जाति और हमारे धार्मिक घराने को अत्यन्त महत्त्वशाली बना दिया है। गृहस्थावस्था के उनके पुत्र आयुर्वेदाचार्य और शास्त्री प० जयकुमारजी हैं उनके भी पुत्र पौत्र है।

मुझसे छोटे भाई श्री चिरन्जीव बाबू श्रीलालजी जौहरी हैं जो बहुत वर्षों से जयपुर मे सपरिवार रहते है, जवाहरात का व्यापार करते है वहा के जौहरियो मे उनकी प्रतिष्ठा और सम्मान

दि० जैन न्याय ग्रथो मे—प्रमेयरत्नमाला आप्त परीक्षा, प्रमेय कमल मार्तण्ड, अष्ट सहस्री, श्लोकवार्तिक इन अत्यन्त गहन गभीर ग्रथो मे परीक्षा देकर उत्तीर्णता मैंने प्राप्त की है। मोरेना महाविद्यालय मे इन्ही सभी ग्रथो को मैंने पढाया भी है। इनके सिवा चरणानुयोग के शास्त्र, प्रायश्चित ग्रथ, समयसारादि द्रव्यानुयोग शास्त्र और प्रथमानुयोग के शास्त्रो का भी वाचन मैंने किया है। वारामती (दक्षिण) मे परम पूज्य आचार्य शान्तिसागर महाराज एव उनके सघ मे १ माह रहकर महाराज की इच्छा एव उनकी आज्ञा से धवल सिद्धान्त का भी वाचन सघ को मैंने सुनाया है। उस समय शोलापुर, कोल्हापुर, फलटन आदि के अनेक पुरुप भी सुनने वैठते थे।

मोरेना महाविद्यालय का संचालन

श्री प० गोपालदासजी वरैया के स्वर्गवास होने के वाद, कुछ वर्ष मोरेना महाविद्यालय का सचालन न्यायाचार्य प० माणिकचन्दजी, पण्डित वशीधरजी न्यायालङ्कार, प० देवकीनन्दनजी करते रहे उक्त तीनो विद्वान् जव मुरेना से चले गये और सस्था की आर्थिक दशा वहुत कमजोर हो गई तथा पठन पाठन व्यवस्था भी अच्छी नही रही तव उस समय के अधिष्ठाता श्री पण्डित धन्नालालजी काशलीवाल तथा मंत्री श्री प० खूबचन्दजी शास्त्री ने पत्र व्यवहार द्वारा मुझे मोरेना वुलाने के लिये वार वार प्रेरित किया, छह माह तक उनका भारी आग्रह रहा कि इस सस्था को आकर सम्हालो अन्यथा यह पण्डित गोपालदासजी का कीर्तिस्तम्भ समाप्त होता है। उस समय कलकत्ता मे मेरी कपड़े की दुकान अच्छे रूप मे चल रही थी, मैं उसे नही छोडना चाहता था। कलकत्ता के प्रसिद्ध व्यापारी श्री प० जयदेवजी, प० वल्देवदासजी, सेठ चैनसुखजी पाड्या आदि सज्जनो का यह आग्रह था कि कलकत्ता मे ही रहो, परन्तु सस्था के मत्री तथा अधिष्ठाता महोदय की अत्यधिक प्रेरणा होने से मुझे मोरेना जाने के लिये वाध्य होना पडा। सन् १९२७ मे, मैं मोरेना आ गया और महाविद्यालय का समस्त कार्यभार (वागडोर) मुझे सौंप दिया गया। तवसे आज तक ४४ वर्षो से मोरेना महाविद्यालय का सचालन मैंने किया है, इस समय मेरी आयु करीव ७८ वर्प की है। मैं अभी प्रौढावस्था के समान एव सोत्साह, सोल्लास ७ घन्टा कार्य करता हूँ। मेरी दिन चर्या इस प्रकार है—

प्रात ३-३॥ वजे उठ जाता हूँ, सामायिक एव स्तोत्र पाठ करता हूँ, १॥ घन्टा उपयोगी लेख लिखता हूँ, फिर स्नानादि करके मन्दिर मे पचामृताभिपेक एव पूजन करता हूँ, १॥ घन्टा समय पूजन मे लगाता हूँ। भोजन के वाद समाचार पत्र और आई हुई डाक देखता हूँ। मध्य सामायिक करके ५ घन्टे महाविद्यालय मे कार्य करता हूँ। तीन घन्टा शास्त्री कक्षाओ के पाठ पढाता हूँ, फिर रोकड रजिस्टरो की जाच हस्ताक्षर करके पढाई प्रवध का निरीक्षण करता हूँ और आवश्यक पत्र एव आगत अनेक शङ्काओ का समाधान लिखता लिखाता हूँ। रात्रि मे सामायिक करके शास्त्रो का विवेचन

प्रथमानुयोग शास्त्रो का स्वाध्याय और दौलतरामजी द्यानतरायजी आदि के बनाये हुए भजनो-पद लावनी को रुचि के साथ पढता हूँ। इन सबमे मेरे परिणाम अधिक लगते है। ८॥ बजे शयन के लिये पलग पर लेट जाता हूँ।

प्रति रविवार को छात्रो की धार्मिक मर्यादा, शुद्धि एव धार्मिक सस्कार बनाने आदि की बाते बताता हूँ, यही मेरी नियमित दिनचर्या है।

इन ४४ वर्षों में मैंने संस्था में क्या किया ?

उस समय स्कूल कॉलेज मे अग्रेजी पढने छात्र नही जाते थे, केवल धर्म सिद्धात ग्रथ और सस्कृत का ही पठन पाठन होता था और उस समय दक्षिण मे सस्कृत सस्थाये नही थी अत. दक्षिण के भी अनेक छात्र मोरेना पढने आते थे, मेरे समय मे करीब ५० छात्र छात्रावास मे रहते थे। अनेक सिद्धान्त के ज्ञाता आगम मे दृढ श्रद्धा तथा आचार विचार रखने वाले शास्त्री, न्यायतीर्थ विद्वान् मैने तैयार किये हैं जो आज समाज मे प्रतिष्ठित तथा सम्मानित है और समाज को सन्मार्ग बता रहे है। उनमे कतिपय उत्तर के प्रमुख विद्वान्—श्री प० लालबहादुर शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्याचार्य, एम० ए० पी० एच० डी०, श्री प० कु जीलालजी शास्त्री काव्यतीर्थ, न्यायतीर्थ, एम० ए०, श्री प० श्याम-सुन्दरलालजी शास्त्री, श्री प० भागचन्दजी शास्त्री न्यायतीर्थ, काव्यतीर्थ, प० फूलचन्दजी शास्त्री सिरगन प० पूनचन्दजी शास्त्री न्यायतीर्थ, मकरौनी आदि है। दक्षिण जैन बद्री मूलबद्री मद्रास, मैसूर, बंगलोर के श्री प० मल्लिनाथजी शास्त्री न्यायतीर्थ, श्री प० जिनचन्दजी शास्त्री न्यायतीर्थ, श्री प० जिनराजजी शास्त्री न्यायतीर्थ, प० वर्द्धमानजी शास्त्री शोलापुर, श्री प० श्रेयासकुमारजी शास्त्री, काव्यतीर्थ, श्री प० परमानन्दजी शास्त्री न्यायतीर्थ, श्री प० नागराजजी शास्त्री, श्री प० धर्मचक्रवर्तीजी शास्त्री आदि हैं। और भी अनेक शास्त्री विद्वान् मैंने तैयार किये है।

मेरा विशेष सौभाग्य

संस्था को आर्थिक सहायता

जव मोरेना आया था तव थोडा सा द्रव्य सस्था मे रह गया था, तव मैंने तीन डेप्युटेशन निकाले। दो वार कलकत्ता और आसाम का, और एक वार शोलापुर, कोल्हापुर, सागली आदि का। सवसे पहले मैं सुजानगढ आ गया था। वहाँ के धर्मपरायण श्रीमानो ने १५१-१५१ रुपये भरे, थोडा ही चन्दा हुआ मैंने कहा कि इतने से क्या होगा मैं जाता हूँ, तव उन्होने रात्रि मे अपनी प्राइवेट मीटिंग की, और सस्था तथा मेरा सम्मान रखने के लिये अपनी उदारता से २१००-२१०० इक्कीस सौ २ की रकमे भरी। कुल १७०००) सत्रह हजार का चदा हो गया, मुझे देने आये मैंने सहर्ष उनका आभार माना और कहा कि मै आपका हृदय से वहुत आदर करता हूँ परन्तु इतनी रकम से सस्था का कार्य नही चलेगा। मैं आप लोगो से कलकत्ता मे चदा भराऊगा, अभी क्षमा चाहता हूँ। ऐसा कहकर मैं सत्रह हजार की वडी राशि छोडकर चला आया। यह खवर जव सस्था के मत्री श्री पण्डित तनसुखलालजी काला को मिली तव उन्होने परम पूज्य आचार्य शान्तिसागरजी से चर्चा मे यह वात भी कही, तव आचार्य महाराज ने उनसे कहा कि पण्डितजी व्यवहारी नही है उन्हे इतनी वडी रकम ले आना था।

दूसरे वर्ष मैं कलकत्ता गया तव सुजानगढ के उन्ही श्रीमानो ने तथा कलकत्ता के अनेक श्रीमानो ने सहर्ष चदा भरा जो करीव ७००००) सत्तर हजार हो गया। इसी प्रकार हवाई-जहाज से मैं आसाम भी गया वहाँ भी अच्छा चदा हुआ। डेप्युटेशन मे मेरे साथ कलकत्ता से कई प्रसिद्ध फर्मो के श्रीमान् थे, श्री पण्डित तनसुखलालजी काला सस्था के मत्री भी थे। दूसरी वार भी डेप्युटेशन मैंने निकाला, तव भी कलकत्ता आसाम से अच्छी रकम प्राप्त हुई। दक्षिण-शोलापुर, कोल्हापुर, सागली आदि नगरो से भी अच्छी धनराशि प्राप्त हुई।

मैं देहली भी गया था वहाँ से भी करीव १५०००) की राशि मिली कुल लगभग २०००००) दो लाख रुपयो की सहायता मोरेना सस्था को आ गई। यह सव मोरेना सस्था के प्रति समाज की सहायता एव सहयोग का ही फल है। मैंने तो कुछ नही किया है। गुरु गोपालदासजी के समय मे राज्य से ३०) तीस रुपये माहवार सहायता मिलती थी मैंने ग्वालियर जाकर शिक्षा विभाग से अधिक सहायता की माग की। फलस्वरूप १००) हुए। अव वहुत वर्षो से २५००) पच्चीस सौ रुपये वार्षिक सहायता सस्था को मिल रही है। प्रयत्न करने पर अव दुगुनी सहायता मिल सकती है ऐसा मुझे भरोसा है।

श्रीमत महाराजा ग्वालियर से विना मूल्य पक्के वारह वीघा जमीन सस्था को मिली है उसी वगीचे मे इस धनराशि से कई मकान मैंने वनवा दिये हैं जिनमे किराये के स्थायी रूप मे ७५०) साढे सात सौ रु० माहवार सस्था को मिलते है। दक्षिण की कुछ रकमे नही आ सकी है सभव है वहाँ जाने से आ जाय।

की प्रख्याति एव गौरव राज्य सरकार मे भी अच्छा है। महाराज के दाहिने हाथ प्रमुख मिनिष्टर श्रीमान् एम एन. सीतोले सा० श्रीमान् वापूराव सा० पवार, श्रीमान् मिश्रीलालजी गगवाल आदि मिनिष्टर साहेवान भी सस्था मे पधारे है और प्रसन्नता प्रकट की है।

आनरेरी मजिस्ट्रेट

मोरेना मे करीव १५-१६ वर्षो तक राज्य की ओर से मुझे आनरेरी मजिस्ट्रेट भी बनाया गया था, छह माह की सजा और २००) रुपया जुर्माना एक साथ करने का मुझे अधिकार था। मेरे सभी फैसले वहाल रहे। मेरे जिन फैसलो को सेसन जजी से खारिज किया गया, हाईकोर्ट मे वादियो द्वारा अपील होने पर मेरे फैसले बहाल किये गये।

सेसन जज के साथ फौजदारी के केसो मे ३ जूरी और बेठते है उनमें एक मै भी रहा हूँ।

औकाफ कमेटी मे जिला कलैक्टर के साथ नगर के चार प्रतिष्ठित पुरुष और नियत किये जाते है, उनमे एक मै भी बहुत वर्षो तक रहा हूँ। यह कमेटी लाखो करोडो रुपयो के राज्य के अधीन धर्मायतन हैं, उनकी सम्हाल एव व्यवस्था करती है।

सिद्धान्त ग्रन्थों की टीका

उच्च कोटि के महान् सिद्धान्त ग्रन्थ राजवार्तिकालङ्कार, पञ्चाध्यायी और पुरुषार्थ सिद्ध-युपाय इन ग्रन्थो की मैंने हिन्दी टीकाऐ की है। ये टीकाएँ पूज्य त्यागियो एव विद्वत्समाज में प्रशसनीय सिद्ध हुई है।

अनेक गम्भीर विस्तृत ट्रेक्ट

(सजद पद का निर्णय)

सिद्धान्त शास्त्र धवला के अनुवादकर्ता विद्वान् ने उस शास्त्र के ९३ वे सूत्र मे नही मालूम किस आधार से सजद पद जोड दिया था, इस पर करीव ५ वर्षो तक समाचार पत्रो मे लेख प्रति लेख चलते रहे। वहुत विवाद वढ गया। मेरा कहना था कि यह ९३ वा सूत्र द्रव्य प्रकरण का है इस सूत्र मे सजद पद रहने से वस्त्र सहित द्रव्य स्त्री (स्त्री पर्याय से) को भी मोक्ष हो जायगी तव श्वेताम्वर मत का समर्थन हो जायेगा। धर्मरत्न प० लालारामजी शास्त्री तथा श्री प० रामप्रसादजी शास्त्री मेरे कथन की पुष्टी करते थे वाकी सभी विद्वान सजद पद के रखने के पक्ष मे थे। ये उसे भाव प्रकरण वताते थे। उस समय मैंने एक वडा ट्रेक्ट (पुस्तक) लिखा उसका नाम—"सिद्धान्त सूत्र समन्वय" रक्खा उसमे मैंने राजवार्तिक, गोम्मटसार, धवल सिद्धान्त आदि शास्त्रो के प्रमाणो

गये। स्थान और प्रवध भी उन्हीका रक्खा गया। आर्य समाज की ओर से गुरुकुल कांगडी के प्रसिद्ध विद्वान जो मीमासाचार्य, न्यायाचार्य थे, शास्त्रार्थकर्त्ता चुने गये। जैन समाज की ओर से मैं था। शास्त्रार्थ लगातार छह दिन तक चला शास्त्रार्थ के दो विषय थे, एक जैनियो के तीर्थङ्कर सर्वज्ञ नही हो सकते हैं, दूसरा ईश्वर सृष्टि का कर्त्ता है। १५-२० हजार आदमी दर्शक इकट्ठे होते थे। सहारनपुर, अम्बाला, जगाधरी, शिमला आदि से भी वकील वैरिष्टर और प्रमुख २ लोग आगये थे। अत मे मैंने मौखिक एव लिखित रूप मे आर्य समाजी विद्वान का मु ह बद कर दिया। वे उत्तर देने मे असमर्थ हो गये। तव जैन समाज के प्रमुख पुरुषो ने सभापति से शास्त्रार्थ का निर्णय (जजमेंट) मांगा, तव सभापति ने घोषणा की कि जैन विद्वान की विजय हुई है। यह शास्त्रार्थ "देहली शास्त्रार्थ" के नाम से छप चुका है। दूसरे दिन देहली तथा वाहर नगरो से आये हुए सज्जनो ने एक आम सभा की, उसमे "वादीभकेसरी" यह पदवी मुझे सम्मान पूर्वक दी।

अम्वाला शास्त्रार्थ

अम्वाला शहर मे एक वेदान्ताचार्य, दर्शनाचार्य, सनातनी विद्वान् थे। वे कहते थे जैन-धर्म का स्याद्वाद झूठा है, कल्पना मात्र है, मैं अम्वाला जब गया तव वहाँ के वावू मुरारीलालजी जैन एडवोकेट तथा लाला शिव्वामलजी आदि ने मुझसे कहा कि आप एक भाषण ऐसा देवे कि स्याद्वाद का रहस्य प्रगट हो और सनातनी विद्वान प्रभावित होकर उस सिद्धान्त को समझ लेवे। मैंने सभा मे भाषण दिया। उस सभा मे सनातनी विद्वान और अन्य अनेक लोगो को बुलाया गया। मेरे भाषण को सुनकर सनातनी विद्वान शास्त्रार्थ करने की धमकी देने लगे। मैंने शास्त्रार्थ करना स्वीकार किया, दो दिन शास्त्रार्थ हुआ। सनातनी विद्वान ने अपनी पराजय मान ली, तभी से वे मेरे तथा जैन समाज के मित्र वन गये तवसे देहली और उस प्रान्त मे जैनधर्म के विरुद्ध कोई नही वोलता है।

इस विजय को मैं अपनी विद्वत्ता का महत्त्व नही मानता, किन्तु दि० जैन धर्म के सर्वज्ञ भासित एव गणधरादि वीतराग महर्षियो द्वारा प्रतिपादित अकाट्य एवं सहेतुक सिद्धान्तो को ही सर्वोपरि मानता हूँ।

महासभा पर भारी संकट एवं विजय

भा० दि० जैन महासभा के सेढवाल (वेलगाव दक्षिण) अधिवेशन मे वालचद रामचद कोठारी एम० ए० और धावते आदि सुधारको ने भारी उपद्रव किया था तव वहाँ के श्री वालगोडा देवगोडा, पाटील तथा अण्णागोड़ा पुलिस वाटील आदि सज्जन उन धर्म विरोधी सुधारको पर टूट पडे तव वे लोग भाग गये। उस समय महासभा के महामत्री श्री सेठ चैनसुखजी छावडा की सूचना पाकर पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट आगये, अधिवेशन स्थगित हो गया, वहाँ पर मैं तथा मेरे पूज्य वड़े भाई

इतना कष्ट उठा रहे हैं, और अपने सिद्धान्त से तिलमात्र भी नही हट रहे हैं, दूसरी ओर सुधारवादी फर्यादी लोग समय के साथ दौड़ रहे हैं जो सिद्धान्त से दूर है अत. कोर्ट इस केस को खारिज करती है।" इस भारी विजय से समाज मे उत्तर दक्षिण मे हर्ष की लहर दौड गई।

धर्मरत्न धर्मवीर पदवी

महासभा ने अपने फतेहपुर वार्षिक अधिवेशन मे जो खुरई के श्रीमत सेठ मोहनलालजी की अध्यक्षता मे हुआ था। पूज्य भाई श्री प० लालारामजी शास्त्री को धर्मरत्न तथा मुझे धर्मवीर पदवी प्रदान की तथा महासभा की रक्षा और विजय का प्रस्ताव पास कर कृतज्ञता प्रकट की।

सरस्वती दिवाकर और विद्यावारिधि पदवी

दि० जैन शास्त्री परिषद के पैठन (महाराष्ट्र) अधिवेशन के सभापति श्री प० लालारामजी शास्त्री बनाये गये थे। कुशलगढ अधिवेशन मे उन्हे शास्त्री परिषद ने "सरस्वती दिवाकर" पदवी दी थी और शास्त्री परिषद के जयपुर अधिवेशन मे मुझे सभापति बनाया गया था, उस अधिवेशन मे जयपुर राज्य के प्राय. सभी मिनिष्टर साहब पधारे थे और सनातनी विद्वान भी पधारे थे। शास्त्री परिषद ने मुझे विद्यावारिधि पदवी प्रदान की थी।

पहला सभापतित्व

सिवनी मे दिगम्बर जैन शास्त्री परिषद हुई थी उसका सभापति भी मुझे बनाया गया था उस अधिवेशन मे अनेक विद्वान इकट्ठे हुये थे। उनमे श्री प० धन्नालालजी काशलीवाल, श्री प० गौरीलालजी सिद्धान्त शास्त्री आदि प्रमुख थे।

दि० जैन सिद्धान्त संरक्षिणी सभा का सभापतित्व

होने की चर्चा के प्रसङ्ग मे रेल से गिरने की बात मैंने कही तो एक महानुभाव बोले कि पजाब मेल से गिरने पर आपका कोई अङ्ग भङ्ग भी नही हुआ, पद्मावती देवी ने आपकी रक्षा की है वह अव्रती सम्यग्दृष्टि है। धर्मात्माओ की सहायता करती है। मैने भी अपनी यही धारणा बताई और पुण्योदय बताया।

मैंने भेंट कभी नहीं ली

धार्मिक प्रसगो मे समाज मुझे बुलाता है और भेट करता है। कलकत्ता, बम्बई, देहली आदि नगरो मे ऐसे प्रसग अनेक बार आये हैं। इन्दोर मे वहाँ के समाज ने पर्व मे बुलाया था। मैं सर सेठ हुकमचन्दजी के भवन मे ठहरा था, विदा करते समय उन्होने १०००) एक हजार रुपये, एक अँगूठी, एक दुशाला और श्रीफल मुझे भेट किया, सेठ साहब और श्री प० धन्नालालजी कासलीवाल ने आग्रह भी किया परन्तु केवल श्रीफल लेकर उनका आदर माना, मैने और कोई भेट स्वीकार नही की। मैंने प्रारम्भ से ही भेट नही लेने का सकल्प रखा है। जो विद्वान् भेट लेते है वह बुरा नही है, धार्मिक आदर है, परन्तु वर्तमान समय मे मेरा यह अनुभव है कि भेट लेने पर दातार श्रीमान् का कुछ प्रभाव (असर) पडता ही है और धर्म की स्पष्ट बाते कहने मे विद्वानो को कुछ सकोच होता है।

मोरेना सस्था के बगीचे की थोडी सी भूमि अपना मकान बनाने के लिये मैंने सस्था के ट्रष्टियो से माँगी थी, और उसकी कीमत मे ४०००) रुपये देता था परन्तु सभी ट्रष्टियो ने लिखा कि आपने सस्था की बहुत सेवा की है आपको बिना मूल्य भूमि हम देते है, आप स्वीकार करें। उन्होने पत्रो मे आग्रह भी किया परन्तु बिना मूल्य लेना मैंने स्वीकार नही किया। फिर मोरेना मे ही अन्यत्र मकान खरीद लिया। निष्पृह और निःस्वार्थ सेवा मे मैं आनन्द मानता हूँ।

सिद्धक्षेत्रों की वंदना

अनादि तीर्थ श्री सम्मेदशिखरकी वदना मैंने १०-१२ बार की है। गिरनार, मागीतुगी, बडवानी, सिद्धक्षेत्रो की वदना दो बार की है। गजपथ सोनागिरि सिद्ध क्षेत्रो की वदना अनेक बार की है। चपापुर, पावापुर की वदना भी दो बार की है।

अतिशय क्षेत्र—श्रवणबेलगोला (जैनबिद्री) मूलबिद्री, कारकल, देवगढ, पपौरा, थूवोन जी, अहार, कपिला इन अतिशय क्षेत्रो की वदना मैंने दो बार की है।

आचार्य महाराज का अन्तिम आशीर्वाद

कुन्थलगिरि सिद्ध क्षेत्र पर जब आचार्य शान्तिसागर महाराज ने सल्लेखना समाधि ग्रहण की थी तब वहाँ उनके दर्शनार्थ हजारो भक्त पहुँचे थे। सल्लेखना समाधिमरण के समय मे वहाँ पर एक माह ठहरा था, उन दिनो मे महाराज ने ३-४ बार मुझे अपने पास बुलाकर कई बात कही और मुझसे पूछी। एक दिन महाराज ने मुझ से कहा कि तुम अपना धर्म साधन करते हुए निर्भयता से धर्म

यह प्रकरण समाप्त कर दिया जाय तो अच्छा है इस कथन पर मैंने तुरन्त कहा कि जैन धर्म किसी जीव को मारना नही वताता, कष्ट देना भी नही कहता, परन्तु अन्यायी एव अपराधियों को दण्ड नहीं दिया जाय तो ससार मे अपराध और हिंसा वढेगी। आप जज हैं, आप दण्ड भी देते है। जेल मे भेजते हैं तो क्या आप कष्ट देते है या हिंसा करते है ? नही, किन्तु न्याय एव निरपराध जगत की प्रवृत्ति देखना चाहते है। परिणाम यह हुआ कि धौलपुर नरेश की आज्ञानुसार केस चला और अपराधियों को पाँच पाँच वर्ष की जेल और १००) १००) जुर्माना किया गया।

मेरा व्रत ग्रहण

मथुरा चौरासी सिद्ध क्षेत्र पर परम पूज्य आचार्य शान्तिसागर महाराज से मोरेना महाविद्यालय के अधिष्ठाता श्री प० धन्नालालजी कासलीवाल ने सप्तम प्रतिमा के व्रत लिए थे और मैंने दूसरी प्रतिमा के व्रत लिये थे कुछ समय पश्चात् आचार्य महावीरकीर्तिजी महाराज से मैंने तीसरी प्रतिमा के व्रत ग्रहण किए थे। तभी से (करीव ४० वर्षों से) मैं जैनी के हाथ का ही और कुए का ही जल लेता हूँ। वम्वई जाते समय दिन के १२।। वजे ग्वालियर से पञ्जाव मेल से चलकर दूसरे दिन दिन के १२ वजे वम्वई पहुँच कर देवदर्शन करके जल लेता हूँ। इसी प्रसङ्ग मे एक भयङ्कर घटना हुई।

प्राणघातक घटना से रक्षा

गर्मी के दिन थे मैं वम्वई जा रहा था, पजाव मेल झासी स्टेशन पर २० मिनिट ठहरती थी उस दिन सिगनल पर ही २० मिनट रुकी रही। फिर २० मिनिट से पहिले भी चल दी। मैं विस्तर व ट्रङ्क गाडी मे ही छोडकर लोटा, डोर, गिलास, छन्ना लेकर कुए पर जल पीने गया, वावू से पूछने पर उसने २० मिनिट ठहरेगी ऐसा कह दिया, जल पीकर जव लौटा तो दूर से मैंने देखा कि पजाव मेल चल दिया है मैं दौडकर इन्जन के पास के डिव्वे मे डण्डा पकड कर गाडी पर चढ गया। थोडी देर मे मेरा हाथ नीचे सरक गया, पैर भी पैडल से सरक गया। फिर दूसरा हाथ और दूसरा पैर भी छूट गया मै चलती गाडी से गिरकर पटरी के निकट लेटा हुआ आ पडा। गाडी आगे चलकर खडी हो गई। लोग चिल्ला रहे थे कि मुसाफिर कट गया। गार्ड वगैरह अनेक लोग इकट्ठे हो गये। मैं प्लेटफार्म पर आ गया। तव सभी लोगो ने आश्चर्य के साथ मुझसे पूछा और देखा कि शरीर का कोई अङ्ग नही कटा है। मेरा सामान उतार लिया गया और रेल्वे के स्पेशल मजिस्ट्रेट के पास मुझे अधिकारी ले गये। उन्होने रिपोर्ट पेश कर दी। मजिस्ट्रेट ने कहा कि आप चलती गाडी मे चढे हो। मैंने कहा कि वावू ने २० मिनिट समय गाडी के ठहरने का वताया था। मेरा कसूर नही है। तव उन्होने कहा कि चलती गाडी मे चढना ही अपराध है। १००) सौ रुपया दण्ड होना चाहिये परन्तु आपकी पगडी देखकर और परिचय पाकर आप विद्वान है और सरलता से सही वात आपने कह दी है, आप पर केस नही चलेगा आप जाइये। दूसरी गाडी से जव मैं वम्वई पहुँचा तो एक दिन लेट

होने की चर्चा के प्रसङ्ग मे रेल से गिरने की वात मैंने कही तो एक महानुभाव बोले कि पजाव मेल से गिरने पर आपका कोई अङ्ग भङ्ग भी नही हुआ, पद्मावती देवी ने आपकी रक्षा की है वह अव्रती सम्यग्दृष्टि है। धर्मात्माओ की सहायता करती है। मैने भी अपनी यही धारणा वताई और पुण्योदय वताया।

मैंने भेंट कभी नहीं ली

धार्मिक प्रसगो मे समाज मुझे वुलाता है और भेट करता है। कलकत्ता, बम्बई, देहली आदि नगरो मे ऐसे प्रसग अनेक वार आये हैं। इन्दोर मे वहाँ के समाज ने पर्व मे वुलाया था। मैं सर सेठ हुकमचन्दजी के भवन मे ठहरा था, विदा करते समय उन्होने १०००) एक हजार रुपये, एक अँगूठी, एक दुशाला और श्रीफल मुझे भेंट किया, सेठ साहव और श्री प० वन्नालालजी कासलीवाल ने आग्रह भी किया परन्तु केवल श्रीफल लेकर उनका आदर माना, मैने और कोई भेंट स्वीकार नही की। मैंने प्रारम्भ से ही भेंट नही लेने का सकल्प रखा है। जो विद्वान् भेट लेते है वह बुरा नही है, धार्मिक आदर है, परन्तु वर्तमान समय मे मेरा यह अनुभव है कि भेट लेने पर दातार श्रीमान् का कुछ प्रभाव (असर) पडता ही है और धर्म की स्पष्ट वाते कहने मे विद्वानो को कुछ सकोच होता है।

मोरेना सस्था के वगीचे की थोडी सी भूमि अपना मकान वनाने के लिये मैंने सस्था के ट्रष्टियो से माँगी थी, और उसकी कीमत मे ४०००) रुपये देता था परन्तु सभी ट्रष्टियो ने लिखा कि आपने सस्था की वहुत सेवा की है आपको विना मूल्य भूमि हम देते है, आप स्वीकार करे। उन्होने पत्रो मे आग्रह भी किया परन्तु विना मूल्य लेना मैंने स्वीकार नही किया। फिर मोरेना मे ही अन्यत्र मकान खरीद लिया। निष्पृह और निःस्वार्थ सेवा मे मैं आनन्द मानता हूँ।

सिद्धक्षेत्रों की वंदना

अनादि तीर्थ श्री सम्मेदशिखरकी वदना मैंने १०-१२ वार की है। गिरनार, मागीतु गी, वडवानी, सिद्धक्षेत्रो की वदना दो वार की है। गजपथ सोनागिरि सिद्ध क्षेत्रो की वंदना अनेक वार की है। चंपापुर, पावापुर की वदना भी दो वार की है।

अतिशय क्षेत्र—श्रवणवेलगोला (जैनविद्री) मूलविद्री, कारकल, देवगढ, पपौरा, थूवोन जी, अहार, कपिला इन अतिशय क्षेत्रो की वदना मैने दो वार की है।

आचार्य महाराज का अन्तिम आशीर्वाद

कुन्थलगिरि सिद्ध क्षेत्र पर जव आचार्य शान्तिसागर महाराज ने सल्लेखना समाधि ग्रहण की थी तव वहाँ उनके दर्शनार्थ हजारो भक्त पहुँचे थे। सल्लेखना समाधिमरण के समय मै वहाँ पर एक माह ठहरा था, इन दिनो मे महाराज ने ३-४ वार मुझे अपने पास वुलाकर कई वातें कही और मुझसे पूछी। एक दिन महाराज ने मुझ से कहा कि तुम अपना धर्म साधन करते हुए निर्भीकता से धर्म

रक्षा मे तत्पर रहते हो, आगम पर अटल श्रद्धा रखते हो, तुम्हारा सम्यग्दर्शन दृढ है तुम्हारा कल्याण होगा। परम पूज्य आचार्य महाराज के इस अन्तिम आशीर्वाद से मुझे बड़ा आनन्द हुआ। उस समय श्री पण्डित तनसुखलालजी काला और श्री पण्डित सुमेरुचन्दजी दिवाकर सिवनी भी कुन्थलगिरि मे मेरे साथ थे। दिवाकरजी ने तो महाराज के निकट बैठकर उनसे पूछकर अनेक बातें नोट की है।

मेरी भावनाएं और मेरा प्रयत्न

मेरी भावना और मेरा प्रयत्न यह रहता है कि दि० जैन समाज मे रात्रि भोजन सर्वथा नहीं हो, उससे त्रस जीवो का कलेवर भी प्रच्छन्न रूप से भक्षण मे आ जाता है। जिन दर्शन से आत्मीय गुणो एव सम्यग्दर्शन का विकास होता है। जो नवयुवक छात्र जिनदर्शन नहीं करते है उनमे जैनत्व ही नही है।

भावो की शुद्धि के लिये बाह्य (द्रव्य) शुद्धि परमावश्यक है। बिना बाह्य शुद्धि के अतरग शुद्धि अशक्य है।

मिथ्या एकान्त प्रचार को रोका जाय अन्यथा एक नया सम्प्रदाय बनकर सिद्धान्त एव धर्म का पूर्ण विघातक होगा, वर्तमान मुनिगण निर्ग्रन्थता, निष्परिग्रहता, निर्ममत्वता पूर्ण त्याग एव परिषह उपसर्ग सहन करने से तथा सल्लेखना समाधिमरण धारण करने से चतुर्थ काल के मुनियो के समान ही वन्दनीय एव पूज्य हैं। वर्तमान शिथिलाचारी देश काल मे तथा इस हीन सहनन मे भी वे दि० जैन धर्म का सर्वोच्च परमादर्श प्रगट कर रहे है उनमे श्रद्धाभक्ति रखता हुआ समाज अपना कल्याण उनके द्वारा करता रहे।

सभी सस्कृत सस्थाओ मे धर्म एवम् सिद्धान्त के ठोस शिक्षण के साथ छात्रों मे धार्मिक सस्कार धार्मिक आचार विचार और आगम पर दृढ श्रद्धा उत्पन्न की जाय।

समाज मे धार्मिक वातावरण सदाचार पालन और धार्मिक वात्सल्य बना रहे तथा कौटुम्बिक निर्वाह के लिये लौकिक शिक्षण एव व्यावहारिक कार्य करते हुए यथा शक्ति आत्मीय हित भी सभी करते रहे। बस यही मेरी भावना है और उसीके लिये मेरा प्रयत्न है।

सर्व मगल मागल्य सर्व कल्याण कारकम्।
प्रधान सर्वधर्माणा जैन जयतु शासनम्॥

मक्खनलाल शास्त्री प्राचार्य
मोरेना (म० प्र०)

श्रीमती सौ० दानशीला जैन महिला रत्न

भंवरीदेवीजी

धर्मपत्नी श्रीमान् रायसाहब दानवीर सेठ चांदमलजी सा० पाण्ड्या

श्रीमती सौभाग्यवती दानशीला जैन-महिलारत्न धर्मचन्द्रिका पतिव्रत परायणा

श्रीमती भँवरीदेवी पांड्या सुजानगढ़ निवासी का

संक्षिप्त परिच

श्रीमती सौभाग्यवती दानशीला जैन महिलारत्न धर्मचन्द्रिका श्री भँवरीदेवीजी पांड्या सुजानगढ निवासी से कोई अपरिचित नहीं है। आप अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा के अध्यक्ष एवं कई उच्च पदो पर आसीन तथा गोपाल दिगम्बर जैन सिद्धान्त महाविद्यालय मोरेना के अधिष्ठाता श्रीमान् जैनरत्न, श्रावक शिरोमणि, धर्मवीर आचार्य-संघ-भक्त दिवाकर, गुरु-भक्त-शिरोमणि, दानवीर राय साहिब सेठ चाँदमलजी सरावगी पांड्या सुजानगढ निवासी की धर्मपत्नि हैं। आप जैन-महिलादर्श पत्र की संरक्षिका हैं।

आपका जन्म मारवाड़ प्रान्त के अन्तर्गत मेनसर ग्राम मे स्वर्गीय सेठ मन्नालालजी गंगवाल की धर्मपत्नि श्रीमती बालीदेवी की वाम कुक्षि से हुआ। सच ही कहा है कि पुण्यात्मा जीव के घर में आते ही लक्ष्मी स्वत. ही आने लगती है। पिता मन्नालालजी के चारो ओर से लाभ ही लाभ होने लगा। आपका बाल्यकाल बड़े आमोद-प्रमोद के साथ व्यतीत हुआ। श्रीमान् मदनलालजी, मालचन्दजी, चम्पालालजी इन तीन भ्राताओ मे आप मध्यवर्ती बहिन हैं। आप इकलौती होने के कारण घर मे बहुत लाड़ प्यार से पाली गईं। १३ वर्ष की अवस्था मे लालगढ़ निवासी स्वर्गीय सेठ मूलचन्दजी के पुत्र रत्न श्रीमान् बाबू चांदमलजी पाड्या के साथ आपका शुभ पाणिग्रहण संस्कार दिनांक १ मई सन् १९३० को सानन्द सम्पन्न हुआ।

विवाह के पहले श्रीमान् चांदमलजी पांड्या की स्थिति आज जैसी नहीं थी। इस नारी रत्न के आते ही चारो ओर से प्रकाश की किरणें प्रस्फुटित होने लगीं और बाबू चादमलजी की ख्याति तथा यश-मान दिन दूना रात चौगुना होने लगा। आप उच्च आदर्श विचारधारा की एक सुशीला नारी हैं। आपका परिवार पूर्णरूप से हरा भरा है। आपके तीन पुत्र रत्न एवं पांच पुत्रियाँ तथा नाती पोतो का ठाट है।

१. श्रीमान् गणपतरायजी साहब आपके ज्येष्ठ पुत्र हैं। उनका विवाह लाडनूं निवासी श्रीमान् दीपचन्दजी पहाडिया की सुपुत्री नवरत्न देवी के साथ हुआ है। श्रीमान् गणपतरायजी भी अपने पिता की तरह गुणवान एवं कुशल सामाजिक कार्यकर्त्ताओ मे से एक हैं। इस समय आप व्यापारिक क्षेत्र मे जुटे हुए हैं तथा अपने व्यापार की उन्नति के लिये सलग्न हैं। अभी हाल ही मे आप व्यापारिक पहलुओं को लेकर जापान यात्रा पर गये थे, साथ

मे अपने लघु भ्राता श्री भागचन्दजी एवं अपनी धर्मभगिनि दो भी दे गये थे। आपके एक पुत्र तथा दो पुत्रियां हैं। श्री नरेन्द्र कुमार आपका पुत्र है।

२ आपके मंझले पुत्र श्री रतनलालजी हैं। इनका विवाह जयपुर निवासी श्रीमान् नथमलजी सेठी की सुपुत्री श्रीमती सरितादेवी के साथ हुआ। शिक्षा के क्षेत्र मे आपकी प्रबल इच्छा आरम्भ से ही रही है। अत आपने जयपुर इन्जीनियरिंग कॉलेज का पोस्ट ग्रेजुएशन प्रथम श्रेणी मे उत्तीर्ण किया है। आपके एक पुत्र है जिसका नाम विमल कुमार है।

३. श्री भागचन्दजी साहब आपके कनिष्ठ पुत्र हैं। अभी आप अध्ययन मे संलग्न हैं। आप एक कुशल टेबिलटेनिस खिलाड़ी हैं। इसकी विशेष योग्यता के कारण आपको पास जगह जगह से आमत्रण आते रहते हैं। इसके साथ साथ आपकी भावी प्रबल इच्छा एक कुशल संगीतकार के रूप मे आने की है।

आपकी पांचो पुत्रियां सुन्दर तथा गृह कार्य मे निपुण हैं। सभी के विवाह सुसम्पन्न घरानों में हुये हैं।

धार्मिक क्षेत्र मे भी आपकी रुचि एक अनूठी प्रवृत्ति है। आपका अधिकांश समय धार्मिक कार्यों मे ही व्यतीत होता है। आपकी रुचि सदैव श्रावक एवं त्यागी वर्ग की सेवा मे रहती है। आप नश्वर ससार की असारता को देखते हुये पूर्ण रूप से सादगी में रहती हैं। सादा जीवन एवं उच्च विचार आपका लक्ष्य बना हुआ है, इसी आधार पर आपने अपना जीवन का अधिकांश भाग आत्मकल्याण के मार्ग में ही लगा रखा है। आपके हृदय मे कोमलता एवं करुणा भाव सदैव विद्यमान रहते हैं। इन सब उच्च आदर्श विचारो के कारण आपने दिगम्बर जैन महिला समाज मे ख्याति प्राप्त की है। प्रत्येक धार्मिक क्षेत्र मे आगे आना तथा धार्मिक कार्य मे अग्रसर रहना आपकी विशेषता है। आपकी मृदु वाणी सुनकर महिला समाज ने भूरि-भूरि प्रशसा की है। आपकी प्रबल इच्छा रहती है कि वह सदैव १०८ मुनिराजों की सेवा में रत रहे तथा इनके उपदेशों की झलक उनके दैनिक जीवन में दिखाई देती रहे।

इस धार्मिक रुचि के कारण आप समय समय पर तीर्थ-धामों की यात्रा अपने पति के साथ करती रहती हैं। तीर्थ क्षेत्रों की सहायता करना एवं आवश्यकताओं की पूर्ति करना आपका एक विशेष गुण है। मुनियों के दर्शनार्थ समय समय पर बाहर जाना तथा मुनियों को आहारदान देना एवं उनके सत्उपदेशों को सुनना आपकी जीवनचर्या का अनुपम अङ्ग है। आपने मुनिराजो के सद्-उपदेशों से प्रेरित होकर अपने पतिदेव के द्वारा मरसलगंज में पंचकल्याणक प्रतिष्ठा करवाई और अपने चंचल द्रव्य का सदुपयोग किया। शान्तिवीर नगर श्री महावीरजी एवं गौहाटी के पञ्चकल्याणकों

आपकी विचारधारा एक उच्च विचारधारा है। समय किसी की भी नहीं सुनता है, इस सिद्धान्त को लेकर कोई भी कार्य धार्मिक हो या सामाजिक, उसमें आप कभी भी आलस्य या प्रमाद नहीं करती हैं। इतना करते हुये भी आप अपने में अहङ्कार को छू तक नहीं आने देती हैं। आये हुये अतिथि व मेहमान का स्वागत करना, आवभगत करना आपका सचमुच अनुकरणीय गुण है। आपका हँसमुख चेहरा एक बार देखने मात्र से कभी विस्मृत नहीं हो सकता। ये सब बातें मैंने स्वयं अपनी आंखों से आपके निवास स्थान गौहाटी जाकर देखी हैं।

अतः इस महान् महिला रत्न को मैं शत शत शुभ कामनाएं अर्पित करता हूँ।

देवी महिला-रत्न आप जिनवर पदसेवी,
अपने पति की धर्म कार्य में रुचि करलेवी।
सदा दान मे लीन गुरुन की आज्ञापेवी,
अमर रहो गुणशील भरी हे भँवरीदेवी।

गुलाबचन्द जैन
एम० ए० जैन दर्शनाचार्य

श्रीमान् दानवीर जैनरत्न धर्मदिवाकर संघभक्त शिरोमणि

राय सा० सेठ चांदमलजी पांड्या, सुजानगढ़

ही है, नेतृत्व के लिए उन पर अपनी दृष्टि गडाए हुए है। वे समाज की सबसे पुरानी सस्था अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महा सभा के आजकल अध्यक्ष है और उनकी सेवाओ को मान्यता प्रदान करते हुए समाज के श्रावक तथा विद्वत्‌वर्ग ने उन्हे समय समय पर जैनरत्न, धर्मवीर, दानवीर, श्रावक शिरोमणि तथा आचार्य सघ भक्त दिवाकर, गुरुभक्त शिरोमणि आदि उपाधियो से सम्मानित किया है। आपकी गुरुभक्ति श्लाघनीय और अनुकरणीय है। मुनि सघो की परिचर्या तथा उनके सान्निध्य मे रहकर धर्म साधना करने मे आजकल आप सपत्नीक दत्त चित्त रहते हैं। व्यापारिक गतिविधियो से सम्बन्ध रखते हुए भी श्री सरावगीजी का अधिकाश समय आजकल धार्मिक सस्थाओ और सगठनो के कार्य को सुचारु करने, उनकी आर्थिक स्थिति मजबूत बनाने और उन्हे सुदृढ स्वरूप प्रदान करने के उपायो मे ही बीतता है। जैन जनगणना के व्यापक उद्देश्य की सम्पूर्ति के लिये आप निरन्तर सचेष्ट रहे और इन कार्यो की पूर्ति हेतु आपने भारी आर्थिक सहयोग भी प्रदान किया था।

आजकल आप श्री १००८ भगवान् महावीर स्वामी के २५०० सौ वें निर्वाण महोत्सव के कार्यक्रमो की प्रगति के लिये सचेष्ट रूप से क्रियाशील है। आप इस सम्बन्ध मे श्रीमती गाँधी की अध्यक्षता मे गठित राष्ट्रीय समिति के भी सदस्य हैं तथा उक्त समिति की कार्यकारिणी के भी सदस्य हैं। इसके अतिरिक्त इस सम्बन्ध मे बिहार गवर्नमेन्ट द्वारा गठित–बिहार राज्य कमेटी के भी सदस्य है।

इसी भाँति आसाम सरकार द्वारा गठित ऑल आसाम २५०० वी निर्वाण समिति के भी आप सदस्य हैं। ऑल इण्डिया दिगम्बर भगवान् महावीर २५०० वी निर्वाण महोत्सव सोसायटी, देहली के आप वर्किंग प्रेसीडेन्ट है।

मन्दिरों के निर्माता एवं संरक्षक

श्री सरावगीजी मन्दिरो के निर्माण, मानस्तम्भो की स्थापना तथा अन्य धार्मिक अनुष्ठानो मे श्रद्धापूर्वक भाग लेते है। गौहाटी, मरसलगज तथा शान्तिवीर नगर, श्री महावीरजी मे सम्पन्न पञ्च कल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सवो मे आपका मुक्त हस्त से सहयोग सर्वविदित है। आपने स्वअर्जित चचला लक्ष्मी का सदुपयोग विभिन्न तीर्थो पर लाखो रुपयो का दान देकर किया है। श्री सरावगीजी ने सुजानगढ मे मानस्तम्भ का निर्माण कराया तथा शान्तिवीर नगर (श्री महावीरजी) मे ६१ फीट ऊचे सगमरमर के मानस्तम्भ का निर्माण कार्य उनकी ओर से प्रगति पर है। श्री सरावगीजी तीन बार सम्पूर्ण भारत के जैन तीर्थो की वदना कर चुके है और सन् ६६ से प्रतिवर्ष पर्युषण पर्व या अठाई मे उपवास करके आत्मा का कल्याण कर रहे हैं।

भरा पूरा सुखी परिवार

श्री सरावगीजी एक भरे पूरे सुखी परिवार के स्वामी है। उनका विवाह १-५-३० को श्रीमती भँवरीदेवी के साथ सम्पन्न हुआ जो स्वयं सरल स्वभाव की धर्मपरायणा विदुषी महिला रत्न हैं और

अपने अतिथियो को स्वजनो मे भी अधिक मान सत्कार देती हैं। श्री सरावगीजी के सर्वश्री [illegible]-राय, रतनलाल व भागचन्द (तीन मे से प्रथम दो विवाहित) योग्य पुत्र है, तथा [illegible]देवी, सुशीलादेवी, किरणदेवी, विमलादेवी तथा सरलादेवी नामक पाच पुत्रियां धर्मप्राण, सुसस्कृत और सम्पन्न परिवारो मे विवाहित है। अभी पिछले दिनो ही आपके दो पुत्रो तथा एक पुत्रवधू ने जापान आदि देशो का भ्रमण कर वैदेशिक अनुभव लाभ किया है। इस प्रकार से आप सभी गार्हस्थिक दायित्वो से मुक्त होकर आजकल दान, पुण्य, धर्माराधना एव तीर्थ यात्राओं के द्वारा कल्याण मार्ग पर अग्रसर हो रहे है।

स्वयं में संस्थाओं का समूह

दानवीर सेठ श्री चादमलजी सरावगी स्वय मे एक सस्थाओं का समूह है। जितनी सस्थाओं के सस्थापक, जन्मदाता, सरक्षक, सभापति और कार्यशील नेता वे है, यदि उन सब का नाम लिखा जाय तो उसके लिए अलग से एक परिशिष्ट लगाना पडेगा। लगभग ६० सस्थाओ से श्री सरावगीजी इस समय सम्बद्ध है, जिनमे से अनेक अखिल भारतीय ख्याति की है तथा जिनके वे अध्यक्ष है। अनेक स्थानीय महत्व की हैं, अनेक धार्मिक हैं, अनेक सामाजिक है, अनेक शैक्षणिक है और अनेक राष्ट्रीय सामाजिक कार्यक्रमो को चलाने वाली है। वे आसाम प्रदेश काग्रेस के सदस्य रह चुके हैं तथा आसाम चेम्बर आफ कामर्स के अध्यक्ष पद को सुशोभित कर चुके है। अनेक सस्थाओ का आजीवन सरक्षक बनने का गौरव भी श्री सरावगीजी को प्राप्त है।

देश तथा जैन समाज को दानवीर सेठ श्री चादमलजी सरावगी से भारी आशाए हैं और उनकी तत्परता तथा युवकोचित उत्साह युवा पीढी को मार्गदर्शन देता रहता है।

भोमानीराम शर्मा, बी. ए.
सुजानगढ

श्री आदिचन्द्रप्रभु आचार्य श्री महावीरकीर्ति

सरस्वती प्रकाशन माला

[सचालिका:— सौ० दानशीला, जैन महिला रत्न श्री भँवरीदेवीजी पाड्या, सुजानगढ़]

उक्त सस्था की स्थापना वीर नि० स० २४९५ मे श्री सिद्धक्षेत्र गजपंथा मे श्री परम पूज्य आचार्य १०८ श्री महावीरकीर्तिजी महाराज के तत्वावधान मे जैन रत्न गुणिगणभूषण, शिरोमणि, दानवीर, रायसाहब सेठ चादमलजी साहब पाड्या, सुजानगढ़ की धर्मपत्नि सौ० दानशीला श्रीमती भँवरीदेवीजी के कर कमलो से हुई थी।

प्रकाशन माला की ओर से प्रथम पुष्प के रूप मे श्री नव देवता विधान पूजन (मगल सौभाग्य व्रत) सहिता-सूरि ब्रह्मचारी सूरजमलजी द्वारा लिखित प्रकाशित हो चुकी है। द्वितीय पुस्तक के रूप मे पूज्य आर्यिका श्री विजयमती माताजी की नवीन कृति 'आत्मान्वेषण' प्रकाशित हो चुकी है। इस पुस्तक मे सरल, सुबोध और सुगम्य भाषा मे आत्मा की खोज मे बहुत ही सुन्दर विवेचन किया है जिससे धार्मिक जनता ने पर्याप्त लाभ उठाया है।

अब तीसरा पुष्प—पञ्चाध्यायी नामक महान् ग्रन्थ पाठको के हाथ मे देते हुए अत्यन्त प्रसन्नता हो रही है। पुस्तक प्रकाशन माला का चौथा पुष्प सागार धर्मामृत छप रहा है जिसकी लेखिका सुप्रसिद्ध विदुषी १०८ आर्यिका श्री सुपार्श्वमतीजी है।

पाँचवाँ पुष्प—कुन्दकुन्द शोध प्रबन्ध—लेखक डा० लाल बहादुर शास्त्री एम० ए० पी० एच-डी०।

छठा पुष्प आचार्य श्री शिवसागरजी स्मृति ग्रन्थ, और

सातवाँ पुष्प—आचार्य श्री महावीर कीर्तिजी स्मृति ग्रन्थ के प्रकाशित होने की योजना कार्य-रूप में परिणत हो रही है।
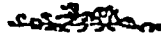
आशा है धार्मिक जनता इनसे लाभ उठायेगी।

इस सस्था के निम्न उद्देश्य हैं—

(१) श्री दिगम्बर जैन आर्ष मार्ग को पोषण करनेवाले धार्मिक ट्रैक्ट (धर्म ग्रन्थ) छपाना और उन्हे फ्री या उचित मूल्य पर वितरण करना।

(२) श्री दि० जैन विद्वानो को पारितोषिक देकर उनका सम्मान करना।

(३) श्री दिगम्बर जैन आचार्य साधु साध्वियो द्वारा लिखित मौलिक पुस्तकें छपाना एवं उनके उपदेशो का प्रचार करना।

(४) साधु वर्ग को स्वाध्याय के लिये शास्त्र ग्रन्थादि प्रदान की व्यवस्था करना।

(५) प्राचीन अप्रकाशित ग्रन्थो को प्राप्त कर उन्हें संग्रहीत करना एवं उनके प्रकाशित करने की व्यवस्था करना।

नेमीचन्द बाकलीवाल
कमल प्रिन्टर्स,
मदनगंज-किशनगढ

विषय सूची

पञ्चाध्यायी उत्तरार्द्ध

श्री ं ह ि

★

नमः सिद्धेभ्यः ।

सुबोधिनी

हिन्दी भाषा-टी । सहित

पञ्च ध्य यी

• वीर प्रार्थना •

सुध्यानमें लवलीन हो, जब घातिया चारों हने,
सर्वज्ञबोध, विरागताको, पालिया तब आपने ।
उपदेश दे हितकर, अनेकों भव्य, निज सम कर लिये,
रवि ज्ञान किरण प्रकाश डालो, वीर! मेरे भी हिये ॥१॥

• जिनवाणी नमस्कार •

स्याद्वाद, नय, षट्द्रव्य, गुण, पर्याय, और प्रमाणका,
जड़-कर्म चेतन बन्धका, अरु कर्मके अवसानका ।
कहकर स्वरूप यथार्थ, जगका जो किया उपकार है,
उसके लिये, जिनवाणि! तुमको वन्दना शत बार है ॥२॥

* गुरु स्तवन *

धरि कवच संयम, उग्र ध्यान कठोर असि निज हाथ ले,
व्रत, समिति, गुप्ति, सुधर्म, भावन, वीर भट भी साथ ले ।
परचक्र राग द्वेष हनि, स्वातन्त्र्य-निधि पाते हुए,
वे स्व-पर तारक, गुरु, तपोनिधि, मुक्ति पथ जाते हुए ॥३॥

ग्रन्थकारका मङ्गलाचरण और आशय

पञ्चाध्यायावयवं मम कर्तुर्ग्रन्थराजमात्मवशात् ।
अर्थालोकनिदानं यस्य वचस्तं स्तुवे महावीरम् ॥१॥

अर्थः—पाँच अध्यायोमे बँटे हुए जिस ग्रन्थराजको मै स्वय वनानेवाला हूँ, उस ग्रन्थराजके बनानेमे जिन महावीर स्वामीके वचन मेरे लिये पदार्थोके प्रकाश करनेमे मूल कारण है, उन महावीर स्वामी (वर्तमान-अन्तिम तीर्थंकर)का मैं स्तवन करता हूँ ।

भावार्थः—ग्रन्थकारने इस श्लोक द्वारा महावीर स्वामीका स्तवनरूप मङ्गल किया है । जिसप्रकार इष्ट देवका नमस्कार, स्मरण आदिक मङ्गल है, उसीप्रकार उनके गुणोका स्तवन[1] करना भी मङ्गल है । स्तवन करनेमे भी ग्रन्थकारने महावीर स्वामीकी सर्व जीव हितकारक-अलौकिक दिव्य भाषाको ही हेतु ठहराया है । वास्तवमे यह ससारी जीव मोहान्धकारवश पदार्थोके यथार्थ स्वरूपको नही पहचानता है । जव तेरहवें गुणस्थानवर्ती तीर्थंकरके उपदेशसे उसे यथार्थ वोध होता है, तव उस वोधरूपी प्रकाशमे पदार्थोका ठीक ठीक विकास होने लगता है । इसी आशयको ग्रन्थकारने स्पष्ट रीतिसे बतलाया है । मङ्गलाचरण करते हुए ग्रन्थकारने अपना आशय भी कुछ प्रगट कर दिया है । वे जिस ग्रन्थके बनानेका प्रारम्भ करते है, वह एक सामान्य ग्रन्थ नही होगा, किन्तु अनेक ग्रन्थोका राजा-महा ग्रन्थ, होगा । इस बातको हृदयमे रखकर ही उन्होने इसे ग्रन्थराज पद दिया है । साथ ही वे जिस ग्रन्थको बनानेवाले है, उस ग्रन्थको पाँच मूल बातोमे-जैसे-द्रव्य विभाग, सम्यक्त्व विभाग आदिरूपसे[2] विभक्त करनेका उद्देश्य स्थिर कर चुके है, तभी उन्होने इस ग्रन्थका यौगिक[3] रीतिसे "पञ्चाध्यायी" ऐसा नाम रक्खा है ।

---

१ आदौ मध्येऽवसाने च मङ्गल भाषित बुधैः । तज्जिनेन्द्रगुणस्तोत्र तदविघ्नप्रसिद्धये ॥१॥
आप्तपरीक्षा।

२ पाँचों विभागोंके नाम यहाँ क्यों नहीं दिये गये हैं, यह विषय इस ग्रन्थकी भूमिकासे स्पष्ट होगा ।

३ शब्दोंके वाच्यार्थ तीन प्रकार हैं—रूढिसे, योगसे, योग रूढिसे । जो शब्द अपने अर्थको अपनी व्युत्पत्तिद्वारा न जना सके, वह रूढिसे कहा जाता है । जैसे-ऐलक शब्दका अर्थ ग्यारह प्रतिमाधारी । जो शब्द अपने अर्थको अपनी ही व्युत्पत्तिद्वारा जना सके, वह यौगिक कहा जाता है । जैसे-जिन शब्दका अर्थ सम्यग्दृष्टि अथवा अर्हन् । जो शब्द अपने अर्थको व्युत्पत्तिद्वारा भी जना सके और उस अर्थमें नियत भी हो वह योगरूढि कहलाता है । जैसे-तीर्थंकर शब्दका अर्थ (चौवीस) तीर्थङ्कर ।

पाँचों परमेष्ठियोंको नमस्कार

शेषानपि तीर्थंकराननन्तसिद्धानहं नमामि समम् ।
धर्माचार्याध्यापकसाधुविशिष्टान् मुनीश्वरान् वन्दे ॥२॥

अर्थः—महावीर स्वामीके सिवाय और भी जितने (वृषभादिक २३) तीर्थङ्कर है, तथा अनादि कालसे होनेवाले अनन्त सिद्ध है। उन सबको एक साथ मैं नमस्कार करता हूँ। [1]धर्माचार्य, उपाध्याय, और साधु, इन तीन श्रेणियोमें विभक्त मुनीश्वरोको भी मै वन्दना करता हूँ।

जिनशासनका माहात्म्य

जीयाज्जैनं शासनमनादिनिधनं सुवन्द्यमनवद्यम् ।
यदपि च कुमताराातीनदयं धूमध्वजोपमं दहति ॥३॥

अर्थः—जो जैन शासन (जैनमत) अनादि-अनन्त है। अतएव अच्छी तरह वन्दने योग्य है। दोषोसे सर्वथा मुक्त है। साथमे खोटे मतरूपी शत्रुओको अग्निकी तरह जलानेवाला है, वह सदा जयशील बना रहे।

ग्रन्थकारकी प्रतिज्ञा

इति वन्दितपञ्चगुरुः कृतमङ्गलसत्क्रियः स एष पुनः ।
नाम्ना पञ्चाध्यायीं प्रतिजानीते चिकीर्षितं शास्त्रम् ॥४॥

अर्थः—इसप्रकार पञ्च परमेष्ठियोकी वन्दना करनेवाला और मङ्गलरूप श्रेष्ठ क्रियाको करनेवाला यह *ग्रन्थकार पञ्चाध्यायी नामक ग्रन्थको बनानेकी प्रतिज्ञा करता है।

ग्रन्थके बनानेमें हेतु

अत्रान्तरंगहेतुर्यद्यपि भावः कवेर्विशुद्धतरः ।
हेतोस्तथापि हेतुः साध्वी सर्वोपकारिणी बुद्धिः ॥५॥

अर्थः—ग्रन्थ बनानेमे यद्यपि अन्तरग कारण कविका अति विशुद्ध भाव है, तथापि उक्त कारणका भी कारण सव जीवोका उपकार करनेवाली श्रेष्ठ बुद्धि है।

---

१ आचार्यका मुनियोंके साथ धार्मिक सम्बन्ध ही होता है। परन्तु गृहस्थाचार्यका गृहस्थोंके साथ धार्मिक और सामाजिक, दोनों प्रकारका सम्बन्ध रहता है। इसीलिये आचार्यका धर्म विशेषण दिया है।

* आनुमानिक—श्रीमत्परमपूज्य अमृतचन्द्र सूरि। ऐसा अनुमान क्यों किया जाता है? यह भूमिकासे स्पष्ट होगा।

भावार्थः—जबतक ज्ञानावरण कर्मका विशेष क्षयोपशम न हो, तबतक अनेक कारण कलाप मिलनेपर भी ग्रन्थ निर्माणादि कार्य नहीं हो सकते। इसलिये इस महान् कार्यमें अन्तरंग कारण तो कविवर (ग्रन्थकार)का विशेष क्षायोपशमिक भाव है परन्तु उस क्षयोपशम होनेमे भी कारण सब जीवोंके उपकार करनेके परिणाम हैं। बिना उपकारी परिणामोंके हुए इस प्रकारकी परिणामोमें निर्मलता ही नहीं आती।

कथनक्रम

सर्वोऽपि जीवलोकः श्रोतुं कामो वृषं हि सुगमोक्त्या।
विज्ञप्तौ तस्य कृते तत्रायमुपक्रमः श्रेयान् ॥६॥

अर्थः—सम्पूर्ण जनसमूह धर्मको सुनना चाहता है, परन्तु सरल रीतिसे सुनना चाहता है। यह बात सर्व विदित है। इसके लिये हमारी यह (नीचे लिखी हुई) कथन शैली अच्छी होगी—

सति धर्मिणि धर्माणां मीमांसा स्यादनन्यथा न्याय्यात्।
साध्यं वस्तुविशिष्टं धर्मविशिष्टं ततः परं चापि ॥७॥

अर्थः—धर्मीका निरूपण होनेपर ही धर्मोंका विशेष विचार किया जा सकता है। इसके सिवाय और कोई नीति नहीं हो सकती। इसलिये पहले सामान्य रूपसे ही वस्तुको सिद्ध करना चाहिये। उसके पीछे धर्मोंकी विशेषताके साथ सिद्ध करना चाहिये।

भावार्थः—अनेक धर्मोंके समूहका नाम ही धर्मी है। धर्म, गुण, ये दोनोंही एकार्थ हैं। जब किसी खास गुणका विवेचन किया जाता है तब वह विवेचनीय गुण तो धर्म कहलाता है और बाकी अनन्त गुणोंका समुदाय धर्मी (पिण्ड द्रव्य) कहलाता है। इसीप्रकार हर एक गुण चालनी न्यायसे धर्म कहलाता है, उससे बाकीके सम्पूर्ण गुणोंका समूह, धर्मी कहलाता है। धर्मकी मीमांसा (विचार) तभी हो सकती है जब कि पहले धर्म समुदायरूप धर्मीका बोध हो जाय। जिसप्रकार शरीरका परिज्ञान होनेपर ही शरीरके प्रत्येक अंगका वर्णन किया जा सकता है। इसलिये यहाँ पर पहले धर्मोंका विचार न करके धर्मीका ही विचार किया जाता है। सामान्य विवेचनाके पीछे ही विशेष विवेचना की जा सक्ती है।

तत्त्वका स्वरूप

तत्त्वं सल्लाक्षणिकं सन्मात्रं वा यतः स्वतः सिद्धम्।
तस्मादनादिनिधनं स्वसहायं निर्विकल्पञ्च ॥८॥

अर्थः—तत्त्व (वस्तु) सत् लक्षणवाली है। अथवा सत् स्वरूप ही है। और वह स्वतः सिद्ध है इसीलिये अनादि निधन है। अपनी सहायतासे ही बनता और बिगड़ता है। और वह निर्विकल्प (वचनातीत) भी है।

भावार्थः—वस्तु सत् लक्षणवाला है, यह प्रमाण लक्षण है। *प्रमाणमें एक गुणके द्वारा सम्पूर्ण वस्तुका ग्रहण होता है। वस्तुमे अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व, प्रदेशत्व आदि अनन्त गुण है। अस्तित्व गुणका नाम ही सत् है। सत् कहनेसे अस्तित्व गुणका ही ग्रहण होना चाहिये परन्तु यहाँपर सत् कहनेसे सम्पूर्ण वस्तुका ग्रहण होता है। इसका कारण यही है कि अस्तित्व आदि सभी गुण अभिन्न है। अभिन्नताके कारण ही सत्के कहनेसे सम्पूर्ण गुण समुदायरूप वस्तुका ग्रहण हो जाता है। इसीलिये वस्तुको सत् स्वरूप भी कह दिया है। सत् और गुण समुदायरूप वस्तु, दोनों अभिन्न है। इसलिये सत्रूप ही वस्तु है।

यहाँपर लक्ष्य लक्षणकी भेद विवक्षा रखकर ही वस्तुका सत्, लक्षण बतलाया है। अभेद विवक्षामें तो वस्तुको सत् स्वरूप ही बतलाया गया है।

नैयायिक आदि कतिपय दर्शनवाले वस्तुको परसे सिद्ध मानते है। ईश्वरादिको उसका रचयिता बतलाते है, परन्तु यह मानना सर्वथा मिथ्या है। वस्तु अपने आप ही सिद्ध है। इसका कोई बनानेवाला नही है। इसीलिये न इसकी आदि है और न इसका अत है। प्रत्येक वस्तुका परिणमन अवश्य होता है उस परिणमनमे वस्तु अपने आप ही कारण है और अनन्त गुणोका पिण्डरूप वस्तु वचन वर्गणाके सर्वथा अगोचर है।

ऐसा न माननेमे दोष

इत्थं नोचेदसतः प्रादुर्भूति र्निरङ्कुशा भवति।
परतः प्रादुर्भावो युतसिद्धत्वं मतो विनाशो वा ॥९॥

अर्थः—यदि ऊपर कही हुई रीतिसे वस्तुका स्वरूप न माना जावे तो अनेक दोष आते है। असत् पदार्थ भी होने लगेगा। जब वस्तुको सत् स्वरूप और स्वत सिद्ध माना जाता है तब तो असत्की उत्पत्ति बन नही सकती है। परन्तु ऐसा न मानने पर यह दोष विना किसी अकुशके प्रबलतासे उपस्थित हो जायगा। इसीप्रकार वस्तुकी परसे उत्पत्ति होने लगेगी। वस्तुमे युतसिद्धता (अखण्डताका अभाव) भी होगी। और सत् पदार्थका विनाश भी होने लगेगा। इस तरह ऊपरकी चारो वातोके न माननेसे ये चार दोष आते हैं।

* एकगुणमुखेनाऽशेषवस्तुकथनम्प्रमाणाधीनमिति वचनात्।

असत्पदार्थकी उत्पत्तिमें

असतः प्रादुर्भावे द्रव्याणामिह भवेदनन्तत्त्वम् ।
को वारयितुं शक्तः कुम्भोत्पत्तिं मृदाद्यभावेपि ॥१०॥

अर्थः—यदि उन दोषोको स्वीकार किया जाय तो और कौन २ दोष आते हैं, वही बतलाया जाता है। यदि असत्की उत्पत्ति मान ली जाय, अर्थात् जो वस्तु पहले किसी रूपमे भी नही है, और न उसके परमाणुओकी सत्ता ही है, ऐसी वस्तुकी उत्पत्ति माननेसे वस्तुओकी कोई इयत्ता (मर्यादा) नही रह सकती है। जब विना अपनी सत्ताके ही नवीन रूपसे उत्पत्ति होने लगेगी तो ससारमे अनन्तो द्रव्य होते चले जांयगे। ऐसी अवस्थामे बिना मिट्टीके ही घड़ा बनने लगेगा, इसको कौन रोक सकेगा।

भावार्थः—असत्की उत्पत्ति माननेसे वस्तुओमें कार्य–कारण भाव नही रहेगा। कार्य–कारण भावके उठ जानेसे कोई वस्तु कहीसे क्यो न उत्पन्न होजाय उसमे कोई बाधक नही हो सकता है। कार्य–कारण माननेपर यह दोष नही आता है। अपने कारणसे ही अपना कार्य होता है, यह नियम वस्तुओकी अव्यवस्थामे बाधक हो जाता है। इसलिये असत् पदार्थोकी उत्पत्ति न मानकर वस्तुको सत्रूप मानना ही ठीक है।

परसे सिद्ध माननेमें दोष

परतः सिद्धत्वे स्यादनवस्थालक्षणो महान् दोषः ।
सोपि परः परतः स्यादन्यस्मादिति यतश्च सोपि परः ॥११॥

अर्थः—वस्तुको परसे सिद्ध मानने पर अनवस्था नामक दोष आता है। यह दोष वडा दोष है। वह इसप्रकार आता है कि—वस्तु जब परसे सिद्ध होगी तो वह पर भी किसी दूसरे पर पदार्थसे सिद्ध होगा। क्योकि पर–सिद्ध माननेवालोका यह सिद्धान्त हैं कि हर एक पदार्थ परसे ही उत्पन्न होता है।

भावार्थः—अप्रमाणरूप अनन्त पदार्थोकी उत्तरोत्तर कल्पना करते चले जाना, इसीका नाम अनवस्था *दोष है। यह दोष पदार्थ सिद्धिमे सर्वथा बाधक है। पदार्थोको पर सिद्ध मानने पर यह महा दोष उपस्थित हो जाता है। क्योकि उससे वह, फिर उससे वह, इसप्रकार कितनी ही लम्वी कल्पना क्यो न की जाय, परन्तु कही पर भी जाकर विश्राम नही आता। जहाँ रुकेगे वही पर यह प्रश्न खडा होगा कि यह कहाँसे हुआ। इसलिये वस्तुको पर सिद्ध न मानकर स्वत सिद्ध मानना ही श्रेयस्कर है।

* अप्रामाणिकाऽनन्तपदार्थकल्पनया–अविश्रान्तिरनवस्था।

युतसिद्ध माननेमें दोष

युतसिद्धत्वेप्येवं गुणगुणिनोः स्यात्पृथक् प्रदेशत्वम् ।
उभयोरात्मसमत्वाल्लक्षणभेदःकथं तयो र्भवति ॥१२॥

अर्थः—युतसिद्ध माननेसे गुण और गुणी (जिसमें गुण पाया जाय) दोनों ही के भिन्न २ प्रदेश ठहरेंगे । उस अवस्थामे दोनो ही समान होगे । फिर अमुक गुण है और अमुक गुणी है ऐसा गुण, गुणीका भिन्न २ लक्षण नही बन सकेगा ।

भावार्थः—अनन्तगुणोका अखण्ड पिण्ड स्वरूप यदि वस्तु मानी जावे तब तो गुण, गुणीके भिन्न प्रदेश नही होते है, और अभिन्नतामे ही विवक्षा वश गुण, गुणीमे लक्षणभेद हो जाता है । परन्तु जब वस्तुके भिन्न प्रदेश माने जावे और गुणोके भिन्न माने जावें तव दोनों ही स्वतत्र होगे, और स्वतन्त्रतासे अमुक गुण है और अमुक गुणी है ऐसा लक्षणभेद नही कर सकते । समान-अधिकारमे दोनो ही वस्तु होगे अथवा दोनों ही गुण होगे । इसलिये युतसिद्ध मानना ठीक नही है । युतसिद्धका अर्थ है कि दो वस्तुओंका सम्बन्ध । परन्तु गुण गुणी दो वस्तु नही है । एक ही है ।

सत्का नाश माननेमें दोष

अथवा सतो विनाशः स्यादिति पक्षोपि बाधितो भवति ।
नित्यं यतः कथञ्चिद्द्रव्यं सुज्ञैः प्रतीयतेऽध्यक्षात् ॥१३॥

अर्थः—अथवा सत्का नाश हो जायगा यह पक्ष भी सर्वथा वाधित है । क्योकि द्रव्य कथचित् नित्य है यह वात विशेप जानकारोको प्रत्यक्ष रूपसे प्रतीत है ।

भावार्थः—यदि द्रव्य कथश्चित् नित्य न होवे तो प्रत्यभिज्ञान ही नही हो सकता । जिस पुरुषको पहले कभी देखा हो, फिर दुवारा भी उसे देखा जाय तो ऐसी वुद्धि पैदा होती है कि "यह वही पुरुप है जिसे कि हम पहले देख चुके हैं ।" यदि उस पुरुपमे कथञ्चित् नित्यता न होवे तो "यह वही पुरुप है" ऐसी स्थिर वुद्धि भी नही हो सकती । और ऐसी धारणारूप बुद्धि विद्वानोको स्वय प्रतीत होती है । इसलिये सर्वथा वस्तुका नाश मानना भी सर्वथा अनुचित है ।

साराश

तस्मादनेकदूषणदूषितपक्षाननिच्छता पुंसा ।
अनवद्यमुक्तलक्षणमिह तत्त्वं चानुमन्तव्यम् ॥१४॥

अर्थः—इसलिये अनेक दूषणोंसे दूषित पक्षोको जो पुरुष नही चाहता है उसे योग्य है कि वह ऊपर कहे हुए लक्षणवाली निर्दोष वस्तुको स्वीकार करे। अर्थात् सत् स्वरूप, स्वत· सिद्ध, अनादि निधन, स्वसहाय और निर्विकल्प स्वरूप ही वस्तुको समझे।

सत्ता विचार

किञ्चैवंभूतापि च सत्ता न स्यान्निरङ्कुशा किन्तु।
सप्रतिपक्षा भवति हि स्वप्रतिपक्षेण नेतरेणेह ॥१५॥

अर्थः—जिस सत्ताको वस्तुका लक्षण बतलाया है वह सत्ता भी स्वतन्त्र पदार्थ नही है। किन्तु अपने प्रतिपक्ष (विरोधी)के कारण प्रतिपक्षी भावको लिये हुए है। सत्ताका जो प्रतिपक्ष है उसीके साथ सत्ताकी प्रतिपक्षता है दूसरे किसीके साथ नही।

भावार्थः—नैयायिक सिद्धान्त सत्ताको सर्वथा स्वतन्त्र पदार्थ मानता है। उसके मतके अनुसार सत्ता यद्यपि वस्तुमे रहती है परन्तु वह वस्तुसे सर्वथा जुदी है, और वह नित्य है, व्यापक है, एक है। जैन सिद्धान्त इसके सर्वथा प्रतिकूल है। वह सत्ताको वस्तुसे अभिन्न मानता है, स्वतन्त्र पदार्थरूप सत्ताको नही मानता। यदि नैयायिक मतके अनुसार सत्ताको स्वतन्त्र पदार्थ माना जावे तो वस्तु अभावरूप ठहरेगी। यदि उसको नित्य माना जावे तो उसके साथ समवाय सम्बन्ध (नित्य सम्बन्धका नाम समवाय है) से रहनेवाली वस्तुका कभी भी नाश नही होना चाहिये। यदि उस सत्ताको व्यापक तथा एक माना जावे तो वह मध्यवर्ती अन्य पदार्थोमे भी रह जायगी। दृष्टान्तके लिये गोत्व सत्ताको ले लीजिये जैसे—नैयायिक मतके अनुसार कलकत्तेवाली गौमे जो गोत्त्वधर्म है वही बम्बईवाली गौमे भी है। जब दोनो जगह एक ही गोत्व धर्म है तब वह अखण्ड होना चाहिये, और अखण्ड होनेसे कलकत्ता और बम्बईके बीचमे जितने भी पदार्थ है उन सबमें भी गोत्वधर्म रह जायगा। गोत्व धर्मके रहनेसे वे सभी पदार्थ गौ, कहलाँयगे। इन बातोके सिवाय सत्ताको स्वतन्त्र माननेमे और भी अनेक दोष[1] आते है। इसलिये सत्ता स्वतन्त्र पदार्थ नही है किन्तु वस्तुसे अभिन्न एक अस्तित्व नामक गुण है। जितने ससारमे पदार्थ हैं उन सबमे भिन्न २ सत्ता है, एक नही हैं। जब वस्तु परिणमनशील है तब उसके सत्ता गुणमे भी परिवर्तन होता है, इसलिये वह सत्ता कथचित् अनित्य भी है, सर्वथा नित्य नही है। वस्तुके परिणमनकी अपेक्षासे ही उस सत्तामे प्रतिपक्षता आती है। पर्यायकी अपेक्षासे वह सत्ता अनेक रूप है। द्रव्यकी अपेक्षासे वह एकरूप भी है। इसीप्रकार सत्ताका प्रतिपक्ष पदार्थान्तररूप परिणमनकी अपेक्षासे अभाव भी पडता है। और भी अनेक रीतिसे प्रतिपक्षता आती है जिसको ग्रन्थकार स्वय आगे प्रगट करेंगे।

१ जिनका कुछ कथन दूसरे अध्यायमें किया गया है।

शङ्काकार

अत्राहैवं कश्चित् सत्ता या सा निरंकुशा भवतु ।
परपक्षे निरपेक्षा स्वात्मनि पक्षेऽवलम्बिनी यस्मात् ॥१६॥

अर्थः—यहाँ परक्ष* कोई कहता है कि जो सत्ता है वह स्वतन्त्र ही है । क्योंकि वह अपने स्वरूपमे ही स्थित है । परपक्षसे सर्वथा निरपेक्ष है अर्थात् सत्ताका कोई प्रतिपक्ष नही है ।

उत्तर

तन्न यतो हि विपक्षः कश्चित्सत्त्वस्य वा सपक्षोपि ।
द्वावपि नयपक्षौ तौ मिथो विपक्षौ विवक्षितापेक्षात् ॥१७॥

अर्थः—शङ्काकारका उपर्युक्त कहना ठीक नही है । क्योकि सत्ताका कोई सपक्ष और कोई विपक्ष अवश्य है । दोनों ही नय पक्ष है, और वे दोनों ही नय पक्ष विवक्षा वश परस्परमे विपक्षपनेको लिये हुए है ।

भावार्थः—जिससमय द्रव्यके कहनेकी इच्छा होती है उससमय पर्यायको गौण दृष्टिसे देखा जाता है, और जिससमय पर्यायको कहनेकी इच्छा होती है उससमय द्रव्यको गौण दृष्टिसे देखा जाता है । द्रव्य और पर्यायमे परस्पर विपक्षता होनेसे सत्ताका सपक्ष और विपक्ष भी सिद्ध हो जाता है ।

फिर शङ्काकार

अत्राप्याह कुदृष्टि र्यदि नय पक्षौ विवक्षितौ भवतः ।
का नः क्षति र्भवेतामन्यतरेणेह सत्त्वसंसिद्धिः ॥१८॥

अर्थः—यहाँ पर फिर मिथ्यादृष्टि कहता है कि यदि नय पक्ष विवक्षित होते है तो होओ, हमारी कोई हानि नही है । सत्ताकी स्वतन्त्र सिद्धि एक नयसे ही हो जायगी ।

भावार्थः—शकाकार कहता है कि यदि द्रव्यार्थिक नय अथवा पर्यायार्थिक नय इन दोनोमेसे किसी भी नयसे जैन सिद्धान्त सत्ताको स्वीकार करता है तो उसी नयसे हम सत्ताको स्वतन्त्र मानेगे जिस नयसे भी सत्ता मानी जायगी उसी नयसे सत्ताकी स्वतत्रता वनी रहेगी । दूसरे नयको सत्ताका विपक्ष माननेकी क्या आवश्यकता है ?

शकाकारका आशय यही है कि किसी नय दृष्टिसे भी सत्ता क्यो न स्वीकार की जाय, उस दृष्टिसे वह स्वतत्र है, विपक्ष नय दृष्टिसे सत्ताका प्रतिपक्ष क्यो माना जाता है ?

---

* नैयायिक दर्शन

उत्तर

तन्न यतो द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयात्मकं वस्तु ।
अन्यतरस्य विलोपे शेषस्यापीह लोप इति दोषः ॥१९॥

अर्थः—शकाकारका उपर्युक्त कहना ठीक नही है । क्योकि वस्तु द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय स्वरूप है । इन दोनो नयोमेसे किसी एक नयका लोप करने पर वाकीके दूसरे नयका भी लोप हो जायगा । यह दोप उपस्थित होता है ।

भावार्थः—"सामान्य विशेपात्मा तदर्थो विपय" ऐसा परीक्षामुखका सूत्र है । वस्तु उभय धर्मात्मक ही प्रमाणका विपय है । यदि सामान्य विशेपकी अपेक्षा न करे तो सामान्य भी नही रह सकता, क्योकि विना विशेपके सामान्य अपने स्वरूपका लाभ ही नही कर सकता । इसीप्रकार विशेप भी यदि सामान्यकी अपेक्षा न रखकर स्वतन्त्र रहना चाहे तो वह भी नही रह सकता । यहाँ पर विशेप कथन पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे है, और सामान्य कथन द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे है । यदि शकाकारके कथनानुसार जिस नयसे सत्ता मानते है उसी नयसे सत्ताको स्वतन्त्र मानने लगे और प्रतिपक्षी नयकी अपेक्षासे असत्ताको स्वीकार न करे तो वस्तु एक नयरूप होगी । निरपेक्ष एक नयकी स्वीकारतामे वह नय भी नही रह सकेगी । क्योकि वस्तु उभय नय रूप है । इसलिये एक नय दूसरे नयकी अवश्य अपेक्षा रखती है । इसी पारस्परिक अपेक्षामे सत्ताका प्रतिपक्ष असत्ता पडती है ।

परस्परकी प्रतिपक्षता

प्रतिपक्षमसत्ता स्यात्सत्तायास्तद्यथा तथा चान्यत् ।
नाना रूपत्वं किल प्रतिपक्षं चैकरूपतायास्तु ॥२०॥

अर्थः—जिसप्रकार सत्ताका प्रतिपक्ष असत्ता है उसीप्रकार और भी है । नाना रूपता एक रूपताका प्रतिपक्ष है ।

भावार्थः—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे सत्ताके दो भेद हैं । एक सामान्य सत्ता, और दूसरी सत्ता विशेप । सत्ता सामान्यका ही दूसरा नाम महासत्ता है, और सत्ता विशेपका दूसरा नाम अवान्तर सत्ता है । महासत्ता अपने स्वरूपकी अपेक्षासे सत्ता है । परन्तु अवान्तर सत्ताकी अपेक्षासे सत्ता नही है । इसीप्रकार अवान्तर सत्ता भी अपने स्वरूपकी अपेक्षासे सत्ता है, किन्तु महासत्ताकी अपेक्षासे वह असत्ता है । हरएक पदार्थमे स्व-स्वरूप और परस्वरूपकी अपेक्षासे सत्ता और असत्ता रहती है । इसीलिये

हरएक पदार्थ कथंचित् सत्रूप है, और कथचित् असत् (अभाव) रूप है। सत्ता भी स्व-स्वरूप और परस्वरूपकी अपेक्षासे सत्, असत् रूप उभय धर्म रखती है।

महासत्ता सम्पूर्ण पदार्थोंकी सम्पूर्ण अवस्थाओंमें रहती है इसलिये उसे नानारूपा (अनेक रूपा) कहा है। प्रतिनियत पदार्थोंके स्वरूप सत्ताकी अपेक्षासे अवान्तर सत्ताको एकरूपा कहा है।

और भी

एक पदार्थस्थितिरिह सर्वपदार्थस्थितेर्विपक्षत्वम् ।
ध्रौव्योत्पादविनाशैस्त्रिलक्षणायास्त्रिलक्षणाभावः ॥२१॥

अर्थः—एक पदार्थकी सत्ता, समस्त पदार्थोंकी सत्ताका विपक्ष है। उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य स्वरूप त्रिलक्षणात्मक सत्ताका प्रतिपक्ष त्रिलक्षणाभाव (अत्रिलक्षणा) है।

भावार्थः—यद्यपि समस्त वस्तुओमे भिन्न २ सत्ता है, तथापि वह सब वस्तुओमें एक सरीखी है। इसलिये सामान्य दृष्टिसे सब पदार्थोमे एक सत्ता कह दी जाती है। उसीको 'महासत्ता'* कहते है।

उस महा सत्ताका प्रतिपक्ष एक पदार्थमे रहनेवाली सत्ता है। उसीको अवान्तर सत्ता कहते है। इस अवान्तर सत्तासे ही प्रतिनियत पदार्थोंकी भिन्न २ व्यवस्था होती है।

वस्तुमे उत्पत्ति, विनाश और ध्रौव्य ये तीनो ही अवस्थायें प्रतिक्षण हुआ करती है। इन तीनो अवस्थाओको धारण करनेवाली वस्तु ही सत् कहलाती है। इसलिये महासत्ता उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य स्वरूप त्रयात्मक है। यद्यपि ये तीनो अवस्थाये एक समयमे होनेवाली त्रिलक्षणात्मक पर्याय है। तथापि ये तीनो एक रूप नही है। जिस स्वरूपसे वस्तुमे उत्पाद है, उससे ध्रौव्य, विनाश नही है। और जिस स्वरूपसे विनाश है, उससे उत्पाद ध्रौव्य नही है। जिस स्वरूपसे ध्रौव्य है, उससे उत्पाद विनाश नही है। इसलिये प्रत्येक अवस्थामे रहनेवाली अवान्तर सत्ता त्रिलक्षणात्मक नही है किन्तु एक एक लक्षणरूप है। इसी अपेक्षासे त्रिलक्षणात्मक महासत्ताका प्रतिपक्ष त्रिलक्षणाभाव अर्थात् एक एक लक्षणरूप अवान्तर सत्ता है। क्योकि त्रिलक्षणका प्रत्येक एक लक्षण विरोधी है।

---

* यह महासत्ता केवल आपेक्षिक दृष्टिसे कही गई है। कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। जैसा कि नैयायिक और वैशेपिक दर्शनवाले सब पदार्थोंमें रहनेवाली महासत्ताको एक स्वतन्त्र पदार्थ ही मानते हैं।

और भी

एकस्यास्तु विपक्षः सत्तायाः स्याददो ह्यनेकत्वम् ।
स्यादप्यनन्तपर्ययप्रतिपक्षस्त्वेकपर्ययत्वं स्यात् ॥२२॥

अर्थः—एक सत्ताका प्रतिपक्ष अनेक है। और अनंत पर्यायका प्रतिपक्ष एक पर्याय है।

भावार्थः—महासत्ता सम्पूर्ण पदार्थोंमे एकरूप बुद्धि पैदा करती है इसलिये वह एक कहलाती है। परन्तु अवान्तर सत्तामे यह बात नहीं है, जो एक वस्तुकी स्वरूप सत्ता है, वह दूसरेकी नहीं है। इसलिये वह अनेक कहलाती है।*

प्रश्न

एकस्मिन्निह वस्तुन्यनादिनिधने च निर्विकल्पे च ।
भेदनिदानं किं तद्येनैतज्जृम्भते वचस्त्विति चेत् ॥२३॥

अर्थः—वस्तु एक अखण्ड द्रव्य है। वह अनादि है, अनन्त है, और निर्विकल्प भी है। ऐसी वस्तुमे भेदका क्या कारण है? जिससे कि तुम्हारा उपर्युक्त कथन सुसंगत हो।

भावार्थः—यहाँपर यह प्रश्न है कि जब वस्तु अखण्ड द्रव्य है, तब सामान्यका प्रतिपक्ष विशेष, एकका प्रतिपक्ष अनेक, उत्पाद व्यय ध्रौव्यका प्रतिपक्ष प्रत्येक एक लक्षण, अनन्त पर्यायका प्रतिपक्ष एक पर्याय आदि जो बहुतसी बातें कही गई है, वे ऐसी हैं जो कि द्रव्यमे खण्डपनेको सिद्ध करती है। इसलिये वह कौनसा कारण है जिससे द्रव्यमे सामान्य, विशेष, एक, अनेक, उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य आदि भेद सिद्ध हो?

उत्तर

अंशविभागः स्यादित्यखण्डदेशे महत्यपि द्रव्ये ।
विष्कम्भस्य क्रमतो व्योम्नीवांगुलिवितस्तिहस्तादिः ॥२४॥
प्रथमो द्वितीय इत्याद्यसंख्यदेशास्ततोप्यनन्ताश्च ।
अंशा निरंशरूपास्तावन्तो द्रव्यपर्ययाख्यास्ते ॥२५॥
पर्यायाणामेतद्धर्मं यत्त्वंशकल्पनं द्रव्ये ।
तस्मादिदमनवद्यं सर्वं सुस्थं प्रमाणतश्चापि ॥२६॥

---

* सत्ताके विषयमें स्वामी कुन्दकुन्द भी ऐसा ही कहते हैं—

सत्ता सव्वपयत्था सविस्सरूवा अणंत पज्जाया ।
उत्पादवयधुवत्ता सप्पडिवक्खा हवदि एगा ॥१॥

पञ्चास्तिकाय ।

अर्थः—यद्यपि द्रव्य अखण्ड प्रदेश (देशाश) वाला है और बडा भी है। तथापि उसमे विस्तार क्रमसे अशोंका विभाग कल्पित किया जाता है। जिसप्रकार आकाशमें विस्तार क्रमसे एक अगुल, दो अगुल, एक विलस्त, एक हाथ आदि अश–विभाग किया जाता है। जिसमें फिर दुबारा अश न किया जासके उसे ही निरश अश कहते है। ऐसे निरशरूप अश एक द्रव्यमे–पहला, दूसरा, तीसरा, चौथा, पाचवाँ, सख्यात, अविभागी–असख्यात, अनन्त, तथा च, शब्दसे अनन्तानन्त तक हो सकते है। जितने एक द्रव्यमें अश है, उतनी ही उस द्रव्यकी पर्याये समझनी चाहिये। प्रत्येक अशको ही द्रव्यपर्याय कहते है। क्योकि द्रव्यमे जो अशोकी कल्पना की जाती है, वही पर्यायोका स्वरूप है। द्रव्यकी एक समयकी पर्याय उस द्रव्यका एक अश है। इसलिये उन सम्पूर्ण अंशोका समूह ही द्रव्य है। दूसरे शब्दोमे कहना चाहिये कि द्रव्यकी जितनी भी अनादि–अनन्त पर्याये है, उन्ही पर्यायोका समूह द्रव्य है। अर्थात् प्रत्येक द्रव्यकी एक समयमे एक पर्याय होती है, और कुल समय अनादि अनन्त है, इसलिये वस्तु भी अनादि अनन्त है। अतः उपर्युक्त कहा हुआ वस्तु–स्वरूप सर्वथा निर्दोष है, और सभी सुव्यवस्थित है। यही वस्तुका स्वरूप प्रमाणसे भलीभाँति सिद्ध है।

भावार्थः—यद्यपि वस्तु अनन्त गुणोकी अखण्ड पिण्डरूप अखण्ड प्रदेशी है तथापि उसमे अशोकी कल्पना की जाती है। वह अश कल्पना दो प्रकार होती है—एक तिर्यक् अश कल्पना, दूसरी ऊर्ध्वाश कल्पना। एक समयवर्ती आकारको अविभागी अनेक अशोमे विभाजित करनेको तिर्यग् अश कल्पना कहते है। इन प्रत्येक अविभागी अशोको द्रव्य पर्याय कहते है। द्रव्यका एक समयमे एक आकार है। दूसरे समयमे दूसरा आकार है। तीसरे समयमे तीसरा आकार है। इसीप्रकार अनन्त समयोमे अनन्त आकार है इसप्रकार कालके क्रमसे द्रव्यके आकारके अनन्त भेद हैं। इसीका नाम ऊर्ध्वाश कल्पना है। और इन अनन्त समयवर्ती अनन्त आकारोमेसे प्रत्येक समयवर्ती प्रत्येक आकारको व्यञ्जन पर्याय कहते है। द्रव्यमे उपर्युक्त रीतिसे अश कल्पना प्रदेशवत्व गुणके निमित्तसे होती है। अर्थात् प्रदेशवत्व गुणके निमित्तसे द्रव्यमे आकार होता है। उसी आकारमे दो प्रकारकी कल्पना की जाती है। जिसप्रकार द्रव्यमे अश कल्पना की जाती है उसीप्रकार गुणोमे भी की जाती है। गुणकी एक समयमे एक अवस्था है। दूसरे समयमे दूसरी अवस्था है। तीसरे समयमे तीसरी अवस्था है। इसीप्रकार कालक्रमसे एक गुणकी अनन्त समयोमे अनन्त अवस्थाये है इसीका नाम गुणमे ऊर्ध्वाश कल्पना है। इन अनन्त समयवर्ती अनन्त अवस्थाओमेसे प्रत्येक समयवर्ती प्रत्येक अवस्थाको अर्थपर्याय कहते

है। एक गुणकी एक समयमें जो अवस्था है, उस अवस्थामें अविभाग प्रतिच्छेदरूप अश कल्पनाको गुणमे तिर्यगंस कल्पना कहते है। और उन प्रत्येक अविभाग प्रतिच्छेदोको गुणपर्याय कहते है। गुणोंमे जो अश कल्पना की जाती है वह विष्कभ क्रमसे नही होती क्योकि देशका देशाश केवल एक प्रदेश व्यापी है किन्तु गुणका एक गुणाश एक समयमे उस द्रव्यके समस्त देशको व्यापकर रहता है इसलिये गुणमे अश कल्पना काल क्रमसे तरतम रूपसे की जाती है। प्रत्येक सययमे जो अवस्था किसी गुणकी है उसही अवस्थाको गुणाश कहते है। एक गुणमे अनन्त गुणाश कल्पित किये जाते है। इन्ही कल्पित गुणाशोको अविभाग प्रतिच्छेद कहते है। गुणाशरूप अविभाग प्रतिच्छेदोका खुलासा इसप्रकार है। जैसे—बकरीके दूधमे चिक्कणता कम है। उससे अधिक क्रमसे गाय, भैस, ऊँटनी, भेडके दूधमे उत्तरोत्तर बढी हुई चिकणता है। स्निग्ध गुणके किसीमे कम अश है, किसीमे अधिक अंश है। ऐसे २ अश प्रत्येक गुणमे अनन्त हो सकते है। दूसरा दृष्टान्त ज्ञान गुणका है—सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीवमे अक्षरके अनन्तवे भाग व्यक्त ज्ञान है। उस ज्ञानमे भी अनन्त अविभाग प्रतिच्छेद है। जघन्य ज्ञानसे बढा हुआ क्रमसे निगोदियाओमें ही अधिक २ है। उनसे अधिक २ द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय आदि जीवोमे है। पचेन्द्रिय–असज्ञीसे सज्ञीमे अधिक है। मनुष्योमे किसीमे ज्यादा किसीमे कम स्पष्ट ही जाना जाता है। अथवा एक ही आत्मामे निगोदियाकी अवस्थासे लेकर ऊपर क्रम २ से केवलज्ञान तक एक ही ज्ञान गुणकी अनन्त अवस्थाये हो जाती है। ये सब अवस्थाये (भेद) ज्ञान गुणके अश है। इन्ही अशोको लेकर कल्पना की जा सकती है कि अमुक पुरुषमे इतना अधिक ज्ञान है, अमुकमे इतना कम है। किसी गुणके सबसे जघन्य भेदको अश कहते है। ऐसे २ समान अश प्रत्येक गुणमे अनन्त होते है। तभी यह स्थूलतासे व्यवहार होता है कि इतने अश ज्ञानके अमुकसे अमुकमे अधिक है। इसीप्रकार रूपमे व्यवहार होता है कि अमुक कपडेपर गहरा रग है। अमुक पर फीका रग है। गहरापन और फीकापन रूप गुणके ही अशोकी न्यूनता और अधिकताके निमित्तसे कहलाता है। इसी विषयको हम रुपयेके दृष्टान्तसे और भी स्पष्ट कर देते है– एक रुपयेके चौसठ पैसे होते है। अर्थात् ६४ पैसे और एक रुपया दोनो बराबर है। इसीको दूसरे शब्दोमे कहना चाहिये कि एक रुपयेके ६४ भेद या अश होते है। साथमे यह भी कल्पना कर लेना उचित है कि सबसे छोटा भेद (अश) एक पैसा है। कल्पना करनेके वाद कहा जा सकता है कि अमुक व्यक्तिके पास इतने पैसे अधिक है। अमुकके पास उससे इतने पैसे कम है। यदि किसीके पास १० आना हो, और किसीके पास ६

आना हों तो जाना जा सकता है कि ६ आनावालेसे १० आनावालेके पास १६ अंश अधिक धन है इस दृष्टान्तसे इतना ही अभिप्राय है कि जघन्य अंशरूप अविभाग प्रतिच्छेदका वोध हो जाय। वास्तवमे अलग २ टुकड़े किसी गुणके नही हो जाते; और न अशोका नाश और उत्पत्ति ही होती है। किन्तु व्यक्तता और अव्यक्तताकी अपेक्षासे जो तरतम भेद होता है उसीके जाननेके लिये केवल अशोंकी कल्पना की जाती है। यह अश कल्पना सर्वज्ञज्ञानगम्य है। द्रव्यकी तरह गुणोमे भी यही वात समझ लेनी चाहिये कि प्रत्येक गुणके जितने अश हैं उतनी ही उस गुणकी पर्याये हो सकती हैं। दूसरे शव्दोमे यह कहना चाहिये कि उन त्रिकालवर्ती पर्यायोका समूह ही गुण कहलाता है।

द्रव्य चार विभागोमे बँटा हुआ है, यह वात भी उपर्युक्त कथनसे स्पष्ट हो जाती है। वे चार विभाग इसप्रकार है—देश, देशाश, गुण, गुणांश। अनन्त गुणोके अखण्ड पिण्ड (द्रव्य)को देश कहते है। उस अखण्ड पिण्ड रूप देशके प्रदेशोकी अपेक्षासे जो अश कल्पना की जाती है, उसको देशाश कहते हैं। द्रव्यमे रहनेवाले गुणोको गुण कहते है। और उन गुणोके अशोको गुणांश कहते है। वस प्रत्येक द्रव्यका स्वरूप इन्ही चार वातोमे पर्याप्त है। इन चार वातोको छोडकर द्रव्य और कोई चीज नही है। ये चारो वाते प्रत्येक वस्तुमे अलग २ है। दूसरे शव्दोमे यह कहना चाहिये इन्ही चारो वातोसे एक द्रव्य दूसरे द्रव्यसे भिन्न निश्चित किया जाता है। इन्ही चारोको स्वचतुष्टय कहते है। स्वनाम अपनेका है, चतुष्टय नाम चारका है, अर्थात् हर एक वस्तुकी अपनी २ चार चार वाते भिन्न भिन्न हैं। स्वचतुष्टयसे अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावका ग्रहण होता है। हर एक वस्तुका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव भिन्न २ है। अनन्त गुणोका अखण्ड पिण्ड रूप जो देश है उसीको द्रव्य कहते हैं। उस देशके जो प्रदेशोकी अपेक्षासे भेद हैं उसीको स्वक्षेत्र कहते हैं अर्थात् वस्तुका वही क्षेत्र है जितने प्रदेशोमे वह विभक्त है। वस्तुमे रहनेवाले गुणोको ही स्वभाव कहते हैं और उन गुणोकी काल क्रमसे होनेवाली पर्यायको ही अर्थात् गुणोके अशको ही स्वकाल कहते हैं। इसलिये देश, देशांश, गुण, गुणांशका दूसरा नाम ही वस्तुका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव है। खुलासा इसप्रकार है—वस्तुका स्व द्रव्य, उसके अनन्त गुणसमुदायरूप पिण्डको छोडकर और कोई नहीं है। वस्तुका क्षेत्र भी उसके प्रदेश ही है, न कि वह जहां रहती है। जहां वह वस्तु रहती है वह स्वक्षेत्र नहीं है किन्तु परक्षेत्र है। इसीप्रकार स्वकाल भी उस वस्तुकी काल क्रमसे होनेवाली पर्याय (गुणांश) है, न कि जिस कालमे वह परिणमन करती है वह काल वह काल तो पर द्रव्य है। और स्वभाव उस वस्तुके गुण ही है।

दृष्टान्तके लिये सोठ, मिरच, पीपल आदि एक लक्ष औषधियोका चूर्ण पर्याप्त है एक २ तोला एक लाख औषधियोको लेकर उन्हे कूट पीसकर नीबूके रसके साथ घोटकर सबका एक बड़ा गोला बना डाले। उस गोलेमेसे एक २ रत्ती प्रमाण गोलियाँ बना डाले। बस इन्हीसे स्वचतुष्टय घटित कर लेना चाहिये। एक लाख समान २ औषधियोका जो गोला है उसे तो स्वद्रव्य अर्थात् देशके स्थानमे समझना चाहिये। उस गोलेकी जो एक २ रत्ती प्रमाण गोलियाँ है उन्हे स्वक्षेत्र अर्थात् देशांशके स्थानमें समझना चाहिये। क्योकि वह गोला रूप समस्त चूर्ण उन्ही गोलियोमे पर्याप्त है। उन *गोलियोमे जो एक लक्ष औषधियाँ है उन्हे स्वभाव अर्थात् गुणके स्थानमे समझना चाहिये। और उन गोलियोमे जो कालक्रमसे भिन्न २ स्वाद भेद है उसे स्वकाल अर्थात् गुणांशके स्थानमे समझना चाहिये। प्रत्येक द्रव्यका स्वचतुष्टय भिन्न २ है। इस स्वचतुष्टयमे ही प्रत्येक द्रव्य पर्याप्त है।

शंकाकार

एतेन विना चैकं द्रव्यं सम्यक् प्रपश्यतश्चापि।
को दोषो यद्भीतेरियं व्यवस्थैव साधुरस्त्विति चेत् ॥२७॥

अर्थः—ऊपर कही हुई व्यवस्थाका तो प्रत्यक्ष नही है, केवल एक द्रव्य ही भलीभाँति दीख रहा है, इस अवस्थामे कौनसा दोष आता है कि जिसके डरसे उपर्युक्त व्यवस्था ही ठीक मानी जावे।

भावार्थः—शंकाकारका अभिप्राय इतना ही है कि एक द्रव्यको ही मान लिया जावे जो कि स्थूलतासे दीख रहा है, उस द्रव्यमे देश, देशांश, गुण, गुणांश (स्वचतुष्टय) माननेकी क्या आवश्यकता है?

उत्तर

देशाभावे नियमात्सत्त्वं द्रव्यस्य न प्रतीयेत।
देशांशाभावेपि च सर्वं स्यादेकदेशमात्रं वा ॥२८॥

अर्थः—यदि देशहीन माना जावे तो द्रव्यकी सत्ताका ही निश्चय नही हो सकेगा। और देशांशोके न माननेपर सर्व द्रव्य एक देशमात्र हो जायगा।

---

* जो क्षेत्र एक औषधिका है, वही क्षेत्र लक्ष औषधियोंका है। जितनी भी गोलियाँ बनाई गई हैं सभीमें लक्ष औषधियाँ है। इसीप्रकार एक गुण जितने देशमें है दूसरा भी उसी देशमें है। इसलिये सभी गुणोंका एक ही देश है। अर्थात् विष्कम्भ क्रमसे होनेवाले वस्तुके प्रत्येक प्रदेशमें अनन्त गुण रहते हैं।

भावार्थः—अनन्त गुणोंका अखण्डपिण्ड स्वरूप देशके माननेसे ही द्रव्यकी सत्ता प्रतीत होती है। यदि पिण्डरूप देश न माना जावे तो द्रव्यकी सत्ता ही नही ठहरती। इसीप्रकार देशांशके माननेसे द्रव्यकी इयत्ता (परिमाण)का ज्ञान होता है। जितने जिस द्रव्यके अंश होते है वह द्रव्य उतना ही बडा समझा जाता है। यदि देशके अंशों (विस्तार क्रमसे) की कल्पना न की जाय तो सभी द्रव्य समान समझे जावेंगे। अंशविभाग न होनेसे सबहीका एक ही अंश समझा जायगा। अंशविभाग नही माननेसे परमाणु और महास्कन्धमे कोई भेद नही रहेगा।

वस्तुकी असत्ता और एकांशतामें दोष

तत्रासत्त्वे वस्तुनि न श्रेयस्तस्य साधकाभावात्।
एवं चैकांशत्वे महतो व्योम्नोऽप्रतीयमानत्वात् ॥२९॥

अर्थः—वस्तुको असत् (अभाव) रूप स्वीकार करना ठीक नही है। क्योंकि वस्तु असत् स्वरूप सिद्ध करनेवाला कोई प्रमाण नही है। दूसरा यह भी अर्थ हो सकता है कि वस्तुको अभाव रूप माननेसे वह किसी कार्यको सिद्ध न कर सकेगी। इसप्रकार वस्तुमे अंश भेद न माननेसे आकाशकी महानताका ज्ञान नही हो सकेगा।

भावार्थः—पहले तो पदार्थको अभावात्मक सिद्ध करनेवाला कोई प्रमाण नही है। दूसरे जो अभाव रूप है वह कोई पदार्थ ही नही हो सकता। जो अपनी सत्ता ही नही रखता वह किसी कार्यमे किस प्रकार साधक हो सकता है। इसीप्रकार वस्तुमे जब अंशोकी कल्पना की जाती है तब तो यह बात सिद्ध हो जाती है कि जिस वस्तुके जितने अधिक अंश है वह उतनी ही बडी है। जिसके जितने कम अंश है वह उतनी ही छोटी है। आकाशके सब वस्तुओंमे अधिक अंश है, इसलिये वह सबोंमे महान् ठहरता है। यदि देशांशोकी कल्पनाको उठा दिया जाय तो छोटे बडेका भेद भी उठ जायगा।

अंशकल्पनासे लाभ

किञ्चैतदंशकल्पनमपि फलवत्स्याद्यतोऽनुमीयेत।
कायत्वमकायत्वं द्रव्याणामिह महत्त्वममहत्त्वम् ॥३०॥

भावार्थः—जिन द्रव्योंमे बहुत प्रदेश होते हैं वे अस्तिकाय समझे जाते हैं, और जिसमें केवल एकही प्रदेश होता है वह अस्तिकाय नहीं समझा जाता। बहुप्रदेश और एक प्रदेशका ज्ञान तभी हो सकता है जब कि उस द्रव्यके प्रदेशों (अशों)की जुदी जुदी कल्पना की जाय। विना जुदी जुदी कल्पना किये प्रदेशोंकी न्यूनाधिकताका बोध भी नहीं हो सकता है। और विना न्यूनाधिकताका बोध हुए, द्रव्योंमे कौन द्रव्य छोटा है, और कौन बड़ा है यह परिज्ञान भी नहीं हो सकता। इसलिये अंशोंकी कल्पना करना सफल है।

शंकाकार

भवतु विवक्षितमेतन्ननु यावन्तो निरंशदेशांशाः।
तल्लक्षणयोगादप्यणुवद्द्रव्याणि सन्तु तावन्ति ॥२१॥

अर्थः—शंकाकार कहता है कि यह तुम्हारी विवक्षा रहो, अर्थात् तुम जो द्रव्यमें निरंश (फिर जिसका खण्ड न हो सके) अंशोंकी कल्पना करते हो, वह करो। परन्तु जितने भी निरंश-देशांश हैं उन्हीको एक एक द्रव्य समझो। जिसप्रकार परमाणु एक द्रव्य है उसीप्रकार एक द्रव्यमे जितने निरंश-देशांशोंकी कल्पना की जाती है, उनको उतने ही द्रव्य समझना चाहिये न कि एक द्रव्य मानकर उसके अंश समझो। द्रव्यका लक्षण उन प्रत्येक अंशोंमे जाता ही है।

भावार्थः—गुण समुदाय ही द्रव्य कहलाता है। यह द्रव्यका लक्षण द्रव्यके प्रत्येक देशांशमें मौजूद है, इसलिये जितने भी देशांश है उतने ही उन्हें द्रव्य समझना चाहिये।

उत्तर

नैवं यतो विशेषः परमः स्यात्पारिणामिकोऽध्यक्षः।
खण्डैकदेशवस्तुन्यखण्डितानेकदेशे च ॥२२॥

अर्थः—उक्त शंका ठीक नहीं है, क्योंकि खण्डस्वरूप एक देश वस्तु माननेमे और अखण्ड स्वरूप अनेक देश वस्तु माननेसे परिणमनमें बड़ा भारी भेद पड़ता है यह बात प्रत्यक्ष है।

भावार्थः—यदि शंकाकारके कहनेके अनुसार देशांशोंको ही द्रव्य माना जावे तो द्रव्य एक देशवाला खण्ड खण्ड रूप होगा, अखण्ड रूप अनेक प्रदेशी नहीं ठहरेगा, खण्डरूप एक प्रदेशी माननेमे क्या दोष आता है सो आगे लिखा जाता है—

प्रथमोद्देशितपक्षे यः परिणामो गुणात्मकस्तस्य ।
एकत्र तत्र देशे भवितुं शीलो न सर्वदेशेषु ॥३३॥

अर्थः—पहला पक्ष स्वीकार करनेमे अर्थात् खण्डरूप एक प्रदेशी द्रव्य माननेसे जो गुणोका परिणमन होगा वह सम्पूर्ण वस्तुमें न होकर उसके एक ही देशांशमें होगा। क्योकि शंकाकार एक देशांशरूप ही वस्तुको समझता है इसलिये उसके कथनानुसार गुणोंका परिणमन एक देशमे ही होगा।

एकदेश परिणमन माननेमें प्रत्यक्ष बाधा

तदसत्प्रमाणबाधितपक्षत्वादक्षसंविदुपलब्धेः ।
देहैकदेशविषयस्पर्शादिह सर्वदेशेषु ॥३४॥

अर्थः—गुणोका परिणमन एक देशमे होता है, यह बात प्रत्यक्ष बाधित है। जिसमें प्रमाण-बाधा आवे वह पक्ष किसी प्रकार ठीक नही हो सकता। इन्द्रियजन्य ज्ञानसे यह बात सिद्ध है कि शरीरके एक देशमे स्पर्श होनेसे सम्पूर्ण शरीरमे रोमाञ्च हो जाते है।

भावार्थः—शरीर प्रमाण आत्म द्रव्य है इसीलिये शरीरके एक देशमें स्पर्श होनेसे सम्पूर्ण शरीरमे रोमाञ्च होते हैं अथवा शरीरके एक देशमें चोट लगनेसे सम्पूर्ण शरीरमें वेदना होती है। यदि शंकाकारके कथनानुसार आत्माका एक २ अंश (प्रदेश) ही एक एक आत्म द्रव्य समझा जाय तो एक देशमें चोट लगनेसे सब शरीरमे पीड़ा नही होनी चाहिये, जिस देशमे कष्ट पहुँचा है उसी देशमे पीडा होनी चाहिये परन्तु होता इसके सर्वथा प्रतिकूल है अर्थात् सम्पूर्ण शरीरमे एक आत्मा होनेसे सम्पूर्ण शरीरमे ही वेदना होती है इसलिये खण्डरूप एक देश स्वरूप वस्तु नहीं है किन्तु अखण्ड स्वरूप अनेक प्रदेशी है।

अखण्ड-अनेकप्रदेशी द्रव्यमें दृष्टान्त

प्रथमेतर पक्षे खलु यः परिणामः स सर्वदेशेषु ।
एको हि सर्वपर्वसु प्रकम्पते ताडितो वेणुः ॥३५॥

अर्थः—दूसरा पक्ष स्वीकार करने पर अर्थात् अनेक प्रदेशी-अखण्ड रूप द्रव्य मानने पर जो परिणमन होगा वह सर्व देशमें (सम्पूर्ण वस्तुमें) होगा। जिसप्रकार एक बेतको एक तरफ हिलानेसे सारा बेंत जाता है।

भावार्थः—बेतका दृष्टान्त मोटा है। इसलिये ग्राह्य अंश (एक देश) लेना चाहिये। बेत यद्यपि बहुतसे परमाणुओंका समूह है तथापि स्थूल दृष्टिसे वह एक ही द्रव्य समझा

जाता है । इसी अशमें उसका दृष्टान्त दिया गया है । बेत अखण्ड रूप वस्तु है इसलिये एक प्रदेशको हिलानेसे उसके सम्पूर्ण प्रदेश हिल जाते है । यदि अखण्ड स्वरूप अनेक प्रदेशी उसे न मानकर उसके एक २ प्रदेशको जुदा जुदा द्रव्य समझा जाय तो जिस देशमे बेतको हिलाया जावे उसी देशमे उसको हिलना चाहिये, सब देशमे नही परन्तु यह प्रत्यक्ष बाधित है । इसलिये वस्तु अनेक देशाशोका अखण्ड पिण्ड है ।

एक प्रदेशवाला भी द्रव्य है

एक प्रदेशवदपि द्रव्यं स्यात्खण्डवर्जितः स यथा ।
परमाणुरेव शुद्धः कालाणुर्वा यथा स्वतः सिद्धः ॥३६॥

अर्थः—कोई द्रव्य एक प्रदेशवाला भी है और वह खण्ड रहित है अर्थात् अखण्ड एक प्रदेशी भी कोई द्रव्य है, जैसे पुद्गलका शुद्ध परमाणु और कालाणु । ये भी स्वतः सिद्ध द्रव्य है ।

परन्तु

न स्याद्द्रव्यं क्वचिदपि बहु प्रदेशेषु खण्डितो देशः ।
तदपि द्रव्यमिति स्यादखण्डितानेकदेशमदः ॥३७॥

अर्थः—परन्तु ऐसा द्रव्य कोई नही है कि बहु प्रदेशी होकर खण्ड–एक देश रूप हो इसलिये बहु प्रदेशवाला द्रव्य अखण्डरूप है ।

द्रव्य और गुण

अथ चैव ते प्रदेशाः सविशेषा द्रव्यसंज्ञया भणिताः ।
अपि च विशेषाः सर्वे गुणसंज्ञास्ते भवन्ति यावन्तः ॥३८॥

अर्थः—ऊपर जिन देशाशो (प्रदेशो)का वर्णन किया गया है वे देशाश गुण सहित है । गुण सहित उन्ही देशाशोकी द्रव्य सज्ञा है । उन देशाशोमे रहनेवाले जो विशेष है उन्हीकी गुण सज्ञा है ।

भावार्थः—द्रव्य अनन्त गुणोका समूह है इसलिये जितने भी द्रव्यके प्रदेश है सबमे अनन्त गुणोका अश है उन गुणो सहित जो प्रदेश है उन्हीकी मिलकर द्रव्य सज्ञा है, गुणोकी विशेष सज्ञा है ।

गुण, गुणीसे जुदा नहीं है

तेषामात्मा देशो नहि ते देशात्पृथक्त्वसत्ताकाः ।
नहि देशे हि विशेषाः किन्तु विशेषैश्च तादृशो देशः ॥३९॥

अर्थः—उन गुणोंका समूह ही देश (अखण्ड-द्रव्य) है। वे गुण देशसे भिन्न अपनी सत्ता नहीं रखते हैं और ऐसा भी नहीं कह सकते कि देशमें गुण (विशेष) रहते हैं किन्तु उन विशेषों (गुणों)के मेलसे ही वह देश कहलाता है।

भावार्थः—नैयायिक दर्शनवाले गुणोंकी सत्ता भिन्न मानते हैं और द्रव्यकी सत्ता भिन्न मानते हैं, द्रव्यको गुणोंका आधार बतलाते हैं परन्तु जैन सिद्धान्त ऐसा नहीं मानता किन्तु उन गुणोंके समूहको ही देश मानता है और उन गुणोंकी द्रव्यसे भिन्न सत्ता भी नहीं स्वीकार करता है। ऐसा भी नहीं है कि द्रव्य आधार है और गुण आधेय रूपसे द्रव्यमें रहते हैं, किन्तु उन गुणोंके समुदायसे ही वह पिण्ड द्रव्य संज्ञा पाता है।

दृष्टान्त

अत्रापि च संदृष्टिः शुक्लादीनामियं तनुस्तन्तुः।
नहि तन्तौ शुक्लाद्याः किन्तु सिताद्यैश्च तादृगस्तन्तुः ॥४०॥

अर्थः—गुण और गुणीमें अभेद है, इसी विषयमें तन्तु (डोरे)का दृष्टान्त है। शुक्ल गुण आदिका शरीर ही तन्तु है। शुक्लादि गुणोंको छोड़कर और कोई वस्तु तन्तु नहीं है और न ऐसा ही कहा जा सकता है कि तन्तुमें शुक्लादिक गुण रहते हैं, किन्तु शुक्लादि गुणोंके एकत्रित होनेसे ही तन्तु बना है।

भावार्थः—शुक्ल आदि गुणोंका समूह ही डोरा कहलाता है। जिसप्रकार डोरा और सफेदी अभिन्न है उसीप्रकार द्रव्य और गुण भी अभिन्न हैं। जिसप्रकार डोरा, सफेदी आदिसे पृथक् वस्तु नहीं है उसीप्रकार द्रव्य भी गुणोंसे पृथक् चीज नहीं है।

आशंका

अथ चेद्भिन्नो देशो भिन्ना देशाश्रिता विशेषाश्च।
तेषामिह संयोगाद्द्रव्यं दण्डीव दण्डयोगाद्वा ॥४१॥

अर्थः—यदि देशको भिन्न समझा जाय और देशके आश्रित रहनेवाले विशेषोंको भिन्न समझा जाय, तथा उन सबके संयोगसे द्रव्य कहलाने लगे। जिसप्रकार पुरुष भिन्न है, दण्ड (डंडा) भिन्न है दोनोंके संयोगसे दण्डी कहलाने लगता है तो—

उत्तर

नैवं हि सर्वसङ्कर दोषत्वाद्वा सुसिद्धदृष्टान्तात्।
तत्किं चेतनयोगादचेतनं चेतनं न स्यात् ॥४२॥

अर्थः—उपर्युक्त आशंका ठीक नही है। देशको भिन्न और गुणोको देशसे भिन्न स्वीकार करनेसे सर्व संकर दोष आवेगा। यह बात गुणादि दृष्टान्त द्वारा प्रसिद्ध है। गुणोको भिन्न माननेसे क्या चेतना गुणके सम्बन्धसे अचेतन पदार्थ चेतन (जीव) नही हो जायगा ?

भावार्थः—जब गुणोको द्रव्यसे पृथक् स्वीकार किया जायगा, तो ऐसी अवस्थामे गुण स्वतन्त्र होकर कभी किसीसे और कभी किसीसे सम्बन्धित हो सकते हैं। चेतना गुणको यदि जीवका गुण न मानकर एक स्वतन्त्र पदार्थ माना जाय तो वह जिसप्रकार जीवमे रहता है उसीप्रकार कभी अजीव–जड पदार्थमे भी रह जायगा। उस अवस्थामे अजीव भी जीव कहलाने लगेगा। फिर पदार्थोंका नियम ही नही रह सकेगा, कोई पदार्थ किसी रूप हो जायगा, इसलिये द्रव्यसे गुणको भिन्न सत्तावाला मानना सर्वथा मिथ्या है।

अथवा

अथवा विना विशेषैः प्रदेशसत्त्वं कथं प्रमीयेत ।
अपि चान्तेरण देशैर्विशेषलक्ष्मावलक्ष्यते च कथम् ॥४३॥

अर्थः—दूसरी बात यह भी है कि विना गुणोके द्रव्यके प्रदेशोकी सत्ता ही नही जानी जा सकती अथवा विना प्रदेशोके गुण भी नही जाने जा सकते।

भावार्थः—गुण समूह ही प्रदेश है। विना समुदायके समुदायी नही रह सकता, और विना समुदायीके समुदाय नही रह सकता–दोनोके विना एक भी नही रह सकता, अथवा शब्दान्तरमे ऐसा कहना चाहिये कि दोनो एक ही बात है।

गुण, गुणीको भिन्न माननेमें दोष

अथ चैतयोः पृथक्त्वे हठादहेतोश्च मन्यमानेपि ।
कथमिवगुणगुणिभावः प्रमीयते सत्समानत्वात् ॥४४॥

अर्थः—यदि हठ पूर्वक विना किसी हेतुके गुण और गुणी भिन्न भिन्न सत्तावाले ही माने जावे, तो ऐसी अवस्थामे दोनोकी सत्ता समान होगी। सत्ताकी समानतामे 'यह गुण है और यह गुणी है,' यह कैसे जाना जा सकता है ?

भावार्थः—जब गुण समुदायको द्रव्य कहा जाता है तब तो समुदायको गुणी और समुदायीको गुण कहते हैं परन्तु गुण और गुणीको भिन्न माननेपर दोनो ही समान होगे, उस समानतामे किसको गुण कहा जाय और किसको गुणी कहा जाय ? गुण गुणीका अन्तर ही नही प्रतीत होगा।

सारांश

तस्मादिदमनवद्यं देशविशेषास्तु निर्विशेषास्ते ।
गुणसंज्ञकाः कथञ्चित्परणतिरूपाः पुनः क्षणं यावत् ॥४५॥

अर्थः—इसलिये यह बात निर्दोष सिद्ध है कि देश–विशेष ही गुण कहलाते हैं। गुणोंमे गुण नही रहते है। वे गुण प्रतिक्षण परिणमनशील है परन्तु सर्वथा विनाशी नही है।

प्रश्न

एकत्वं गुणगुणिनोः साध्यं हेतोस्तयोरनन्यत्वात् ।
तदपि द्वैतमिव स्यात् किं तत्र निबन्धनं त्विति चेत् ॥४६॥

अर्थः—गुण, गुणी दोनो ही एक है क्योकि वे दोनो ही भिन्न सत्तावाले नहीं है। यहांपर अभिन्न सत्ता रूप हेतुसे गुण, गुणीमे एकपना सिद्ध किया जाता है, फिर भी क्या कारण कि अखण्ड पिण्ड होनेपर भी द्रव्यमे द्वैतभावसा प्रतीत होता है ?

उत्तर

यत्किञ्चिदस्ति वस्तु स्वतः स्वभावे स्थितं स्वभावश्च ।
अविनाभावी नियमाद्विवक्षितो भेदकर्ता स्यात् ॥४७॥

अर्थः—जो कोई भी वस्तु है वह अपने स्वभाव (गुण-स्वरूप)मे स्थित है और वह स्वभाव भी निश्चयसे उस स्वभावी (वस्तु)से अविनाभावी-अभिन्न है परन्तु विवक्षा वश भिन्न समझा जाता है।

भावार्थः—यद्यपि स्वभाव, स्वभावी, दोनो ही अभिन्न है तथापि अपेक्षा कथनसे स्वभाव और स्वभावीमे भेद समझा जाता है, वास्तवमे भेद नही है।

गुणके पर्यायवाची शब्द

शक्तिर्लक्ष्मविशेषो धर्मो रूपं गुणः स्वभावश्च ।
प्रकृतिः शीलं चाकृतिरेकार्थवाचका अमी शब्दाः ॥४८॥

अर्थः—शक्ति, लक्ष्म, विशेष, धर्म, रूप, गुण, स्वभाव, प्रकृति, शील, आकृति ये सभी शब्द एक अर्थके कहनेवाले है। सभी नाम गुणके है।

द्रव्यमें अनन्तगुण

देशस्यैका शक्तिर्या काचित् सा न शक्तिरन्या स्यात् ।
क्रमतो वितर्क्यमाणा भवन्त्यनन्ताश्च शक्तयो व्यक्ताः ॥४९॥

अर्थः—देशकी कोई भी एक शक्ति, दूसरी शक्तिरूप नही होती, इसीप्रकार क्रमसे प्रत्येक शक्तिके विषयमे विचार करनेपर भिन्न २ अनन्त शक्तियाँ स्पष्ट प्रतीत होती हैं।

भावार्थः—द्रव्यमे अनन्त शक्तियाँ हैं, वे सभी एक दूसरेसे भिन्न है। एक शक्ति दूसरी शक्तिरूप कभी नही होती।

शक्तियोंकी भिन्नतामें हेतु

स्पर्शो रसश्च गन्धो वर्णो युगपद्यथा रसालफले।
प्रतिनियतेन्द्रियगोचरचारित्वात्ते भवन्त्यनेकेपि ॥५०॥

अर्थः—जिसप्रकार आमके फलमें स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, चारो ही एक साथ पाये जाते है, वे चारो ही गुण भिन्न भिन्न नियत इन्द्रियो द्वारा जाने जाते है इसलिये वे भिन्न हैं।

भावार्थः—आमके फलमे जो स्पर्श है उसका ज्ञान स्पर्शन इन्द्रियसे होता है, रसका ज्ञान रसनेन्द्रियसे होता है, गन्धका ज्ञान नासिकासे होता है, रूपका ज्ञान चक्षुसे होता है। भिन्न २ इन्द्रियोके विषय होनेसे वे चारो ही गुण भिन्न है। इसीप्रकार सभी गुणोके कार्य भी भिन्न २ है, इसलिये सभी गुण भिन्न २ है।

गुणोंकी भिन्नतामें दृष्टान्त

तदुदाहरणं चैतज्जीवे यद्दर्शनं गुणश्चैकः।
तन्न ज्ञानं न सुखं चारित्रं वा न कश्चिदितरश्च ॥५१॥

अर्थः—सभी गुण पृथक् २ हैं, इस विषयमे यह उदाहरण है—जैसे जीव द्रव्यमें जो एक दर्शन नामा गुण है, वह ज्ञान नही हो सकता, न सुख हो सकता, न चारित्र हो सकता अथवा और भी किसी गुण स्वरूप नही हो सकता, दर्शनगुण सदा दर्शनरूप ही रहेगा।

एवं यः कोपि गुणः सोपि च न स्यात्तदन्यरूपो वा।
स्वयमुच्छलन्ति तदिमा मिथो विभिन्नाश्च शक्तयोऽनन्ताः ॥५२॥

अर्थः—इसीप्रकार जो कोई भी गुण है वह दूसरे गुण रूप नही हो सकता इसलिये द्रव्यकी अनन्त शक्तियाँ परस्पर भिन्नताको लिये हुए भिन्न २ कार्यो द्वारा स्वय उदित होती रहती हैं।

गुणोंमें अंशविभाग

तासामन्यतरस्या भवन्त्यनन्ता निरंशका अंशाः ।
तरतमभागविशेषैरंशच्छेदैः प्रतीयमानत्वात् ॥५३॥

अर्थः—उन शक्तियोमेसे प्रत्येक शक्तिके अनन्त अनन्त निरंश (जिसका फिर अंश न हो सके) अश होते है । हीनाधिक विशेष भेदसे उन अशोका परिज्ञान होता है ।

दृष्टान्त

दृष्टान्तः सुगमोऽयं शुक्लं वासस्ततोपि शुक्लतरम् ।
शुक्लतमं च ततः स्यादंशाश्चैते गुणस्य शुक्लस्य ॥५४॥

अर्थः—एक सफेद कपड़ेका सुगम दृष्टान्त है । कोई कपड़ा कम सफेद होता है, कोई उससे अधिक सफेद होता है और कोई उससे भी अधिक सफेद होता है । ये सब सफेदीके ही भेद है । इसप्रकारकी तरतमता (हीनाधिकता) अनेक प्रकार हो सकती है, इसलिये शुक्ल गुणके अनेक (अनन्त) अश कल्पित किये जाते है ।

दूसरा दृष्टान्त

अथवा ज्ञानं यावज्जीवस्यैको गुणोप्यखण्डोपि ।
सर्वजघन्यनिरंशच्छेदैरिव खण्डितोप्यनेकः स्यात् ॥५५॥

अर्थः—दूसरा दृष्टान्त जीवके ज्ञान गुणका स्पष्ट है । जीवका ज्ञान गुण यद्यपि एक है और वह अखण्ड भी है तथापि सबसे जघन्य अशोके भेदसे खण्डित सरीखा अनेक रूप प्रतीत होता है ।

भावार्थः—सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीवका अक्षरके अनन्तवे भाग जघन्य ज्ञान है, उस ज्ञानमे भी अनन्त अश (अविभाग प्रतिच्छेद) हैं, उसी निगोदियाकी ऊपरकी उत्तरोत्तर अवस्थाओमे थोडी २ ज्ञानकी वृद्धि होती जाती है । द्वीन्द्रिय आदिक त्रस पर्यायमे और भी वृद्धि होती है, वढते २ उस जीवका ज्ञान गुण इतना विशाल हो जाता है कि चराचर जगतकी प्रतिक्षणमे होनेवाली सभी पर्यायोको एक साथ ही स्पष्टतासे जानने लगता है। इसप्रकारकी वृद्धिमे सबसे जघन्य वृद्धिको ही एक अश कहते है। उसीका नाम अविभाग प्रतिच्छेद है । विचारशील अनुभव कर सकते है कि एक ही ज्ञान गुणमें जघन्य अवस्थासे लेकर कहाँ तक वृद्धि होती है । वस यही क्रमसे होनेवाला वृद्धिभेद सिद्ध करता है कि ज्ञान गुणके वहुतसे अश है जो कि हीनाधिक रूपसे प्रतीत होते है । इसीप्रकार प्रत्येक गुणके अश अनन्त २ हैं । इन्हीका नाम अविभाग प्रतिच्छेद है ।

गुणोंके अंशोंमें क्रम

देशच्छेदो हि यथा न तथा छेदो भवेद्गुणांशस्य ।
विष्कंभस्य विभागात्स्थूलो देशस्तथा न गुणभागः ।।५६।।

अर्थः—जिसप्रकार देशके छेद (देशाश) होते है, उसप्रकार गुणोके छेद नही होते । देशके छेद विष्कभ (विस्तार-चौडाई) क्रमसे होते है और देश एक मोटा पदार्थ है । गुण इसप्रकारका नही है और न उसके छेद ही ऐसे होते है किन्तु तरतम रूपसे होते है ।

भावार्थः—देशके छेद तो भिन्न २ प्रदेश स्वरूप होते है परन्तु गुणके छेद सर्व प्रदेशोमे व्यापक रहते है । वे हीनाधिक रूपसे होते है ।

गुणोका छेदक्रम

क्रमोपदेशश्चायं प्रवाहरूपो गुणः स्वभावेन ।
अर्धच्छेदेन पुनश्छेत्तव्योपि च तदर्धछेदेन ।।५७।।
एवं भूयो भूयस्तदर्धछेदैस्तदर्धछेदैश्च ।
यावच्छेतुमशक्यो यः कोपि निरंशको गुणांशः स्यात् ।।।५८।।
तेन गुणांशेन पुनर्गणिताः सर्वे भवन्त्यनन्तास्ते ।
तेषामात्मा गुण इति नहि ते गुणतः पृथक्त्वसत्ताकाः ।।५९।।

अर्थः—गुणोके अशोंके छेद करनेमे क्रम कथनका उपदेश बतलाते है कि गुण स्वभावसे ही प्रवाहरूप है अर्थात् द्रव्य अनन्तगुणात्मक पिण्डके साथ बराबर चला जाता है । द्रव्य अनादि-अनन्त है, गुण भी अनादि-अनन्त है । द्रव्यके साथ गुणका प्रवाह बराबर चला जाता है । वह गुण उसके अर्धच्छेदोसे छिन्न भिन्न करने योग्य है अर्थात् उस गुणके आधे आधे छेद करना चाहिये, इसीप्रकार बार बार उसके अर्धच्छेद करना चाहिये, तथा वहाँतक करना चाहिये जहाँतक कि कोई भी गुणका अश फिर न छेदा जा सके, और वह निरश समझा जाय । उन छेदरूप किये हुए गुणोके अशोका जोड अनन्त होता है । उन्ही अशोका समूह गुण कहलाता है । गुणोके अश, गुणसे भिन्न सत्ता नही रखते है किन्तु उन अशोका समूह ही एक सत्तात्मक गुण कहलाता है ।

पर्यायके पर्यायवाचक शब्द

अपि चांशः पर्यायो भागो हारो विधा प्रकारश्च ।
भेदश्छेदो भंगः शब्दाश्चैकार्थवाचका एते ।।६०।।

अर्थः—अंश, पर्याय, भाग, हार, विध, प्रकार, भेद, छेद, भङ्ग, ये सब शब्द एक अर्थके वाचक है। सबोका अर्थ पर्याय है।

गुणांश ही गुणपर्याय है

सन्ति गुणांशा इति ये गुणपर्यायास्त एव नाम्नापि।
अविरुद्धमेतदेव हि पर्यायाणामिहांशधर्मत्वात् ॥६१॥

अर्थः—जितने भी गुणांश है वे ही गुणपर्याय कहलाते है। यह बात अविरुद्ध सिद्ध है कि अंश स्वरूप ही पर्याये होती है।

गुण-पर्यायका नामान्तर

गुणपर्यायाणामिह केचिन्नामान्तरं वदन्ति बुधाः।
अर्थो गुण इति वा स्यादेकार्थादर्थपर्यया इति च ॥६२॥

अर्थः—कितने ही बुद्धिधारी गुणपर्यायोका दूसरा नाम भी कहते है। गुण और अर्थ, ये दोनो ही एक अर्थवाले है इसलिये गुण पर्यायको अर्थपर्याय भी कह देते है।

द्रव्य पर्यायका नामान्तर

अपि चोद्दिष्टानामिह देशांशैर्द्रव्यपर्ययाणां हि।
व्यञ्जनपर्याया इति केचिन्नामान्तरं वदन्ति बुधाः ॥६३॥

अर्थः—देशांशोके द्वारा जिन द्रव्यपर्यायोका ऊपर निरूपण किया जा चुका है, उन द्रव्यपर्यायोको कितने ही बुद्धिशाली व्यञ्जनपर्याय, इस नामसे पुकारते है।

भावार्थः—प्रदेशवत्व गुणका परिणमन सम्पूर्ण द्रव्यमे होता है, इसलिये उक्त गुणके *परिणमनको द्रव्यपर्याय अथवा व्यंजनपर्याय कहते है।

शङ्काकार

ननु मोघमेतदुक्तं सर्वं पिष्टस्य पेषणन्यायात्।
एकेनैव कृतं यत् स इति यथा वा तदंश इति वा चेत् ॥६४॥

अर्थः—ऊपर जितना भी कहा गया है, सभी पिष्ट पेषण है अर्थात् पीसे हुएको पीसा गया है। एकके कहनेसे ही काम चल जाता है, या तो द्रव्य ही कहना चाहिये अथवा पर्याय ही कहना चाहिये। द्रव्य और पर्यायको जुदा २ कहना निष्फल है ?

---

* प्रदेशवत्त्व गुणके परिणमनको यदि गुणकी दृष्टिसे कहा जाय तो इसे गुणपर्याय भी कह सकते हैं।

उत्तर

तन्नैवं फलवत्त्वाद् द्रव्यादेशादवस्थितं वस्तु ।
पर्यायादेशादिदमनवस्थितमिति प्रतीतत्त्वात् ॥६५॥

अर्थः—ऊपर जो शका की गई है वह ठीक नही है । द्रव्य और पर्याय दोनोका ही निरूपण आवश्यक है । द्रव्यकी अपेक्षासे वस्तु नित्य है । पर्यायकी अपेक्षासे वस्तु अनित्य है । इस बातकी प्रतीति दोनोके कथनसे ही होती है ।

भावार्थः—यदि द्रव्य और पर्याय दोनोका निरूपण न किया जाय तो वस्तुमे कथचित् नित्यता और कथचित् अनित्यताकी सिद्धि न हो सकेगी इसलिये दोनोका ही निरूपण निष्फल नही, किन्तु सफल है ।

नित्यता और अनित्यताका दृष्टान्त

स यथा परिणामात्मा शुक्लादित्वादवस्थितश्च पटः ।
अनवस्थितस्तदंशैस्तरतमरूपैर्गुणस्य शुक्लस्य ॥६६॥

अर्थः—जिसप्रकार शुक्लादि अनन्त गुणोका समूह वस्त्र अपनी अवस्थाओको प्रतिक्षण बदलता रहता है । अवस्थाओके बदलने पर भी शुक्लादिगुणोका नाश कभी नही होता है इसलिये तो वह वस्त्र नित्य है । साथ ही शुक्लादिगुणोके तरतम रूप अशोकी अपेक्षासे अनित्य भी है । क्योकि एक अश (पर्याय) दूसरे अशसे भिन्न है ।

भावार्थः—वस्त्र, पर्यायदृष्टिसे अनित्य है, और द्रव्य दृष्टिसे नित्य है ।

दूसरा जीवका दृष्टान्त

अपि चात्मा परिणामी ज्ञानगुणत्वादवस्थितोपि यथा ।
अनवस्थितस्तदंशैस्तरतमरूपैर्गुणस्य बोधस्य ॥६७॥

अर्थः—आत्मामे ज्ञान गुण सदा रहता है । यदि ज्ञान गुणका आत्मामे अभाव हो जाय तो उससमय आत्मत्व ही नष्ट हो जाय । इसलिये उस गुणकी अपेक्षासे तो आत्मा नित्य है, परन्तु उस गुणके निमित्तसे आत्माका परिणमन प्रतिक्षण होता रहता है, कभी ज्ञानगुणके अधिक अश व्यक्त हो जाते है और कभी कम अश प्रकट हो जाते है, उस ज्ञानमे सदा हीनाधिकता (ससारावस्थामे) होती रहती है, इस हीनाधिकताके कारण आत्मा कथचित् अनित्य भी है ।*

---

* पदार्थोंकी अवस्थाभेदके निमित्तसे मुक्त जीवोंके ज्ञानमें भी परिणमन होता है इसलिये मुक्तात्माओंमे भी कथचित् अनित्यता सिद्ध होती है ।

आशङ्का

यदि पुनरेवं न भवति भवति निरंशं गुणांशवद्द्रव्यम् ।
यदि वा कीलकवदिदं भवति न परिणामि वा भवेत् क्षणिकम् ॥६८॥
अथचेदिदमाकूतं भवन्त्वनन्ता निरंशका अंशाः ।
तेषामपि परिणामो भवतु समांशो न तरतमांशः स्यात् ॥६९॥

अर्थः—यदि ऊपर कही हुई द्रव्य, गुण, पर्यायकी व्यवस्था न मानी जाय, और गुणाशकी तरह निरश द्रव्य माना जाय, अथवा उस निरश द्रव्यको परिणामी न मानकर कूटस्थ (लोहेका पीटनेका एक मोटा कीला होता है जो कि लुहारोके यहाँ गड़ा रहता है) की तरह नित्य माना जाय, अथवा उस द्रव्यको सर्वथा क्षणिक ही माना जाय, अथवा उस द्रव्यके अनन्त निरश अश मानकर उन अशोका समान रूपसे परिणमन माना जाय, तरतम रूपसे न माना जाय तब क्या दोष होगा ?

उत्तर

एतत्पक्षचतुष्टयमपि दुष्टं दृष्टबाधितत्वाच्च ।
तत्साधकप्रमाणाभावादिह सोप्यदृष्टान्तात् ॥७०॥

अर्थः—ऊपर कहे हुए चारो ही विकल्प दोष सहित है, चारो ही विकल्पोमे प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा बाधा आती है। तथा न उनका साधक कोई प्रमाण ही है और न उनकी सिद्धिमे कोई दृष्टान्त ही है।

भावार्थः—यदि द्रव्यको गुणाशकी तरह माना जाय तो गुणोका परिणमन एक देशमे ही होगा। अथवा किसी भी गुणका कार्य सम्पूर्ण वस्तुमे नही हो सकेगा। यदि उस द्रव्यको नित्य माना जाय तो उसमे कोई क्रिया नही हो सकती है। क्रियाके अभावमे पुण्यफल, पापफल, बन्ध मोक्षादि व्यवस्था कुछ भी नही ठहर सकती है। इसीप्रकार सर्वथा क्षणिक माननेमे प्रत्यभिज्ञान (यह वही है जिसको पहिले देखा था आदि ज्ञान) नही हो सकता, कार्यकारण भाव भी नही हो सकता, हेतु-फल भाव भी नही हो सकता, और परस्पर व्यवहार भी नही हो सकता।*

---

* यदि नित्यैकान्त और अनित्यैकान्तका विशेष ज्ञान प्राप्त करना हो तो निम्नलिखित कारिकाओंके प्रकरणमें अष्ट सहस्रीको देखना चाहिये।

नित्यत्वैकान्तपक्षेपि विक्रिया नोपपद्यते। प्रागेव कारकाभावः क्व प्रमाणं क्व तत्फलम् ॥१॥
क्षणिकैकान्तपक्षेपि प्रेत्यभावाद्यसंभवः। प्रत्यभिज्ञाद्यभावान्न कार्यारम्भः कुतः फलम् ॥२॥

यदि निरंश अंश मानकर उनका समान परिणमन माना जाय, तत्समयमें न माना जाय तो द्रव्य सदा एकसा रहेगा, उसमें अवस्था भेद नहीं हो सकेगा। इसलिये उपर्युक्त चारो ही विकल्प मिथ्या हैं, उनमें अनेक बाधायें आती हैं। अब प्रसंग पाकर यहाँ द्रव्यका स्वरूप कहा जाता है।

द्रव्य-लक्षण-उपक्रम

द्रव्यत्त्वं किन्नाम * पृष्टश्चेतीह केनचित् सूरिः ।
प्राह प्रमाणसुनयैरधिगतमिव लक्षणं तस्य ॥७१॥

अर्थः—किसीने आचार्यसे पूछा कि महाराज! द्रव्य क्या पदार्थ है? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य उस द्रव्यका प्रमाण और सुनयो द्वारा अच्छी तरह मनन किया हुआ लक्षण कहने लगे।

द्रव्यका लक्षण

गुणपर्ययवद्द्रव्यं लक्षणमेतत्सुसिद्धमविरुद्धम् ।
गुणपर्ययसमुदायो द्रव्यं पुनरस्य भवति वाक्यार्थः ॥७२॥

अर्थः—जिसमे गुण पर्याय पाये जाँय, वह द्रव्य है। यह द्रव्यका लक्षण अच्छी तरह सिद्ध है। इस लक्षणमे किसी प्रकारका विरोध नही आता है। "गुण पर्याय जिनमे पाये जाँय वह द्रव्य है" इस वाक्यका स्पष्ट अर्थ यह है कि गुण और पर्यायोका समुदाय ही द्रव्य है।

भावार्थः—"गुणपर्ययवद्द्रव्यम्" इस वाक्यमे वतुप् प्रत्यय है। उसका ऐसा अर्थ निकलता है कि गुण, पर्यायवाला द्रव्य है। इस कथनसे कोई यह न समझ लेवे कि गुण पर्याय कोई दूसरे पदार्थ है जो कि द्रव्यमे रहते हैं और उन दोनोका आधारभूत द्रव्य कोई दूसरा पदार्थ है। इस अनर्थ अर्थके समझनेकी आशकासे आचार्य नीचेके चरणसे स्वय उस वाक्यका स्पष्ट अर्थ करते है कि गुण, पर्यायवाला द्रव्य है अथवा गुणपर्याय जिसमे पाये जाँय वह द्रव्य है। इन दोनोका यही अर्थ है कि गुण पर्यायोका समूह ही द्रव्य है। यह बात पहले ही कही जा चुकी है कि अनन्त गुणोका अखण्ड पिण्ड ही द्रव्य है, और वे गुण प्रतिक्षण अपनी अवस्थाको बदलते रहते है इसलिये त्रिकालवर्ती पर्यायोको लिये हुए जो गुणोका अखण्ड पिण्ड है वही द्रव्य है। गुण, पर्यायसे पृथक् कोई द्रव्य पदार्थ नही है। इसी बातको स्फुट करते हुए किन्ही आचार्योका कथन प्रकट करते है।

---

* इवके स्थानमें इह होना और 'पृष्टश्चेतीह'के स्थानमें पृष्टश्चेतीव होना विशेष अच्छा है।

द्रव्यका लक्षण

गुण समुदायो द्रव्यं लक्षणमेतावताप्युशन्ति बुधाः ।
समगुणपर्यायो वा द्रव्यं कैश्चिन्निरूप्यते वृद्धैः ॥७३॥

अर्थः—कोई २ बुद्धिधारी "गुण समुदाय ही द्रव्य है" ऐसा भी द्रव्यका लक्षण कहते हैं। कोई विशेष अनुभवी पुरुष समान रीति (साथ २) से होनेवाली गुणोकी पर्यायोको ही द्रव्यका लक्षण बतलाते है ।

भावार्थः—पहले श्लोकमे गुण और पर्याय दोनोको ही द्रव्यका लक्षण बतलाया गया था, परन्तु यहाँपर पर्यायोको गुणोसे पृथक् पदार्थ न समझकर गुण समुदायको ही द्रव्य कहा गया है। वास्तवमें गुणोकी अवस्थाविशेष ही पर्यायें है । गुणोसे सर्वथा भिन्न पर्याय कोई पदार्थ नही है । इसलिये गुण, पर्यायमे अभेद बुद्धि रखकर गुण समुदाय ही द्रव्य कहा गया है। जब गुणोसे पर्याय भिन्न वस्तु नही है किन्तु उन गुणोकी ही अवस्था विशेष है तब यह बात भी सिद्ध हुई समझना चाहिये कि उन अवस्थाओंका समूह ही गुण है। त्रिकालवर्ती अवस्थाओके समूहको छोड़कर गुण और कोई पदार्थ नही है । यह बात पहले भी स्पष्ट रीतिसे कही जा चुकी है कि गुणोके अशोका नाम ही पर्याय है और उन अशोका समूह ही गुण है। जब कि पर्याय समूह ही गुण है तब गुणसमुदायको द्रव्य कहना अथवा पर्यायसमुदायको द्रव्य कहना, दोनोका एक ही अर्थ है । गुणोसे पर्यायोको अभिन्न समझकर ही अखण्ड अनन्त गुणोकी त्रिकालवर्ती पर्यायोको ही द्रव्य कहा गया है ।

तथा फिर भी इसीका स्पष्ट अर्थ

अयमत्राभिप्रायो ये देशास्तद्गुणास्तदंशाश्च ।
एकालापेन समं द्रव्यं नाम्ना त एव निश्शेषम् ॥७४॥

अर्थः—उपर्युक्त कथनका यह अभिप्राय है कि जो देश है, उन देशोमे रहनेवाले जो गुण है, तथा उन गुणोके जो अश है उन तीनोकी ही एक आलाप (एक शब्द द्वारा)से द्रव्य सज्ञा है ।

नहि किञ्चित्सद्द्रव्यं केचित्सन्तो गुणाः प्रदेशाश्च ।
केचित्सन्ति तदंशा द्रव्यं तत्सन्निपाताद्वा ॥७५॥

अर्थः—ऐसा नही है कि द्रव्य कोई जुदा पदार्थ हो, गुण कोई जुदा पदार्थ हो, प्रदेश जुदा पदार्थ हो, उनके अश कोई जुदा पदार्थ हो, और उन सबके मिलापसे द्रव्य कहलाता हो ।

तथा ऐसा भी नहीं है

अथवापि यथा भित्तौ चित्रं द्रव्ये तथा प्रदेशाश्च ।
सन्ति गुणाश्च तदंशाः समवायित्वात्तदाश्रयाद्द्रव्यम् ॥७६॥

अर्थः—अथवा ऐसा भी नही है कि जिसप्रकार भित्तिमे चित्र चित्रा रहता है अर्थात् जैसे भीतिमे चित्र होता है वह भित्तिमे रहता है परन्तु भित्तिसे जुदा पदार्थ है उसीप्रकार द्रव्यमे प्रदेश, गुण, अश रहते है और समवाय* सम्बन्धसे उनका आश्रय द्रव्य है ।

भावार्थः—ऐसा नही है कि देश, देशाश, गुण, गुणाश चारो ही जुदे २ पदार्थ हो, और उनका समूह द्रव्य कहलाता हो, किन्तु चारो ही अखण्ड रूपसे द्रव्य कहलाते है । भेद विवक्षासे ही चार जुदी २ सज्ञाये कहलाती है, अभेद विवक्षासे चारो ही अभिन्न है और उसी चारोकी अभिन्नताको द्रव्य कहते है ।

उदाहरण

इदमस्ति यथा मूलं स्कन्धः शाखा दलानि पुष्पाणि ।
गुच्छाः फलानि सर्वाण्येकालापाचदात्मको वृक्षः ॥७७॥

अर्थः—जिसप्रकार जड, स्कन्ध (पीड) शाखा, पत्ते, पुष्प, गुच्छा, फल, सभीको मिलाकर एक आलाप (एक शब्द)से वृक्ष कहते है । वृक्ष जड़, स्कन्ध, शाखा आदिसे भिन्न कोई पदार्थ नही है किन्तु इनका समुदाय ही वृक्ष कहलाता है, अथवा वृक्षको छोडकर शाखादिक भिन्न कोई पदार्थ नही है । इसीप्रकार देश, देशाश, गुण, गुणाशका समूह ही द्रव्य है । द्रव्यसे भिन्न न तो देशादिक ही है, और देशादिसे भिन्न न द्रव्य ही है ।

कारक और आधाराधेयकी अभिन्नता

यद्यपि भिन्नोऽभिन्नो दृष्टान्तः कारकश्च भवतीह ।
ग्राह्यस्तथाप्यभिन्नो साध्ये चास्मिन् गुणात्मके द्रव्ये ॥७८॥

अर्थः—यद्यपि दृष्टान्त और कारक भिन्न भी होते है और अभिन्न भी होते है । यहाँ गुण समुदायरूप द्रव्यकी सिद्धिमे अभिन्न दृष्टान्त और अभिन्न ही कारक ग्रहण करना चाहिये । खुलासा आगे किया जाता है ।

---

* भिन्न २ पदार्थोंके घनिष्ट नित्य सम्बन्धको समवाय सम्बन्ध कहते हैं । गुण, गुणीको भिन्न मानकर उनका नित्य सम्बन्ध नैयायिक दर्शन मानता है ।

दोनोंकी भिन्नतामें दृष्टान्त

भिन्नोप्यथ दृष्टान्तो भित्तौ चित्रं यथा दधीह घटे ।
भिन्नः कारक इति वा कश्चिद्धनवान् धनस्य योगेन ।।७९।।

अर्थः—आधाराधेयकी भिन्नताका दृष्टान्त इसप्रकार है कि जैसे भित्तिमें चित्र होता है अथवा घड़ेमें दही रक्खा है। भित्ति भिन्न पदार्थ है और उसपर खिंचा हुआ चित्र दूसरा पदार्थ है। इसीप्रकार घट दूसरा पदार्थ है और उसमें रक्खा हुआ दही दूसरा पदार्थ है, इसलिये ये दोनो ही दृष्टान्त आधाराधेयकी भिन्नतामे है। भिन्न कारकका दृष्टान्त इसप्रकार है—जैसे कोई आदमी धनके निमित्तसे धनवाला कहलाता है। यहाँपर धन दूसरा पदार्थ है और पुरुष दूसरा पदार्थ है। धन और पुरुषका स्व–स्वामि सम्बन्ध कहलाता है। यह स्व–स्वामि सम्बन्ध भिन्नताका है।

भावार्थः—जिसप्रकार धनवान् पुरुष, यह भिन्नतामें स्व स्वामि सम्बन्ध है उसप्रकार गुण-पर्यायवान् द्रव्य, यह सम्बन्ध नही है अथवा जैसा आधाराधेय भाव भित्ति और चित्रमे है वैसा गुण द्रव्यमे नही है किन्तु कारक और आधाराधेय दोनो ही अभिन्न है।

दोनोंकी अभिन्नतामें दृष्टान्त

दृष्टान्तश्चाभिन्नो वृक्षे शाखा यथा गृहे स्तम्भः ।
अपि चाभिन्नः कारक इति वृक्षोऽयं यथा हि शाखावान् ।।८०।।

अर्थः—आधार–आधेयकी अभिन्नतामे दृष्टान्त इसप्रकार है, जैसे वृक्षमे शाखा, अथवा घरमे खम्भा। कारककी अभिन्नतामे दृष्टान्त इसप्रकार है जैसे—यह वृक्ष शाखावाला है।

भावार्थः—यहाँपर वृक्ष और शाखा तथा घर और खम्भा दोनो ही अभिन्नताके दृष्टान्त है। वृक्षसे शाखा जुदा पदार्थ नही है। और घरसे खम्भा जुदा पदार्थ नही है। इसीप्रकार "वृक्ष शाखावान् है" यह स्वस्वामि सम्बन्ध भी अभिन्नताका है। इन्ही अभिन्न आधार–आधेय और अभिन्नकारकके समान गुण, पर्याय और द्रव्यको समझना चाहिये।

शङ्काकार

समवायः समवायी यदि वा स्यात्सर्वथा तदेकार्थः ।
समुदायो वक्तव्यो न चापि समवायवानिति चेत् ।।८१।।

अर्थः—समवाय और समवायी अर्थात् गुण और द्रव्य दोनो ही सर्वथा एकार्थक

है। ऐसी अवस्थामे गुण समुदाय ही कहना चाहिये। द्रव्यके कहनेकी कोई आवश्यकता नही है?

उत्तर

तन्न यतः समुदायो नियतं समुदायिनः प्रतीतत्वात् ।
व्यक्तप्रमाणसाधितसिद्धत्वाद्वा गुणिद्रव्यदृष्टान्तात् ॥८२॥

अर्थः—उपर्युक्त शका ठीक नही है, क्योकि समुदाय नियमसे समुदायीका होता है। यह बात प्रसिद्ध प्रमाणसे सिद्ध की हुई है और प्रसिद्ध दृष्टान्तसे भी यह बात सिद्ध होती है।

भावार्थः—यद्यपि *सीकोका समूह ही सोहनी (झाड़ू) है। तथापि सीकोके समुदायसे ही घरका कूडा दूर किया जाता है, सीकोसे नही इसलिये समुदाय और समुदायी कथचित् भिन्न भी है और कथञ्चित् अभिन्न भी हैं।

खुलासा

स्पर्शरसगन्धवर्णा लक्षणभिन्ना यथा रसालफले ।
कथमपि हि पृथक्कर्तुं न तथा शक्यास्त्वखण्डदेशत्वात् ॥८३॥

अर्थः—यद्यपि आमके फलमे स्पर्श, रस, गध और रूप भिन्न २ है क्योकि इनके लक्षण भिन्न २ है तथापि सभी अखण्डरूपसे एकरूप हैं किसीप्रकार जुदे २ नही किये जा सकते।

भावार्थः—स्पर्शका ज्ञान स्पर्शनेन्द्रियसे होता है, रसका ज्ञान रसना इन्द्रियसे होता है, गन्धका नासिकासे होता है और रूपका चक्षुसे होता है इसलिये ये चारो ही भिन्न २ लक्षणवाले है, परन्तु चारोका ही तादात्म्य सम्बन्ध है, कभी भी जुदे २ नही हो सकते हैं। इसलिये लक्षण भेदसे भिन्न है, समुदाय रूपसे अभिन्न है, अतएव गुण और गुणीमे कथचित् भेद और कथचित् अभेद स्पष्टतासे सिद्ध होता है।

साराश

अत एव यथा वाच्या देशगुणांशा विशेषरूपत्वात् ।
वक्तव्यं च तथा स्यादेकं द्रव्यं त एव सामान्यात् ॥८४॥

अर्थः—उपर्युक्त कथनसे यह बात भलीभाँति सिद्ध हो चुकी कि विशेष कथनकी अपेक्षासे देश, गुण, पर्याय सभी जुदे २ है और सामान्य कथनकी अपेक्षासे वे ही सब द्रव्य कहलाते है।

* सींकोंका दृष्टान्त स्थूल दृष्टान्त है। केवल समुदायाशमें ही इसे घटित करना चाहिये।

विशेष लक्षण कहनेकी प्रतिज्ञा

अथ चैतदेव लक्षणमेकं वाक्यान्तरप्रवेशेन ।
निष्प्रतिघप्रतिपत्त्यै विशेषतो लक्षयन्ति बुधाः ॥८५॥

अर्थः—"गुण पर्ययवद्द्रव्यम्" इसी एक लक्षणको निर्बाध प्रतीतिके लिये वाक्यान्तर (दूसरी रीतिसे) द्वारा विशेष रीतिसे भी बुद्धिमान कहते है ।

भावार्थः—अब द्रव्यका दूसरा लक्षण कहते है परन्तु वह दूसरा लक्षण उपर्युक्त (गुणपर्ययवद्द्रव्य) लक्षणसे भिन्न नही है किन्तु उसीका विशद है ।

द्रव्यका लक्षण

उत्पादस्थितिभंगैर्युक्तं सद्द्रव्यलक्षणं हि यथा ।
एतैरेव समस्तैः पृक्तं सिद्धेत्समं न तु व्यस्तैः ॥८६॥

अर्थः—पहले जो द्रव्यका लक्षण 'सत्' कहा गया है वह सत् उत्पाद, स्थिति, भग, इन तीनोसे सहित ही द्रव्यका लक्षण है । इतना विशेष है कि इन तीनोका साहित्य भिन्न २ कालमे नही होता है, किन्तु एक ही कालमे होता है ।

भावार्थः—एक कालमे उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, तीनो अवस्थाओको लिये हुए सत् ही द्रव्यका लक्षण है ।

उसीका स्पष्टार्थ

***अयमर्थः प्रकृतार्थो ध्रौव्योत्पादव्ययास्त्रयश्चांशा ।**
नाम्ना सदिति गुणः स्यादेकोऽनेके त एकशः प्रोक्ताः ॥८७॥

अर्थः—इस प्रकरणका यह अर्थ है कि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य, ये तीनो ही अश, एक सत् गुणके है इसलिये इन तीनोको ही समुदाय रूपसे सन्मात्र कह देते है और क्रमसे वे तीनो ही जुदे २ अनेक है ।

भावार्थः—द्रव्यमे एक अस्तित्व नामक गुण है, उसीको सत्ता भी कहते है । वह सत् गुण ही उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक है इसलिये प्रत्येककी अपेक्षासे तीनो जुदे २ है, परन्तु समुदायकी अपेक्षासे केवल सत्गुण स्वरूप है ।

---

* इस श्लोक द्वारा तत्त्वार्थसूत्रके "सद्द्रव्यलक्षण" और "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" इन्ही दो सूत्रोका आशय प्रगट किया गया है ।

सत् गुण भी है और द्रव्य भी है

लक्ष्यस्य लक्षणस्य च भेदविवक्षाश्रयात्सदेव गुणः ।
द्रव्यार्थादेशादिह तदेव सदिति स्वयं द्रव्यम् ॥८८॥

अर्थः—लक्ष्य और लक्षणकी भेद विवक्षासे तो सत् गुण ही है परन्तु द्रव्यार्थिक दृष्टिसे वही सत् स्वय द्रव्य स्वरूप है ।

भावार्थः—वस्तुमे अनन्त गुण है । उन गुणोमेसे प्रत्येकको [1]चालनी न्यायसे यदि द्रव्यका लक्ष्य माना जाये तो उस अवस्थामे द्रव्य लक्ष्य ठहरेगा, और गुण उसका लक्षण ठहरेगा । लक्ष्य लक्षणकी अपेक्षासे ही गुण गुणीमे कथञ्चित् भेद है । इसी दृष्टिसे सत्ता और द्रव्यमे कथचित् भेद है, परन्तु भेद विकल्प बुद्धिको हटाकर केवल द्रव्यार्थिक दृष्टिसे सत्ता और द्रव्य दोनोमे कुछ भी भेद नही है, जो द्रव्य है सो ही सत्ता है । इसका खुलासा इसप्रकार है कि सम्पूर्ण गुणोमे अभिन्नता होनेसे किसी एक गुणके द्वारा समग्र वस्तुका ग्रहण हो जाता है इस [2]कथनसे सत्ता कहनेसे भी द्रव्यका ही बोध होता है और द्रव्यत्त्व कहनेसे भी द्रव्यका ही बोध होता है । वस्तुत्त्व कहनेसे भी द्रव्य (वस्तु)का ही बोध होता है । नय दृष्टिसे सत्ता, द्रव्यत्त्व और वस्तुत्त्वके कहनेसे केवल उन्ही गुणोका ग्रहण होता है । अभेद बुद्धि रखनेसे उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य ये तीनो अवस्थाये द्रव्यकी कहलाती है इसलिये द्रव्य ही उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक है ।

वस्त्वस्ति स्वतःसिद्धं यथा तथा तत्स्वतश्च परिणामि ।
तस्मादुत्पादस्थितिभंगमयं तत् सदेतदिह नियमात् ॥८९॥

अर्थः—जिसप्रकार वस्तु अनादिनिधन स्वत सिद्ध अविनाशी है उसीप्रकार परिणामी भी है इसलिये उत्पाद, स्थिति, भग स्वरूप नियमसे सत् (द्रव्य) है ।

भावार्थः—वस्तु कथचित् नित्य है और कथचित् अनित्य है । द्रव्य दृष्टिसे नित्य है । उत्पादादि पर्याय दृष्टिसे अनित्य है ।

वस्तुको परिणामी न माननेमें दोष

नहि पुनरुत्पादस्थितिभंगमयं तद्विनापि परिणामात् ।
असतो जन्मत्त्वादिह सतो विनाशस्य दुर्निवारत्वात् ॥९०॥

---

१ आटा छनते हुए क्रमसे चलनीके सम्पूर्ण छिद्रोंसे निकलता है इसीको 'चालनी न्याय' कहते हैं ।

२ यही कथन प्रमाण कथन कहलाता है । प्रमाण लक्षण इसप्रकार है—'एक गुण-मुखेनाऽशेष-वस्तुकथनमिति' ।

अर्थः—यदि बिना परिणामके ही वस्तुको उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य स्वरूप माना जाय तो असत्की उत्पत्ति और सत्का विनाश अवश्यभावी होगा ।

भावार्थः—वस्तुको परिणमनशील मानकर यदि उत्पादादि त्रय माने जावे तब तो वस्तुमे नित्यता कायम रहती है । यदि उसे परिणमनशील न मानकर उसमें उत्पादादि माना जावे तो वस्तु सर्वथा अनित्य ठहर जायगी, तथा फिर नवीन वस्तुका उत्पाद होगा, और जो है उसका नाश हो जायगा । परन्तु यह व्यवस्था *प्रमाण वाधित है इसलिये वस्तुको परिणामी मानना चाहिये । फिर किसी परिणामसे वस्तु उत्पन्न होगी, किसीसे नष्ट भी होगी और किसीसे स्थिर भी रहेगी । इसी बातको आगे स्पष्ट करते है—

द्रव्यं ततः कथञ्चित्केनचिदुत्पद्यते हि भावेन ।
व्येति तदन्येन पुनर्नैतद्द्वितयं हि वस्तुतया ॥९१॥

अर्थः—उपर्युक्त कथनसे द्रव्य परिणामी सिद्ध हो चुका इसलिये वह किसी अवस्थासे कथचित् उत्पन्न भी होता है, किसी दूसरी अवस्थासे कथचित् नष्ट भी होता है । वस्तु स्थितिसे उत्पत्ति और नाश, दोनो ही वस्तुमे नही होते ।

भावार्थः—किसी परिणामसे वस्तुमे ध्रौव्य (कथचित् नित्यता) भी रहता है ।

उत्पादादि त्रयके उदाहरण

इह घटरूपेण यथा प्रादुर्भवतीति पिण्डरूपेण ।
व्येति तथा युगपत्स्यादेतद्द्वितयं न मृत्तिकात्वेन ॥९२॥

अर्थः—वस्तु घटरूपसे उत्पन्न होती है, पिण्ड रूपसे नष्ट होती है, मृत्तिका रूपसे स्थिर है । ये तीनो ही अवस्थाये एक ही कालमे होती है परन्तु एकरूप नही है ।

शङ्काकार

ननु ते विकल्पमात्रमिह यदकिञ्चित्करं तदेवेति ।
एतावतापि न गुणो हानिर्वा तद्विना यतस्त्विति चेत् ॥९३॥

अर्थः—शङ्काकार कहता है कि यह सब तुम्हारी कल्पना मात्र है और वह व्यर्थ है । उत्पादादि त्रयके माननेसे न तो कोई गुण ही है और इनके न माननेसे कोई हानि भी नही दीखती ?

उत्तर

तन्न यतो हि गुणः स्यादुत्पादादित्रयात्मके द्रव्ये ।
तन्निह्नवे च न गुणः सर्वद्रव्यादिशून्यदोषत्वात् ॥९४॥

---

* ऐसा माननेसे जो दोष आते हैं, उनका कथन पहले किया जा चुका है ।

अर्थः—शङ्काकारकी उपर्युक्त शंका ठीक नहीं है क्योंकि उत्पादादि त्रय स्वरूप वस्तुको माननेसे ही लाभ है उसके न माननेमें कोई लाभ नहीं है, प्रत्युत द्रव्य, परलोक कार्य कारण आदि पदार्थोंकी शून्यताका प्रसंग आनेसे हानि है।

परिणाम नहीं माननेमें दोष

परिणामाभावादपि द्रव्यस्य स्यादनन्यथावृत्तिः।
तस्यामिह परलोको न स्यात्कारणमथापि कार्यं वा ॥९५॥

अर्थः—परिणामके न माननेसे द्रव्य सदा एकसा ही रहेगा। उस अवस्थामें परलोक कार्य, कारण आदि कोई भी नहीं ठहर सकता।

भावार्थः—दृष्टान्तके लिये जीव द्रव्यको ही ले लीजिये। यदि जीव द्रव्यमें परिणमन न माना जाय, उसको सदा एक सरीखा ही माना जाय, तो पुण्य पापका कुछ भी फल नहीं हो सकता है, अथवा मोक्षके लिये सब प्रयत्न व्यर्थ हैं। इसीप्रकार अवस्थाभेदके न माननेमे कार्य, कारणभाव आदि व्यवस्था भी नहीं बन सकती है।

परिणामीके न माननेमें दोष

परिणामिनोप्यभावात् क्षणिकं परिणाममात्रमिति वस्तु।
तन्न यतोऽभिज्ञानान्नित्यस्याप्यात्मनः प्रतीतित्वात् ॥९६॥

अर्थः—यदि परिणामीको न माना जाय तो वस्तु क्षणिक—केवल परिणाम मात्र ठहर जायगी और यह बात बनती नहीं, क्योंकि *प्रत्यभिज्ञान द्वारा आत्माकी कथंचित् नित्य रूपसे भी प्रतीति होती है।

भावार्थः—बिना कथञ्चित् नित्यता स्वीकार किये आत्मामे यह वही जीव है, ऐसा प्रत्यभिज्ञान नहीं हो सकता। इसलिये दोनो श्लोकोका फलितार्थ यह निकला कि वस्तु अपनी वस्तुताको कभी नहीं छोडती इसलिये तो वह नित्य है और वह सदा नई नई अवस्थाओको बदलती रहती है इसलिये अनित्य भी है। वह न तो सर्वथा नित्य ही है और न सर्वथा अनित्य ही है जैसा कि सांख्य बौद्ध मानते है।

* "दर्शनस्मरणकारणक सङ्कलनात्मक ज्ञान प्रत्यभिज्ञानम्" अर्थात् जिस पदार्थको पहिले कभी देखा जाय, फिर भी कभी उसीको अथवा उसके सम या विषमको देखा जाय तो वहाँ वर्तमानमें प्रत्यक्ष और पहिलेका स्मरण, दोनों एक साथ होनेसे यह वही है अथवा उसके समान है, आदि ज्ञान होता है। इसीको प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। बिना कथचित् नित्यता स्वीकार किये ऐसा ज्ञान नहीं हो सकता।

शङ्काकार

गुणपर्ययवद्द्रव्यं लक्षणमेकं यदुक्तमिह पूर्वम् ।
वाक्यान्तरोपदेशादधुना तद्बाध्यते त्विति चेत् ॥९७॥

अर्थः—पहले द्रव्यका लक्षण "गुणपर्ययवद्द्रव्य" यह कहा गया है और अब वाक्यान्तरके द्वारा "सद्द्रव्यलक्षण" यह कहा जाता है। तथा सत्को उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य युक्त बतलाया जाता है। इसलिये उस लक्षणमे इस लक्षणसे बाधा आती है ?

उत्तर

तन्न यतः सुविचारादेकोर्थो वाक्ययोर्द्वयोरेव ।
अन्यतरं स्यादितिचेन्न मिथोभिव्यञ्जकत्वाद्वा ॥९८॥

अर्थः—दोनो लक्षणोमे विरोध बतलाना ठीक नही है क्योकि अच्छी तरह विचार करनेसे दोनो वाक्योका एक ही अर्थ प्रतीत होता है। फिर भी शकाकार कहता है कि जब दोनो लक्षणोका एक ही अर्थ है तो फिर दोनोके कहनेकी क्या आवश्यकता है, दोनोमेसे कोई सा एक कह दिया जाय ? आचार्य उत्तर देते है कि ऐसा भी नही है कि दोनोमेसे एक ही कहा जाय, किन्तु दोनोही मिलकर अभिव्यञ्जक (वस्तुप्रदर्शक) है।

खुलासा

तद्दर्शनं यथा किल नित्यत्वस्य च गुणस्य व्याप्तिः स्यात् ।
गुणवद्द्रव्यं च स्यादित्युक्ते ध्रौव्यवत्पुनः सिद्धम् ॥९९॥

अर्थः—दोनो लक्षणोके विषयमे खुलासा इसप्रकार है कि नित्यता और गुणकी व्याप्ति है अर्थात् गुण कहनेसे नित्यपनेका बोध होता है इसलिये "गुणवान् द्रव्य है" ऐसा कहनेसे ध्रौव्यवान् द्रव्य सिद्ध होता है।

भावार्थः—कथचित् नित्यको ध्रौव्य कहते है। गुणोसे कथचित् नित्यता सिद्ध करनेके लिये ही द्रव्यको ध्रौव्यवान् कहा है।

विशेष

अपि च गुणाः संलक्ष्यास्तेपामिह लक्षणं भवेत् ध्रौव्यम् ।
तस्माल्लक्ष्यं साध्यं लक्षणमिह साधनं प्रसिद्धत्वात् ॥१००॥

अर्थः—दूसरे शब्दोमे यह कहा जाता है कि गुण लक्ष्य है, ध्रौव्य उनका लक्षण है इसलिये यहां पर लक्ष्यको साध्य बनाया जाता है और लक्षणको साधन बनाया जाता है।

भावार्थः—गुणोका ध्रौव्य लक्षण करनेसे गुणोमे कथञ्चित् नित्यता भलीभांति सिद्ध हो जाती है ।

पर्यायकी अनित्यताके साथ व्याप्ति है

पर्यायाणामिह किल भङ्गोत्पादद्वयस्य वा व्याप्तिः ।
इत्युक्ते पर्ययवद्द्रव्यं सृष्टिव्ययात्मकं वा स्यात् ॥१०१॥

अर्थः—पर्यायोकी नियमसे उत्पाद और व्ययके साथ व्याप्ति है अर्थात् पर्यायके कहनेसे उत्पत्ति और विनाशका बोध होता है । इसलिये "पर्यायवाला द्रव्य है" ऐसा कहनेसे उत्पाद व्ययवाला द्रव्य सिद्ध होता है ।

भावार्थः—वस्तुमे होनेवाले अवस्थाभेदको उत्पाद, व्यय कहते है, अवस्था नाम पर्यायका है, पर्यायोमे कथचित् अनित्यता सिद्ध करनेके लिये ही द्रव्यको उत्पाद व्ययवान् कहा है ।

द्रव्यस्थानीया इति पर्यायाः स्युः स्वभाववन्तश्च ।
तेषां लक्षणमिव वा स्वभाव इव वा पुनर्व्ययोत्पादम् ॥१०२॥

अर्थः—उक्त कथनसे पर्यायोमे दो बाते सिद्ध होती है । एक तो यह कि वे द्रव्यस्थानीय है—द्रव्यमे ही उत्पन्न होती है या रहती है—पर्याये द्रव्यमे भिन्न नही है । दूसरी बात यह कि वे स्वभाववान् है* । जब पर्याये द्रव्यस्थानीय तथा स्वभाववान् है तो उनका लक्षण और स्वभाव बताना भी आवश्यक है । अतएव यदि कोई यह जानना चाहे कि उनका लक्षण और स्वभाव क्या है ? तो उसको यही समझना चाहिये कि व्यय और उत्पाद ये दोनो ही ऐसे है कि जिनको पर्यायोके लक्षणकी तरहसे भी कह सकते है या स्वभावकी तरहसे भी कह सकते है । तात्पर्य यह कि उत्पादव्यय और पर्यायमे लक्ष्यलक्षण सम्बन्ध अथवा स्वभावस्वभाववत्सम्बन्ध है तथा पर्याये द्रव्यस्थानीय है । अतएव पर्ययवद्द्रव्य यह द्रव्यका लक्षण उत्पादव्ययवद्द्रव्य इस द्रव्यके लक्षणका अभिव्यजक होता है क्योकि द्रव्यके दोनो लक्षणोमे अभिव्यज्याभिव्यजक भाव तथा साध्यसाधन भाव है । जैसा कि पहले गुणकी अपेक्षासे कहा जा चुका है ।

गुण निरूपण करनेकी प्रतिज्ञा

अथ च गुणत्वं किमहो सूक्तः केनापि जन्मिना सूरिः ।
प्रोचे सोदाहरणं लक्षितमिव लक्षणं गुणाना हि ॥१०३॥

* पर्यायें द्रव्यस्थानीय हैं इसीलिये स्वभाववान् हैं ऐसा भी कहा जा सकता है

अर्थः—गुण क्या पदार्थ है ? यह प्रश्न किसी पुरुषने आचार्यसे पूछा, तब आचार्य उदाहरण सहित गुणोका सुलक्षित लक्षण कहने लगे।

गुणका लक्षण

* द्रव्याश्रया गुणाःस्युर्विशेषमात्रास्तु निर्विशेषाश्च ।
करतलगतं यदेतैर्व्यक्तमिवालक्ष्यते वस्तु ॥१०४॥

अर्थः—द्रव्यके आश्रय रहनेवाले, विशेष रहित जो विशेष है वे ही गुण कहलाते है। उन्ही गुणोके द्वारा हाथमे रक्खे हुए पदार्थकी तरह वस्तु स्पष्ट प्रतीत होती है।

भावार्थः—गुण सदा द्रव्यके आश्रयसे रहते है परन्तु इनका आश्रय–आश्रयीभाव ऐसा नही है जैसा कि चौकीपर रक्खी हुई पुस्तकोका चौकीके साथ होता है किन्तु ऐसा है जैसा कि [1]तन्तु और कपड़ेका अथवा पुस्तक और अक्षरोका होता है। यद्यपि कपड़ा तन्तुओसे भिन्न नही है तथापि वह तन्तुओका आधेय समझा जाता है। इसीप्रकार पुस्तक अक्षरोसे भिन्न नही है तथापि वह अक्षरोका आधार समझी जाती है, इसीप्रकार गुण और द्रव्यका आधार–आधेयभाव है। गुण और विशेष ये दोनो ही एकार्थ वाचक है, गुणोमे गुण नही रहते है। यदि गुणोमे भी गुण रह जाँय तो वे भी द्रव्य ठहरेंगे और अनवस्था दोष भी आवेगा इसलिये जो [2]द्रव्यके आश्रय रहनेवाले हों और निर्गुण हो वे गुण कहलाते हैं।

खुलासा

अयमर्थो विदितार्थः समप्रदेशाः समं विशेषा ये ।
ते ज्ञानेन विभक्ताः क्रमतः श्रेणीकृता गुणा ज्ञेयाः ॥१०५॥

अर्थः—गुण, द्रव्यके आश्रय रहते है, इसका खुलासा यह है कि एक गुणका जो

---

* "द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणा." तत्वार्थसूत्रके इस सूत्रका आशय इस श्लोक द्वारा प्रकट किया गया है।

१ तन्तु और कपडेका दृष्टान्त भी स्थूल है, ग्राह्यांशमें ही घटित करना चाहिये।

२ द्रव्यके आश्रय पर्याय भी रहती है और वह निर्गुण भी है इसलिये गुणोंका लक्षण पर्यायमें घटित होनेसे अतिव्याप्ति नामक दोष आता है। लक्षण अपने लक्ष्यमें रहता हुआ यदि दूसरे पदार्थमें भी रह जाय, उसीको अतिव्याप्ति कहते हैं, इस दोषको हटानेके लिये गुणोके लक्षणमें 'द्रव्याश्रय'का अर्थ यह करना चाहिये कि जो नित्यतासे द्रव्यके आश्रय रहे वे गुण हैं, ऐसा कहनेसे पर्यायमें लक्षण नहीं जा सकता, क्योंकि पर्याय अनित्य है इसीलिये गुणोंको सहभावी और पर्यायोंको क्रमभावी बतलाया गया है।

प्रदेश है वही प्रदेश सभी गुणोका है इसलिये सभी गुणोके समान प्रदेश है उन प्रदेशोमे रहनेवाले गुणोका जब बुद्धिपूर्वक विभाग किया जाता है तब श्रेणीवार क्रमसे अनन्त गुण प्रतीत होते है अर्थात् बुद्धिसे विभाग करनेपर उसके सभी प्रदेश गुणरूप ही दीखते है । गुणोके अतिरिक्त स्वतन्त्र आधाररूप प्रदेश कोई भिन्न पदार्थ नही प्रतीत होता है ।

उदाहरण

दृष्टान्तः शुक्लाद्या यथा हि समतन्तवः समं सन्ति ।
बुद्ध्या विभज्यमानाः क्रमतः श्रेणीकृता गुणा ज्ञेयाः ॥१०६॥

अर्थः—समान तन्तुवाले सभी शुक्लादिक गुण समान है उन शुक्लादिक गुणोका बुद्धिसे विभाग किया जाय तो क्रमसे श्रेणीवार अनन्त गुण ही प्रतीत होगे ।

गुणोंका नित्याऽनित्य विचार

नित्यानित्यविचारस्तेषामिह विद्यते ततः प्रायः ।
विप्रतिपत्तौ सत्यां विवदन्ते वादिनो यतो बहवः ॥१०७॥

अर्थः—गुणोके विषयमे बहुतसे वादियोका विवाद होता है—कोई गुणोको सर्वथा नित्य बतलाते है, और कोई सर्वथा अनित्य बतलाते है । इसलिये आवश्यक प्रतीत होता है कि गुणोके विषयमे नित्यता और अनित्यताका विचार किया जाय ।

जैन सिद्धान्त

जैनानामतमेतन्नित्यानित्यात्मकं यथा द्रव्यम् ।
ज्ञेयास्तथा गुणा अपि नित्यानित्यात्मकास्तदेकत्वात् ॥१०८॥

अर्थः—जैनियोका तो ऐसा सिद्धान्त है कि जिसप्रकार द्रव्य कथचित् नित्य और कथञ्चित् अनित्य है, उसीप्रकार गुण भी कथचित् नित्य और कथचित् अनित्य है क्योकि द्रव्यसे सर्वथा भिन्न गुण नही है ।

गुणोंकी नित्यताका विचार

तत्रोदाहरणमिदं तद्भावाऽव्ययाद्गुणा नित्याः ।
तदभिज्ञानात्सिद्धं तल्लक्षणमिह यथा तदेवेदम् ॥१०९॥

अर्थः—नित्यका यह लक्षण है कि जिसके *स्व-भावका नाश न हो । यह लक्षण गुणोमे पाया जाता है इसलिये गुण नित्य है, गुणोके स्व-भावका नाश नही होता है । यह गुणोका लक्षण "यह वही है" ऐसे एकत्व प्रत्यभिज्ञान द्वारा सिद्ध होता है अर्थात्

* तत्त्वार्थसूत्रके "तद्भावाऽव्यय नित्यम्" इस सूत्रका आशय है ।

गुणोमे यह वही गुण है, ऐसी प्रतीति होती है और यही प्रतीति उनमें नित्यताको सिद्ध करती है।

गुणोंकी नित्यतामें उदाहरण

ज्ञानं परणामि यथा घटस्य चाकारतः पटाकृत्या।
किं ज्ञानत्वं नष्टं न नष्टमथ चेत्कथं न नित्यं स्यात् ॥११०॥

अर्थः—आत्माका ज्ञान गुण परिणमनशील है। कभी वह घटके [1]आकार होता है तो कभी पटके आकार हो जाता है। घटाकारसे पटाकार होते समय उसमे क्या ज्ञान गुण नष्ट हो जाता है? नही, ज्ञान नष्ट नही होता, केवल अवस्थाभेद हो जाता है, वह पहले घटको जानता था अब पटको जानने लगा है इतना ही भेद हुआ है। जानना दोनो अवस्थाओमे बराबर है इसलिये ज्ञानका कभी नाश नही [2] होता है। जब ज्ञानका कभी नाश नही होता यह बात सुप्रतीत है, तो वह नित्य क्यो नही है? अवश्य है।

गुणोंकी नित्यतामें ही दूसरा दृष्टान्त

दृष्टान्तः किल वर्णो गुणो यथा परिणमन् रसालफले।
हरितात्पीतस्तत्किं वर्णत्वं नष्टमिति नित्यम् ॥१११॥

---

१ घटाकार और पटाकारका घटज्ञान और पटज्ञानसे प्रयोजन है। ज्ञानगुणका यह स्वभाव है कि वह जिस पदार्थको जानता है उसके आकार हो जाता है इसीलिये ज्ञानको दर्पणकी तुलना दी गई है, दर्पणमें भी जिस पदार्थका प्रतिबिम्ब पड़ता है, दर्पण उस पदार्थके आकार हो जाता है।

२ यहाँपर कोई ऐसी शका कर सकता है कि जीवात्माओंमें ज्ञान बराबर घटता हुआ प्रतीत होता है सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तकमें घटते २ अक्षरके अनन्तवें भाग प्रमाण रह जाता है तो इससे सिद्ध होता है कि किसी जीवमें ज्ञानका सर्वथा ही अभाव हो जाता हो। यद्यपि स्थूल दृष्टिसे इस शंकाकी सम्भावना ठीक है, तथापि तत्त्व दृष्टिसे विचार करनेपर उक्त शंका निर्मूल हो जाती है। किसी भी पदार्थमें कमी की सम्भावना वहीं तक की जा सकती है, जहाँ तक कि उस पदार्थकी सत्ता है, पदार्थकी निश्शेषतामें कभी शब्दका प्रयोग ही नहीं हो सकता, दूसरे हर एक पदार्थकी उत्कृष्टता और जघन्यताकी सीमा अवश्य है। ज्ञान गुणकी जघन्यतामें भी अनन्तानन्त अविभाग प्रतिच्छेद बतलाये हैं। सूक्ष्म निगोदियाके जघन्य ज्ञानमें आवरण नहीं होता है, वह सदा प्रकटित रहता है और सदा निरावरण है। यदि उसमें भी आवरण आ जाय तो जीवमें जड़ताका प्रसङ्ग आवेगा, ऐसी अवस्थामें वस्तुकी वस्तुता ही चली जाती है। ज्ञानकी नित्यतामें युक्तियोंके अतिरिक्त प्रमाणके लिये नीचे लिखी गाथा देखो—

सुहमणिगोदअपज्जत्तयस्स जादस्स पढमसमयम्मि।
हवदि हु सव्वजहण्णं णिच्चुग्घाड णिरावरणं ॥१॥

गोम्मटसार।

अर्थः—जिसप्रकार आमके फलमें रूप गुण बदलता रहता है, आमकी कच्ची अवस्थामें हरा रंग रहता है, पकनेपर उसमें पीला रंग हो जाता है, हरेसे पीला होनेपर क्या उसका रूप (रंग) नष्ट हो जाता है? यदि नहीं नष्ट होता है तो क्यों नहीं रूप गुणको नित्य माना जावे? अवश्य मानना चाहिये।

भावार्थः—हरे रंगसे पीला रंग होनेमें केवल रंगकी अवस्थामें भेद हो जाता है। रंग दोनों ही अवस्थामें है इसलिये रंग सदा रहता है वह चाहे कभी हरा हो जाय, कभी पीला हो जाय, कभी लाल हो जाय, रंग सभी अवस्थाओंमें है इसलिये रंग (रूप) गुण नित्य है, यह दृष्टान्त अजीवका है, पहला जीवका था।

गुणोंकी अनित्यताका विचार

वस्तु यथा परिणामि तथैव परिणामिनो गुणाश्चापि।
तस्मादुत्पादव्ययद्वयमपि भवति हि गुणानां तु ॥११२॥

अर्थः—जिसप्रकार वस्तु प्रतिक्षण परिणमनशील है, उसीप्रकार गुण भी प्रतिक्षण परिणमनशील है इसलिये जैसे वस्तुका उत्पाद और व्यय होता है उसीप्रकार गुणोंका उत्पाद और व्यय होता है।

गुणोंकी अनित्यतामें भी वही दृष्टान्त

ज्ञानं गुणो यथा स्यान्नित्यं सामान्यवत्तयाऽपि यतः।
नष्टोत्पन्नं च तथा घटं विहायाऽथ पटं परिच्छिन्दत् ॥११३॥

अर्थः—यद्यपि सामान्य दृष्टिसे ज्ञान गुण नित्य है तथापि वह कभी घटको और कभी पटको जानता है इसलिये अनित्य भी है।

भावार्थः—अवस्था (पर्याय) की अपेक्षासे ज्ञान अनित्य है। अपनी सत्ताकी अपेक्षासे नित्य है।

गुणोंकी अनित्यतामें वही दूसरा दृष्टान्त

सन्दृष्टी रूपगुणो नित्यश्चाम्रेऽपि वर्णमात्रतया।
नष्टोत्पन्ने हरितात्परिणममानश्च पीतवत्त्वेन ॥११४॥

अर्थः—आमसे रूप सदा रहता है इसकी अपेक्षासे यद्यपि रूप गुण नित्य है तो भी हरितसे पीत अवस्थामें बदलनेसे वह नष्ट और उत्पन्न भी होता है।

शंकाकार

ननु नित्या हि गुणा अपि भवन्त्वनित्यास्तु पर्ययाः सर्वे।
तत्किं द्रव्यवदिह किल नित्यानित्यात्मका गुणाः प्रोक्ताः ॥११५॥

अर्थः—यह बात निश्चित है कि गुण नित्य होते है और पर्याये सभी अनित्य होती है। फिर क्या कारण है कि द्रव्यके समान गुणोंको भी नित्याऽनित्यात्मक बतलाया है?

उत्तर

सत्यं तत्र यतः स्यादिदमेव विवक्षितं यथा द्रव्ये ।
न गुणेभ्यः पृथगिह तत्सदिति द्रव्यं च पर्ययाश्चेति ॥११६॥

अर्थः—उपर्युक्त शका यद्यपि ठीक है, तथापि उसका उत्तर इसप्रकार है कि गुणोसे भिन्न सत् पदार्थ कोई वस्तु नही है। द्रव्य, पर्याय और गुण ये तीनों ही सत्स्वरूप है इसलिये जिसप्रकार द्रव्यमे विवक्षावश कथचित् नित्यता और कथचित् अनित्यता आती है, उसीप्रकार गुणोमे भी नित्यता और अनित्यता विवक्षाधीन है।

और भी

अपि नित्याः प्रतिसमयं विनापि यत्नं हि परिणमन्ति गुणाः ।
स च परिणामोऽवस्था तेषामेव न पृथक्त्वसत्ताकः ॥११७॥

अर्थः—यद्यपि गुण नित्य है तथापि बिना किसी प्रयत्नके प्रति समय परिणमन करते है। वह परिणाम भी उन्ही गुणोकी अवस्था विशेष है, भिन्न सत्तावाला नही है।

शकाकार

ननु तदवस्थो हि गुणः किल तदवस्थान्तरं हि परिणामः ।
उभयोरन्तर्वर्तित्वादिह पृथगेतदेवमिदमिति चेत् ॥११८॥

अर्थः—शकाकारका कहना है कि गुण तो सदा एकसा रहता है और परिणाम एक समयसे दूसरे समयमे सर्वथा जुदा है। तथा परिणाम और गुण इन दोनोके बीचमे रहनेवाला द्रव्य भिन्न ही पदार्थ है?

उत्तर

तन्न यतः सदवस्थाः सर्वा आम्रेडितं यथा वस्तु ।
न तथा ताभ्यः पृथगिति किमपि हि सत्ताकमन्तरं वस्तु ॥११९॥

अर्थः—उपर्युक्त शका ठीक नही है। क्योकि परिणाम गुणोकी ही अवस्था विशेष है। द्रव्य, गुण, पर्याय ये तीनो ही मिलकर वस्तु कहलाते है। इन तीनोका नाम लेनेसे वस्तुका ही बोध होता है इसलिये ये सब वस्तुके ही द्विरुक्त (पुन. पुन. कथन) हैं। उन अवस्थाओसे जुदा भिन्न सत्तावाला गुण अथवा द्रव्य कोई पदार्थ नही है।

भावार्थः—शङ्काकारने गुणोको उनके परिणामोसे भिन्न बतलाया था। और उसमे हेतु दिया था कि एक समयमे जो परिणाम है, दूसरे समयमे उससे सर्वथा भिन्न ही है। इसीप्रकार वह भी नष्ट हो जाता है, तीसरे समयमे जुदा परिणाम ही पैदा होता है। इसलिये गुणोसे परिणाम सर्वथा भिन्न है। इसका उत्तर दिया गया है कि यद्यपि परिणाम प्रति समय भिन्न है, तथापि जिस समयमे जो परिणाम है वह गुणोसे भिन्न नही है उन्हीकी अवस्था विशेष है। इसीप्रकार प्रति समयका परिणाम गुणोसे अभिन्न है। यदि गुणोसे सर्वथा भिन्न ही परिणामको माना जाय तो प्रश्न हो सकता है कि वह परिणाम किसका है? विना परिणामीके परिणामका होना असम्भव है। इसलिये गुणोका परिणाम गुणोसे सर्वथा भिन्न नही है किन्तु परिणाम समूह ही गुण है और गुण समूह ही द्रव्य है।

नियतं परिणामित्वादुत्पादव्ययमया य एव गुणाः।
टङ्कोत्कीर्णन्यायात्त एव नित्या यथा स्वरूपत्वात् ॥१२०॥

अर्थः—जिसप्रकार परिणमनशील होनेसे गुण उत्पाद, व्यय स्वरूप है उसीप्रकार *टंकोत्कीर्ण न्यायसे अपने स्वरूपमे सदा स्थिर रहते है इसलिये वे नित्य भी है।

न हि पुनरेकेषामिह भवति गुणानां निरन्वयो नाशः।
अपरेषामुत्पादो द्रव्यं यत्तद्द्वयाधारम् ॥१२१॥

अर्थः—ऐसा नही है कि किन्ही गुणोका तो सर्वथा नाश होता जाता है और दूसरे नवीन गुणोकी उत्पत्ति होती जाती है तथा उन उत्पन्न और नष्ट होनेवाले गुणोका आधार द्रव्य है।

दृष्टान्ताऽऽभास

दृष्टान्ताभासोऽयं स्याद्धि विपक्षस्य मृत्तिकायां हि।
एके नश्यन्ति गुणा जायन्ते पाकजा गुणास्त्वन्ये ॥१२२॥

अर्थः—विपक्षका यह दृष्टान्त भी ठीक नही है कि मिट्टीमे पहले गुण तो नष्ट हो जाते है और पाकसे होनेवाले दूसरे गुण पैदा हो जाते है। यह केवल [1]दृष्टान्ताभास है।

---

* कडे पत्थरमें जो टाकीसे गहरे चिह्न किये जाते हैं वे मिटते नहीं हैं। इसीका नाम टङ्कोत्कीर्ण न्याय है। यह भी यहाँपर स्थूलतासे ग्राह्य है।

१ झूठे दृष्टान्तको दृष्टान्ताभास कहते हैं।

भावार्थः—नैयायिक दर्शनका सिद्धान्त है कि जिससमय कच्चा घडा अग्नि (अवा)मे दिया जाता है उससमय उस घड़ेके पहले सभी गुण नष्ट हो जाते है। घडेका पाक होनेसे उसमे दूसरे ही नवीन गुण पैदा हो जाते है। इतना ही नही, *वैशेषिकोका तो यहाँ तक भी सिद्धान्त है कि अग्निमे जब घडेकी पाकावस्था होती है तब काला घडा बिलकुल फूट जाता है। उसके सब परमाणु अलग २ बिखर जाते है। फिर शीघ्र ही रक्त रूप पैदा होता है और पाकज परमाणु इकट्ठे होते है। उनसे कपाल बनते है। उन कपालोसे लाल घड़ा बनता है। इस कार्यमे (घडेके फूटने और बननेमे) जो समय लगता है वह अति सूक्ष्म है इसलिये जाना नही जाता। इस नैयायिक सिद्धान्तके दृष्टान्तको देकर गुणोका नाश और उत्पत्ति मानना सर्वथा मिथ्या है। यह दृष्टान्त सर्वथा बाधित है। यह बात किसी विवेकशालीकी बुद्धिमे नही आ सकती है कि अग्निमे घडेके गुणोका नाश हो जाता हो अथवा वह घडा ही अग्निमे फूटकर फिर झटपट अपने आप तैयार हो जाता हो, इसलिये उक्त नैयायिकोंका सिद्धान्त सर्वथा बाधित है। इस दृष्टान्तसे गुणोका नाश और उत्पत्ति मानना भी मिथ्या है। इसी बातको ग्रन्थकार स्वय प्रगट करते है।

तत्रोत्तरमिति सम्यक् सत्यां तत्र च तथाविधायां हि।
किं पृथिवीत्वं नष्टं न नष्टमथ चेत्तथा कथं न स्यात् ॥१२३॥

अर्थः—नैयायिक सिद्धान्तका यह उत्तर स्पष्ट रीतिसे हो जाता है कि अग्निमे घड़ेको रखनेसे क्या घड़ेकी मिट्टीका नाश हो जाता है? यदि मिट्टीका नाश नही होता है तो घडेके गुणोमे नित्यता क्यो नही है? अवश्य है।

शंकाकार

ननु केवलं प्रदेशाद्रव्यं देशाश्रया विशेषास्तु।
गुणसंज्ञका हि तस्माद्भवति गुणेभ्यश्च द्रव्यमन्यत्र ॥१२४॥
तत एव यथा सुघटं भङ्गोत्पादध्रुवत्रयं द्रव्ये।
न तथा गुणेषु तत्स्यादपि च व्यस्तेषु वा समस्तेषु ॥१२५॥

---

* वैशेषिके नये पीलुपाक वादिमते तत्रहि पाकार्थमपक्वघटो यदा महामहानसे निधीयते तदा तदन्तः प्रविष्टाभिर्वेगवदग्निज्वालामालाभिरवयवविभागेन पूर्वावयवसयोगे विनष्टेऽसमवायिकारणनाशात् भावकार्यनाश इति नियमात् श्यामघटे विनष्टे पुनः परमाणुषु रक्तरूपोत्पत्त्या द्व्यणुकादिक्रमेण रक्तघटोत्पत्तिरिति। नैयायिकाना पिठरपाकवादिनामत्र गौरवः।

सिद्धान्तमुक्तावली (नैयायिक-वैशेषिकग्रन्थ)

अर्थः—जो प्रदेश है वे ही द्रव्य कहलाते है। देशके आश्रयमे रहनेवाले जो विशेष है वे ही गुण कहलाते है इसलिये गुणोसे द्रव्य भिन्न है, जब गुणोसे द्रव्य भिन्न है तब उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, ये तीनो द्रव्यमे जिसप्रकार सुघटित होते है, उसप्रकार गुणोमे नही होते न तो किसी २ गुणमे होते है और न गुण समुदायमे ही होते है ?

भावार्थः—शकाकारका यह अभिप्राय है कि द्रव्य रूप देश नित्य है उसकी अपेक्षासे ही ध्रौव्य है। और गुण रूप विशेष अनित्य है उनकी अपेक्षासे ही उत्पाद, व्यय है ?

उत्तर

तन्न यतः क्षणिकत्वापत्तेरिह लक्षणाद्गुणानां हि ।
तदभिज्ञानविरोधात्क्षणिकत्वं बाध्यतेऽध्यक्षात ॥१२६॥

अर्थः—उपर्युक्त शका ठीक नही है। क्योकि इस लक्षणसे गुणोमे क्षणिकता आती है गुणोमे क्षणिकता यह वही है, इस प्रत्यभिज्ञानसे प्रत्यक्ष बाधित है।

भावार्थः—प्रत्यभिज्ञानसे गुणोमे नित्यताकी ही प्रतीति होती है।

दूसरा दोष

अपि चैवमेकसमये स्यादेकः कश्चिदेव तत्र गुणः ।
तन्नाशादन्यतरः स्यादिति युगपन्न सन्त्यनेकगुणाः ॥१२७॥

अर्थः—गुणोको उत्पाद, व्यय रूप विशेष माननेसे द्रव्यमे एक समयमे कोई एक गुण ठहरेगा। उस गुणके नाश होनेसे दूसरा गुण उसमे आवेगा। एक साथ द्रव्यमे अनेक गुण नही रह सकेंगे।

प्रत्यक्ष बाधा

तदसद्यतः प्रमाणदृष्टान्तादपि च बाधितः पक्षः ।
स यथा सहकारफले युगपद्वर्णादिविद्यमानत्वात् ॥१२८॥

अर्थः—द्रव्यमे एक समयमे एक ही गुणकी सत्ता मानना ठीक नही है। क्योकि यह बात प्रमाण और दृष्टान्त दोनोसे बाधित है। आमके फलमे एक साथ ही रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदिक अनेक गुणोकी सत्ता प्रत्यक्ष प्रतीत होती है।

पक्षान्तर

अथ चेदिति दोषभयान्नित्याः परिणामिनस्त इति पक्षः ।
तत्किं स्यान्न गुणानामुत्पादादित्रयं समं न्यायात् ॥१२९॥

अर्थः—यदि उपर्युक्त दोषोके भयसे गुणोको नित्य और परिणामी माना जाय तो फिर गुणोमें एक साथ उत्पादादि त्रय क्यो नही होगे ? अवश्य होगे ।

भावार्थः—द्रव्यकी तरह गुणोमे भी उत्पादादित्रय होते है यह फलितार्थ निकल चुका यही बात पहले कही जा चुकी है ।

अपि पूर्वं च यदुक्तं द्रव्यं किल केवलं प्रदेशाः स्युः ।
तत्र प्रदेशवत्त्वं शक्तिविशेषश्च कोपि सोपि गुणः ॥१३०॥

अर्थः—पहले यह भी शका की गई थी कि केवल प्रदेश ही द्रव्य कहलाते हैं सो प्रदेश भी, प्रदेशत्त्व नामक शक्ति विशेष है । वह भी एक गुण है ।

भावार्थः—द्रव्यमे जो पर्याय होती है, उसे व्यञ्जन पर्याय कहते हैं । वह व्यञ्जन पर्याय प्रदेशवत्त्व गुणका विकार है, अर्थात् प्रदेशवत्व गुणकी विशेष अवस्थाका नाम ही व्यजन पर्याय है ।

सारांश

तस्माद्गुणसमुदायो द्रव्यं स्यात्पूर्वसूरिभिः प्रोक्तम् ।
अयमर्थः खलु देशो विभज्यमाना गुणा एव ॥१३१॥

अर्थः—इसलिये जो पूर्वाचार्यो (अथवा पहले इसी ग्रन्थमे) ने गुणोके समुदायको द्रव्य कहा है वह ठीक है । इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि यदि देश (द्रव्य)को भिन्न २ विभाजित किया जाय तो गुण ही प्रतीत होगे ।

भावार्थः—गुणोको छोडकर द्रव्य कोई भिन्न पदार्थ नही है । द्रव्यमेसे यदि एक एक गुणको भिन्न २ कल्पित करे तो द्रव्य कुछ भी शेष नही रहता । और जो सम्पूर्ण द्रव्यकी एक समयमे पर्याय (व्यजन पर्याय) होती है वह भी प्रदेशवत्व गुणकी अवस्था विशेष है इसलिये गुण समुदाय ही द्रव्य है । यह आचार्यका पूर्व कथन सर्वथा ठीक है ।

शकाकार

ननु चैवं सति नियमादिह पर्याया भवन्ति यावन्तः ।
सर्वे गुणपर्याया वाच्या न द्रव्यपर्ययाः केचित् ॥१३२॥

अर्थः—यदि गुण समुदाय ही द्रव्य है तो जितनी भी द्रव्यमे पर्याये होगी उन सबोको नियमसे गुणोकी पर्याय ही कहना चाहिये, किसीको भी द्रव्य पर्याय नही कहना चाहिये ?

उत्तर

तन्न यतोऽस्ति विशेषः सति च गुणानां गुणत्वत्त्वेऽपि ।
चिदचिद्यथा तथा स्यात् क्रियावती शक्तिरथ च भाववती ॥१३३॥

अर्थः—शकाकारका उपर्युक्त कहना ठीक नही है । क्योंकि गुणोमे भी विशेपता है । यद्यपि गुणत्व धर्मकी अपेक्षासे सभी गुण, गुण कहलाते है तथापि उनमे कोई चेतन गुण है । कोई अचेतन गुण है । जिसप्रकार गुणोमे यह विशेपता है । उसीप्रकार उनमे कोई क्रियावती शक्ति (गुण) है और कोई भाववती शक्ति है ।

क्रियावती और भाववती शक्तियोंका स्वरूप

तत्र क्रिया प्रदेशो देशपरिस्पंदलक्षणो वा स्यात् ।
भावः शक्तिविशेषस्तत्परिणामोऽथ वा निरंशांशैः ॥१३४॥

अर्थः—उन दोनो शक्तियोमे प्रदेश अथवा देशका परिस्पद (हलन चलन) क्रिया कहलाती है और शक्ति विशेप भाव कहलाता है उसका परिणमन निरंश–अंशो द्वारा होता है ।

भावार्थः—प्रदेशवत्त्व गुणको क्रियावती शक्ति कहते है, और बाकीके अनन्त गुणोको भाववती शक्ति कहते है । परिणमन भी दो प्रकारका होता है एक तो ज्ञानादि गुणोका परिणमन दूसरा सम्पूर्ण द्रव्यका परिणमन । ज्ञानादि गुणोका परिणमन क्रिया रहित है । केवल गुणोके अंशोमे तरतम रूपसे न्यूनाधिकता होती रहती है परन्तु द्रव्यका जो परिणमन होता है, उसमे उसके सम्पूर्ण प्रदेशोमे परिवर्तन होता है । वह परिवर्तन सक्रिय है । द्रव्यका परिवर्तन प्रदेशवत्त्व गुणके निमित्तसे होता है । इसीलिये प्रदेशवत्त्व गुणको क्रियावती शक्ति कहा गया है और बाकीके सम्पूर्ण गुण निष्क्रिय है, इसलिये उन्हे भाववती शक्ति कहा गया है ।

यतरे प्रदेशभागास्ततरे द्रव्यस्य पर्याय नाम्ना ।
यतरे च विशेषांशास्ततरे गुणपर्यया भवन्त्येव ॥१३५॥

अर्थः—जितने भी प्रदेशाश हैं वे द्रव्य पर्याय कहे जाते है और जितने गुणाश है वे गुणपर्याय कहे जाते है ।

भावार्थः—प्रदेशवत्त्व गुणके निमित्तसे जो द्रव्यके समस्त प्रदेशोमे आकारान्तर होता रहता है उसे द्रव्यपर्याय अथवा व्यंजनपर्याय कहते है और बाकीके गुणोमे जो तरतम रूपसे परिणमन होता है उसे गुणपर्याय अथवा अर्थ पर्याय कहते है ।

तत एव युदुक्तचरं व्युच्छेदादित्रयं गुणानां हि ।
अनवद्यमिदं सर्वं प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धत्वात् ॥१३६॥

अर्थः—इसलिये पहले जो गुणोमे उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य बतलाया गया है, वह सब प्रत्यक्षादि प्रमाणोसे सिद्ध होनेसे निर्दोष है ।

अथ चैतल्लक्षणमिह वाच्यं वाक्यान्तरप्रवेशेन ।
आत्मा यथा चिदात्मा ज्ञानात्मा वा स एव चै र्थः ॥१३७॥

अर्थः—अब गुणोका लक्षण वाक्यान्तर (दूसरी रीतिसे) द्वारा कहते है । जिसप्रकार आत्मा, चिदात्मा, अथवा ज्ञानात्मा, ये सब एक अर्थको प्रगट करते है उसीप्रकार वह वाक्यान्तर कथन भी एकार्थक है ।

तद्वाक्यान्तरमेतद्यथा गुणाः सहभुवोपि चान्वयिनः ।
अर्थाच्चैकार्थत्वादर्थादेकार्थवाचकाः सर्वे ॥१३८॥

अर्थः—वह वाक्यान्तर इसप्रकार है—गुण, सहभावी, अन्वयी इन सबका एक ही अर्थ है । अर्थात् उपर्युक्त तीनो ही शब्द गुण रूप अर्थके वाचक है ।

सहभावी शब्दका अर्थ

सह सार्धं च समं वा तत्र भवन्तीति सहभुवः प्रोक्ताः ।
अयमर्थो युगपत्ते सन्ति न पर्यायवत्क्रमात्मानः ॥१३९॥

अर्थः—सह, सार्ध और सम इन तीनोका एक ही साथ रूप अर्थ है । गुण सभी साथ २ रहते है इसलिये वे सहभावी कहे गये है । इसका यह अर्थ है कि सभी गुण एक साथ रहते हैं, पर्यायके समान क्रम क्रमसे नही होते है ।

शका और समाधान

ननु सह समं मिलित्वा द्रव्येण च सहभुवो भवन्त्विति चेत् ।
तन्न यतो हि गुणेभ्यो द्रव्यं पृथगिति यथा निषिद्धत्वात् ॥१४०॥

अर्थः—शकाकार सहभावी शब्दका अर्थ करता है कि गुण द्रव्यके साथ मिलकर रहते है इसीलिये वे सहभावी कहलाते हैं। परन्तु शकाकारकी यह शका निर्मूल है क्योकि गुणोसे भिन्न द्रव्य कोई पदार्थ है इस बातका पहले ही निषेध किया जा चुका है ।

भावार्थः—सहभावी शब्दका यह अर्थ नही है कि गुण द्रव्यके साथ २ रहते है इसलिये सहभावी कहलाते है क्योकि ऐसा अर्थ करनेसे द्रव्य जुदा पदार्थ ठहरता है और उस

द्रव्यके पर्याय वाचक शब्द

सत्ता सत्त्वं सद्वा सामान्यं द्रव्यमन्वयो वस्तु ।
अर्थो विधिरविशेषादेकार्थवाचका अमी शब्दाः ॥१४३॥

अर्थः—सत्ता, सत्त्व, सत्, सामान्य, द्रव्य, अन्वय, वस्तु, अर्थ विधि ये सभी शब्द सामान्य रीतिसे एक द्रव्य रूप अर्थके वाचक है ।

अयमन्वयोस्ति येषामन्वयिनस्ते भवन्ति गुणवाच्याः ।
अयमर्थो वस्तुत्वात् स्वतः सपक्षा न पर्ययापेक्षाः ॥१४४॥

अर्थः—यह अन्वय जिनके है वे अन्वयी कहलाते है ऐसे अन्वयी गुण कहलाते है । इसका अर्थ यह है कि वास्तवमे गुण अपने ही पक्ष (अन्वयपूर्वक) मे रहते है, पर्यायोकी अपेक्षा नही रखते है ।

भावार्थः—द्रव्य अनन्त गुणोका समुदाय है । उन सम्पूर्ण गुणोमे प्रति समय नयी नयी पर्याये होती रहती है । उन समस्त पर्यायोमे गुण बराबर साथ रहते हैं । हरएक गुणका अपनी समस्त अवस्थाओमे अन्वय (सन्तति अथवा अनुवृत्ति) पाया जाता है । इसप्रकार अनन्त गुण समुदायरूप द्रव्यमे अनन्त गुण ही अपनी समस्त अवस्थाओमे पाये जाते है, इसलिये गुण अन्वयी कहलाते है । और इसीसे वे सदा स्वपक्ष अर्थात् स्वस्वरूपमे बने रहते है । पर्यायकी अपेक्षासे भिन्न २ नही हो जाते है ।

इस श्लोकमे *'सपक्षा' पाठ है । सपक्ष कहते है अन्वायीको अर्थात् गुण व्यतिरेकी नही है जिसमे 'यह वही है' ऐसी बुद्धि हो वह अन्वयी कहलाता है और जिसमे ऐसी बुद्धि न हो वह व्यतिरेकी कहलाता है । गुण अनेक है इसलिये नाना गुणोकी अपेक्षासे यद्यपि गुण भी व्यतिरेकी है परन्तु एक गुण अपनी समस्त अवस्थाओमे रहता हुआ 'यह वही है' इस बुद्धिको पैदा करता है इसलिये वह अन्वयी ही है, परन्तु पर्यायोमे 'यह वह नही है' ऐसी बुद्धि होती है इसलिये वे व्यतिरेकी है ।

शंकाकार

ननु च व्यतिरेकित्वं भवतु गुणाना सदन्वयत्वेपि ।
तदनेकत्वप्रसिद्धौ भावव्यतिरेकतः सतामिति चेत् ॥१४५॥

---

* पुस्तकमें यद्यपि 'सपक्षा' ही पाठ है । परन्तु हमने 'स्वपक्षा' पाठको भी हृदयगत कर, उसका भी अर्थ ऊपर लिख दिया है । 'सपक्षा'का अर्थ तो अनुकूल है ही । परन्तु 'स्वपक्षा'का भी अर्थ उसी भावको प्रगट करता है । विज्ञ पाठक विचारें ।

अर्थः—गुणोका सत्के साथ अन्वय होनेपर भी उनमे व्यतिरेकीपना भी होना चाहिये क्योकि वे अनेक है । भाव व्यतिरेक भी पदार्थोमे होता है ।

भावार्थः—अनेकोमे ही व्यतिरेक घटता है, गुण भी अनेक है इसलिये उनमे भी व्यतिरेक घटना चाहिये । फिर गुणोको अन्वयी ही क्यो कहा गया है ?

उत्तर

तन्न यतोस्ति विशेषो व्यतिरेकस्यान्वयस्य चापि यथा ।
व्यतिरेकिणो ह्यनेकेप्येकः स्यादन्वयी गुणो नियमात् ॥१४६॥

अर्थः—शकाकारकी उपर्युक्त शका ठीक नही है । क्योकि अन्वय और व्यतिरेकमे विशेपता है व्यतिरेकी अनेक होते है । और एक गुण नियमसे अन्वयी होता है ।

भावार्थः—व्यतिरेक अनेकमे घटता है, और अन्वय प्रवाह रूपसे चले जानेवाले एकमे घटता है । पर्याये अनेक है, उनमे तो व्यतिरेक ही घटता है । गुणोमे नाना गुणोकी अपेक्षा यद्यपि व्यतिरेक है तथापि प्रत्येक गुण अन्वयी ही है । यह वह नही है, ऐसा जो व्यतिरेक है, वह चार प्रकार है । देश व्यतिरेक, क्षेत्र व्यतिरेक, काल व्यतिरेक और भाव व्यतिरेक ।

देश व्यतिरेक इसप्रकार है

स यथा चैको देशः स भवति नान्यो भवति स चाप्यन्यः ।
सोपि न भवति स देशो भवति स देशश्च देशव्यतिरेकः ॥१४७॥

अर्थः—अनन्त गुणोके एक समयवर्ती अभिन्न पिण्डको देश कहते है । जो एक देश है वह दूसरा नही है । तथा जो दूसरा है, वह दूसरा ही है । वह पहला नही है । इसको देश व्यतिरेक कहते है ।

क्षेत्र व्यतिरेक इसप्रकार है

अपि यश्चैको देशो यावदभिव्याप्य वर्तते क्षेत्रम् ।
तत्तत्क्षेत्रं नान्यद्भवति तदन्यश्च क्षेत्रव्यतिरेकः ॥१४८॥

अर्थः—जितने क्षेत्रको व्यापकर (घेरकर) एक देश रहता है । वह क्षेत्र वही है, दूसरा नही है । और जो दूसरा क्षेत्र है, वह दूसरा ही है, पहला नही है । इसको क्षेत्र व्यतिरेक कहते हैं ।

काल व्यतिरेक इसप्रकार है

अपि चैकस्मिन् समये यकाप्यवस्था भवेन्न साप्यन्या ।
भवति च सापि तदन्या द्वितीयसमयेपि कालव्यतिरेकः ॥१४९॥

अर्थः—एक समयमे जो अवस्था होती है, वह वही है। दूसरी नही हो जाती। और जो दूसरे समयमें अवस्था है वह दूसरी ही है, पहली नही हो जाती, इसको कालव्यतिरेक कहते है।

भाव व्यतिरेक इसप्रकार है

भवति गुणांशः कश्चित् स भवति नान्यो भवति स चाप्यन्यः।
सोपि न भवति तदन्यो भवति तदन्योपि भावव्यतिरेकः ॥१५०॥

अर्थः—जो एक गुणाश है वह वही है, दूसरा नही है। और जो दूसरा गुणांश है, वह दूसरा ही है, पहला नही है। इसको भाव व्यतिरेक कहते है।

इसप्रकारके व्यतिरेकके न माननेमें दोष

यदि पुनरेवं न स्यात्स्यादपि चैवं पुनः पुनः सैषः।
एकांगदेशमात्रं सर्वं स्यात्तन्न बाधितत्वात्प्राक् ॥१५१॥

अर्थः—यदि ऊपर कही हुई व्यतिरेककी व्यवस्था न मानी जावे और जो पहले समयमे देशादिक है वे ही दूसरे समयमे माने जावे, भिन्न २ न माने जावे तो सम्पूर्ण वस्तु एक अश मात्र देशवाली ठहरेगी। और ऐसा मानना ठीक नही है एक अश मात्र देशकी स्वीकारतामे पहले ही बाधा दी जा चुकी है।

स्पष्टार्थ

अयमर्थः पर्यायाः प्रत्येकं किल यथैकशः प्रोक्ताः।
व्यतिरेकिणो ह्यनेके न तथाऽनेकत्वतोपि सन्ति गुणाः ॥१५२॥

अर्थः—ऊपर कहे हुए कथनका खुलासा अर्थ इसप्रकार है कि एक २ समयमे क्रमसे भिन्न २ होनेवाली जो पर्याये है वे ही व्यतिरेकी हैं, परन्तु गुण अनेक होनेपर भी उसप्रकार व्यतिरेकी नही हैं।

भावार्थः—जो द्रव्यकी एक समयकी पर्याय है वह दूसरे समयमे नही रहती, किन्तु दूसरे समयमे दूसरी ही पर्याय होती है। इसलिये द्रव्यका एक समयका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव भिन्न है, और दूसरे समयका भिन्न है। जो पहले समयका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव है वही दूसरे समयका नही है इसलिये पर्याये व्यतिरेकी है क्योंकि व्यतिरेकका लक्षण ही यही है कि यह वह नही है, पर्याये अनेक है और वे भिन्न २ है इसलिये यह वह नही है ऐसा व्यतिरेक उनमे अच्छी तरह घटता है, परन्तु गुणोमे यह बात नही है। यद्यपि गुण भी अनेक है तथापि उनमे (प्रत्येक गुणमे) यह वह नही है, ऐसा [illegible] तिरेक

एष क्रमः सुखादिषु गुणेषु वाच्यो गुरूपदेशाद्वा ।
यो जानाति स पश्यति सुखमनुभवतीति स एव हेतोश्च ॥१५६॥

अर्थः—पूर्वाचार्योंके कथनानुसार यही क्रम सुखादिक गुणोमे भी लगा लेना चाहिये। जो जीव जानता है, वही देखता है और वही सुखका अनुभवन करता है। इन सब कार्योमे "यह वही है" ऐसी ही प्रतीति होती है।

अर्थ शब्दका अन्वर्थ

अथ चोद्दिष्टं प्रागप्यर्था इति संज्ञया गुणा वाच्याः ।
तदपि न रूढिवशादिह किन्त्वर्थाद्यौगिकं तदेवेति ॥१५७॥

अर्थः—यह पहले कहा जा चुका है कि अर्थ नाम गुणका है, वह भी केवल रूढिवशसे नही है किन्तु वह यौगिक रीतिसे है।

अर्थका यौगिक अर्थ

स्यादृगिताविति धातुस्तद्रूपोयं निरुच्यते तज्ज्ञैः ।
अत्यर्थोनुगतार्थादनादिसन्तानरूपतोपि गुणः ॥१५८॥

अर्थः—'ऋ' एक धातु है, गमन करना उसका अर्थ है। उसी धातुका यह 'अर्थ' शब्द बना है ऐसा व्याकरणके जानकार कहते है। जो गमन करे उसे अर्थ कहते है। गुण अनादि सन्तति रूपसे साथ २ चले जाते है। इसलिये गुणका अर्थ नाम अन्वर्थक (यथार्थ) ही है।

साराश

अयमर्थः सन्ति गुणा अपि किल परिणामिनः स्वतः सिद्धाः ।
नित्यानित्यत्वादप्युत्पादादित्रयात्मकाः सम्यक् ॥१५९॥

अर्थः—उपर्युक्त कथनका साराश यह है कि गुण भी नियमसे स्वतः सिद्ध परिणामी है इसलिये वे कथञ्चित् नित्य भी है और कथञ्चित् अनित्य भी है, और इसीसे उनमे उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य अच्छी तरह घटते हैं।

गुणोंमे भेद

अस्ति विशेषस्तेषां सति च समाने यथा गुणत्वेपि ।
साधारणास्त एके केचिदसाधारणा गुणाः सन्ति ॥१६०॥

अर्थः—यद्यपि गुणत्व सामान्यकी अपेक्षासे सभी गुणोमे समानता है, तथापि उनमे विशेपता भी है। कितने ही उनमे साधारण गुण हैं, और कितने ही असाधारण गुण हैं।

कारण है, व्यतिरेक उसका कार्य है, इसलिये क्रम और व्यतिरेक एक नही है किन्तु इन दोनोमें कार्य कारण भाव है ।

शङ्काकार

नन्तु तत्र किं प्रमाणं क्रमस्य साध्ये तदन्यथात्वे हि ।
सोऽयं यः प्राक् स तथा यथेति यः प्राक्तु निश्चयादिति चेत् ॥१७६॥

अर्थः—क्रम और व्यतिरेकके सिद्ध करनेमे क्या प्रमाण है, क्योकि पहले कहा जा चुका है कि जो पहले था सो ही यह है अथवा जैसा पहले था वैसा ही है ?

उत्तर

*तन्न यतः प्रत्यक्षादनुभवविषयात्तथानुमानाद्वा ।
स तथेति च नित्यस्य न तथेत्यनित्यस्य प्रतीतत्वात् ॥१७७॥

अर्थः—उपर्युक्त शका ठीक नही है, क्योकि, प्रत्यक्ष प्रमाणसे, अपने अनुभवसे अथवा अनुमान प्रमाणसे वह उसीप्रकार है, इसप्रकार नित्यकी और "वह उसप्रकार नही है" इसप्रकार अनित्यकी भी प्रतीति होती है।

इसीका खुलासा अर्थ

अयमर्थः परिणामि द्रव्यं नियमाद्यथा स्वतः सिद्धम् ।
प्रतिसमयं परिणमते पुनः पुनर्वा यथा प्रदीपशिखा ॥१७८॥

अर्थः—उपर्युक्त कथनका यह अर्थ है कि द्रव्य जिसप्रकार स्वतः सिद्ध है, उसीप्रकार नियमसे परिणामी भी है। जिसप्रकार दीपककी शिखा (लौ) बार २ परिणमन करती है उसीप्रकार प्रतिसमय द्रव्य भी परिणमन करता है ।

इदमस्ति पूर्वपूर्वभावविनाशेन नश्यतोंशस्य ।
यदि वा तदुत्तरोत्तरभावोत्पादेन जायमानस्य ॥१७९॥

अर्थः—पहले पहले भावका विनाश होनेसे किसी अशका (पर्यायका) नाश होनेसे और नवीन नवीन भावके उत्पन्न होनेसे किसी अश (पर्याय)के पैदा होनेसे यह परिणमन होता है ।

---

* छपी पुस्तकमें यह श्लोक १७६ वाँ है। परन्तु संशोधित पुस्तकमें १७७ वाँ है। इसी क्रमसे अर्थ भी ठीक २ घटित होता है।

तस्माद्व्यतिरेकित्वं तस्य स्यात् स्थूलपर्ययः स्थूलः ।
सोऽयं भवति न सोयं यस्मादेतावतैव संसिद्धिः ॥१७३॥

अर्थः—समान अंशोमे परिणमन होनेवाले पदार्थोंका जो परस्परमे अभावको लिये हुए भिन्न २ अंशोका विभाग किया जाता है, उसीका नाम व्यतिरेक है । जो एक समयवर्ती पर्याय है वह दूसरे समयवर्ती नही है । बस इसीसे व्यतिरेककी भले प्रकार सिद्धि हो जाती है ।

भावार्थः—एक समयवर्ती पर्यायका द्वितीय समयवर्ती पर्यायमें अभाव लाना, इसीका नाम व्यतिरेक है । यद्यपि स्थूल पर्यायोंका समान रूपसे परिणमन होता है, तथापि एक समयवर्ती परिणमन (आकार) दूसरे समयवर्ती परिणमनसे भिन्न है । दूसरे समयवर्ती परिणमन पहले समयवर्ती परिणमनसे भिन्न है । इसीप्रकार भिन्न २ समयोंमें होनेवाले भिन्न २ आकारोंमें परस्पर अभाव घटित करना इसीका नाम व्यतिरेक है ।

क्रमका स्वरूप

विष्कंभःक्रम इति वा क्रमः प्रवाहस्य कारणं तस्य ।
न विवक्षितमिह किञ्चित्तत्र तथात्वं किमन्यथात्वं वा ॥१७४॥
क्रमवर्तित्वं नाम व्यतिरेकपुरस्सरं विशिष्टं च ।

शकाकार

ननु यद्यस्ति स भेदः शब्दकृतो भवतु वा तदेकार्थात् ।
व्यतिरेकक्रमयोरिह को भेदः पारमार्थिकस्त्विति चेत् ॥१७०॥

अर्थः—यदि व्यतिरेकीपन और क्रमवर्तीपनमे शब्द भेद ही माना जाय तब तो ठीक है । क्योकि दोनोका एक ही अर्थ है । यदि इन दोनोमे अर्थ भेद भी माना जाता है तब बतलाना चाहिये कि वास्तवमे इन दोनोमे क्या भेद है ?

उत्तर

तन्न यतोस्ति विशेषः सदंशधर्मे द्वयोः समानेपि ।
स्थूलेष्विव पर्यायेष्वन्तर्लीनाश्च पर्ययाः सूक्ष्माः ॥१७१॥

अर्थः—शकाकारका यह कहना "कि व्यतिरेकी और क्रमवर्ती दोनोका एक ही अर्थ है" ठीक नही है । क्योकि द्रव्यके पूर्व समयवर्ती और उत्तर समयवर्ती अशोमे समानता होने पर भी विशेषता है । जिसप्रकार स्थूल पर्यायोमे सूक्ष्म पर्याये अन्तर्लीन (गर्भित) हो जाती है परन्तु लक्षण भेदसे भिन्न है, उसीप्रकार व्यतिरेकी और क्रमवर्ती भी भिन्न है ।

भावार्थः—द्रव्यका प्रतिक्षण जो परिणमन होता है उसके दो भेद है । एक समयवर्ती परिणमनकी अपेक्षा द्वितीय समयवर्ती परिणमनमे कुछ समानता भी रहती है और कुछ असमानता भी रहती है। दृष्टान्तके लिये बालकको ही ले लीजिये। बालककी हरएक समयमे अवस्थाये बदलती रहती हैं । यदि ऐसा न माना जावे तो एक वर्ष बाद बालकमे पुष्टता और लम्बाई नही आना चाहिये । और वह एक दिनमे नही आ जाती है प्रति समय बढती रहती है परन्तु हमारी दृष्टिमे बालककी जो पहले समयकी अवस्था है वही दूसरे समयमे दीखती है, इसका कारण वही सदृश परिणमन है । जो असदृश-अश है वह सूक्ष्म है इन्द्रियो द्वारा उसका ग्रहण नही होता है सदृश-परिणमन अनेक समयोमे एकसा है इसीलिये कहा जाता है कि स्थूल पर्याय चिरस्थायी है और इसी अपेक्षासे पर्यायको कथचित् ध्रौव्य स्वरूप कहा है । स्थूल पर्यायोमे यद्यपि सूक्ष्म पर्याये गर्भित हो जाती है तथापि लक्षण भेदसे वे भिन्न २ है, उसीप्रकार व्यतिरेक और क्रममे भी लक्षण भेदसे भेद है सो ही आगे कहा जाता है—

व्यतिरेकका स्वरूप

तत्र व्यतिरेकः स्यात् परस्पराभावलक्षणेन यथा ।
अंशविभागः पृथगिति सदृशांशानां सतामेव ॥१७२॥

दृष्टान्त

तदिदं यथा स जीवो देवो मनुजाद्भवन्नथाप्यन्यः ।
कथमन्यथात्वभावं न लभेत स गोरसोपि नयात् ॥१८०॥

अर्थः—वह पूर्व पूर्व भावका विनाश और उत्तरोत्तर भावका उत्पाद इसप्रकार होता है—जैसे जो जीव पहले मनुष्य पर्यायमे था, वही जीव मरकर देव पर्यायमे चला गया। मनुष्य-जीवसे देव-जीव कथचित् भिन्न है। जिसप्रकार दूधसे दही कथचित् अन्यथाभावको प्राप्त होता है उसीप्रकार यह भी कथचित् अन्यथा भावको क्यो नही प्राप्त होगा ? अवश्य ही होगा।

शंकाकार

ननु चैवं सत्यसदपि किञ्चिद्वा जायते सदेव यथा ।
सदपि विनश्यत्यसदिव सदृशासदृशत्वदर्शनादितिचेत् ॥१८१॥
सदृशोत्पादो हि यथा स्यादुष्णः परिणमन् यथा वह्निः ।
स्यादित्यसदृशजन्मा हरितात्पीतं यथा रसालफलम् ॥१८२॥

अर्थः—इसप्रकारकी भिन्नता स्वीकार करनेसे मालूम होता है कि सत्की तरह कुछ असत् भी पैदा हो जाता है और असत्की तरह सत् पदार्थ भी विनष्ट हो जाता है, समानता और असमानताके देखनेसे ऐसा प्रतीत भी होता है। किसी किसीका समान उत्पाद होता है और किसी किसीका असमान उत्पाद होता है। अग्निका जो उष्ण रूप परिणमन होता है, वह उसका समान उत्पाद है और जो कच्चा आम पकनेपर हरेसे पीला हो जाता है वह असमान (विजातीय) उत्पाद है ?

भावार्थः—वस्तुके प्रतिसमय होनेवाले परिणमनको देखकर वस्तुको ही उत्पन्न और विनष्ट समझनेवालोकी यह शका है।

उत्तर

नैवं यतः स्वभावादसतो जन्म न सतो विनाशो वा ।
उत्पादादित्रयमपि भवति च भावेन भावतया ॥१८३॥

अर्थः—उपर्युक्त जो शका की गई है, वह ठीक नही है। क्योकि यह एक स्वाभाविक बात है कि न तो असत् पदार्थका जन्म होता है और न सत् पदार्थका विनाश ही होता है। जो उत्पाद, व्यय ध्रौव्य होते है वे भी वस्तुके एक भावसे भावान्तर रूप है।

भावार्थः—जो पदार्थ है ही नही वह तो कहीमे आ नही सकता, और जो उपस्थित

है वह कही जा नही सकता, इसलिये न तो नवीन पदार्थकी उत्पत्ति ही होती है और न सत् पदार्थका विनाश ही होता है, किन्तु हरएक वस्तुमें प्रतिसमय भावसे भावान्तर होता रहता है। भावसे भावान्तर क्या है? उसीका खुलासा नीचे किया जाता है—

अयमर्थः पूर्वं यो भावः सोऽप्युत्तरत्र भावश्च।
भूत्वा भवनं भावो नष्टोत्पन्नो न भाव इह कश्चित् ॥१८४॥

अर्थः—इसका यह अर्थ है कि पहले जो भाव था वही उत्तर भाव रूप हो जाता है। होकर होनेका नाम ही भाव है। नष्ट और उत्पन्न कोई भाव नही होता है।

भावार्थः—आकारका नाम ही भाव है। वस्तुका एक आकार बदलकर दूसरे आकाररूप हो जाय, इसीका नाम भावसे भावान्तर कहलाता है। हरएक वस्तुमे प्रतिक्षण इसीप्रकार एक आकारसे आकारान्तर होता रहता है। किसी नवीन पदार्थकी उत्पत्ति नही होती है और न किसी सत् पदार्थका विनाश ही होता है।

दृष्टान्त

दृष्टान्तः परिणामी जलप्रवाहो य एव पूर्वस्मिन्।
उत्तरकालेपि तथा जलप्रवाह स एव परिणामी ॥१८५॥

अर्थः—दृष्टान्तके लिये जलका प्रवाह है। जो जलका प्रवाह पहले समयमे परिणमन करता है वही जलका प्रवाह दूसरे समयमे परिणमन करता है।

यत्तत्र विसदृशत्वं जातेरनतिक्रमात् क्रमादेव।
अवगाहनगुणयोगाद्देशांशानां सतामेव ॥१८६॥

अर्थः—यह जो द्रव्यकी एक अवस्थासे दूसरी अवस्थामे भिन्नता (असमानता) दीखती है वह अपने स्वरूपको नही छोडकर क्रमसे होनेवाले देशाशोके अवगाहन गुणके निमित्तसे ही दीखती है।

भावार्थः—द्रव्यके विकारको व्यजनपर्याय कहते है। व्यजन पर्याय भी प्रति समय भिन्न भिन्न होती रहती है। एक समयकी व्यजन पर्यायसे दूसरे समयकी व्यजन पर्यायमे समानता और असमानता दोनो ही होती है। असमानतामे भी द्रव्यके स्वरूपकी च्युति (नाश) नही है किन्तु जो द्रव्यके देशाश (आकार) पहले किसी दूसरे क्षेत्रको घेरे हुए थे, वे ही देशाश अब दूसरे क्षेत्रको घेरने लगे। बस यही विभिन्नता है। और किसी प्रकारकी विभिन्नता नही है।

दृष्टान्त

दृष्टान्तो जीवस्य लोकासंख्यातमात्रदेशाः स्युः ।
हानिर्वृद्धिस्तेषामवगाहनविशेषतो न तु द्रव्यात् ॥१८७॥

अर्थः—दृष्टान्त इसप्रकार है । एक जीवके असंख्यात लोक प्रमाण प्रदेश होते है । उनकी हानि अथवा वृद्धि केवल अवगाहनकी विशेषतासे होती है द्रव्यकी अपेक्षासे नही होती ।

भावार्थः—जीवके जितने भी (असख्यात) प्रदेश है वे सदा उतने ही रहते है, न तो उनमेसे कभी कुछ प्रदेश घटते हैं और न कभी कुछ प्रदेश बढते है । किन्तु जिस शरीरमे जितना छोटा या बडा क्षेत्र मिलता है, उसीमे सकुचित अथवा विस्तृत रीतिसे समा जाते है । चीटीके शरीरमे भी वही असख्यात प्रदेशवाला आत्मा है और हाथीके शरीरमें भी वही असख्यात प्रदेशवाला आत्मा है । आत्मा दोनो स्थानोमे उतना ही है जितना कि वह है, केवल एक क्षेत्रसे क्षेत्रान्तर रूप हो गया है । क्षेत्रसे क्षेत्रान्तर ग्रहण करनेकी अपेक्षासे ही आत्माके प्रदेशोकी हानि वृद्धि समझी जाती है । वास्तवमें उसमें किसी प्रकारकी हानि अथवा वृद्धि नही होती है ।

दूसरा दृष्टान्त

यदि वा प्रदीपरोचिर्यथा प्रमाणादवस्थितं चापि ।
अतिरिक्तं न्यूनं वा गृहभाजनविशेषतोऽवगाहाच्च ॥१८८॥

अर्थः—अथवा दूसरा दृष्टान्त दीपकका है । दीपककी किरणें उतनी ही है जितनी कि वे है, परन्तु उनमें अधिकता और न्यूनता जो आती है, वह केवल घर आदि आवरककी विशेषतासे आती है और अवगाहनकी विशेषतासे भी आती है ।

भावार्थः—दीपकको जैसा भी छोटा बड़ा आवरक (जिसमें दीपक रक्खा हो वह पात्र) मिलेगा दीपकका प्रकाश उसी क्षेत्रमे पर्याप्त रहेगा ।

गुणोंके अवगाहनमें दृष्टान्त

अंशानामवगाहे न्तः स्वांशसंस्थितं ज्ञानम् ।
अतिरिक्तं न्यूनं वा ज्ञेयाकृति तन्मयान्न तु स्वांशैः ॥१८९॥

अर्थः—अंशोके अवगाहनमे यह दृष्टान्त है कि ज्ञान–गुण जितना भी है वह अपने अंशों (अविभाग प्रतिच्छेदों)में स्थित है । वह जो कभी कमती कभी बढती होता है, वह केवल ज्ञेय पदार्थका आकार धारण करनेसे होता है । जितना बड़ा ज्ञेय है, उतना

ही बडा ज्ञानका आकार हो जाता है। वास्तवमें ज्ञान गुणके अंशोंमें न्यूनाधिकता नहीं होती।

दृष्टान्त

तदिदं यथा हि संविद्घटं परिच्छिन्ददिहैव घटमात्रम्।
यदि वा सर्वं लोकं स्वयमवगच्छच्च लोकमात्रं स्यात् ॥१९०॥

अर्थः—दृष्टान्त इसप्रकार है कि जिससमय ज्ञान घटको जान रहा है, उससमय वह घट मात्र है, अथवा जिससमय वह सम्पूर्ण लोकको स्वयं जान रहा है, उससमय वह लोक मात्र है।

भावार्थः—घटको जानते हुए समग्र ज्ञान घटाकारमें ही परिणत होकर उतना ही हो जाता है, और समग्र लोकको जानते हुए वह लोक प्रमाण हो जाता है।

वास्तवमें वह घटता बढता नहीं है

न घटाकारेपि चितः शेषांशानां निरन्वयो नाशः।
लोकाकारेपि चितः नियतांशानां न चाऽसदुत्पत्तिः ॥१९१॥

अर्थः—घटाकार होने पर ज्ञानके शेष अंशोका सर्वथा नाश नही होता है और लोकाकार होनेपर नियमित अंशोके अतिरिक्त उसके नवीन अंशोकी उत्पत्ति भी नही होती है।

किन्त्वस्ति च कोपि गुणोऽनिर्वचनीयः स्वतः सिद्धः।
नाम्ना चाऽगुरुलघुरिति गुरुलक्ष्यः स्वानुभूतिलक्ष्यो वा ॥१९२॥

अर्थः—किन्तु उन गुणोमे एक अगुरुलघु नामक गुण है, वह वचनोके अगम्य है, स्वत. सिद्ध है, उसका ज्ञान गुरु (सर्वज्ञ अथवा आचार्य)के उपदेशसे होता है अथवा स्वानुभूतिप्रत्यक्षसे होता है।

भावार्थः—अगुरुलघु गुण हरएक पदार्थमे जुदा २ रहता है, इसके निमित्तसे किसी भी शक्तिका कभी भी नाश नही होता है। जो शक्ति जिस स्वरूपको लिये हुए है, वह सदा उसी स्वरूपमे रहती है, इसलिये ज्ञान गुणमे तरतमता होनेपर भी उसके अंशोका विनाश नही होता है।

ननु   न संभवति
अपि   तदनन्यात्

अपिच गुणः स्वांशानामपकर्षे दुर्बलः कथं न स्यात् ।
उत्कर्षे बलवानिति दोषोऽयं दुर्जयो महानिति चेत् ॥१९४॥

अर्थः—"किसी शक्तिका कभी नाश भी नही होता है और न नवीन कुछ उत्पत्ति ही होती है। यदि ऐसा माना जावे तो गुणोंमे उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य नही घट सकते है, और न कोई किसीका कारण ही बन सकता है, न फल हो कुछ हो सकता है, क्योकि उपर्युक्त कथनसे तुम गुणोको सदा नित्य ही मान चुके हो।

दूसरी बात यह है कि हरएक गुणके अशोकी कभी न्यूनता भी प्रतीत होती है ऐसी अवस्थामें गुण दुर्बल (सूक्ष्म—पतला) क्यो नही हो जाता ? और कभी गुणमें अधिकता भी प्रतीत होती है, ऐसी अवस्थामे वह बलवान (सशक्त—मोटा) क्यों नही हो जाता ? यह एक महान् दोष है। इसका निराकरण कुछ कठिन है ?

उत्तर

तन्न यतः परिणामि द्रव्यं पूर्वं निरूपितं सम्यक् ।
उत्पादादित्रयमपि सुघटं नित्येऽथ नाप्यनित्येर्थे ॥१९५॥

अर्थः—उपर्युक्त जो शका की गई है वह निर्मूल (ठीक नही) है क्योकि यह पहले अच्छी तरह कहा जा चुका है कि द्रव्य परिणमन शील है, इसलिये नित्य पदार्थमे ही उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य अच्छी तरह घटते है, अनित्य पदार्थमे नही घटते।

दृष्टान्त

जाम्बूनदे यथा सति जायन्ते कुण्डलादयो भावाः ।
अथ सत्सु तेषु नियमादुत्पादादित्रयं भवत्येव ॥१९६॥

अर्थः—सोनेकी सत्ता माननेपर ही उसमें कुण्डलादिक भाव होते है और उन कुण्डलादिक भावोके होनेपर उसमे उत्पादादिक घटते ही है।

भावार्थः—जिससमय सोनेको ठोक पीटकर कुण्डलाकार कर दिया जाता है उससमय सोनेमे पहली पाँसे रूप पर्यायका विनाश होकर कुण्डलरूप पर्यायकी उत्पत्ति होती है, सोना दोनो ही अवस्थामे है इसलिये सोनेमे उत्पादादित्रय तो घट जाते है परन्तु सोनेके प्रदेशोमे वास्तवमे किसी प्रकारकी नवीन उत्पत्ति अथवा नाश नही होता है, केवल क्षेत्रसे क्षेत्रान्तर होता है। यदि सोनेको अनित्य ही मान लिया जाय तो पाँसेके नाश होनेपर कुण्डल किसका बने ? इसलिये नित्य पदार्थमे ही उत्पादादिक तीनो घटते है, अनित्यमे नही।

अनया प्रक्रियया किल बोद्धव्यं कारणं फलं चैव ।
यस्मादेवास्य सतस्तद्द्वयमपि भवत्येतत् ॥१९७॥

अर्थः—इसी ऊपर कही हुई प्रक्रिया (रीति) के अनुसार कारण और फल भी उसी कथंचित् नित्य पदार्थके घटते है । क्योंकि ये दोनो ही सत् पदार्थके ही हो सकते है ।

आस्तामसदुत्पादः सतो विनाशस्तदन्वयादेशात् ।
स्थूलत्वं च कृशत्वं न गुणस्य च निजप्रमाणत्वात् ॥१९८॥

अर्थः—अविच्छिन्न सन्तति देखनेसे गुणोमे असत्की उत्पत्ति और सत्का विनाश तो दूर रहो । परन्तु उनमे अपने प्रमाणसे स्थूलता और कृशता (दुर्बलता) भी नही होती ।

भावार्थः—ऊपर दो प्रकारकी शकायें की गई थी । उन दोनोंका ही उत्तर दिया जा चुका, समान अविभाग प्रतिच्छेद होनेपर भी ज्ञान कभी घटाकार होता है, कभी लोकाकार होता है, वहां तो केवल परिणमनमे आकार भेद है, परन्तु जहां पर ज्ञानके अविभाग प्रतिच्छेदोमे न्यूनता अथवा वृद्धि होती है, वहां भी ज्ञानके अशोका नाश अथवा नवीन उत्पत्ति नही होती है, किन्तु ज्ञानावरण कर्मके निमित्तसे ज्ञानके अशोमे उद्भूति और अनुद्भूति (व्यक्तता और अव्यक्तता) होती रहती है । अधिक अशोके दब जानेसे वही ज्ञान दुर्बल कहा जाता है और अधिक अशोके प्रगट हो जानेसे वही ज्ञान सबल कहा जाता है । इसके सिवा ज्ञानमे और किसी प्रकारकी सबलता या निर्बलता नही आती है ।

उत्पादादिके कहनेकी प्रतिज्ञा

इति पर्यायाणामिह लक्षणमुक्तं यथास्थितं चाथ ।
उत्पादादित्रयमपि प्रत्येकं लक्ष्यते यथाशक्ति ॥१९९॥

अर्थः—इसप्रकार पर्यायोका लक्षण, जैसा कुछ था कहा गया । अब उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यका भिन्न २ स्वरूप यथाशक्ति कहा जाता है ।

उत्पादस्थितिभङ्गाः पर्यायाणां भवन्ति किल न सतः ।
ते पर्याया द्रव्यं तस्माद्द्रव्यं हि *तत्त्रितयम् ॥२००॥

* पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोत्ति दधिव्रत । अगोरसव्रतो नोभे तस्मात्तत्त्व त्रयात्मकम् ॥१॥
अष्टसहस्री

जिसके दूध पीनेका व्रत है वह दही नहीं खाता है, जिसके दही खानेका व्रत है वह दूध नहीं पीता है, जिसके अगोरस व्रत है वह दूध दही, दोनोंको नहीं ग्रहण करता है । इसलिये तत्त्व त्रयात्मक है ।

अर्थः—उत्पाद, स्थिति, भङ्ग, ये तीनों ही पर्यायोंके होते है, पदार्थके नहीं होते, और उन पर्यायोंका समूह ही द्रव्य कहलाता है। इसलिये वे तीनों मिलकर द्रव्य कहलाते है।

भावार्थः—यदि उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य पदार्थके माने जावे तो पदार्थका ही नाश और उत्पाद होने लगेगा, परन्तु यह पहले कहा जा चुका है कि न तो किसी पदार्थका नाश होता है, और न किसी पदार्थकी नवीन उत्पत्ति ही होती है इसलिये यह तीनो पदार्थकी अवस्थाओके भेद है, और वे अवस्थाएँ मिलकर ही द्रव्य कहलाती है, इसलिये तीनोका समुदाय ही द्रव्यका पूर्ण स्वरूप है।

उत्पादका स्वरूप

तत्रोत्पादोऽवस्था प्रत्यग्रं परिणतस्य तस्य सतः ।
सदसद्भावनिबद्धं तदतद्भावत्ववन्नयादेशात् ॥२०१॥

अर्थः—उन तीनोमें परिणमनशील द्रव्यकी नवीन अवस्थाको उत्पाद कहते है। यह उत्पाद भी द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे सत् और असत् भावसे विशिष्ट है।

व्ययका स्वरूप

अपि च व्ययोपि न सतो व्ययोप्यवस्थाव्ययः सतस्तस्य ।
प्रध्वंसाभावः स च परिणामित्वात्सतोप्यवश्यं स्यात् ॥२०२॥

अर्थः—तथा व्यय भी पदार्थका नही होता है, किन्तु उसी परिणमनशील द्रव्यकी अवस्थाका व्यय होता है। इसीको *प्रध्वसाभाव कहते है। यह प्रध्वसाभाव परिणमनशील द्रव्यके अवश्य होता है।

ध्रौव्यका स्वरूप

ध्रौव्यं सतः कथंचित् पर्यायार्थाच्च केवलं न सतः ।
उत्पादव्ययवदिदं तच्चैकांशं न सर्वदेशं स्यात् ॥२०३॥

---

* नैयायिकोंने जिसप्रकार तुच्छाभावको स्वतन्त्र पदार्थ माना है उसप्रकार जैन सिद्धान्त अभावको स्वतन्त्र-तुच्छरूप नहीं मानता। जैन मतमें वर्तमान समय सम्बन्धी पर्यायका वर्तमान समयसे पहले अभावको प्रागभाव कहते हैं। तथा उसीके वर्तमान समयसे पीछे अभावको प्रध्वसाभाव कहते हैं। द्रव्यकी एक पर्यायके सजातीय अन्य पर्यायमें अभावको अन्योन्याभाव कहते हैं। और उसीके विजातीय पर्यायमें अभावको अत्यन्ताभाव कहते हैं। यह चारों प्रकारका ही अभाव पर्यायरूप है अर्थात् अभाव दूसरी पर्याय है तुच्छाभाव नहीं है।

अर्थः—ध्रौव्य भी कथंचित् पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे पदार्थका होता है। पर्यायदृष्टिको छोड़कर केवल पदार्थका ध्रौव्य नहीं होता है, किन्तु उत्पाद और व्ययकी तरह वह भी एक अंश स्वरूप है। सर्वांश रूप नहीं है।

भावार्थः—जिसप्रकार उत्पाद और व्यय द्रव्यदृष्टिसे नहीं होते हैं उसप्रकार ध्रौव्य भी द्रव्य दृष्टिसे नहीं होता है किन्तु वह भी पर्याय दृष्टिसे होता है, इसीलिये उसको भी वस्तुका एक अंशरूप कहा गया है। यदि तीनोंको द्रव्यदृष्टिसे ही माना जाय तो वस्तु सर्वथा अनित्य और सर्वथा नित्य ठहरेगी।

ध्रौव्यका ही स्वरूपान्तर

तद्भावाव्ययमिति वा ध्रौव्यं तत्रापि सम्यगयमर्थः।
यः पूर्वं परिणामो भवति स पश्चात् स एव परिणामः ॥२०४॥

अर्थः—ध्रौव्यका लक्षण "तद्भावाव्ययम्" यह भी कहा गया है, उसका भी यही उत्तम अर्थ है कि वस्तुके भावका नाश नहीं होता, अर्थात् जो वस्तुका पहले परिणाम है, वही परिणाम पीछे भी होता है।

दृष्टान्त

पुष्पस्य यथा गन्धः परिणामः परिणमंश्च गन्धगुणः।
नापरिणामी गन्धो न च निर्गन्धाद्धि गन्धवत्पुष्पम् ॥२०५॥

अर्थः—जिसप्रकार पुष्पका गन्ध परिणाम है, और गन्ध गुण भी परिणामी है, वह भी प्रतिक्षण परिणमन करता है, वह अपरिणामी नहीं है, परन्तु ऐसा नहीं है कि पहले पुष्प गन्ध रहित हो और पीछे गन्ध सहित हुआ हो।

भावार्थः—गन्ध गुण परिणमनशील होनेपर भी वह पुष्पमे सदा पाया जाता है, उसका कभी पुष्पमे अभाव नहीं है, बस इसीका नाम ध्रौव्य है, जो गन्धपरिणाम पहले था वही पीछे रहता है।

नित्य और अनित्यका विचार

तत्रानित्यनिदानं ध्वंसोत्पादद्वयं सतस्तस्य।
नित्यनिदानं ध्रुवमिति तत्त्रयमप्यंशभेदः स्यात् ॥२०६॥

अर्थः—उन तीनोंमे उत्पाद और व्यय ये दो तो उस परिणामी द्रव्यमें अनित्यताके कारण हैं, और ध्रुव (ध्रौव्य) नित्यताका कारण है, ये तीनो ही एक एक अंशरूपसे भिन्न है।

आशङ्का

न च सर्वथा हि नित्यं किञ्चित्सत्त्वं गुणो न कश्चिदिति ।
तस्मादतिरिक्तौ द्वौ परिणतिमात्रौ व्ययोत्पादौ ॥२०७॥

अर्थः—कोई ऐसी आशंका न करे कि द्रव्यमे सत्त्व तो सर्वथा नित्य है बाकीका कोई गुण नित्य नही है, और उससे सर्वथा भिन्न परिणतिमात्र उत्पाद, व्यय दोनो है । क्योकि—

उत्तर

सर्वं विप्रतिपन्नं भवति तथा सति गुणो न परिणामः ।
नापि द्रव्यं न सदिति पृथक्त्वदेशानुषङ्गत्वात् ॥२०८॥

अर्थः—ऊपर कही हुई आशंकाके अनुसार माननेपर सभी विवादकोटिमे आ जायगा । प्रदेश भेद माननेसे न गुणकी सिद्धि होगी न पर्यायकी सिद्धि होगी । न द्रव्यकी, और न सत्की ही सिद्धि होगी । क्योकि भिन्न २ स्वीकार करनेसे एक भी (कुछ भी) सिद्ध नही होता ।

दूसरा दोष

अपि चैतद्दूषणमिह यन्नित्यं तद्धि नित्यमेव तथा ।
यदनित्यं तदनित्यं नैकस्यानेकधर्मत्वम् ॥२०९॥

अर्थः—उत्पाद, व्ययको सर्वथा भिन्न पर्यायमात्र माननेसे और द्रव्यको उससे भिन्न सर्वथा नित्य माननेसे यह भी दूषण आता है कि जो नित्य है वह सदा नित्य ही रहेगा, और जो अनित्य है वह सदा अनित्य ही रहेगा क्योकि एकके अनेक धर्म नही हो सकते ।

भावार्थः—द्रव्यको अनेक धर्मात्मक माननेपर तो कथचित् नित्य और कथचित् अनित्यकी व्यवस्था वन जाती है और सर्वथा भिन्नतामें वस्तुको एक धर्मात्मक स्वीकार करने पर सम्पूर्ण व्यवस्था विघटित हो जाती है ।

तीसरा दोष

अपि चैकमिदं द्रव्यं गुणोयमेवेति पर्ययोऽयं स्यात् ।
इति काल्पनिको भेदो न स्याद्द्रव्यान्तरत्ववन्नियमात् ॥२१०॥

अर्थः—भिन्नतामे यह द्रव्य है, यह गुण है यह पर्याय है, ऐसा काल्पनिक भेद जो होता है वह भी उठ जायगा, क्योकि भिन्नतामे द्रव्यान्तरकी तरह सभी भिन्न २ द्रव्य कहलावेगे ।

शंकाकार

ननु भवतु वस्तु नित्यं गुणाश्च नित्या भवन्तु वार्धिरिव ।
भावाः कल्लोलादिवदुत्पन्नध्वंसिनो भवन्त्विति चेत् ॥२११॥

अर्थः—द्रव्य और गुण समुद्रकी तरह नित्य है और पर्यायें तरङ्गोंकी तरह उत्पन्न होती है और नष्ट होती है ऐसा माननेमें क्या दोष है ?

उत्तर

तन्न यतो दृष्टान्तः प्रकृतार्थस्यैव बाधको भवति ।
अपि तदनुक्तस्यास्य प्रकृतविपक्षस्य साधकत्वाच्च ॥२१२॥

अर्थः—शकाकारकी यह शका ठीक नही है क्योकि जो दृष्टान्त समुद्र और तरंगोका उसने दिया है वह उसके प्रकृत अर्थका बाधक हो जाता है और उसके अभिप्रायसे विरुद्ध-(विपक्ष) अर्थका साधक हो जाता है। किसप्रकार ? सो नीचे कहा जाता है—

अर्थान्तरं हि न सतः परिणामेभ्यो गुणस्य यापि ।
एकत्वाज्जलधेरिव कलितस्य तरङ्गमालाभ्यः ॥२१३॥

जिसप्रकार तरङ्ग मालाओसे खचित समुद्र एक ही है ऐसा ही नही है कि तरगें समुद्रसे भिन्न हों और समुद्र उनसे भिन्न हो, किन्तु तरगोसे डोलायमान होनेवाला समुद्र अभिन्न है, उसीप्रकार सत् (द्रव्य)से भिन्न गुण और पर्यायें पदार्थान्तर नही है।

स्पष्ट अर्थ

किन्तु य एव समुद्रस्तरङ्गमाला भवन्ति ता एव ।
यस्मात्स्वयं स जलधिस्तरङ्गरूपेण परिणमति ॥२१४॥

अर्थः—किन्तु ऐसा है कि जो समुद्र है वे ही तरंगमालाये है क्योंकि स्वयं वह समुद्र ही तरगरूप परिणाम धारण करता है।

दार्ष्टान्त

तस्मात्स्वयमुत्पादः सदिति ध्रौव्यं व्ययोपि वा सदिति ।
न सतोऽतिरिक्त एव हि व्युत्पादो वा व्ययोपि वा ध्रौव्यम् ॥२१५॥

अर्थः—इसलिये (अथवा इसीप्रकार) स्वय सत् ही उत्पाद है, स्वयं सत् ही व्यय है, और वही स्वय ध्रौव्य है। सत्से भिन्न न कोई उत्पाद है, न व्यय है, और न ध्रौव्य है।

अथवा

यदि वा शुद्धत्वनयान्नाप्युत्पादो व्ययोपि न ध्रौव्यम् ।
गुणश्च पर्यय इति वा न स्याच्च केवलं सदिति ॥२१६॥

अर्थः—अथवा भेद विकल्प निरपेक्ष–शुद्धद्रव्यार्थिक नयसे न कोई उत्पाद है, न व्यय है, न ध्रौव्य है, न गुण है और न पर्याय है । केवल सन्मात्र ही वस्तु है ।

सारांश

अयमर्थो यदि भेदः स्यादुन्मज्जति तदा हि तत्त्रितयम् ।
अपि तत्त्रितयं निमज्जति यदा निमज्जति स मूलतो भेदः ॥२१७॥

अर्थः—उपर्युक्त कथनका यही साराश है कि यदि भेदबुद्धि रक्खी जाती है तब तो उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य तीनो ही सत्के अशरूपसे प्रगट हो जाते है, और यदि मूलसे भेद बुद्धिको ही दूर कर दिया जाय, तब तीनोही सन्मात्र वस्तुमे लीन हो जाते है ।

भावार्थः—भेद विकल्पसापेक्ष–अशुद्ध द्रव्यार्थिक नयसे वही सत् उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य स्वरूप परिणमन करता है और भेद विकल्प निरपेक्ष–शुद्धद्रव्यार्थिकनयसे वही सत् केवल सन्मात्र ही प्रतीत होता है ।

शङ्काकार

ननु चोत्पादध्वंसौ द्वावप्यंशात्मकौ भवेतां हि ।
ध्रौव्यं त्रिकालविषयं तत्कथमंशात्मकं भवेदिति चेत् ॥२१८॥

अर्थः—शकाकार कहता है कि उत्पाद और ध्वस (व्यय) ये दोनो ही अशात्मक–अंश स्वरूप रहो, परन्तु ध्रौव्य तो सदा रहता है वह किसप्रकार अश रूप हो सकता है ?

उत्तर

नैवं यतस्त्रयोंशाः स्वयं सदेवेति वस्तुतो न सतः ।
नैवार्थान्तरवदिदं प्रत्येकमनेकमिह सदिति ॥२१९॥

अर्थः—ऊपर की हुई शका ठीक नही है, क्योकि ये तीनो ही अश स्वय सत् स्वरूप है । वास्तवमे सत्के नही है और न पदार्थान्तरकी तरह ही अश रूप है । किन्तु स्वय सत् ही प्रत्येक अश रूप है ।

भावार्थः—उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य तीनो ही सत्के उसप्रकार अश नही है, जिसप्रकार कि वृक्षके फल, पुष्प पत्ते आदि होते है, किन्तु स्वय सत् ही उत्पादादि स्वरूप है ।

उदाहरण

तत्रैतदुदाहरणं यद्युत्पादेन लक्ष्यमाणं सत् ।
उत्पादेन परिणतं केवलमुत्पादमात्रमिह वस्तु ॥२२०॥

अर्थः—इस विषयमें यह उदाहरण है कि यदि सत् उत्पादका लक्ष्य बनाया जाता है अर्थात् वह उत्पादरूप परिणाम धारण करता है तो वह केवल उत्पाद मात्र है ।

अथवा

यदि वा व्ययेन नियतं केवलमिह सदिति लक्ष्यमाणं स्यात् ।
व्ययपरिणतं च सदिति व्ययमात्रं किल कथं हि तन्न स्यात् ॥२२१॥

अर्थः—अथवा यदि वह सत् केवल व्ययका लक्ष्य बनाया जाता है, अर्थात् वह व्यय परिणामको धारण करता है तो वह सत् केवल व्यय मात्र ही है ।

अथवा

ध्रौव्येण परिणतं सद्यदि वा ध्रौव्येण लक्ष्यमाणं स्यात् ।
उत्पादव्ययवदिदं स्यादिति तद् ध्रौव्यमात्रं सत् ॥२२२॥

अर्थः—यदि सत् ध्रौव्य परिणामको धारण करता है अथवा वह ध्रौव्यका लक्ष्य बनाया जाता है, तब उत्पाद व्ययके समान वह सत् ध्रौव्य मात्र है ।

भावार्थः—उपर्युक्त तीनो श्लोकोमे इस बातका निषेध किया गया है कि उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य सत्से भिन्न हैं अथवा सत्के एक २ भागसे होनेवाले अश है । साथ ही यह बतलाया गया है कि तीनों ही सत् स्वरूप है और तीनोही एक साथ होते है । परन्तु जिसकी विवक्षा की जाय अथवा जिसका लक्ष्य बनाया जाय सत् उसी स्वरूप है । सत् ही स्वयं उत्पाद स्वरूप है, सत् ही व्यय स्वरूप है और सत् ही ध्रौव्य स्वरूप है ।

दृष्टान्त

संदृष्टिर्मृद्द्रव्यं सता घटेनेह लक्ष्यमाणं सत् ।
केवलमिह घटमात्रमसता पिण्डेन पिण्डमात्रं स्यात् ॥२२३॥

अर्थः—दृष्टान्तके लिये मिट्टी द्रव्य है । जिस*समय वह मिट्टी सत् स्वरूप घटका लक्ष्य होती है । उससमय वह केवल घट मात्र है और जिससमय वह असत् स्वरूप पिण्डका लक्ष्य होती है, तब पिण्ड मात्र है ।

---

* यहाँ पर 'जिससमय'से आशय केवल विवक्षासे है । जैसी विवक्षा होती है मिट्टी उसी स्वरूप समझी जाती है । वास्तवमें तीनोंका समयभेद नहीं है ।

यदि वा तु लक्ष्यमाणं केवलमिह मृच्च मृत्तिकात्त्वेन ।
एवं चैकस्य सतो व्युत्पादादित्रयश्च तत्रांशाः ॥२२४॥

अर्थः—यदि वह मिट्टी मिट्टीपनेका ही केवल लक्ष्य बनाई जाती है तब वह केवल मिट्टी मात्र है। इसप्रकार एक ही सत् (द्रव्य)के उत्पाद व्यय ध्रौव्य, ऐसे तीन अंश होते है।

न पुनः सतो हि सर्गः केनचिदंशैकभागमात्रेण ।
संहारो वा ध्रौव्यं वृक्षे फलपुष्पपत्रवन्न स्यात् ॥२२५॥

अर्थः—ऐसा नही है कि सत् (द्रव्य)का ही किसी एक भागसे उत्पाद हो, और उसीका किसी एक भागसे व्यय हो, और उसीका एक भागसे ध्रौव्य रहता हो। जिसप्रकार कि वृक्षके एक भागमे फल है तथा एक भागमें पुष्प हैं और उसके एक भागमें पत्ते है। किन्तु ऐसा है कि सत् ही उत्पाद रूप है, सत् ही व्यय रूप है, और सत् ही ध्रौव्य स्वरूप है।

शङ्काकार

ननु चोत्पादादित्रयमंशानामथ किमंशिनो वा स्यात् ।
अपि किं सदंशमात्रं किमथांशमसदस्ति पृथगिति चेत् ॥२२६॥

अर्थः—क्या उत्पादादिक तीनों ही अंशोके होते है? अथवा अंशीके होते हैं? अथवा सत्के अंश मात्र है? अथवा असत्–अंश रूप भिन्न २ है?

उत्तर

तन्न यतोऽनेकान्तो बलवानिह खलु न सर्वथैकान्तः ।
सर्वं स्यादविरुद्धं तत्पूर्वं तद्विना विरुद्धं स्यात् ॥२२७॥

अर्थः—उपर्युक्त शंका ठीक नही है। क्योकि यहाँ पर (जैन दर्शनमे) नियमसे अनेकान्त ही बलवान् है। सर्वथा एकान्त नही। यदि ऊपर किये हुए प्रश्न अनेकान्त दृष्टिसे किये गये है तो सभी कथन अविरुद्ध है। किसी दृष्टिसे कुछ भी कहा जाय, उसमे विरोध नही आ सकता। और अनेकान्तको छोडकर केवल एकान्तरूपसे ही उपर्युक्त प्रश्न किये गये है तो अवश्य ही एक दूसरेके विरोधी है। इसलिये अनेकान्त पूर्वक सभी कथन अविरुद्ध हैं। और वही कथन उसके विना विरुद्ध है।

भावार्थः—जैन दर्शन प्रमाणनयात्मक है। जिस किसी पदार्थका किसी रूप विवेचन क्यो न किया जाय, नयदृष्टिसे सभी संगत हो जाता है। वही कथन अपेक्षादृष्टिको छोडकर किया जाय तो असंगत हो जाता है। यहाँ पर कोई यह शंका न कर बैठे कि कभी किसी बातको कभी किसी रूप कहनेसे और कभी किसीरूप कहनेसे जैन दर्शन

उदाहरण

तत्रैतदुदाहरणं यद्युत्पादेन लक्ष्यमाणं सत् ।
उत्पादेन परिणतं केवलमुत्पादमात्रमिह वस्तु ॥२२०॥

अर्थः—इस विषयमें यह उदाहरण है कि यदि सत् उत्पादका लक्ष्य बनाया जाता है अर्थात् वह उत्पादरूप परिणाम धारण करता है तो वह केवल उत्पाद मात्र है ।

अथवा

यदि वा व्ययेन नियतं केवलमिह सदिति लक्ष्यमाणं स्यात् ।
व्ययपरिणतं च सदिति व्ययमात्रं किल कथं हि तन्न स्यात् ॥२२१॥

अर्थः—अथवा यदि वह सत् केवल व्ययका लक्ष्य बनाया जाता है, अर्थात् वह व्यय परिणामको धारण करता है तो वह सत् केवल व्यय मात्र ही है ।

अथवा

ध्रौव्येण परिणतं सद्यदि वा ध्रौव्येण लक्ष्यमाणं स्यात् ।
उत्पादव्ययवदिदं स्यादिति ध्रौव्यमात्रं सत् ॥२२२॥

अर्थः—यदि सत् ध्रौव्य परिणामको धारण करता है अथवा वह ध्रौव्यका लक्ष्य बनाया जाता है, तब उत्पाद व्ययके समान वह सत् ध्रौव्य मात्र है ।

भावार्थः—उपर्युक्त तीनो श्लोकोमे इस बातका निषेध किया गया है कि उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य सत्से भिन्न हैं अथवा सत्के एक २ भागसे होनेवाले अश है । साथ ही यह बतलाया गया है कि तीनो ही सत् स्वरूप है और तीनोही एक साथ होते हैं । परन्तु जिसकी विवक्षा की जाय अथवा जिसका लक्ष्य बनाया जाय सत् उसी स्वरूप है । सत् ही स्वयं उत्पाद स्वरूप है, सत् ही व्यय स्वरूप है और सत् ही ध्रौव्य स्वरूप है ।

दृष्टान्त

संदृष्टिर्मृद्द्रव्यं सता घटेनेह लक्ष्यमाणं सत् ।
केवलमिह घटमात्रमसता पिण्डेन पिण्डमात्रं स्यात् ॥२२३॥

अर्थः—दृष्टान्तके लिये मिट्टी द्रव्य है । जिस*समय वह मिट्टी सत् स्वरूप घटका लक्ष्य होती है । उससमय वह केवल घट मात्र है और जिससमय वह असत् स्वरूप पिण्डका लक्ष्य होती है, तब पिण्ड मात्र है ।

---

* यहाँ पर 'जिससमय'से आशय केवल विवक्षासे है । जैसी विवक्षा होती है मिट्टी उसी स्वरूप समझी जाती है । वास्तवमें तीनोंका समयभेद नहीं है ।

यदि वा तु लक्ष्यमाणं केवलमिह मृच मृत्तिकात्वेन ।
एवं चैकस्य तो व्युत्पादादित्रयश्च तत्रांशाः ॥२२४॥

अर्थः—यदि वह मिट्टी मिट्टीपनेका ही केवल लक्ष्य बनाई जाती है तब वह केवल मिट्टी मात्र है। इसप्रकार एक ही सत् (द्रव्य)के उत्पाद व्यय ध्रौव्य, ऐसे तीन अंश होते है।

न पुनः सतो हि सर्गः केनचिदंशैकभागमात्रेण ।
संहारो वा ध्रौव्यं वृत्ते फलपुष्पपत्रवन्न स्यात् ॥२२५॥

अर्थः—ऐसा नही है कि सत् (द्रव्य)का ही किसी एक भागसे उत्पाद हो, और उसीका किसी एक भागसे व्यय हो, और उसीका एक भागसे ध्रौव्य रहता हो। जिसप्रकार कि वृक्षके एक भागमे फल है तथा एक भागमें पुष्प हैं और उसके एक भागमे पत्ते है। किन्तु ऐसा है कि सत् ही उत्पाद रूप है, सत् ही व्यय रूप है, और सत् ही ध्रौव्य स्वरूप है।

शङ्काकार

ननु चोत्पादादित्रयमंशानामथ किमंशिनो वा स्यात् ।
अपि किं सदंशमात्रं मथांशमसदस्ति पृथगिति चेत् ॥२२६॥

अर्थः—क्या उत्पादादिक तीनो ही अंशोके होते है? अथवा अंशीके होते हैं? अथवा सत्के अंश मात्र है? अथवा असत्-अंश रूप भिन्न २ है?

उत्तर

तन्न यतोऽनेकान्तो बलवानिह खलु न सर्वथैकान्तः ।
सर्वं स्यादविरुद्धं तत्पूर्वं तद्विना विरुद्धं स्यात् ॥२२७॥

अर्थः—उपर्युक्त शंका ठीक नही है। क्योकि यहाँ पर (जैन दर्शनमें) नियमसे अनेकान्त ही बलवान् है। सर्वथा एकान्त नही। यदि ऊपर किये हुए प्रश्न अनेकान्त दृष्टिसे किये गये है तो सभी कथन अविरुद्ध है। किसी दृष्टिसे कुछ भी कहा जाय, उसमें विरोध नही आ सकता। और अनेकान्तको छोडकर केवल एकान्तरूपसे ही उपर्युक्त प्रश्न किये गये है तो अवश्य ही एक दूसरेके विरोधी है। इसलिये अनेकान्त पूर्वक सभी कथन अविरुद्ध है। और वही कथन उसके विना विरुद्ध है।

भावार्थः—जैन दर्शन प्रमाणनयात्मक है। जिस किसी पदार्थका किसी रूप विवेचन क्यो न किया जाय, नयदृष्टिसे सभी सगत हो जाता है। वही कथन अपेक्षादृष्टिको छोडकर किया जाय तो असगत हो जाता है। यहाँ पर कोई यह शंका न कर बैठे कि कभी किसी बातको कभी किसी रूप कहनेसे और कभी किसीरूप कहनेसे जैन दर्शन

किसी बातका निर्णायक नही है किन्तु सशयात्मक है। ऐसा कहनेवालोको थोडा सूक्ष्मदृष्टिसे विचार करना चाहिये। जैन दर्शन सशयात्मक नही किन्तु वस्तुके यथार्थ स्वरूपका कहनेवाला है। वस्तु एक धर्मात्मक नही है, किन्तु अनेक-धर्मात्मक है। इसलिये वह अनेक रूपसे ही कही जाती है। एक रूपसे कहना उसके स्वरूपको बिगाडना है। सशय उभयकोटिमे समान ज्ञान होनेसे होता है। यहाँ पर उभय कोटिमे समान ज्ञान नही है। यद्यपि एक ही पदार्थको अनेक धर्मो द्वारा कहा जाता है परन्तु जिस दृष्टिसे जो धर्म कहा जाता है उस दृष्टिसे वह सदा वैसा ही है। उस दृष्टिसे वह सदा एक धर्मात्मक ही है। दृष्टान्तके लिये पुस्तकको ही ले लीजिये। पुस्तक भावरूप भी है और अभावरूप भी है। अपने स्वरूपकी अपेक्षासे तो वह भावरूप है और पर-पदार्थोंकी अपेक्षासे वह अभावरूप है। ऐसा नही है कि कभी अपने स्वरूपकी अपेक्षासे भी वह अभावरूप कही जाय। अथवा पर-पदार्थोंकी अपेक्षासे भी कभी भावरूप कही जाय। इसलिये नय समुदाय-प्रमाणसे तो वस्तु भावरूप भी है, अभावरूप भी है। परन्तु नय दृष्टिसे जिस रूपसे भावरूप है उस रूपसे सदा भावरूप ही है और जिस दृष्टिसे अभावरूप है उससे सदा अभावरूप ही है। इसलिये स्याद्वादको वे ही तर्कशास्त्री सशयात्मक कह सकते हैं जिन्होने न तो सशयका ही स्वरूप समझा है और न स्याद्वादका ही स्वरूप समझा है। इसीप्रकार जो *लोग "नैकस्मिन्नसभवात्" अर्थात् एक पदार्थमे दो विरोधी धर्म नही रह सकते है ऐसा कहकर स्याद्वाद स्वरूप जैन दर्शनको असत्यात्मक ठहराते है वे भी पदार्थके यथार्थ बोधसे कोसो दूर है, अस्तु। क्या हमे वे यह समझा देगे कि पुस्तकको पुस्तक ही क्यो कहते है? पुस्तकको दावात क्यो नही कहते? कलम क्यो नही कहते? चौकी क्यो नही कहते? दीपक क्यो नही कहते? यदि वे इस प्रश्नके उत्तरमे यह कहे कि पुस्तकमे पुस्तकत्व ही धर्म रहता है इसलिये वह पुस्तक ही कही जाती है। उसमे दावातत्व धर्म नही है, कलमत्व धर्म नही है, चौकीत्व धर्म नही है, दीपकत्व धर्म नही है इसलिये वह पुस्तक दावात, कलम, चौकी, दीपक नही कही जाती है, अर्थात् पुस्तकमे पुस्तकत्व धर्मके सिवा इतर जितने भी उससे भिन्न पदार्थ हैं, सबोका पुस्तकमे अभाव है। इसीप्रकार हरएक पदार्थमे अपने स्वरूपको छोडकर बाकी सब पदार्थोंके स्वरूपका अभाव रहता है। यदि अन्य पदार्थोंके स्वरूपका भी सद्भाव हो तो एक पदार्थमे सभी पदार्थोंकी सकरताका दोष आता है और यदि पदार्थमे स्व-स्वरूपका भी अभाव हो तो पदार्थके अभावका ही प्रसग आता

* शङ्कराचार्य मतके अनुयायी।

है । इसलिये स्व–स्वरूपकी अपेक्षासे भाव और पर–स्वरूपकी अपेक्षासे अभाव ऐसे हरएक पदार्थमे दो धर्म रहते है । बस इसी उत्तरसे दो विरोधी धर्मोका एक पदार्थमें अभाव बतलानेवाले तर्कशास्त्री स्वय समझ गये होंगे कि एक पदार्थमें भाव–धर्म और अभाव धर्म दोनो ही रहते है । इनके स्वीकार किये बिना तो पदार्थका स्वरूप ही नही बनता । इसलिये अनेकान्त पूर्वक सभी कथन अविरुद्ध और उसके बिना विरुद्ध है । यहाँपर यह शका करना भी व्यर्थ है कि भाव और अभाव दोनो विरोधी है फिर एक पदार्थमे दोनो कैसे रह सकते है ? इसका उत्तर ऊपर कहा भी जाचुका है । दूसरे– जिसको विरोध* बतलाया जाता है वह वास्तवमे विरोध ही नही है । पदार्थका स्वरूप ही ऐसा है । "स्वभावोऽतर्कगोचर." अर्थात् किसीके स्वभावमे तर्क काम नही करता है । अग्निका स्वभाव उष्ण है । वहाँ अग्नि उष्ण क्यों है ? यह प्रश्न व्यर्थ है, प्रत्यक्ष बाधित है ।

ऊपर की हुई शंकाका खुलासा उत्तर

केवलमंशानामिह नाप्युत्पादो व्ययोपि न ध्रौव्यम् ।
नाप्यंशिनस्त्रयं स्यात् किमुतांशेनांऽशिनो हि तत्त्रितयम् ॥२२८॥

अर्थः—केवल अंशोके ही उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य नही होते है और न केवल अशीके ही तीनों होते है । किन्तु अशीके अश रूपसे उत्पादादिक तीनो होते है ।

शंकाकार

ननु चोत्पादध्वंसौ स्यातामन्वर्थतोऽथ वाङ्मात्रात् ।
दृष्टविरुद्धत्वादिह ध्रुवत्वमपि चै य कथमिति चेत् ॥२२९॥

* विरोध तीन प्रकार होता है । १ सहानवस्थान २ प्रतिबन्ध्य प्रतिबन्धक ३ बध्यघातक । इन तीनोंमेंसे भावाभावमें एक भी नहीं है । विशेष बोधके लिये इस कारिकाको देखो—

कथञ्चित्ते सदेवेष्टं कथञ्चिदसदेव तत् ।
तथोभयमवाच्यं च नययोगान्न सर्वथा ॥१॥

तत्र सत्वं वस्तुधर्मं तदनुपगमे वस्तुनो वस्तुत्वायोगात् खरविषाणादिवत् । तथा कथञ्चिदसत्वं वस्तुधर्मः । स्वरूपादिभिरिव पररूपादिभिरपि वस्तुनोऽसत्वानिष्टौ प्रतिनियतस्वरूपाभावाद्वस्तुपति नियमविरोधात् । एतेन क्रमार्पितोभयत्वादीना वस्तुधर्मत्व प्रतिपादितम् ।

-अष्टसहस्री

अर्थः—एक पदार्थके उत्पाद और ध्वस भले ही हो; परन्तु उसी पदार्थके ध्रौव्य भी होता है, यह बात वचन मात्र है, और प्रत्यक्ष बाधित है। एक ही पदार्थके उत्पाद व्यय और ध्रौव्य ये तीनो किसप्रकार हो सकते है ?

उत्तर

सत्यं भवति विरुद्धं क्षणभेदो यदि भवेत्त्रयाणां हि।
अथवा स्वयं सदेव हि नश्यत्युत्पद्यते स्वयं सदिति ॥२३०॥

अर्थः—शकाकारका उपर्युक्त कहना तभी ठीक हो सकता है अथवा उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, इन तीनोका एक पदार्थमे तभी विरोध आ सकता है जब कि इन तीनोका क्षण भेद हो। अथवा यदि स्वयं सत् ही नष्ट होता हो, और सत् ही उत्पन्न होता हो तब भी इन तीनोमे विरोध आ सकता है।

पि कुतश्चित् किञ्चित् कस्यापि कथञ्चनापि तन्न स्यात्।
तत्साधक णाभावादिह सोप्यदृष्टान्तात् ॥२३१॥

अर्थः—परन्तु ऐसा कही किसी कारणसे किसीके किसी प्रकार किञ्चिन्मात्र भी नही होता है। उत्पाद भिन्न समयमें होता हो, व्यय भिन्न समयमे होता हो, और ध्रौव्य भिन्न समयमे होता हो इसप्रकार तीनोके क्षण भेदको सिद्ध करनेवाला न तो कोई प्रमाण ही है, और न कोई उसका साधक दृष्टान्त ही है।

शंकाकार

ननु च स्वावसरे किल सर्गः सर्गैकलक्षणत्वात् स्यात्।
संहारः स्वावसरे स्यादिति संहारलक्षणत्वाद्वा ॥२३२॥
ध्रौव्यं चात्मावसरे भवति ध्रौव्यैकलक्षणात्तस्य।
एवं ल भेदः स्याद्बीजाङ्कुरपादपत्त्ववत्त्विति चेत् ॥२३३॥

अर्थः—उत्पाद अपने समयमे होता है, क्योकि उसकी उत्पत्ति होना ही एक लक्षण है। व्यय अपने समयमे होता है, क्योकि सहार होना ही उसका लक्षण है। इसीप्रकार ध्रौव्य भी अपने समयमे होता है, क्योकि उसका ध्रुव रहना ही स्वरूप है। जिसप्रकार बीज अकुर और वृक्ष, इनका भिन्न २ लक्षण है उसीप्रकार उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यका भी भिन्न २ लक्षण है।

भावार्थः—भिन्न २ लक्षण होनेसे तीनोका भिन्न २ समय है ?

उत्तर

तन्न यतः क्षणभेदो न स्यादेकसमयमात्रं तत् ।
उत्पादादित्रयमपि हेतोः संदृष्टितोपि सिद्धत्वात् ॥२३४॥

अर्थः—लक्षणभेद होनेसे तीनोको भिन्न २ समयमे मानना ठीक नहीं है क्योकि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य तीनोका समयभेद नही है । तीनो एक ही समयमे होते हैं । यह बात हेतु और दृष्टान्तसे भलीभाँति सिद्ध है । इसीका खुलासा नीचे किया जाता है—

अथ तद्यथा हि बीजं बीजावसरे सदेव नासदिति ।
तत्र व्ययो न सत्वाद्व्ययश्च तस्मात्सदङ्कुरावसरे ॥२३५॥

अर्थः—बीज अपनी पर्यायके समयमे है । बीज पर्यायके समय बीजका अभाव नही कहा जा सकता । बीज पर्यायके समय बीज पर्यायका व्यय भी नही कहा जा सकता किन्तु अंकुरपर्यायके उत्पाद–समयमें बीज पर्यायका व्यय कहा जा सकता है ।

बीजावस्थायामपि न स्यादङ्कुरभवोस्ति वाऽसदिति ।
तस्मादुत्पादः स्यात्स्वावसरे चाङ्कुरस्य नान्यत्र ॥२३६॥

अर्थः—जो समय बीज पर्यायका है, वह अकुरकी उत्पत्तिका नही कहा जा सकता । बीज पर्यायके समय अकुरके उत्पादका अभाव ही है । इसलिये अंकुरका उत्पाद भी अपने ही समयमें होगा, अन्य समयमे नहीं ।

यदि वाबीजाङ्कुरयोरविशेषात् पादपत्वमिति वाच्यम् ।
नष्टोत्पन्नं न तदिति नष्टोत्पन्नं च पर्ययाभ्यां हि ॥२३७॥

अर्थः—अथवा बीज और अकुर इन दोनोको सामान्य रीतिसे यदि वृक्ष कहा जाय तो वृक्ष न तो उत्पन्न हुआ, और न वह नष्ट हुआ, किन्तु बीज पर्यायसे नष्ट हुआ है, और अकुर पर्यायसे उत्पन्न हुआ है ।

सारांश

आयातं न्यायबलादेतद्यत्रितयमे लं स्यात् ।
उत्पन्नमङ्कुरेण च नष्टं बीजेन पादपत्वं तत् ॥२३८॥

अर्थः—यह बात न्यायबलसे सिद्ध हो चुकी कि उत्पाद, व्यय, और ध्रौव्य तीनोंका एक हीॐ काल है। वृक्षका अकुर रूपसे जिससमय उत्पाद हुआ है, उसीसमय उसका बीज रूपसे व्यय हुआ है, और वृक्षपना दोनो अवस्थाओंमे मौजूद है।

भावार्थः—ऊपरके तीनों श्लोकोंका आशय इसप्रकार है—जो बीज पर्यायका समय है वह उसके व्ययका समय नही है। क्योंकि उसीका सद्भाव और उसीका अभाव दोनो एक ही समयमे नही हो सकते है। किन्तु जो अकुरके उत्पादका समय है वही बीज पर्यायके नाशका समय है। ऐसा भी नही है कि बीज पर्याय और अकुरोत्पाद, इन दोनोके बीचमे बीज पर्यायका नाश होता हो। ऐसा माननेसे पर्याय रहित द्रव्य ठहरेगा। क्योकि बीजका तो नाश होगया, अभी अकुर पैदा नही हुआ है। उससमय कौनसी पर्याय मानी जावेगी? कोई नही। तो अवश्य ही पर्याय शून्य द्रव्य ठहरेगा। पर्यायके अभावमे पर्यायीका अभाव स्वय सिद्ध है। इसलिये जिससमय अकुरका उत्पाद होता है उसीसमय बीजपर्यायका नाश होता है। दूसरे शब्दोमे यो भी कहा जा सकता है कि जो बीजपर्यायका नाश है वही अकुरका उत्पाद है। इसका यह अर्थ नही है कि नाश और उत्पाद दोनोका एक ही अर्थ है, यदि दोनोका एक ही अर्थ हो तो जिसका नाश है उसीका उत्पाद कहना चाहिये। परन्तु ऐसा नही है नाश तो बीजका होता है और उत्पाद अकुरका होता है परन्तु नाश और उत्पाद, दोनोकी फलित पर्याय एक ही है। ऐसा भी नही है कि जो बीजपर्यायका समय है वही अकुरके उत्पादका समय है। ऐसा माननेसे एक ही समयमे दो पर्यायोकी सत्ता माननी पडेगी। और एक समयमे दो पर्यायोका होना प्रमाणबाधित है। इसलिये बीजपर्यायके समय अकुरका उत्पाद नही होता है। किन्तु जो बीजपर्यायके नाशका समय है वही अकुरके उत्पादका समय है। और बीजनाश तथा अकुरोत्पाद दोनो ही अवस्थाओमे वृक्षपनेका सद्भाव है। वृक्षका जिससमय बीजपर्यायसे नाश हुआ है, उसीसमय उसका अकुरपर्यायसे उत्पाद हुआ है।

ॐ घटमौलिसुवर्णार्थीनाशोत्पादस्थितिष्वयम्, शोकप्रमोदमाध्यस्थ जनोयाति सहेतुकम्।

अष्टसहस्री

अर्थात् एक पुरुषको सोनेके घडेकी आवश्यकता थी दूसरेको कपालों (घडेके टुकडे) की आवश्यकता थी, तीसरेको सोनेकी ही आवश्यकता थी, तीनो एक सेठके यहाँ पहुँचे, सेठके यहाँ एक सोनेका घड़ा रक्खा था, परन्तु जिससमय ये तीनों ही पहुँचे, उसीसमय वह घडा ऊपरसे गिरकर फूट गया। घडेके फूटते ही तीनोंके एक ही क्षणमें तीन प्रकारके परिणाम हो गये। घटार्थीको शोक, कपालार्थीको हर्ष और सामान्य स्वर्णार्थीको मध्यस्थता। इसीप्रकार उत्पादादि तीनों एक ही क्षणमें होते हैं।

वृक्षका सद्भाव दोनो ही अवस्थाओंमे है। इसलिये यह बात अच्छी तरह सिद्ध हो गई कि उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य तीनोंका एक ही समय है। भिन्न समय नही है।

फिर भी खुलासा

अपि चाङ्कुरसृष्टेरिह य एव समयः स बीजनाशस्य।
उभयोरप्यात्मत्वात् स एव कालश्च पादपत्वस्य ॥२३९॥

अर्थः—जो अकुरकी उत्पत्तिका समय है। वही समय बीजके नाशका है, और अंकुरका उत्पाद तथा बीजका नाश दोनों ही वृक्ष स्वरूप है। इसलिये जो समय बीजके नाश और अकुरके उत्पादका है वही समय वृक्षके ध्रौव्यका है।

सारांश

तस्मादनवद्यमिदं प्रकृतं तत्त्वस्य चैकसमये स्यात्।
उत्पादादित्रयमपि पर्यायार्थान्न सर्वथापि सतः ॥२४०॥

इसलिये यह बात सर्वथा निर्दोष सिद्ध हो गई कि सत् (पदार्थ)के एक समयमें ही उत्पादादिक तीनों होते है वे भी पदार्थके पर्यायदृष्टिसे होते हैं, पर्यायनिरपेक्ष पदार्थके नही होते।

विरोध सम्भावना

भवति विरुद्धं हि तदा यदा सतः केवलस्य तत्त्रितयम्।
पर्ययनिरपेक्षत्वात् क्षणभेदोपि च तदैव सम्भवति ॥२४१॥

अर्थः—जिस सम उत्पाद आदि तीनो, पर्यायनिरपेक्ष केवल पदार्थके ही माने जाँयगे उससमय अवश्य ही तीनोका एक साथ विरोध होगा, और उसीसमय [illegible] समय भेदकी सम्भावना भी है।

अथवा

यदि वा भवति विरुद्धं तदा यदाप्येकपर्ययस्य पुनः।
अस्त्युत्पादो यस्य व्ययोपि तस्यैव तस्य वै ध्रौव्यम् ॥[illegible]

अर्थः—अथवा तब भी विरोध होगा जब कि जिस [illegible]
उसीका व्यय भी माना जाय, और उसी एक पर्यायका ध्रौ[illegible]

उत्पादादिकका अविरुद्ध स्व[illegible]

प्रकृतं सतो विनाशः केनचिदन्येन [illegible]
केनचिदन्येन पुनः स्यादुत्पादो [illegible]

अर्थः—प्रकृतमें ऐसा है कि किसी अन्य पर्यायसे सत्का विनाश होता है, तथा किसी अन्य पर्यायसे उसका उत्पाद होता है, और किसी अन्य पर्यायसे ही उसका ध्रौव्य होता है।

दृष्टान्त

संदृष्टिः पादपवत् स्वयमुत्पन्नः सदङ्कुरेण यथा।
नष्टो बीजेन पुनर्ध्रुवमित्युभयत्र पादपत्वेन ॥२४४॥

अर्थः—वृक्षका दृष्टान्त स्पष्ट है। जिसप्रकार वृक्ष सत् रूप अङ्कुरसे स्वयं उत्पन्न होता है, बीज रूपसे नष्ट होता है और वह वृक्षपनेसे दोनों जगह ध्रुव है।

न हि बीजेन विनष्टः स्यादुत्पन्नश्च तेन बीजेन।
ध्रौव्यं बीजेन पुनः स्यादित्यध्यक्षपक्षबाध्यत्वात् ॥२४५॥

अर्थः—ऐसा नहीं है कि वृक्ष बीजरूपसे ही तो नष्ट होता हो, उसी बीज रूपसे वह उत्पन्न होता हो और उसी बीज रूपसे वह ध्रुव भी रहता हो क्योंकि यह बात प्रत्यक्ष बाधित है।

सत् ही उत्पाद व्यय स्वरूप है

उत्पादव्ययोरपि भवति यदात्मा स्वयं सदेवेति।
तस्मादेतद्द्वयमपि वस्तु सदेवेति नान्यदस्ति सतः ॥२४६॥

अर्थः—उत्पाद और व्यय दोनोंका आत्मा (जीव भूत) स्वयं सत् ही है—इसलिये ये दोनों ही सद्वस्तुस्वरूप है। सत्से भिन्न ये दोनों कोई स्वतंत्र वस्तु नहीं है।

उत्पादादिक पर्यायदृष्टिसे ही हैं

पर्यायादेशत्वादस्त्युत्पादो व्ययोस्ति च ध्रौव्यम्।
द्रव्यार्थादेशत्वान्नाप्युत्पादो व्ययोपि न ध्रौव्यम् ॥२४७॥

अर्थः—पर्यायार्थिक नयसे उत्पाद भी है, व्यय भी है, और ध्रौव्य भी है। द्रव्यार्थिक नयसे न उत्पाद है, न व्यय है, और न ध्रौव्य है।

शंकाकार

ननु चोत्पादेन सता कृतमसतैकेन वा व्ययेनाऽथ।
यदि वा ध्रौव्येण पुनर्यदवश्यं तत्त्रयेण कथमिति चेत् ॥२४८॥

अर्थः—या तो सद्रूप उत्पाद स्वरूप ही वस्तु मानो, या असद्रूप व्यय स्वरूप ही वस्तु मानो, अथवा ध्रौव्य स्वरूप ही वस्तु मानो, तीनों स्वरूप उसे कैसे मानते हो?

उत्तर

तन्न यदविनाभावः प्रादुर्भावध्रुवव्ययानां हि ।
यस्मादेकेन विना न स्यादितरद्द्वयं तु तन्नियमात् ॥२४९॥

अर्थः—उपर्युक्त शंका ठीक नही है क्योंकि उत्पाद व्यय और ध्रौव्य, इन तीनोंका नियमसे अविनाभाव है क्योकि एकको छोडकर दूसरे दोनों भी नही रह सकते ।

अपि च द्वाभ्यां ताभ्यामन्यतमाभ्यां विना न चान्यतरत् ।
एकं वा तदवश्यं तत्त्रयमिह वस्तु संसिध्यै ॥२५०॥

अर्थः—अथवा बिना किन्ही भी दोके कोई एक भी नही रह सकता है इसलिये यह आवश्यक है कि वस्तुकी भले प्रकार सिद्धिके लिये उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य तीनों एक साथ हों ।

इसीका खुलासा

अथ तद्यथा विनाशः प्रादुर्भावं विना न भावीति ।
नियतमभावस्य पुनर्भावेन पुरस्सरत्वाच्च ॥२५१॥

अर्थः—तीनोंका परस्पर अविनाभाव है, इसी बातको स्पष्ट किया जाता है कि विनाश (व्यय) विना उत्पादके नही हो सकता । क्योकि किसी पर्यायका अभाव नियमसे भाव पूर्वक ही होता है ।

उत्पादोपि न भावी व्ययं विना वा तथा प्रतीतत्वात् ।
प्रत्यग्रजन्मनः किल भावस्याभावतः कृतार्थत्वात् ॥२५२॥

अर्थः—उत्पाद भी बिना व्ययके नही हो सकता, क्योकि ऐसी प्रतीति है कि नवीन जन्म लेनेवाला भाव अभावसे ही कृतार्थ होता है ।

भावार्थः—किसी पर्यायका नाश होने पर ही तो दूसरी पर्याय हो सकती है । पदार्थ तो किसी न किसी अवस्थामें सदा रहता ही है । इसलिये यह आवश्यक है कि पहली अवस्थाका नाश होने पर ही कोई नवीन अवस्था हो ।

उत्पादध्वंसौ वा द्वावपि न स्तो विनापि तद्ध्रौव्यम् ।
भावस्याऽभावस्य च वस्तुत्वे सति तदाश्रयत्वाद्वा ॥२५३॥

अर्थः—अथवा बिना ध्रौव्यके उत्पाद, व्यय भी नही हो सकते, क्योकि वस्तुकी सत्ता होने पर ही उसके आश्रयसे भाव और अभाव (उत्पाद और व्यय) रह सकते है ।

अपि च ध्रौव्यं न स्यादुत्पादव्ययद्वयं विना नियमात् ।
यदिह विशेषाभावे सामान्यस्य च सतोऽप्यभावत्वात् ॥२५४॥

अर्थः—अथवा विना उत्पाद और व्यय दोनोके ध्रौव्य भी नियमसे नही रह सकता है, क्योंकि विशेषके अभावमे सामान्य सत्का भी अभाव ही है ।

भावार्थः—वस्तु *सामान्य विशेषात्मक है । विना —सामान्यके विशेष नही हो सकता, और विना विशेषके सामान्य भी नही हो सकता । उत्पाद, व्यय विशेष है, ध्रौव्य सामान्य है । इसलिये विना उत्पाद, व्यय विशेषके ध्रौव्य सामान्य नही बन सकता है और इसीप्रकार विना ध्रौव्य सामान्यके उत्पाद व्यय विशेष भी नही बन सकते है ।

सारांश

एवं चोत्पादादित्रयस्य साधीयसी व्यवस्थेह ।
नैवान्यथाऽन्यनिह्नववदतः स्वस्यापि घातकत्वाच्च ॥२५५॥

अर्थः—इसप्रकार वस्तुमे उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यकी व्यवस्था घटित करना चाहिये । अन्य किसी प्रकार उनकी व्यवस्था नही घटित की जा सकती है । क्योकि दूसरेका विघात करनेसे अपना ही विघात हो जाता है ।

भावार्थः—ऊपर कही हुई व्यवस्था ही ठीक व्यवस्था है और तीनोको एक साथ माननेसे ही यह व्यवस्था बन सकती है तीनोमेसे किसी एकका अथवा दोका अभाव माननेसे बाकीके दो अथवा एक भी नही ठहर सकता है ।

केवल उत्पादके माननेमें दोष

अथ तद्यथा हि सर्गं केवलमेकं हि मृगयमाणस्य ।
असदुत्पादो वा स्यादुत्पादो वा न कारणाभावात् ॥२५६॥

अर्थः—जो केवल एक उत्पादको ही मानता है उसके मतमे असत्का उत्पाद होने लगेगा, अथवा कारणका अभाव होनेसे उत्पाद ही न होगा ।

केवल व्ययके माननेमें दोष

अप्यथ लोकयतः किल संहारं सर्गपक्षनिरपेक्षम् ।
भवति निरन्वयनाशः सतो न नाशोऽथवाप्यहेतुत्वात् ॥२५७॥

---

* सामान्य विशेषात्मा तदर्थोविषयः ।

— निर्विशेषं हि सामान्यं भवेच्छशविषाणवत् । निस्सामान्यं विशेषश्च भवेच्छशविषाणवत् ॥

अर्थः—उत्पादपक्षनिरपेक्ष केवल व्ययको ही जो मानता है, उसके यहाँ सत्का निरन्वय सर्वथा नाश हो जायगा। अथवा विना कारण उसका नाश भी नही हो सकता।

केवल ध्रौव्यके माननेमें दोष

अथ च ध्रौव्यं केवलमेकं किल पक्षमध्यवसतश्च ।
द्रव्यमपरिणामि स्यात्तदपरिणामाच्च नापि तद्ध्रौव्यम् ॥२५८॥

अर्थः—इसीप्रकार जो उत्पादव्ययनिरपेक्ष केवल ध्रौव्य पक्षको ही स्वीकार करते है, उनके मतमे द्रव्य अपरिणामी ठहरेगा और द्रव्यके अपरिणामी होनेसे उसके ध्रौव्य भी नही बन सकता है।

ध्रौव्य निरपेक्ष उत्पाद व्ययके माननेमे दोष

अथ च ध्रौव्योपेक्षितमुत्पादादिद्वयं प्रमाणयतः ।
सर्वं क्षणिकमिवैतत् सदभावे वा व्ययो न सर्गश्च ॥२५९॥

अर्थः—ध्रौव्य निरपेक्ष केवल उत्पाद और व्यय इन दोको ही जो प्रमाणभूत मानता है, उसके यहाँ सभी क्षणिककी तरह हो जायगा। अथवा सत् पदार्थके अभावमें न तो व्यय ही बन सकता है और न उत्पाद ही बन सकता है।

साराश

एतद्दोषभयादिह प्रकृतं चास्तिक्यमिच्छता पुंसा ।
उत्पादादीनामयमविनाभावोऽवगन्तव्यः ॥२६०॥

अर्थः—ऊपर कहे हुए दोषोके भयसे आस्तिक्यके चाहनेवाले पुरुषको प्रकृतमे उत्पाद आदिक तीनोका ही अविनाभाव मानना चाहिये।

भावार्थः—तीनो एक साथ परस्पर सापेक्ष हैं, यही निर्दोष सिद्ध है।

नयी प्रतिज्ञा

उक्तं गुणपर्ययवद्द्रव्यं यत्तद्व्ययादियुक्तं सत् ।
अथ वस्तुस्थितिरिह किल वाच्याऽनेकान्तबोधशुद्ध्यर्थम् ॥२६१॥

अर्थः—द्रव्य गुणपर्यायका समूह है और वह उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यवाला है, यह वात तो कही जा चुकी। अब अनेकान्त (स्याद्वाद)का वोध होनेके लिये वस्तुका विचार करते है—

अनेकान्त चतुष्टय

स्यादस्ति च नास्तीति च नित्यमनित्यं त्वनेकमेकं च ।
तदतच्चेति चतुष्टययुग्मैरिव गुम्फितं वस्तु ॥२६२॥

अर्थः—स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति, स्यात् नित्य, स्यात् अनित्य, स्यात् एक, स्यात् अनेक, स्यात् तत्, स्यात् अतत्, इसप्रकार इन चार युगलोंकी तरह वस्तु अनेक धर्मोंसे गुंथी हुई है ।

चतुष्टय होनेमें कारण

अथ तद्यथा यदस्ति हि तदेव नास्तीति तच्चतुष्कं च ।
द्रव्येण क्षेत्रेण च कालेन तथाथ वाऽपि भावेन ॥२६३॥

अर्थः—उसीका खुलासा करते हैं कि जो कथंचित् (किसी स्वरूपसे) है वही कथंचित् नहीं भी है । इसीप्रकार जो कथंचित् नित्य है वही कथंचित् अनित्य भी है । जो कथंचित् एक है वही कथंचित् अनेक भी है । जो कथंचित् वही है, वह कथंचित् वह नहीं भी है । इसप्रकार ये चारों ही कथंचित् वाद (स्याद्वाद) द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षासे होते हैं ।

द्रव्यकी अपेक्षासे कथन

एका हि महासत्ता सत्ता वा स्यादवान्तराख्या च ।
न पृथक्प्रदेशवत्त्वं स्वरूपभेदोपि नानयोरेव ॥२६४॥

अर्थः—एक तो महासत्ता है । दूसरी अवान्तर सत्ता है । इन* दोनों सत्ताओंके वस्तुसे भिन्न प्रदेश नहीं हैं अर्थात् सत्ता स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है तथा दोनोंमें स्वरूप भेद भी नहीं है । दोनोंका एक ही स्वरूप है केवल अपेक्षा-कथन भेद है ।

महासत्ताका स्वरूप

किन्तु सदित्यभिधानं यत्स्यात्सर्वार्थसार्थसंस्पर्शि ।
सामान्यग्राहकत्वात् प्रोक्ता सन्मात्रतो महासत्ता ॥२६५॥

अर्थः—किन्तु जो सत् सम्पूर्ण पदार्थोंके समूहको स्पर्श करनेवाला है उसे ही महासत्ताके नामसे कहते हैं । वह सामान्यका ग्रहण करनेवाला है और उसहीकी अपेक्षासे

* इन दोनों सत्ताओंका स्वरूप विशद रीतिसे पहले भी कहा जा चुका है । और उत्तरार्धके प्रारम्भमें भी कहा गया है ।

वस्तु-सन्मात्र है। अर्थ नाम गुणका भी है अत एक वस्तुमें अनन्त गुण है उन सबोंको जो स्पर्श करनेवाला है वह सत् महासत्ताके नामसे भी कहा जाता है।

भावार्थः—हरएक पदार्थका अस्तित्व गुण जुदा-जुदा है, उसी अस्तित्व गुणको 'सत्' इस नामसे भी कहते हैं, क्योंकि उसीसे वस्तुकी सत्ता कायम रहती है। वह सत्गुण समान रीतिसे सब वस्तुओमे एक सरीखा है। एक सरीखा होनेसे ही उसे एक भी कह देते है और उसीका नाम महासत्ता रखते है। वास्तवमे 'महासत्ता' नामक कोई एक पदार्थ नही है। केवल समानताको अपेक्षासे इसको एकत्व सज्ञा मिली है।

अवान्तर सत्ताका स्वरूप

अपिऽचावान्तरसत्ता सद्द्रव्यं सनगुणश्च पर्यायः।
सच्चोत्पादध्वंसः सदिति ध्रौव्यं किलेति विस्तारः ॥२६६॥

अर्थः—अवान्तर सत्ता हरएककी जुदी जुदी है। वह भिन्न २ रीतिसे ही कही जाती है। जैसे—सत्द्रव्य, सत्गुण, सत्पर्याय, सत्उत्पाद, सत्ध्वस, सत्ध्रौव्य इसप्रकार और भी लगा लेना चाहिये।

भावार्थः—सब जगह व्याप कर रहनेवाली सत्ताको महासत्ता कहते है और उस महासत्ताकी अपेक्षा जो थोडी जगहमे रहती है उसे अवान्तर सत्ता कहते है महासत्ता सामान्य रीतिसे सब द्रव्य गुणोमे रहती है इसलिये उसकी अपेक्षासे पर्यायोमे भेद नही है, किन्तु सभी एक कहलाते है। परन्तु अवान्तर सत्ता सब पदार्थोमे भेद करती है। जैसे—महासत्ताकी अपेक्षा द्रव्य, गुण, पर्याय आदि सभी सत्रूप कहलाते है, वैसे ही अवान्तर सत्ताकी अपेक्षा भिन्न २ कहलाते है। अवान्तर सत्ताकी अपेक्षासे द्रव्यका सत् जुदा है, गुणका जुदा है और पर्यायका जुदा है। द्रव्यमे भी घडीका सत् जुदा है, टेबिलका जुदा है तथा कुर्सीका जुदा है। गुणोमे भी ज्ञानका जुदा है दर्शनका जुदा है और सुखका जुदा है। पर्यायोमे भी वर्तमान पर्यायका जुदा है भूत पर्यायका जुदा है और भविष्यत्का जुदा है। इसप्रकार अवान्तर सत्ताके अनेक भेद होते है।

अस्ति नास्ति कथन

अयमर्थो वस्तु यदा सदिति महासत्तयावधार्येत।
स्याचदवान्तरसत्तारूपेणाभाव एव नतु मूलात् ॥२६७॥

अर्थः—द्रव्यकी अपेक्षा स्यात् अस्ति और स्यात् नास्तिका अर्थ यह है कि वस्तु जिससमय महासत्ताकी अपेक्षासे कथञ्चित् है, उससमय अवान्तर सत्ताकी अपेक्षासे वह

कथंचित् नही भी है। वस्तुमे अवान्तर सत्ताकी अपेक्षासे ही अभाव आता है। वास्तवमे वह अभावात्मक नही है।

अपि चाऽवान्तरसत्तारूपेण यदावधार्यते वस्तु।
अपरेण महासत्तारूपेणाभाव एव भवति तदा ॥२६८॥

अर्थः—इसीप्रकार जिससमय अवान्तर सत्ताकी अपेक्षासे वस्तु कही जाती है, उससमय उसकी अपेक्षासे तो वह कथंचित् है। परन्तु प्रतिपक्षी महासत्ताकी अपेक्षासे कथंचित नही भी है।

भावार्थः—वास्तवमे वस्तु तो जैसी है, वह वैसी ही है। उसमेसे न तो कुछ कभी जाता है और न उसमे कुछ कभी आता है। केवल कथन शैलीसे उसमे भेद हो जाता है। जिससमय वस्तुको महासत्ताकी दृष्टिसे देखते है, उससमय वह सत्रूप ही दीखती है। उससमय वह द्रव्य नही कही जा सकती, गुण भी नही कही जा सकती, और पर्याय भी नही कही जा सकती। इसलिये उससमय यह कहा जा सकता है कि वस्तु सत् रूपसे तो है, परन्तु वह द्रव्य, गुण, पर्याय आदि रूपसे नही है। इसीप्रकार जिससमय अवान्तर सत्ताकी दृष्टिसे वस्तु देखी जाती है उससमय वह द्रव्य अथवा पर्याय आदि विशेष सत् रूपसे तो है, परन्तु सामान्य सत् रूपसे नही है। इसप्रकार वस्तुमे कथंचित् अस्तित्व और कथंचित् नास्तित्व सुघटित होता है। वस्तुमे नास्तित्व केवल अपेक्षा दृष्टिसे ही आता है। वास्तवमे वस्तु अभाव स्वरूप नही है।

दृष्टान्त

दृष्टान्तः स्पष्टोऽयं यथा पटो द्रव्यमस्ति नास्तीति।
पटशुक्लत्वादीनामन्यतमस्याविवक्षितत्वाच्च ॥२६९॥

अर्थः—कथंचित् अस्तित्व और कथंचित् नास्तित्वका दृष्टान्त भी स्पष्ट ही है कि जिसप्रकार पट (वस्त्र) द्रव्य पटकी अपेक्षासे तो है परन्तु वही पट द्रव्य पटके शुक्लादि गुणोकी अविवक्षाकी अपेक्षासे नही है।

भावार्थः—शुक्लादि गुणोका समूह ही पट कहलाता है। जिससमय पटको मुख्य रीतिसे कहते है उससमय उसके गुण नहीके बराबर समझे जाते है और जिससमय शुक्लादि गुणोको मुख्य रीतिसे कहते है, उससमय पट भी नही के बराबर समझा जाता है। कहनेकी अपेक्षासे ही वस्तुमे मुख्य और गौणकी व्यवस्था होती है, तथा

उसी व्यवस्थासे वस्तुमें कथंचित् अस्तिवाद और कथंचित् नास्तिवाद आता है इसीका नाम स्याद्वाद है ।

क्षेत्रकी अपेक्षासे अस्ति नास्ति कथन

क्षेत्रं द्विधावधानात् सामान्यमथ च विशे त्रं स्यात् ।
तत्र प्रदेशमात्रं प्रथमं प्रथमेतरं तदंशमयम् ॥२७०॥

अर्थः—वस्तुका क्षेत्र भी दो प्रकारसे कहा जाता है। एक सामान्य, दूसरा विशेष। वस्तुके जितने प्रदेश है उन प्रदेशोके समुदायात्मक देशको तो सामान्य क्षेत्र कहते हैं और उसके अंशोको विशेष क्षेत्र कहते हैं।

अथ केवलं प्रदेशात् प्रदेशमात्रं यदेष्यते वस्तु ।
अस्ति स्वक्षेत्रतया तदंशमात्राऽविवक्षितत्वान्न ॥२७१॥

अर्थः—जिससमय केवल प्रदेशोके समुदायकी अपेक्षासे देशरूप वस्तु कही जाती है उससमय वह देशरूप स्वक्षेत्रकी अपेक्षासे तो है परन्तु उस देशके अंशोंकी अविवक्षा होनेसे अंशोंकी अपेक्षासे नही है।

अथ केवलं तदंशाचावन्मात्राद्यदेष्यते वस्तु ।
अस्त्यंशविवक्षितया नास्ति च देशाविवक्षितत्वाच्च ॥२७२॥

अर्थः—अथवा जिससमय केवल देशके अंशोकी अपेक्षासे वस्तु कही जाती है उससमय वह अंशोंकी अपेक्षासे तो है, परन्तु देशकी विवक्षा न होनेसे देशकी अपेक्षासे नही है।

दृष्टान्त

संदृष्टिःपटदेशः क्षेत्रस्थानीय एव नास्त्यस्ति ।
शुक्लादितन्तुमात्रादन्यतरस्याविवक्षितत्त्वाद्वा ॥२७३॥

अर्थः—क्षेत्रके लिये दृष्टान्त पट रूप देश है। वह शुक्लादिस्वभाव–तन्तु समुदायकी अपेक्षासे तथा भिन्न भिन्न अंशोकी अपेक्षासे कथचित् अस्ति नास्ति रूप है। जिससमय जिसकी विवक्षा (कहनेकी इच्छा) की जाती है वह तो उससमय मुख्य होनेसे अस्ति रूप है और इतर अविवक्षित होनेसे उससमय गौण है इसलिये वह नास्तिरूप है। इसप्रकार क्षेत्रकी अपेक्षासे कथचित् अस्तित्व और नास्तित्व समझना चाहिये।

कालकी अपेक्षासे अस्ति नास्ति कथन

लो वर्तनमिति वा परिणमनं वस्तुनः स्वभावेन ।
सोपि पूर्ववद्द्वयमिह सामान्यविशेषरूपत्वात् ॥२७४॥

अर्थः—काल नाम वर्तनका है। अथवा वस्तुका स्वभावसे *परिणमन होनेका है। वह काल भी पहलेकी तरह सामान्य और विशेष रूपसे दो प्रकार है।

कालका सामान्य और विशेष रूप

सामान्यं विधिरूपं प्रतिषेधात्मा भवति विशेषश्च ।
उभयोरन्यतरस्यात्रमग्नोन्मग्नत्वादस्ति नास्तीति ॥२७५॥

अर्थः—सामान्य विधिरूप है, विशेष प्रतिषेधरूप है। उन दोनोमेसे किसी एकके विवक्षित और अविवक्षित होनेसे अस्तित्व और नास्तित्व आता है।

विधि और प्रतिषेधका स्वरूप

तत्र निरंशो विधिरिति स यथा स्वयं सदेवेति ।
तदिह विभज्य विभागैः प्रतिषेधश्चांशकल्पनं तस्य ॥२७६॥

अर्थः—अश कल्पना रहित–निरश परिणमनको विधि कहते है। जैसे–स्वयं सत्का परिणमन। सत् सामान्यमे अश कल्पना नही है किन्तु उसका सामान्य परिणमन है। और उसी सत्की भिन्न २ विभाजित–अश–कल्पनाको प्रतिषेध कहते है।

*आत्मना वर्तमानानां द्रव्याणां निजपर्ययैः ।
वर्तनाकरणात्कालो भजते हेतुकर्तृताम् ॥१॥
एकैकवृत्या प्रत्येकमणवस्तस्य निःक्रियाः ।
लोकाकाशप्रदेशेपु रत्नराशिरिवस्थिताः ॥२॥
व्यावहारि लस्य परिणामस्तथा क्रिया ।
परत्वं चाऽपरत्वञ्च लिङ्गान्याहुर्महर्षयः ॥३॥

तत्त्वार्थसार ।

अर्थात्—अपनी निज पर्यायों द्वारा परिणमन करनेवाले सम्पूर्ण द्रव्योंमें काल उदासीन कारण है इसीलिये उसे द्रव्योंके परिवर्तनमें हेतुरूप कर्ता कहा गया है। काल द्रव्यके दो भेद हैं एक निश्चय, दूसरा व्यवहार। निश्चय यथार्थ काल है, वह असख्यात है और एक एक काल द्रव्य प्रत्येक लोकके प्रदेशमें रत्नोंकी राशिकी तरह निष्क्रिय रूपसे ठहरा हुआ है। व्यवहार काल काल्पनिक है और परिणाम, क्रिया, परत्व, अपरत्व आदि उसके चिह्न हैं।

भावार्थः—सामान्य परिणमनकी अपेक्षासे वस्तुमें किसी प्रकारका भेद नहीं होता है परन्तु विशेष २ परिणमनकी अपेक्षासे वही एक निरंशरूप वस्तु अनेक भेदवाली हो जाती है। और वस्तुमे होनेवाले अशरूप भेद ही प्रतिषेधरूप है।

उदाहरण

तदुदाहरणं सम्प्रति परिणमनं सत्तयावधार्येत।
अस्ति विवक्षितत्त्वादिह नास्त्यंशस्याऽविवक्षया तदिह ॥२७७॥

अर्थः—प्रकृतमें उदाहरण इसप्रकार है कि जिससमय वस्तुमे भेद विवक्षा रहित सत्ता सामान्यके परिणमनकी विवक्षा की जाती है, उससमय वह सामान्य रूप–स्व–कालकी अपेक्षासे तो है, परन्तु अशोकी विवक्षा न होनेसे विशेषरूप–परकालकी अपेक्षासे वह नही है।

दृष्टान्त

संदृष्टिः पटपरिणतिमात्रं कालायतस्वकालतया।
अस्ति च तावन्मात्रान्नास्ति पटस्तन्तुशुक्लरूपतया ॥२७८॥

अर्थः—दृष्टान्तके लिये पट है। सामान्य परिणमनको धारण करनेवाला पट, सामान्य स्वकालकी अपेक्षासे तो है, परन्तु वही पट तन्तु और शुक्लरूप विशेष परिणमन (परकाल)की अपेक्षासे नही है।

भावकी अपेक्षासे अस्ति नास्ति कथन

भावः परिणामः किल स चैव तत्त्वस्वरूपनिष्पत्तिः।
अथवा शक्तिसमूहो यदि वा सर्वस्वसारः स्यात् ॥२७९॥

अर्थः—भाव नाम परिणामका है और वही तत्त्वके स्वरूपकी प्राप्ति है, अथवा शक्तियोके समूहका नाम भी भाव है, अथवा वस्तुके सारका नाम ही भाव है।

स विभक्तो द्विविधः स्यात्सामान्यात्मा विशेषरूपश्च।
तत्र विवक्ष्यो मुख्यः स्यात्स्वभावोऽथ गुणोहि परभावः ॥२८०॥

अर्थः—वह भाव भी सामान्यात्मक और विशेषात्मक ऐसे दो भेदवाला है। उन दोनोमे जो भाव विवक्षित होता है वह मुख्य हो जाता है और जो अविवक्षित भाव है वह गोण हो जाता है।

भावका सामान्य और विशेष रूप

सामान्यं विधिरेव हि शुद्धः प्रतिषेधकश्च निरपेक्षः।
प्रतिषेधो हि विशेषः प्रतिषेध्यः सांशकश्च सापेक्षः ॥२८१॥

अर्थः—सामान्य विधिरूप ही है। वह शुद्ध है, प्रतिषेधक है और निरपेक्ष है। विशेष प्रतिषेध रूप है, प्रतिषेध्य है अंश सहित है और सापेक्ष है।

इसीका स्पष्ट अर्थ

अयमर्थो वस्तुतया सत्सामान्यं निरंशकं यावत् ।
भक्तं तदिह विकल्पैर्द्रव्याद्यैरुच्यते विशेषश्च ॥२८२॥

अर्थः—ऊपरके श्लोकका खुलासा अर्थ यह है कि सत् (पदार्थ) जबतक अपनी वस्तुतामें सामान्यरीतिसे स्थिर है, और जबतक उसमे भेद कल्पना नही की जाती है तबतक तो वह सत् शुद्ध अखण्ड है, और जब वह द्रव्य, गुण, पर्याय आदि भेदोंसे विभाजित किया जाता है, तब वही सत् विशेष—खण्डरूप कहलाता है।

भावार्थः—वस्तुमे जबतक भेद बुद्धि नही होती है तबतक वह शुद्ध द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे शुद्ध है, और उसी अवस्थामे वह निरपेक्ष है। परन्तु जब उसमें अशुद्ध द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे भेद कल्पना की जाती है, तब वह वस्तु परस्पर सापेक्ष हो जाती है और उसी अवस्थामें वह प्रतिषेध्य भी है। जो सतत अन्वय रूपसे रहने वाली हो उसे विधि कहते हैं और जो व्यतिरेक रूपसे रहे उसे प्रतिषेध्य कहते हैं। वस्तु सामान्य अवस्थामें ही सतत अन्वय रूपसे रह सकती है, परन्तु भेद विवक्षामें वह व्यतिरेकरूप धारण करती है। इसीलिये सत् सामान्यको विधिरूप और सत् विशेषको प्रतिषेध रूप कहा गया है। वस्तुकी विशेष अवस्थामे ही प्रतिषेध कल्पना की जाती है।

सारांश

तस्मादिदमनवद्यं सर्वं सामान्यतो यदाप्यस्ति ।
शेषविशेषविवक्षाभावादिह तदैव तन्नास्ति ॥२८३॥

अर्थः—इसीलिये यह बात निर्दोष रीतिसे सिद्ध हो चुकी कि सम्पूर्ण पदार्थ जिससमय सामान्यतासे विवक्षित किये जाते हैं उससमय वे सामान्यतासे तो हैं, परन्तु शेष—विशेष विवक्षाका अभाव होनेसे वे नही भी हैं।

अथवा

यदि वा सर्वमिदं यद्विवक्षितत्वाद्विशेषतोऽस्ति यदा ।
अविवक्षितसामान्यात्तदैव तन्नास्ति नययोगात् ॥२८४॥

अर्थः—अथवा सम्पूर्ण पदार्थ जिससमय विशेषतामे विवक्षित किये जाते हैं, उससमय वे उसकी अपेक्षासे तो हैं, परन्तु उससमय सामान्य विवक्षाका उनमे अभाव होनेसे सामान्य दृष्टिसे वे नही भी हैं।

स्वभाव और परभावका कथन

तत्र विवक्ष्यो भावः केवलमस्ति स्वभावमात्रतया ।
अविवक्षितपरभावाभावतया नास्ति सममेव ॥२८५॥

अर्थः—वस्तुके सामान्य और विशेष भावोमें जो भाव विवक्षित होता है, वही केवल वस्तुका स्व–भाव समझा जाता है, और उसी स्वभावकी अपेक्षासे वस्तुमें अस्तित्व आता है। परन्तु जो भाव अविवक्षित होता है, वही पर–भाव कहलाता है। जिससमय स्वभावकी विवक्षा की जाती है, उससमय परभावकी विवक्षा न होनेसे उसका वस्तुमें अभाव समझा जाता है। इसलिये परभावकी अपेक्षासे वस्तुमें नास्तित्व आता है। अस्तित्व और नास्तित्व दोनो एक कालमे ही वस्तुमें घटित होते है।

सर्वत्र होनेवाला नियम

सर्वत्र क्रम एष द्रव्ये क्षेत्रे तथाऽथ काले च ।
अनुलोमप्रतिलोमैरस्तीति विवक्षितो मुख्यः ॥२८६॥

अर्थः—सर्वत्र यही (ऊपर कहा हुआ) क्रम लगा लेना चाहिये अर्थात् द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव, चारों ही जगह अनुकूलता और प्रतिकूलताके अनुसार विवक्षित भाव है वही मुख्य समझा जाता है। यहाँ पर "च" से भावका ग्रहण किया गया है।

दृष्टान्त

संदृष्टिः पटभावः पटसारो वा पटस्य निष्पत्तिः ।
अस्त्यात्मना च तदितरघटादिभावाऽविवक्षया नास्ति ॥२८७॥

अर्थः—पटका भाव, पटका सार, पटके स्वरूपकी प्राप्ति, ये तीनो ही बाते एक अर्थवाली है। पटका भाव अपने स्वरूपकी अपेक्षासे है परन्तु उसके इतर घट आदि भावोकी अविवक्षा होनेसे वह नही है। क्योकि विवक्षित भावको छोड़कर बाकी सभी भाव अविवक्षित है।

बाकीके पॉच भङ्गोंके लानेका सकेत

अपि चैवं प्रक्रियया नेतव्याः पञ्चशेषभङ्गाश्च ।
वर्णवदुक्तद्वयमिह पटवच्छेषास्तु तद्योगात् ॥२८८॥

अर्थः—इसी प्रक्रियाके अनुसार बाकीके पाँच भङ्ग भी वस्तुमे घटित कर लेना चाहिये। 'स्यात् अस्ति' और 'स्यात् नास्ति' ये दो भङ्ग वर्णकी तरह कह दिये गये है। बाकीके भङ्ग पटकी तरह उन्ही दो भङ्गोके योगसे घटित करना चाहिये।

भावार्थः—जिसप्रकार पकार और टकार इन दो अक्षरोंके योगसे पट शब्द बन जाता है, इसीप्रकार और भी अक्षरोंके योगसे वाक्य तथा पद बन जाते हैं। इसीप्रकार 'स्यात् अस्ति' और स्यान्नास्ति इन दो भङ्गोंके योगसे बाकीके पाँच भङ्ग भी बन जाते हैं। वस्तुमें, स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल, और स्वभावकी अपेक्षासे अस्तित्व और परद्रव्य, परक्षेत्र परकाल और परभावकी अपेक्षासे नास्तित्व अथवा विवक्षित भावकी अपेक्षासे अस्तित्व और अविवक्षित भावकी अपेक्षासे नास्तित्व, ऐसे दो भग तो ऊपर स्पष्टतासे कहे ही गये हैं। वे दोनों तो स्वरूप और पररूपकी अपेक्षासे स्वतन्त्र कहे गये हैं। यदि इन्हीं दोनोंको स्वरूप और पररूपकी अपेक्षासे एकवार ही क्रमसे कहा जाय तो तीसरा भंग 'स्यात् अस्ति नास्ति' हो जाता है। परन्तु यदि इन्हीं दोनोंको स्वरूप, पररूपकी विवक्षा रखते हुए क्रमको छोड़कर एक साथ ही कहा जाय तो 'स्यात् अस्ति नास्ति'का मिला हुआ चौथा 'अवक्तव्य' भंग हो जाता है। तीसरे भंगमें तो एकवार कहते हुए भी क्रम रक्खा गया था। इसलिये वचन द्वारा क्रमसे 'स्यात् अस्ति नास्ति' कहा जाता है परन्तु यदि एकवार कहते हुए क्रम न रखकर दोनोंका एक साथ ही कथन किया जाय तो वह कथन वचनमें नहीं आ सकता है, क्योंकि वचन द्वारा एकवार एक ही बात कही जा सकती है, दो नहीं, इसलिये दोनोंका मिला हुआ चौथा 'अवक्तव्य' भंग कहलाता है। और यदि स्वरूप, पररूप दोनोंको एक साथ विवक्षित किये हुए इस अवक्तव्य भंगमें फिर स्वभावकी मुख्य विवक्षा की जाय तो पाँचवां "स्यात् अस्ति अवक्तव्य" भंग हो जाता है। और इसी अवक्तव्यमें यदि स्वभावको गौण और परभावको मुख्य रीतिसे विवक्षित किया जाय तो छठा 'स्यान्नास्ति अवक्तव्य' भग हो जाता है। इसीप्रकार इस अवक्तव्यमें स्वभाव और परभाव दोनोंकी क्रमसे एकवार ही मुख्य विवक्षा रक्खी जाय तो सातवाँ 'स्यात् अस्ति नास्ति अवक्तव्य' भंग हो जाता है।*

---

* यदि यहाँ पर कोई यह शंका करे कि जिसप्रकार अस्ति नास्तिको एकवार ही क्रमसे रखनेपर तीसरा और अक्रमसे रखनेपर चौथा भंग हो जाता है, इसीप्रकार अवक्तव्यके साथ भी एकवार ही अस्ति नास्तिको क्रमसे विवक्षित रखनेपर सातवाँ और अक्रमसे विवक्षित रखनेपर आठवाँ भग क्यों नहीं हो जाता? इसका उत्तर यही है ऐसा करनेसे आठवाँ भंग 'अवक्तव्य—अवक्तव्य' होगा, और वह अवक्तव्य सामान्यमें गर्भित होनेसे अवक्तव्य मात्र रहता है। इसलिये कुल सात ही भंग हो सकते हैं। अधिक नहीं हो सकते। क्योंकि वचन द्वारा कथन शैली सात ही प्रकार हो सकती है क्योंकि वस्तुधर्मके सात भेद होनेसे संशय भी सात ही हो सकते हैं और उनको दूर करनेकी जिज्ञासा भी सात ही प्रकार हो सकती है। इसीप्रकार प्रथम द्वितीय चतुर्थ भंगोंके परस्परमें दो दो तीन तीनके संयोगसे और तृतीय पञ्चम षष्ठ सप्तम भंगोंके परस्पर दो २ तीन २ चार २ के संयोगसे जो भंग होते हैं वे सब इन्हीं सातोंमें गर्भित हैं। "प्रश्नवशादेकत्र वस्तुन्यविरोधेन विधिप्रतिषेधकल्पना सप्तभङ्गी" यह सप्तभङ्गीका लक्षण है।

अष्टसहस्री

ये सातों ही भंग स्वभाव, परभावकी मुख्यता और गौणतासे होनेवाले स्यात् अस्ति, और स्यान्नास्ति इन्ही दोनोके विशेष है, इसलिये ग्रन्थकारनें इन्ही दोनोका स्वरूप दिखला कर बाकीके भंगोंको निकालनेके लिये सकेत कर दिया है।

शंकाकार

ननु चान्यतरेण कृतं किमथ प्रायः प्रयासभारेण।
अपि गौरवप्रसंगादनुपादेयाच्च वाग्विलसितत्वात् ॥२८९॥
अस्तीति च वक्तव्यं यदि वा नास्तीति तत्त्वसंसिद्ध्यै।
नोपादानं पृथगिह युक्तं तदनर्थकादिति चेत् ॥२९०॥

अर्थः—अस्ति नास्ति दोनोमेसे एक ही कहना चाहिये उसीसे काम चल जायगा, व्यर्थके प्रयास (कष्ट)से क्या प्रयोजन है। इसके सिवाय दोनो कहनेसे उल्टा गौरव होता है, तथा वचनोंका आधिक्य होनेसे उसमें ग्राह्यता भी नही रहती है। इसलिये तत्त्वकी भले प्रकार सिद्धिके लिये या तो केवल 'अस्ति' ही कहना ठीक है, अथवा केवल 'नास्ति' कहना ही ठीक है। दोनोंका अलग २ ग्रहण करना युक्तिसंगत नही है, दोनोंका ग्रहण व्यर्थ ही पड़ता है ?

उत्तर

तन्न यतः सर्वं स्वं तदुभयभावाध्यवसितमेवेति।
अन्यतरस्य विलोपे तदितरभावस्य निह्नवापत्तेः ॥२९१॥

अर्थः—उपर्युक्त शका ठीक नही है, क्योकि सम्पूर्ण पदार्थ 'अस्ति नास्ति' स्वरूप उभय (दोनो) भावोको लिये हुए है। यदि इन दोनो भावोमेसे किसी एकका भी लोप कर दिया जाय, तो बाकीका दूसरा भाव भी लुप्त हो जायगा।

स यथा केवलमन्वयमात्रं वस्तु प्रतीयमानोपि।
व्यतिरेकाभावे किल कथमन्वयसाधकश्च स्यात् ॥२९२॥

अर्थः—यदि केवल 'अस्ति' रूप वस्तुको माना जावे तो वह सदा अन्वयमात्र ही प्रतीत होगी, व्यतिरेकरूप नही होगी और विना व्यतिरेकभावके स्वीकार किये वह अन्वयकी साधक भी नही रहेगी।

भावार्थः—वस्तुमे एक अनुगत प्रतीति होती है, और दूसरी व्यावृत्त प्रतीति होती है। जो वस्तुमे सदा एकसा ही भाव जताती रहे उसे अनुगत प्रतीति अथवा अन्वयभाव कहते हैं और जो वस्तुमे अवस्था भेदको प्रगट करे उसे व्यावृत्त प्रतीति अथवा व्यतिरेक

कहते है। वस्तुका पूर्ण स्वरूप दोनों *भावोको मिलकर ही होता है। इसीलिये दोनों परस्पर सापेक्ष है। यदि इन दोनोमेसे एकको भी न माना जाय तो दूसरा भी नही ठहर सकता है। फिर ऐसी अवस्थामे वस्तु भी अपनी सत्ता नही रख सकती है। इसलिये अस्ति नास्तिरूप, अन्वय और व्यतिरेक दोनो ही वस्तुमे एक साथ मानना ठीक है।

शङ्काकार

ननु का नो हानिः स्यादस्तु व्यतिरेक एव तद्वदपि।
किन्त्वन्वयो यथाऽस्ति व्यतिरेकोप्यस्ति चिदचिदिव ॥२९३॥
यदि वा स्यान्मतं ते व्यतिरेके नान्वयः कदाप्यस्ति।
न तथा पक्षच्युतिरिह व्यतिरेकोप्यन्वये यतो न स्यात् ॥२९४॥
तस्मादिदमनवद्यं केवलमयमन्वयो यथास्ति ।
व्यतिरेकोस्त्यविशेषादेकोक्त्या चैकशः समानतया ॥२९५॥
दृष्टान्तोप्यस्ति घटो यथा तथा स्वस्वरूपतोस्ति पटः।
न घटः पटेऽथ न पटो घटेपि भवतोऽथ घटपटाविह हि ॥२९६॥
न पटाभावो हि घटो न पटाभावे घटस्य निष्पत्तिः।
न घटाभावो हि पटः पटसर्गो वा घटव्ययादिति चेत् ॥२९७॥
तत्किं व्यतिरेकस्यभावेन विनाऽन्वयोपि नास्तीति।
अस्त्यन्वयः स्वरूपादिति वक्तुं शक्यते यतस्त्विति चेत् ॥२९८॥

* सामान्यविशेषाकारोल्लेख्यनुवृत्तप्रत्ययगोचरश्चाखिलो बाह्याध्यात्मिकप्रमेयोऽर्थः, न केवलमतो हेतो अनुवृत्तव्यावृत्तप्रत्ययगोचरत्वात् स तदात्मा, अपि तु पूर्वोत्तराकारपरिहारावाप्ति स्थितिलक्षण-परिणामेनाऽर्थक्रियोपपत्तेश्च। सामान्यविशेषयोर्बुद्धिभेदस्य प्रतीतिसिद्धत्वात् रूपरसोदस्तुल्यकालस्याऽभिन्नाश्रयवर्तिनोप्यतएव भेदप्रसिद्धेः। एकेन्द्रियाध्यवसेयत्वाज्जातिव्यक्तयोरभेदे वातातपादावप्यभेदप्रसङ्गः। सामान्यप्रतिभासो ह्यनुगताकारो विशेषप्रतिभासस्तु व्यावृत्ताकारोऽनुभूयते।

प्रमेयकमलमार्तण्ड

अर्थात् पदार्थ पूर्वाकारको छोड़ता है उत्तराकारको ग्रहण करता है और स्व-स्वरूपकी स्थिति रखता है, इसी त्रितयात्मकपरिणामसे पदार्थमें सामान्यविशेषात्मक अर्थक्रिया होती है। सामान्य, विशेषकी प्रतीति भी पदार्थमें होती है—रूप रसादिक यद्यपि अभिन्न काल तथा अभिन्न क्षेत्रवर्ती हैं तथापि उनकी भिन्न २ प्रतीति होती ही है। एकेन्द्रियादिक जीवोंमें जाति और व्यक्तिमें सर्वथा अभेद ही मान लिया जाय तो वात आतप आदिमें भी अभेदका प्रसङ्ग होगा। सामान्यका प्रतिभास अनुगतरूपसे होता है जैसे कि जातिका। विशेषका प्रतिभास व्यावृत्तरूपसे होता है जैसे कि व्यक्तिका।

अर्थः—शङ्काकार कहता है कि यदि व्यतिरेकके अभावमें अन्वय भी नही बनता, तो व्यतिरेक भी उसी तरह मानो, इसमें हमारी कौनसी हानि है ? किन्तु इतना अवश्य मानना चाहिये कि अन्वय स्वतन्त्र है, और व्यतिरेक स्वतंत्र है। वे दोनों ऐसे ही स्वतत्र हैं जैसे कि जीव और अजीव। यदि कदाचित् तुम्हारा ऐसा सिद्धान्त हो कि व्यतिरेकमें अन्वय कभी नही रहता है तो भी हमारे पक्षका खण्डन नही होता है, क्योंकि जिसप्रकार व्यतिरेकमे अन्वय नही रहता है, उसीप्रकार अन्वयमें व्यतिरेक भी नही रहता है। इसलिये यह बात निर्दोष सिद्ध है कि जिसप्रकार केवल अन्वय है, उसीप्रकार व्यतिरेक भी है सामान्य दृष्टिसे दोनों ही समान है। जैसे अन्वय कहा जाता है, वैसे ही व्यतिरेक भी कहा जाता है। दृष्टान्त भी इस विषयमे घट पटका ले लीजिये। जिसप्रकार घट अपने स्वरूपको लिये हुए जुदा है, उसीप्रकार अपने स्वरूपको लिये हुए पट भी जुदा है। पटमे घट नही रहता है, और न घटमें पट ही रहता है, किन्तु घट और पट दोनों जुदे २ है। जिसप्रकार पटका अभाव घट नही हैं, और न पटके अभावमें घटकी उत्पत्ति ही होती है। उसीप्रकार पट भी घटका अभाव नही है, और न घटके अभावसे पटकी उत्पत्ति ही होती है। ऐसी अवस्थामे आपका (ग्रन्थकारका) यह कहना कि व्यतिरेकके अभावमे अन्वय भी नही होता है, ठीक नही है, क्योकि घट पटकी तरह हम यह कह सकते हैं कि अन्वय अपने स्वरूपसे जुदा है और व्यतिरेक अपने स्वरूपसे जुदा है, ऐसी अवस्थामे बिना व्यतिरेकके भी अन्वय हो सकता है ?

भावार्थः—ऊपर कहे हुए कथनके अनुसार शङ्काकार अन्वयको स्वतन्त्र मानता है और व्यतिरेकको स्वतन्त्र मानता है। वस्तुको वह सापेक्ष उभय धर्मात्मक नही मानता है।

उत्तर

तन्न यतः सदिति स्यादद्वैतं द्वैतभावभागपि च।
तत्र विधौ विधिमात्रं तदिह निषेधे निषेधमात्रं स्यात् ॥२९९॥

अर्थः—शकाकारकी उपर्युक्त शका ठीक नही है। क्योकि सत् (द्रव्य) कथंचित् अद्वैत भी है, और कथञ्चित् द्वैत भी है। उन दोनोमे विधिके विवक्षित होनेपर वह सत् विधि मात्र है, और वही सत् निषेधके विवक्षित होनेपर निषेध मात्र है।

भावार्थः—पदार्थ सामान्य विशेषात्मक अथवा विधि निषेधात्मक है, जिससमय जो भाव विवक्षित किया जाता है, उससमय वह पदार्थ उसी भाव स्वरूप है।

है। इन दोनोंके सर्वथा भेदमें वस्तुकी वस्तुता ही चली जाती है। यदि वस्तुको उभयात्मक माना जाय तो प्रकृतकी सिद्धि हो जाती है।

सारांश

तस्माद्विधिरूपं वा निर्दिष्टं सन्निषेधरूपं वा।
संहृत्यान्यतरत्वादन्यतरे सन्निरूप्यते तदिह ॥३०३॥

अर्थः—जब यह बात सिद्ध हो चुकी कि पदार्थ विधि निषेधात्मक है, तब वह कभी विधिरूप कहा जाता है, और कभी निषेधरूप कहा जाता है।

दृष्टान्त

न्तोऽत्र पटत्वं यावन्निर्दिष्टमेव तन्तुतया।
तावन्न पटो नियमाद् दृश्यन्ते तन्तवस्तथाऽध्यक्षात् ॥३०४॥
यदि पुनरेव पटत्वं तदिह तथा दृश्यते न तन्तुतया।
अपि संगृह्य समन्तात् पटोयमिति दृश्यते सद्भिः ॥३०५॥

अर्थः—दृष्टान्तके लिये पट है। जिससमय पट तन्तुकी दृष्टिसे देखा जाता है, उससमय वह पट प्रतीत नहीं होता, किन्तु तन्तु ही दृष्टिगत होते हैं। यदि वही पट पटबुद्धिसे देखा जाता है, तो वह पट ही प्रतीत होता है, उससमय वह तन्तुरूप नहीं दीखता।

इत्यादिकाश्च बहवो विद्यन्ते पाक्षिका हि दृष्टान्ताः।
तेषामुभयाङ्गत्वान्नहि कोपि कदा विपक्षः स्यात् ॥३०६॥

अर्थः—पटकी तरह और भी अनेक ऐसे दृष्टान्त है, जो कि हमारे पक्षको पुष्ट करते है, वे सभी दृष्टान्त उभयपनेको सिद्ध करते है, इसलिये उनमेंसे कोई भी दृष्टान्त कभी हमारा (जैन दर्शनका) विपक्ष नहीं होने पाता है।

उपर्युक्त कथनका स्पष्ट अर्थ

अयमर्थो विधिरेव हि युक्तिवशात्स्यात्स्वयं निषेधात्मा।
अपि च निषेधस्तद्वद्विधिरूपः स्यात्स्वयं हि युक्तिवशात् ॥३०७॥

अर्थः—ऊपर कहे हुए कथनका खुलासा अर्थ यह है कि विधि ही युक्तिके वशसे स्वयं निषेधरूप हो जाती है। और जो निषेध है, वह भी युक्तिके वशसे स्वयं विधिरूप हो जाता है।

शङ्काकार

ननु तदतदोर्द्वयोरिह नित्यानित्यत्वयोर्द्वयोरेव ।
को भेदो भवति मिथो लक्षणलक्ष्यैकभेदभिन्नत्वात् ॥३११॥

अर्थः—तत् और अतत् इन दोनोमे तथा नित्य और अनित्य इन दोनोमें परस्पर क्या भेद है, क्योंकि दोनोका एक ही लक्षण है, और एक ही लक्ष्य है ?

भावार्थः—तत्का अर्थ है—वह, और अतत्का अर्थ है—वह नहीं, जो तत् और अतत्का अर्थ है वही नित्य और अनित्यका अर्थ है, फिर दोनोके कहनेकी क्या आवश्यकता है ?

उत्तर

नैवं यतो विशेषः समयात्परिणमति वा न नित्यादौ ।
तदतद्भावविचारे परिणामो विसदृशोऽथ सदृशो वा ॥३१२॥

अर्थः—उपर्युक्त शंका ठीक नही है क्योकि नित्य अनित्यमें और तद्भाव अतद्भावमें अवश्य भेद है। भेद भी यह है कि नित्य, अनित्य पक्षमें तो वस्तुके समय समयमें होनेवाले परिणमनका ही विचार होता है, वहाँ पर 'समान परिणाम है या असमान हैं, इसका विचार नही होता है, परन्तु तद्भाव, अतद्भाव पक्षमे यह विचार होता है कि जो वस्तुमें परिणमन हो रहा है, वह सदृश है अथवा विसदृश है।

शङ्काकार

ननु सन्नित्यमनित्यं कथंचिदेतावतैव तत्सिद्धिः ।
तत्किं तदतद्भावाभावविचारेण गौरवादिति चेत् ॥३१३॥

अर्थः—सत् कथचित् नित्य है, कथचित् अनित्य है, इतना ही कहनेसे वस्तुकी सिद्धि हो जाती है, फिर तत्, अतत्के भाव और अभावके विचारसे क्या प्रयोजन ? इससे उल्टा गौरव ही होता है ?

उत्तर

नैवं तदतद्भावाभावविचारस्य निह्नवे दोषात् ।
नित्यानित्यात्मनि सति सत्यपि न स्यात् क्रियाफलं तत्त्वम् ॥३१४॥

अर्थः—ऊपर की हुई शंका ठीक नही है, क्योकि तत्, अतत्के भाव और अभावका विचार यदि न किया जाय तो वस्तु सदोष ठहरती है। तत् अतत्के विना वस्तुको नित्य और अनित्य स्वरूप मानने पर भी उसमे क्रिया और फल नही वन सकते।

अर्थः—"परिणमन करता हुआ सत् वही नही है जो पहले था किन्तु उससे सर्वथा भिन्न ही है" इसप्रकारका किया हुआ पूर्व पक्ष (आशंका) बिना तत्पक्षके स्वीकार किये दूर नही किया जा सकता है। इसीप्रकार उस परिणमनशील सत्में दूसरा पूर्वपक्ष ऐसा भी हो सकता है कि "यह दीप–शिखा सर्वथा वही है जो पहले थी" इसका समाधान भी विना अतत् पक्षके स्वीकार किये नही हो सकता है।

भावार्थः—तत् और अतत्मे यह विचार किया जाता है कि यह वस्तु किसी दृष्टिसे वही है और किसी दृष्टिसे वह नही है किन्तु दूसरी है। परन्तु नित्य, अनित्यमें यह विचार नही होता है, वहाँ तो केवल नित्य, अनित्य रूपसे परिणमन होनेका ही विचार है, वही है या दूसरा है, इसका कुछ विचार नही होता है। यदि वस्तुमे तत्, अतत् पक्षको न माना जाय, केवल नित्य अनित्य पक्षको ही माना जाय तो अवश्य-ही उसमें ऊपर की हुई आशंकायें आ सकती है, उनका समाधान बिना तत् अतत् पक्षके स्वीकार किये नही हो सकता।

सारांश

तस्मादवसेयं सन्नित्यानित्यत्ववचदतद्वत्।
यस्मादेकेन विना न समीहितसिद्धिरध्यक्षात् ॥३२१॥

अर्थः—इसलिये यह बात निश्चित समझना चाहिये कि नित्य अनित्य पक्षकी तरह तत् अतत् पक्ष भी वस्तुमे मानना योग्य है। क्योकि जिसप्रकार नित्य अनित्य पक्षके बिना स्वीकार किये इच्छित अर्थकी सिद्धि नही होती है, उसीप्रकार बिना तत् अतत् पक्षके स्वीकार किये भी इच्छित अर्थकी सिद्धि नही हो सकती है। इसलिये दोनोंका मानना ही परम आवश्यक है।

शकाकार

ननु भवति सर्वथैव हि परिणामो विसदृशोऽथ सदृशो वा।
ईहितसिद्धिस्तु सतः परिणामित्वाद्यथाकथञ्चिद्वै ॥३२२॥

अर्थः—शकाकार कहता है कि परिणाम चाहे सर्वथा समान हो अथवा चाहे सर्वथा असमान हो, तुम्हारे इच्छित अर्थकी सिद्धि तो पदार्थको परिणामी माननेसे ही यथा कथचित् वन ही जायगी ?

भावार्थः—पदार्थको केवल परिणामी ही मानना चाहिये उसमे सदृश अथवा असदृशके विचारकी कोई आवश्यकता नही है।

उत्तर

तन्न यतः परिणामः सन्नपि सदृशैकपक्षतो न तथा ।
न समर्थश्चार्थकृते नित्यैकान्तादिपक्षवत् सदृशात् ॥३२३॥

अर्थः—उपर्युक्त शंका ठीक नही है क्योंकि वस्तुमें दो प्रकारका ही परिणमन होगा, सदृशरूप अथवा विसदृशरूप । यदि सदृशरूप ही वस्तुमें परिणमन माना जाय तो भी इष्ट अर्थकी सिद्धि नही होती है । जिसप्रकार नित्यैकान्त पक्षमें दोष आते हैं उसीप्रकार सदृश परिणाममे भी दोष आते है इससे भी अभीष्टकी सिद्धि नहीं होती है ।

नापीष्टः संसिद्ध्यै परिणामो विसदृशैकपक्षात्मा ।
क्षणिकैकान्तवदसतः प्रादुर्भावात् सतो विनाशाद्वा ॥३२४॥

अर्थः—यदि विसदृशरूप एक पक्षात्मक ही परिणमन माना जाय तो भी अभीष्टकी सिद्धि नही होती है । केवल विसदृश पक्ष माननेमे क्षणिकैकान्तकी तरह असत्की उत्पत्ति और सत्का विनाश होने लगेगा ।

एतेन निरस्तोऽभूत् क्लीवत्वादात्मनोऽपराद्धतया ।
तदतद्भावाभावापह्नववादी विबोध्यते त्वधुना ॥३२५॥

अर्थः—सदृश, असदृश पक्षमे नित्यैकान्त और अनित्यैकान्तके समान दोष आनेसे तत् अतत् पक्षका लोप करनेवाला शंकाकार खण्डित हो चुका । क्योंकि वह आत्मापराधी होनेसे स्वयं शक्ति हीन हो चुका । अस्तु, अब हम (आचार्य) उसे समझाते हैं ।

तत् अतत् भावके स्वरूपके कहनेकी प्रतिज्ञा

तदतद्भावनिबद्धो यः परिणामः सतः स्वभावतया ।
तद्दर्शनमधुना किल दृष्टान्तपुरस्सरं वक्ष्ये ॥३२६॥

अर्थः—तद्भाव और अतद्भावके निमित्तसे जो वस्तुका स्वभावसे परिणमन होता है, उसका स्वरूप अब दृष्टान्त पूर्वक कहा जाता है ।

सदृश परिणमनका उदाहरण

जीवस्य यथा ज्ञानं परिणामः परिणमंस्तदेवेति ।
सदृशस्योदाहृतिरिति जातेरनतिक्रमत्वतो वाच्या ॥३२७॥

अर्थः—जैसे जीवका ज्ञान परिणाम, परिणमन करता हुआ सदा वही (ज्ञान रूप ही) रहता है । ज्ञानके परिणमनमे ज्ञानत्व जाति (ज्ञानगुण)का कभी उल्लघन नही होता है । यही सदृश परिणमनका उदाहरण है ।

असदृश परिणमनका उदाहरण

यदि वा तदिह ज्ञानं परिणामः परिणमन्न तदिति :।
स्वावसरे यत्सत्त्वं तदसत्त्वं परत्र नययोगात् ॥३२८॥

अर्थः—अथवा वही जीवका ज्ञान परिणाम परिणमन करता हुआ वह नही भी रहता है, क्योकि उसका एक समयमे जो सत्त्व है, वह नय दृष्टिसे दूसरे समयमे नही है।

इस विषयमें भी दृष्टान्त

अत्रापि च संदृष्टिः सन्ति च परिणामतोपि कालांशाः।
जातेरनतिक्रमतः सदृशत्त्वनिवन्धना एव ॥३२९॥

अर्थः—यहां पर दूसरा यह भी दृष्टान्त है कि यद्यपि कालके अंश परिणमनशील है तथापि स्वजातिका उल्लंघन नहीं होनेसे वे पदार्थमें सदृशबुद्धिके ही उत्पादक हैं।

अपि नययोगाद्विसदृशसाधनसिद्ध्यै त एव शाः।
समयः समयः समयः सोपीति बहुप्रतीतित्वात् ॥३३०॥

अर्थः—अथवा नयदृष्टिसे वे ही कालके अश विसदृश बुद्धिके उत्पादक हो जाते है। क्योकि उनमें एक समय, दो समय, तीन समय, चार समय आदि अनेक रूपसे भिन्न २ प्रतीति होती है, वही क्षणभेद—प्रतीति पदार्थ भेदका कारण है।

अभिन्न प्रतीतिमें हेतु

अतदिदमिहप्रतीतौ क्रियाफलं कार णि हेतुरिति।
तदिदं स्यादिह संविदि हि हेतुस्तत्त्वं हि चेन्मिथः प्रेम ॥३३१॥

अर्थः—'अतत्' अर्थात् यह वह नही है इस प्रतीतिमे क्रिया, फल, कारण ये सब हेतु है। 'तत्' अर्थात् यह वही है इस प्रतीतिमे परस्पर प्रेमभाव (ऐक्यभाव)को लिये हुए तत्त्व ही नियमसे हेतु है।

भावार्थः—किसी वस्तुमे अथवा किसी गुणमें पूर्व पर्याय कारणरूप पड़ती है और उत्तर पर्याय कार्यरूप पडती है। तथा उस वस्तुकी अथवा गुणकी पर्यायका पलटना क्रिया कहलाती है। यदि भेद बुद्धिसे विचार किया जाय, तब तो तीनो वाते जुदी २ है, क्रिया, भिन्न पदार्थ है, कारणरूप पर्याय भिन्न पदार्थ है, तथा कार्य—फलरूप पर्याय भिन्न पदार्थ है। क्योकि पूर्व पर्याय और उत्तर पर्यायका समय जुदा २ है, परन्तु द्रव्यदृष्टिसे—अभेद बुद्धिसे यदि विचार किया जाय तो द्रव्य अथवा गुण—अभिन्नरूप ही

प्रतीत होते है। क्योंकि पर्याय वस्तुसे जुदी नहीं है, अथवा सब पर्यायोंका समूह ही वस्तु है। इसलिये अभिन्न अवस्थामें क्रिया, कारण, फल सब एकरूप ही प्रतीत होते हैं।

इसीका स्पष्टीकरण

अयमर्थः सदसद्वत्तदतदपि च विधिनिषेधरूपं स्यात् ।
न पुनर्निरपेक्षतया तद्द्वयमपि तत्त्वमुभयतया ॥३३२॥

अर्थः—तात्पर्य यह है कि सत् और असत्के समान तत् और अतत् भी विधि, निषेधरूप है, परन्तु निरपेक्ष दृष्टिसे वे ऐसे नहीं है, क्योंकि एक दूसरेकी सापेक्षतासे दोनों रूप ही वस्तु है।

भावार्थः—जिसप्रकार सत्की विवक्षामे विवक्षित पदार्थ विधिरूप पड़ता है और अविवक्षित असत्–निषेधरूप पड़ता है उसीप्रकार तत् अतत् विवक्षामे भी उससे विवक्षित पदार्थ विधिरूप और अविवक्षित पदार्थ निषेधरूप पड़ता है। इतना विशेष है कि विधि, निषेधकी अपेक्षा रखता है और निषेध विधिकी अपेक्षा रखता है, सर्वथा स्वतन्त्र एक भी नही है। सर्वथा स्वतन्त्र माननेसे पदार्थ व्यवस्था ही नहीं बनती है, क्योंकि पदार्थका स्वरूप कथञ्चित् विधि निषेधात्मक उभयरूप है।

विशेष

रूपनिदर्शनमेतत्तदिति यदा केवलं विधिर्मुख्यः ।
अतदिति गुणो पृथक्त्वात्तन्मात्रं निरवशेषतया ॥३३३॥
अतदिति विधिर्विवक्ष्यो मुख्यःस्यात् केवलं यदादेशात् ।
तदिति स्वतो गुणत्वादविवक्षितमित्यतन्मात्रम् ॥३३४॥

अर्थः—विधि निषेधकी परस्पर सापेक्षतामे इतना विशेष है कि जिससमय केवल विधिको मुख्यतासे कहा जाता है उससमय अतत् अर्थात् निषेध कथन गौण हो जाता है, क्योकि वह विधिसे जुदा है। विधिकी विवक्षामे वस्तु केवल विधिरूप ही प्रतीत होती है। उसीप्रकार जब 'अतत्' यह विधि कथन विवक्षित होता है, तब आदेशानुसार केवल वही मुख्य हो जाता है, उससमय तत् कथन अविवक्षित होनेसे गौण हो जाता है, अतत् विवक्षामे वस्तु तन्मात्र नही समझी जाती किन्तु अतन्मात्र ही समझी जाती है। यही विधिनिषेधका स्वरूप निदर्शन है।

भावार्थः—भेद विवक्षामे वस्तु भिन्न भिन्न रूपसे प्रतीत होती है अभेद विवक्षामे एकरूपसे प्रतीत होती है। और प्रमाण विवक्षामे एकरूपसे अर्थात् उभयात्मक प्रतीत होती है।

शेषविशेषाख्यानं ज्ञातव्यं चोक्तवक्ष्यमाणतया ।
सूत्रे पदानुवृत्तिर्ग्राह्या सूत्रान्तरादिति न्यायात् ॥३३५॥

अर्थः—इस विषयमें विशेष व्याख्यान पहले कहा जा चुका है तथा आगे भी कहा गया है, वहासे जान लेना चाहिये। ऐसा न्याय भी प्रसिद्ध है कि कोई बात किसी सूत्रमें यदि न हो तो वह दूसरे सूत्रसे लेली जाती है। जैसे कि व्याकरणादिमें पूर्व सूत्रसे पदोंकी अनुवृत्ति करली जाती है।

शंकाकार

ननु किं नित्यमनित्यं किमथोभयमनुभयञ्च तत्त्वं स्यात् ।
व्यस्तं किमथ समस्तं क्रमतः किमथाक्रमादेतत् ॥३३६॥

अर्थः—क्या वस्तु नित्य है, अथवा अनित्य है? क्या उभयरूप है, अथवा अनुभय (दोनोरूप नही) रूप है? क्या जुदी २ है, अथवा एकरूप है? क्या क्रम पूर्वक है, अथवा अक्रम पूर्वक है?

उत्तर

सत्त्वं स्वपरनिहत्यै सर्वं किल सर्वथेति पदपूर्वं ।
स्वपरोपकृतिनिमित्तं सर्वं स्यात्स्यात्पदाङ्कितं तु पदम् ॥३३७॥

अर्थः—यदि वस्तुके पहले सर्वथा पद जोड दिया जाय तव तो वह स्वपर दोनोकी विघातक है। यदि उसके पहले स्यात् पद जोड दिया जाय तव वही स्वपर दोनोकी उपकारक है।

भावार्थः—वस्तु अनन्त धर्मात्मक है इसलिये विवक्षावश उसमे एक धर्म मुख्य इतर गौण हो जाता है। इस गौण और मुख्यकी विवक्षामे ही पदार्थ कभी किसीरूप और कभी किसीरूप कहा जा सकता है परन्तु मुख्य गौणकी विवक्षाको छोडकर सर्वथा एकान्तरूप ही पदार्थको माननेमे किसी पदार्थकी सिद्धि नही हो पाती, इसलिये पदार्थ कथचित् द्रव्य दृष्टिसे नित्यरूप भी है कथचित् पर्याय दृष्टिसे अनित्यरूप भी है कथचित् प्रमाण दृष्टिसे उभयरूप भी है, कथचित् नय दृष्टिसे अनुभयरूप भी है, अथवा वचनागोचर होनेसे भी अनुभयरूप है। कथचित् भेद विवक्षासे व्यस्तरूप भी है, कथचित् अभेद विवक्षासे समस्तरूप भी है कथचित् वचन विवक्षासे क्रमरूप भी है और कथचित् वचनकी अविवक्षासे अक्रमरूप भी है इसप्रकार वस्तुके साथ स्यात् पद, लगा देनेसे सभी बातें बन जाती है। विवक्षानुसार कुछ भी कहा जा सकता है परन्तु स्यात् पदको

अर्थः—जिसप्रकार एक सत् है उसीप्रकार एक परिणाम भी है, इन दोनोंमें स्वतंत्र रीतिसे द्वैत भाव है। फिर क्या कारण है कि उन दोनोमेसे एकका क्रमसे ही कथन किया जाय, दोनोका कथन समानतासे एक साथ क्यो नही किया जाता।

भावार्थः—जब सत् और परिणाम दोनो ही समान है तो फिर वे क्रमसे क्यों कहे जाते है, स्वतन्त्र रीतिसे एक साथ क्यों नही ?

क्या सत् और परिणाम वर्णोंकी ध्वनिके समान हैं

अथ किं कखादिवर्णाः सन्ति यथा युगवदेव तुल्यतया।
वक्ष्यन्ते क्रमतस्ते क्रमवर्तित्वाद्ध्वनेरिति न्यायात् ॥३४२॥

अर्थः—सत् और परिणाम क्या क, ख आदि वर्णोके समान दोनों बराबर है। जिसप्रकार क, ख आदि सभी वर्ण एक समान है परन्तु वे क्रमसे बोले जाते है, क्योकि ध्वनि-उच्चारण क्रमसे ही होता है अर्थात् एक साथ दो वर्णोका उच्चारण हो नही सकता। क्या इस न्यायसे सत् और परिणाम भी समानता रखते है और वे क्रमसे बोले जाते है ?

क्या विन्ध्य हिमाचलके समान हैं

अथ किं खरतरदृष्ट्या विन्ध्यहिमाचलयुगं यथास्ति तथा।
भवतु विवक्ष्यो मुख्यो विवक्तुरिच्छावशाद्गुणोऽन्यतरः ॥३४३॥

अर्थः—अथवा जिसप्रकार विन्ध्य पर्वत और हिमालय पर्वत दोनों ही स्वतन्त्र हैं परन्तु दोनोमे वक्ताकी इच्छासे जो तीक्ष्णदृष्टिसे विवक्षित होता है वह मुख्य समझा जाता है और दूसरा अविवक्षित गौण समझा जाता है। क्या सत् और परिणाम भी इसीप्रकार स्वतन्त्र है, और उन दोनोमे जो विवक्षित होता है वह मुख्य समझा जाता है तथा दूसरा गौण समझा जाता है ?

क्या सिंह साधु विशेषणोंके समान हैं

अथ चैकः कोपि यथा सिंहः साधुर्विवक्षितो द्वेधा।
सत्परिणामोपि तथा भवति विशेषणविशेष्यवत्किमिति ॥३४४॥

अर्थः—अथवा जिसप्रकार कोई पुरुप शूरता, पराक्रम आदि गुणोके धारण करनेसे कभी सिंह कहलाता है और सज्जनता, नम्रता आदि गुणोंके धारण करनेसे कभी साधु कहलाता है। एक ही पुरुष विवक्षाके अनुसार दो विशेषणोवाला हो जाता है, अथवा उन दोनोमे विवक्षित विशेषण कोटिमे आ जाता है और अविवक्षित विशेष्य कोटिमे

अर्थः—अथवा जिसप्रकार बड़े छोटे दो भाई परस्पर प्रेमसे रहते है, उसीप्रकार क्या सत् और परिणाम आगे पीछे उत्पन्न होकर वर्तमानकालमे परस्पर अविरुद्ध रीतिसे रहते है ? अथवा जिसप्रकार * उपसन्द और सुन्द नामके दो मल्ल परस्पर एक दूसरेसे जय अपजय प्राप्त करते हुए अन्तमे मर गये उसीप्रकार क्या सत् और परिणाम भी परस्पर प्रतिद्वन्द्विता रखते हुए अन्तमें नष्ट हो जाते है ?

क्या परत्वापरत्व तथा पूर्वापर दिशाओंके समान हैं

केवल मुपचारादिह भवति परत्वापरत्ववत्किमथ ।
पूर्वापरदिग्द्वैतं यथा तथा द्वैतमिदमपेक्षतया ॥३४९॥

अर्थः—अथवा जिसप्रकार दो छोटे बडे पुरुषोमे परापर व्यवहार केवल उपचारसे होता है, उसीप्रकार क्या सत् और परिणाम भी उपचारसे कहे जाते है । अथवा जिसप्रकार पूर्व दिशा, पश्चिम दिशा आदि व्यवहार होता है, उसीप्रकार क्या सत् और परिणाम भी केवल अपेक्षा मात्रसे कहे जाते है ।

भावार्थः—बड़ेकी अपेक्षा छोटा, छोटेकी अपेक्षा बडा, यह केवल आपेक्षिक व्यवहार है । यदि छोटा बडापन वास्तविक हो तो छोटा छोटा रहना चाहिये और बडा बडा ही रहना चाहिये, परन्तु ऐसा नही है, जो छोटा कहलाता है वह भी अपनेसे छोटेकी अपेक्षासे बडा कहलाता है, अथवा जो बडा कहलाता है वह भी अपनेसे बड़ेकी अपेक्षासे छोटा कहलाता है । इसलिये वास्तवमे छोटापन अथवा बड़ापन कोई वस्तु नही है केवल व्यवहार कालकृत अपेक्षासे होनेवाला व्यवहार है । इसीप्रकार क्षेत्रकृत परापर व्यवहार होता है । जैसे—यह निकट है, यह दूर है इत्यादि । यह निकट और दूरका व्यवहार भी केवल परस्परकी अपेक्षासे होता है । वास्तवमे निकटता और दूरता कोई वस्तुभूत नही है । परत्वा परत्वके समान दिशाये भी काल्पनिक है । सूर्योदयकी अपेक्षासे पूर्व दिशा और सूर्यके छिपनेकी अपेक्षासे पश्चिम दिशाका व्यवहार होता है ।

* हितोपदेशमें ऐसी कथा प्रसिद्ध है कि सुन्द उपसुन्द नामके दो मल्लोंने महादेवकी आराधना की, महादेव उनपर प्रसन्न हो गये, दोनोंने महादेवसे उनकी स्त्री पार्वतीको वरमें मॉगा । महादेवने क्रोधपूर्वक उसे उनको दे दिया । फिर दोनों ही पार्वतीके लिये लड़ने लगे । महादेवने वृद्ध ब्राह्मणका रूप रखकर उनसे कहा कि जो युद्धमें तुममेंसे विजय प्राप्त करे उसकी पार्वती होगी । दोनों ही ने इस बातको पसन्द किया और क्षत्रिय पुत्र होनेसे दोनों ही लड़ने लगे । दोनों समान बलवाले थे इसलिये लड़ते लड़ते दोनों ही मर गये ।

क्या कनकोपलके समान हैं

अथ किं कनकोपलवत् किञ्चित्स्वं किञ्चिदस्वमेव यतः ।
ग्राह्यं स्वं सारतया तदितरमस्वं तु हेयमसारतया ॥३५२॥

अर्थः—अथवा जिसप्रकार एक कनक पाषाण नामका पत्थर होता है उसमें कुछ तो सोनेका अश रहता है, और कुछ पाषाणका अश रहता है। उन दोनोमे स्वर्णांश सारभूत होनेसे ग्रहण करने योग्य होता है ? और दूसरा पाषाणाश असारभूत होनेसे छोडने योग्य होता है। उसीप्रकार क्या सत् और परिणाममें भी एक ग्रहण करने योग्य है और दूसरा छोडने योग्य है ?

क्या वाच्य वाचकके समान हैं

अथ किं वागर्थद्वयमिव सम्पृक्तं सदर्थसंसिद्ध्यै ।
पानकवचन्नियमादर्थाभि व्यञ्जकं द्वैतात् ॥३५३॥

अर्थः—अथवा जिसप्रकार वचन और अर्थ दोनो मिले हुए ही पानकके समान पदार्थके साधक है उसीप्रकार क्या सत् और परिणाम भी मिले हुए पदार्थके सूचक है ?

भावार्थः—घडी शब्दके कहनेसे उस गोल पदार्थका बोध होता है जो कि समयको बतलाता है, इसलिये घडी शब्द उस गोल घडीरूप अर्थका वाचक है, तथा वह गोल पदार्थ उस शब्दका वाच्य है। इसीप्रकार जितने भी शब्द हैं वे पदार्थोंके सकेतरूप हैं। इसीको वाच्य वाचक सम्बन्ध कहते है। वाच्य वाचकका सम्बन्ध होनेसे ही पानकके समान पदार्थका बोध होता है। लवङ्ग, इलायची, सौठ, कालीमिरच इन मिली हुई वस्तुओसे जो स्वादु रस विशेष तैयार होता है उसीको पानक कहते है। जिसप्रकार पानकके समान वाच्य वाचकका सम्बन्ध होनेसे वाचक अपने साकेतिक वाच्यका बोध कराता है, उसीप्रकार क्या सत् और परिणाम भी पदार्थके बोधक है ? अर्थात् जिसप्रकार वाच्यसे वाचक भिन्न है उसीप्रकार क्या सत् और परिणाम भी पदार्थसे भिन्न है ?

क्या भेरी दण्डके समान हैं

अथ किमवश्यतया तद्वक्तव्यं स्यादनन्यथासिद्धेः ।
भेरी दन्डवदुभयोः संयोगादिव विवक्षितः सिद्ध्येत् ॥३५४॥

अर्थः—अथवा जिसप्रकार भेरी और दण्डके सयोगसे ही शब्द होता है। केवल भेरी (नगाड़ा)से भी शब्द नही हो सकता और न केवल दण्डसे ही हो सकता है किन्तु दोनोके सयोगसे ही होता है इसलिये दोनोका होना ही आवश्यक है। उसीप्रकार क्या

सत्‌को सर्वथा नष्ट कर कभी स्वयं परिणाम होता है और परिणामको सर्वथा नष्ट कर कभी स्वय सत् उदित होता है ?

क्या दो रज्जुओंके समान हैं

अथ किं वैमुख्यतया विमन्थिरूपं द्वयं तदर्थकृते ।
वामेतरकरवर्चितरज्जु युग्मं यथास्वमिदमिति चेत् ॥३५८॥

अर्थः—अथवा जिसप्रकार छाछ विलोते समय दाँये बाँये हाथमे रहनेवाली दो रस्सियाँ परस्पर विमुखतासे अनमिल रहती हुई कार्यको करती हैं उसीप्रकार क्या सत् और परिणाम भी परस्पर विमुख रहकर ही पदार्थकी सिद्धि कराते है ?

अब आचार्य प्रत्येक शंकाका उत्तर देते हैं

नैवमदृष्टान्तत्त्वात् स्वेतरपक्षोभयस्य घातित्वात् ।
नाचरते मन्दोपि च स्वस्य विनाशाय श्चिदेव यतः ॥३५९॥

अर्थः—शकाकारने ऊपरके श्लोको द्वारा जो जो शंकाएँ की हैं, तथा जो जो दृष्टान्त दिये है वे ठीक नही है। जो दृष्टान्त दिये है वे दृष्टान्त नही किन्तु दृष्टान्ताभास है। क्योकि उन दृष्टान्तोसे एक पक्षकी भी सिद्धि नही होती है। न तो उन दृष्टान्तोसे शंकाकारका ही अभिप्राय सिद्ध होता है। और न जैन सिद्धान्त ही सिद्ध होता है। इसलिये दोनो पक्षोके घातक होनेसे वे दृष्टान्त, दृष्टान्त कोटिमे ही नही आ सकते हैं। कोई मन्दबुद्धिवाला पुरुष भी तो ऐसा प्रयोग नही करता है जिससे कि स्वयं उसका ही विघात होता हो।

सत् परिणामके विषयमें वर्ण पक्तिका दृष्टान्त ठीक नहीं है

तत्र मिथस्सापेक्षधर्मद्वयदेशितप्रमाणस्य ।
माभूदभाव इति नहि दृष्टान्तो वर्णपंक्तिरित्यत्र ॥३६०॥

अर्थः—सत् और परिणाम इन परस्पर सापेक्ष दोनो धर्मोको विषय करनेवाला प्रमाण होता है। उस प्रमाणका अभाव न हो इसलिये इस विषयमे वर्णपक्तिका दृष्टान्त ठीक नही है।

भावार्थः—वर्णपक्ति स्वतन्त्र है। क, ख, ग, घ आदि वर्ण परस्पर एक दूसरेकी अपेक्षा रखते हुए सिद्ध नही है किन्तु पृथक् २ सिद्ध है। परन्तु सत् और परिणाम परस्पर सापेक्ष है इसलिये वर्णपक्तिका दृष्टान्त इस विषयमे विषम पडता है, इन्ही परस्पर सापेक्ष दोनो धर्मोको प्रमाण निरूपण करता है। प्रमाणका अभाव हो नही सकता,

सत्को सर्वथा नष्ट कर कभी स्वयं परिणाम होता है और परिणामको सर्वथा नष्ट कर कभी स्वय सत् उदित होता है ?

क्या दो रज्जुओंके समान हैं

अथ किं वैमुख्यतया विसन्धिरूपं द्वयं तदर्थकृते ।
वामेतरकरवर्त्तितरज्जू युग्मं यथास्वमिदमिति चेत् ।।३५८।।

अर्थः—अथवा जिसप्रकार छाछ विलोते समय दाँये बाँये हाथमे रहनेवाली दो रस्सियाँ परस्पर विमुखतासे अनमिल रहती हुई कार्यको करती है उसीप्रकार क्या सत् और परिणाम भी परस्पर विमुख रहकर ही पदार्थकी सिद्धि कराते है ?

अब आचार्य प्रत्येक शंकाका उत्तर देते हैं

नैवमदृष्टान्तत्त्वात् स्वेतरपक्षोभयस्य घातित्वात् ।
नाचरते मन्दोपि च स्वस्य विनाशाय श्चिदेव यतः ।।३५९।।

अर्थः—शकाकारने ऊपरके श्लोको द्वारा जो जो शंकाएँ की है, तथा जो जो दृष्टान्त दिये है वे ठीक नही है। जो दृष्टान्त दिये है वे दृष्टान्त नही किन्तु दृष्टान्ताभास है। क्योकि उन दृष्टान्तोसे एक पक्षकी भी सिद्धि नही होती है। न तो उन दृष्टान्तोसे शंकाकारका ही अभिप्राय सिद्ध होता है। और न जैन सिद्धान्त ही सिद्ध होता है। इसलिये दोनो पक्षोके घातक होनेसे वे दृष्टान्त, दृष्टान्त कोटिमे ही नही आ सकते है। कोई मन्दबुद्धिवाला पुरुष भी तो ऐसा प्रयोग नही करता है जिससे कि स्वयं उसका ही विघात होता हो।

सत् परिणामके विषयमें वर्ण पंक्तिका दृष्टान्त ठीक नहीं है

तत्र मिथस्सापेक्षधर्मद्वयदेशितप्रमाणस्य ।
माभूदभाव इति नहि दृष्टान्तो वर्णपंक्तिरित्यत्र ।।३६०।।

अर्थः—सत् और परिणाम इन परस्पर सापेक्ष दोनो धर्मोको विषय करनेवाला प्रमाण होता है। उस प्रमाणका अभाव न हो इसलिये इस विषयमे वर्णपंक्तिका दृष्टान्त ठीक नही है।

भावार्थः—वर्णपंक्ति स्वतन्त्र है। क, ख, ग, घ आदि वर्ण परस्पर एक दूसरेकी अपेक्षा रखते हुए सिद्ध नही है किन्तु पृथक् २ सिद्ध है। परन्तु सत् और परिणाम परस्पर सापेक्ष है इसलिये वर्णपंक्तिका दृष्टान्त इस विषयमे विषम पडता है, इन्ही परस्पर सापेक्ष दोनो धर्मोको प्रमाण निरूपण करता है। प्रमाणका अभाव हो नही सकता,

कारण वस्तुका स्वरूप ही उभय धर्मात्मक है। उसीको विपय करनेवाला प्रमाण है इसलिये प्रमाण व्यवस्था अनिवार्य है।

प्रमाणाभावमें नय भी नहीं ठहरता

अपि च प्रमाणाभावे नहि नयपक्षः क्षमः स्वरक्षायैं।
वाक्यविवक्षाभावे पदपक्षः कारकोपि नार्थकृते ॥३६१॥

अर्थः—पहले तो प्रमाणका अभाव किसी दृष्टान्तसे सिद्ध ही नही होता, दूसरे प्रमाणके अभावमे नय पक्ष भी अपनी रक्षा करनेमे समर्थ नही रह सकता है तथा वाक्य विवक्षाके बिना पदपक्ष और कारकसे भी कोई प्रयोजन सिद्ध नही होता है।

भावार्थः—यदि 'घीका घडा लाओ' इस वाक्यकी विवक्षा न रक्खी जाय, और केवल घीका, घडा, इन भिन्न २ पदोका विना सम्वन्धके स्वतन्त्र प्रयोग किया जाय तो इन पदोसे तथा षष्ठी और कर्म कारकसे कोई प्रयोजन सिद्ध नही होता है, वे निरर्थक ही है। इसीप्रकार यदि परस्पर सापेक्ष उभय धर्मको विषय करनेवाले प्रमाणको न माना जाय तो पदार्थके एक अशको विषय करनेवाला नय भी नही ठहर सकता है। क्योकि सम्पूर्ण धर्मोंको विषय करनेवाले ज्ञानके रहते हुए ही एक २ धर्मको विषय करनेवाला ज्ञान ठीक हो सकता है, अन्यथा नही। अर्थात् कर्ताकर्म क्रिया इन तीनोका सम्बन्ध ध्यानमे रखकर वाक्य बोला जाता है तभी प्रयोजन सिद्ध होता है यदि केवल कर्ता या केवल कर्म या केवल क्रिया पदका उच्चारण किया जाय तो कोई प्रयोजन सिद्ध नही होता।

आशङ्का

संस्कारस्य वशादिह पदेषु वाक्यप्रतीतिरिति चेद्वै।
वाच्यं प्रमाणमात्रं न नया ह्युक्तस्य दुर्निवारत्वात् ॥३६२॥
अथ चैवं सति नियमाद् दुर्वारं दूपणद्वयं भवति।
नयपक्षच्युतिरिति वा क्रमवर्तित्वाद्ध्वनेरहेतुत्वम् ॥३६३॥

अर्थः—ऊपर यह कहा गया है कि विना प्रमाणके स्वीकार किये नय पक्ष भी नही ठहर सकता है जैसे—विना वाक्य विवक्षाके पदपक्ष अर्थकारी नही ठहरता है। इसके उत्तरमे यदि यह आशका उठाई जाय कि सस्कारके वशसे पदोमे ही वाक्यको प्रतीति मानली जाय तो अर्थात् नयोमे ही प्रमाणकी कल्पना करली जाय तो? उत्तरमे कहा जाता है कि यदि नयोमे ही वाक्य प्रतीति स्वीकार की जायगो तो प्रमाण मात्र

ही कहना चाहिये फिर नय सिद्ध नही होते है। वही दूषण–नय पक्षका अभाव होना बना रहता है। अथवा पदोमें वाक्य विवक्षाके समान नयोमे ही प्रमाण पक्ष स्वीकार करनेसे दो दूषण आते है। (१) नयपक्षका अभाव हो जायगा। क्योकि नयोके स्थानमें तो उन्हे प्रमाणरूप माना गया है। क्रमसे होनेवाली जो ध्वनि है उसे शाब्द बोधमें कारणता नही रहेगी। (२) क्योकि जब पदोमे ही वाक्यकी प्रतीति हो जायगी तो एक पदसे ही अथवा एक अक्षरसे ही समस्त वाक्योका बोध हो जायगा, ऐसी अवस्थामें ध्वनिको अर्थ प्रतीतिमे हेतुता नही आ सकेगी।

विन्ध्य हिमाचल भी दृष्टान्ताभास है

विन्ध्यहिमाचलयुग्मं दृष्टान्तो नेष्टसाधनायालम् ।
तदनेकत्वे नियमादिच्छानर्थक्यताऽविवक्षश्च ॥३३४॥

अर्थः—विन्ध्याचल और हिमाचल दोनो ही स्वतन्त्र सिद्ध है इसलिये एकमे मुख्य विवक्षा दूसरेमे गौण–अविवक्षा हो नही सकती है। दूसरी बात यह है कि जब दोनो ही स्वतन्त्र सिद्ध हैं तो एकमें मुख्य और दूसरेमे गौण विवक्षाकी इच्छाका होना ही निरर्थक है, इसलिये विन्ध्याचल और हिमाचल पर्वतोका दृष्टान्त भी इष्ट पदार्थको सिद्ध करनेके लिये समर्थ नही है।

भावार्थः—विन्ध्याचल और हिमाचल दोनो ही जब स्वतन्त्र है तो एकमे प्रधानता दूसरेमे अप्रधानता कैसे आ सकती है? क्योकि मुख्य गौण विवक्षाका कारण अभिन्न पदार्थमे दृष्टिभेद है, तथा जहाँपर एक धर्म दूसरे धर्मकी अपेक्षा रखता हो, अथवा बिना अपेक्षाके वह भी सिद्ध न हो सकता हो, वहाँ पर विवक्षित धर्म मुख्य और अविवक्षित धर्म गौण होता है, विन्ध्य हिमाचलमे कोई किसीकी अपेक्षा नही रखता है, और न बिना अपेक्षाके किसीकी असिद्धि ही होती है। यदि विन्ध्याचल बिना हिमाचलके न हो सके अथवा हिमाचल विना विन्ध्याचलके न हो सके तब तो परस्पर अपेक्षा मानी जाय और इच्छानुसार एकको विवक्षित दूसरेको अविवक्षित बनाया जाय, परन्तु ऐसा नही है। दोनो ही सर्वथा स्वतन्त्र है इसलिये बिना एक दूसरेकी अपेक्षाके सिद्ध नही होनेवाले सत् और परिणामके विषयमे उक्त दोनो पर्वतोका दृष्टान्त ठीक नही है।

सिंह साधु भी दृष्टान्ताभास है

नालमसौ दृष्टान्तः सिंहः साधुर्यथेह कोपि नरः ।
दोषादपि स्वरूपासिद्धत्वात्किल यथा जलं सुरभि ॥३३५॥

नासिद्धं हि स्वरूपासिद्धत्वं तस्य साध्यशून्यत्वात् ।
केवलमिहरूढिवशादुपेक्ष्य धर्मद्वयं यथेच्छत्वात् ॥३६६॥

अर्थः—जिसप्रकार किसी पुरुषके सिंह, साधु विशेषण बना दिये जाते है, उसीप्रकार सत् और परिणाम भी पदार्थके विशेषण है ऐसा कहना भी ठीक नही है, क्योंकि यहाँपर सत् परिणामात्मक पदार्थ साध्य है, उस साध्यकी सिद्धि इस दृष्टान्तसे नही होती है, इसलिये सिंह साधुका दृष्टान्त दृष्टान्ताभास है। इस दृष्टान्तमे स्वरूपासिद्ध दोष आता है यहाँपर स्वरूपासिद्ध दोष असिद्ध नही है किन्तु साध्यशून्य होनेसे सुघटित ही है। जैसे–किसी पुरुषके इच्छानुसार सिंह और साधु ऐसे दो नाम रख दिये जाते है, उनमे सिंहत्व साधुत्व धर्मोकी तुलना द्रव्यमे नही हो सकती है क्योकि पुरुष भिन्न है उसके दो विशेषण है परन्तु द्रव्य भिन्न हो और सत् परिणाम उसके विशेषण हो ऐसा नही है सत् परिणाम रूप ही द्रव्य है। सिंहत्व और साधुत्व इन दोनो धर्मोंकी कल्पना पुरुषमे करदी जाती है, परन्तु सत्परिणाम काल्पनिक नही है किन्तु वास्तविक है, इसलिये यह दृष्टान्त उभयधर्मात्मक साध्यसे शून्य है। जिसप्रकार नैयायिकोके यहाँ जलमे सुगन्धि सिद्ध करना असिद्ध है क्योकि *जलमे सुगन्धि स्वरूपसे ही असिद्ध है इसीप्रकार इस दृष्टान्तमे साध्य स्वरूपसे ही असिद्ध है।

भावार्थः—स्वरूपासिद्ध दोषमे कही पर हेतुका स्वरूप असिद्ध होता है कही पर साध्यका स्वरूप असिद्ध होता है। उपर्युक्त दृष्टान्तसे आश्रयासिद्ध दोष भी आता है, क्योकि सत्परिणामका कोई आश्रय नही है।

अग्नि वैश्वानर भी दृष्टान्ताभास है

अग्निर्वैश्वानर इव नामद्वैतं च नेष्टसिद्ध्यर्थम् ।
साध्यविरुद्धत्वादिह संदृष्टेरथ च साध्यशून्यत्वात् ॥३६७॥
नामद्वयं किमर्थादुपेक्ष्य धर्मद्वयं च किमपेक्ष्य ।
प्रथमे धर्माभावेऽप्यलं विचारेण धर्मिणोऽभावात् ॥३६८॥
प्रथमेतरपक्षेऽपि च भिन्नमभिन्नं किमन्वयात्तदिति ।
भिन्नं चेदविशेषादुक्तवदसतो हि किं विचारतया ॥३६९॥

* नैयायिकमत जलमें गन्ध नहीं मानता है। इसलिये उसीके मतानुसार 'जलं सुरभि' दृष्टान्त देकर यहाँ खण्डन किया गया है।

अथचेद्युतसिद्धत्वात्तन्निष्पत्तिर्द्वयोः पृथक्त्वेपि ।
सर्वस्य सर्वयोगात् सर्वः सर्वोपि दुर्निवारः स्यात् ॥२७०॥

चेदन्वयादभिन्नं धर्मद्वैतं किलेति नयपक्षः ।
रूपपटादिवदिति किं किमथ क्षारद्रव्यवच्चेति ॥२७१॥

क्षारद्रव्यवदिदं चेदनुपादेयं मिथोनपेक्षत्वात् ।
वर्णततेरविशेषन्यायान्न नयाः प्रमाणं वा ॥२७२॥

रूपपटादिवदिति चेत्सत्यं प्रकृतस्य सानुकूलत्वात् ।
एकं नामद्वयाङ्कमिति पक्षस्य स्वयं विपक्षत्वात् ॥२७३॥

अर्थः—अग्नि और वैश्वानरके समान सत् और परिणाम ये दो नाम ही माने जाँय तो भी इष्ट सिद्धि नही होती है। क्योकि वे साध्यसे विरुद्ध पड़ते है। दृष्टान्त भी साध्य शून्य है, अर्थात् हमारा साध्य–परस्पर सापेक्ष उभय धर्मात्मक पदार्थरूप है उस उभय धर्मात्मक पदार्थरूप साध्यकी सिद्धि दो नामोंसे नही होती है। तथा अग्नि और वैश्वानर ये दो नाम भिन्न रहकर एक अग्निके वाचक है, इसलिये यह दृष्टान्त भी साध्य रहित है। यदि नाम द्वयका दृष्टान्त साध्य विरुद्ध नही है तो हम पूछते है कि नाम दो धर्मोकी उपेक्षा रखते है अथवा अपेक्षा रखते है? यदि पहला पक्ष स्वीकार किया जाय, अर्थात् दो नाम दो धर्मोकी अपेक्षा नही रखते केवल एक पदार्थके दो नाम हैं तो धर्मोका अभाव ही हुआ जाता है, धर्मोके अभावमे धर्मी भी नही ठहर सकता है, फिर तो विचार करना ही व्यर्थ है। यदि द्वितीय पक्ष स्वीकार किया जाय अर्थात् दो नाम दो धर्मोकी उपेक्षा नही करते किन्तु अपेक्षा रखते हैं तो वे दोनो धर्म द्रव्यसे भिन्न है अथवा अभिन्न है? यदि द्रव्यसे भिन्न है तो भी वे नही के समान है, फिर भी कुछ विशेषता नही हुई, जो धर्म द्रव्यसे सर्वथा जुदे है तो वे उसके नही कहे जा सकते है, इसलिये उनका विचार करना ही निरर्थक है। यदि यह कहा जाय कि दोनो धर्म द्रव्यसे यद्यपि जुदे है क्योकि वे युतसिद्ध है। *तथापि उन धर्मोका द्रव्यके साथ सम्बन्ध मान लेनेसे कोई दोष नही आता है ऐसा कहना भी ठीक नही है, यदि भिन्न पदार्थोका इसप्रकार सम्बन्ध मान लिया जाय तो सब पदार्थोका सब पदार्थोके साथ सम्बन्ध हो जायगा ऐसी

* जो एक दूसरेसे आश्रित न होकर स्वतन्त्र हों उन्हे युतसिद्ध कहते हैं। जैसे चौकी पर रक्खी हुई पुस्तक। युतसिद्ध दो भिन्न भिन्न पदार्थोंका सम्बन्ध है सत् परिणाम भिन्न भिन्न नहीं हैं एक द्रव्यात्मक हैं।

अवस्थामे सभी पदार्थ सङ्कर हो जायगे अर्थात् जैसे सर्वथा भिन्न धर्मोका एक द्रव्यके साथ सम्वन्ध माना जाता है वैसे उनका हरएक द्रव्यके साथ सम्बन्ध हो सकता है, क्योकि जब वे धर्म द्रव्यसे सर्वथा जुदे ही है तो जैसे उनका एक द्रव्यसे सम्बन्ध हो सकता है वैसे सब द्रव्योसे हो सकता है फिर सभी द्रव्य परस्पर मिल जायगे। द्रव्योमें परस्पर भेद ही न हो सकेगा। इसलिये द्रव्यसे धर्मोको जुदा मानना ठीक नहीं है। यदि यह कहा जाय कि दोनो धर्म द्रव्यसे अभिन्न है तो प्रश्न होता है कि वे वस्त्र और वस्त्रमे रहनेवाले रूप (रङ्ग)की तरह अभिन्न है अथवा आटेमे मिले हुए खारेपनकी तरह अभिन्न है ? यदि कहा जाय कि खारे द्रव्यके समान वे धर्म द्रव्यसे अभिन्न है तो वह भी ठीक नही है। क्योकि लवणकी रोटीमे जो खारापन है वह लवणका है, रोटीका नही है। रोटीसे खारापन जुदा ही है। इसीके समान धर्मद्वय भी द्रव्यसे जुदे पड़ेगे। जुदे होनेसे उनमे परस्पर एक दूसरेकी अपेक्षा भी + नही रहेगी। परन्तु सत् और परिणाम परस्पर सापेक्ष हैं इसलिये क्षार द्रव्यके समान उनकी अभिन्नता उपादेय (ग्राह्य) नही है। क्षार द्रव्यके समान जो अभिन्नता है वह वैसी ही है जैसी कि क, ख, ग, घ आदि वर्णोकी पक्ति सर्वथा स्वतन्त्र होती है। *इसप्रकारकी स्वतन्त्रता माननेसे न तो नय ही सिद्ध होते है और न प्रमाण ही सिद्ध होता है। विना परस्परकी अपेक्षाके एक भी सिद्ध नही हो सकता है। इसलिये क्षार द्रव्यके समान न मानकर रूप और पटके समान उन धर्मोकी अभिन्नता यदि मानी जाय तो यह प्रकृतके अनुकूल ही हैं। अर्थात् जिसप्रकार वस्त्र और उसका रङ्ग अभिन्न है, विना वस्त्रकी अपेक्षा लिये उसके रङ्गकी सिद्धि नही, और विना उसके रंगकी अपेक्षा लिये वस्त्रकी सिद्धि नही, उसीप्रकार यदि परस्पर सापेक्ष सत् और परिणामकी अभिन्नता भी मानी जाय तव तो हमारा कथन ही (जैन सिद्धान्त) सिद्ध होता है, फिर शकाकारका एक पदार्थके ही सत् और परिणाम, दो नाम कहना तथा अग्नि और वैश्वानरका दृष्टान्त देना निरर्थक ही

+ आटे और लवणमें यद्यपि स्वादकी अपेक्षासे परस्पर अपेक्षा है परन्तु ऐसी अपेक्षा नहीं है कि विना आटेके लवणकी सिद्धि न हो, अथवा विना लवणके आटेकी सिद्धि न हो। परन्तु सत् और परिणाममें वैसी ही अपेक्षा अभीष्ट है विना सत्के परिणाम नहीं ठहरता और विना परिणामके सत् नहीं ठहरता। दोनोंकी एक दूसरेकी अपेक्षामें ही सिद्धि है।

* भिन्न २ रक्खे हुए सभी वर्ण स्वतन्त्र हैं, ऐसी अवस्थामें उनसे किसी कार्यकी भी सिद्धि नहीं हो सकती है।

नही किन्तु उसके पक्षका स्वयं विघातक है। तात्पर्य यह है कि अग्नि और वैश्वानर ये दोनो अग्निके ही पर्यायवाची है परन्तु सत् और परिणाम ये दोनो पर्यायवाची नही है किन्तु नय एव विवक्षा भेदसे है।

सव्येतर गोविषाण भी दृष्टान्ताभास है।

अपि चाकिञ्चित्कर इव सव्येतरगोविषाणदृष्टान्तः।
सुरभि गगनारविन्दमिवाश्रयासिद्धदृष्टान्तात् ॥३७४॥

अर्थः—जिसप्रकार गौके दाँये बाँये दो सीग एक साथ उत्पन्न होते है उसीप्रकार सत् और परिणाम भी एक साथ होनेवाले वस्तुके धर्म है, ऐसा कहना भी ठीक नही है, सत् और परिणामके विषयमे गौके सीगोका दृष्टान्त अकिञ्चित्कर है अर्थात् इस दृष्टान्तसे कुछ भी सिद्धि नही होती है। क्योकि इस दृष्टान्तमे आश्रयासिद्ध दोष आता है। जहाँ पर हेतुका आश्रय ही असिद्ध होता है वहाँ आश्रयासिद्ध दोष आता है। जैसे—"गगनारविन्द सुरभि अरविन्दत्वात् सरोजारविन्दवत्" अर्थात् यदि कोई पुरुष ऐसा अनुमान बनावे कि आकाशका कमल सुगधित है, क्योकि वह कमल है, जो जो कमल होता है वह वह सुगधित होता है जैसे तालाबका कमल, तालाबमे कमल होता है वह सुगधित ही होता है। इसीप्रकार जो आकाशमे कमल है वह भी कमल है इसलिये वह भी सुगधित है। यहाँ पर आकाशका कमल यह पक्ष* है, सुगधिवाला है, यह साध्य है× क्योंकि वह कमल है यह हेतु+ है। यह अनुमान नही है किन्तु अनुमानाभास है। क्योकि हेतुका आश्रय ही असिद्ध है। आकाशमे कमलकी यदि सभावना हो तब तो वहाँ सुगधि भी रह सकती है परन्तु आकाशमे तो कमलका होना ही असभव है फिर उसकी सुगन्धिका होना तो नितान्त ही असभव है। जब कमलरूप हेतु ही आकाशमे नही रहता है तब सुगन्धिरूप साध्य भी वहाँ कैसे रह सकता है? इसलिये जिसप्रकार यहाँपर आश्रय न होनेसे आश्रयासिद्ध दोष आता है उसीप्रकार गौके दाँये बाँये सीगोके दृष्टान्तमे भी आश्रयासिद्ध दोष आता है। क्योकि सीगोका दृष्टान्त दिया गया है, सीग बिना आश्रयके रह नही सकते है अथवा जिसप्रकार दोनो सीगोका आश्रय गौ है उसीप्रकार

---

* जिस आधार पर साध्य सिद्ध किया जाय उस आधारको पक्ष कहते हैं। उसका दूसरा नाम आश्रय भी है।

× जो सिद्ध किया जाय उसे साध्य कहते हैं।

+ जिसके द्वारा साध्य सिद्ध किया जाय उसे हेतु कहते हैं।

यदि सत् और परिणामका आश्रयभूत कोई पदार्थ हो, तब तो दोनोंको एक कालमें सत्ता मानी जा सकती है, परन्तु सत् परिणामसे अतिरिक्त उनका आश्रय ही असिद्ध है, क्योंकि सत् परिणामके सिवाय पदार्थका स्वरूप ही कुछ नहीं है। सत् परिणाम उभय धर्मात्मक ही तो पदार्थ है। इसलिये गौके सींगोंका दृष्टान्त ठीक नहीं है। —

भावार्थः—दूसरी बात इस दृष्टान्तको विरुद्धतामें यह भी है कि जिसप्रकार गौके सींग किसी काल विशेषसे उत्पन्न होते हैं उसप्रकार सत् परिणाम किसी काल विशेषसे उत्पन्न नहीं होते हैं। न तो सत् परिणामसे भिन्न इनका कोई आधार ही है, और न इनकी किसी कालविशेषसे उत्पत्ति ही है।

स्पष्टीकरण

न यतः पृथगिति किञ्चित् सत्परिणामातिरिक्तमिह वस्तु ।
दीपप्रकाशयोरिह गुम्फितमिव तद्द्वयोरैक्यात् ॥३७५॥

अर्थः—गौके सींगोंका दृष्टान्त इसलिये ठीक नहीं है कि उसमें सींगोंका आश्रय गौ पदार्थ जुदा पडता है, परन्तु सत् परिणामसे अतिरिक्त वस्तु पडती ही नहीं है। क्योंकि सत् परिणाम स्वरूप ही पदार्थ है, उस उभयात्मक भावसे अतिरिक्त वस्तु कोई जुदा पदार्थ नहीं है। उन दोनोंका ऐक्यभाव ही वस्तु है, वह दीप और प्रकाशके समान है। दीपसे प्रकाश भिन्न नहीं है और प्रकाशसे दीप भिन्न नहीं है।

कच्ची पक्की पृथ्वी भी दृष्टान्ताभास है

आमानामविशिष्टं पृथिवीत्वं नेह भवति दृष्टान्तः ।
क्रमवर्तित्वादुभयोः श्वेतरपक्षद्वयस्य घातित्वात् ॥३७६॥
परपक्षवधस्तावत् क्रमवर्तित्वाच्च स्वतः प्रतिज्ञायाः ।
असमर्थसाधनत्वात् स्वयमपि वा बाधकः स्वपक्षस्य ॥३७७॥
तत्साध्यमनित्यं वा यदि वा नित्यं निसर्गतो वस्तु ।
स्यादिह पृथिवीत्वतया नित्यमनित्यं ह्यपक्वपक्वतया ॥३७८॥

— यहाँपर अनुमान वाक्य यह है-एकपदार्थोपादानकारणकौ सत्परिणामौ, समकालाविर्भावकौ, एकपदार्थोपादानकारणकत्वात्, सव्येतरगोविषाणवत्। जिसप्रकार गौके सींगोंका उपादान कारण गौ है इसलिये दोनों सींगोंकी एक साथ उत्पत्ति होती है, उसीप्रकार सत् परिणामका भी एक पदार्थ उपादान कारण है इसलिये वे भी समानकालमें उत्पन्न होते हैं। यह अनुमान ठीक नहीं है। यहाँपर आश्रयासिद्ध दोष आता है।

अर्थः—कच्ची पक्की पृथ्वी भी सत् परिणामके विषयमे दृष्टान्त नही हो सकती है, क्योकि कच्ची पृथ्वी (कच्चा घडा) पहले होती है पक्की पृथ्वी (पक्का घडा) पीछे होती है, दोनो क्रमसे होते है, इसलिये यह दृष्टान्त उभयपक्ष (जैन सिद्धान्त और शकाकार) का घातक है। अर्थात् इस दृष्टान्तसे दोनो ओरकी सिद्धि नही होती। जैन सिद्धान्तकी तो यो नही होती कि वह कच्चे पक्के घड़ेके समान सत् परिणामको आगे पीछे नही मानता है और इस दृष्टान्तसे तुम क्रमवर्त्तित्व, सिद्ध करनेकी प्रतिज्ञा ही कर चुके हो। परन्तु तुम्हारा यह हेतु कि क्रमसे सत् परिणाम होते है, असमर्थ है, क्योकि सत् परिणामको छोडकर नही रह सकता है और परिणाम सत्को छोड़कर नही रह सकता है। तथा इस दृष्टान्तसे शकाकारका पक्ष भी सिद्ध नही होता। शकाकार एक समयमे वस्तुको स्वभावसे नित्य ही सिद्ध करता है अथवा अनित्य ही सिद्ध करता है, परन्तु एक समयमें एक सिद्ध करना बाधित है, क्योकि दोनो धर्म एक समयमे वस्तुमे सिद्ध होते है, जिससमय पृथिवीत्व धर्मकी अपेक्षासे पृथिवीमे नित्यता सिद्ध है उसीसमय पक्व अपक्वरूपकी अपेक्षासे उसमे अनित्यता भी सिद्ध है। दोनो ही धर्म परस्पर सापेक्ष है, इसलिये दोनो एक साथ ही रह सकते है अन्यथा एककी भी सिद्धि नही हो सकती।

सपत्नीयुग्म भी दृष्टान्ताभास है

अपि च सपत्नीयुग्मं स्यादिति हास्यास्पदोपमा दृष्टिः ।
इह यदसिद्धविरुद्धानैकान्ति दोषदुष्टत्वात् ॥३७९॥
माता मे वन्ध्या स्यादित्यादिवदपि विरुद्धवाक्यत्वात् ।
कृतकत्वादिति हेतोः क्षणिकैकान्तात्कृतं कृतं विचारतया ॥३८०॥

अर्थः—दो सपत्नियो (सौतो) का दृष्टान्त तो हास्य पैदा करता है, यह दृष्टान्त तो सभी दोषोसे दूषित है, इस दृष्टान्तसे असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक आदि सभी दोष आते है। जिसप्रकार किसीका यह कहना कि मेरी माता बाँझ है, सर्वथा विरुद्ध है, उसीप्रकार सत् परिणामको दो सपत्नियोके समान क्रमसे उत्पन्न मानकर एक कालमे परस्पर विरुद्ध रीतिसे उनकी सत्ताका कथन करना भी विरुद्ध है। क्योकि सत् परिणाम न तो किसी काल विशेषमे क्रमसे उत्पन्न ही होते है, और न वे एक स्थानमे विरुद्ध रीतिसे ही रहते है, किन्तु अनादि अनन्त उनका परस्पर सापेक्ष प्रवाह युगपत् चला जाता है। इसलिये सपत्नीयुग्मका दृष्टान्त विरुद्ध ही है। तथा जिसप्रकार कृतकत्वहेतुसे घट शरावेके समान पदार्थोमे भिन्नता सिद्ध करना अनैकान्तिक है क्योकि पट और तन्तुओमे कृतक होनेपर भी अभिन्नता पाई जाती है। इसलिये कृतकत्व हेतु अनैकातिक

हेत्वाभास दोषसे दूषित है। इसीप्रकार सत् परिणामके विषयमें दो सपत्नियोंका दृष्टान्त भी अनैकान्तिक दोषसे दूषित है। क्योंकि दो सपत्नियां कहीं पर परस्पर विरुद्ध होकर रहती हैं और कहीं पर परस्पर एक दूसरेको सहायता चाहती हुई प्रेमपूर्वक अविरुद्ध भी रहती हैं यह नियम नहीं है कि दो सौतें परस्पर विरुद्ध रीतिसे ही रहें। इसलिये यह दृष्टान्त अनैकान्तिक दोषसे दूषित है। अथवा सपत्नी युग्ममें विरोधिता पाई जाती है कहीं नहीं भी पाई जाती है इसलिये अनैकान्तिक है तथा जिसप्रकार बौद्धका यह सिद्धान्त कि सब पदार्थ अनित्य हैं क्योंकि वे सर्वथा क्षणिक हैं, सर्वथा असिद्ध हैं* असिद्धताका हेतु भी यही है कि जो क्षणिकैकान्त हेतु दिया जाता है वह सिद्ध नहीं होता, क्योंकि पदार्थोंमें नित्यता भी प्रतीत होती है, यदि नित्यता पदार्थोंमें न हो तो यह वही पुरुष है जिसे दो वर्ष पहले देखा था, ऐसा प्रत्यभिज्ञान नहीं होना चाहिये परन्तु ऐसा यथार्थ प्रत्यभिज्ञान होता है, तथा यदि नित्यता पदार्थोंमें न मानी जाय तो स्मरण पूर्वक जो लोकमें लेन देनका व्यवहार होता है वह भी न हो सके, परन्तु वह भी यथार्थ होता है इत्यादि अनेक हेतुओंसे सर्वथा क्षणिकता पदार्थोंमें सिद्ध नहीं होती उसीप्रकार दो सपत्नियोंका दृष्टान्त भी सर्वथा असिद्ध है क्योंकि दो सपत्नियाँ दो पदार्थ हैं। यहाँ पर सत् परिणाम उभयात्मक एक ही पदार्थ है। दूसरे सपत्नीयुग्म विरोधी बनकर आगे पीछे क्रमसे होता है। सत् परिणाम एक कालमें अविरुद्ध रहते हैं। इसलिये यह दृष्टान्त हास्यकारक है, इस पर अधिक विचार करना ही व्यर्थ है।

बड़े छोटे भाईका दृष्टान्त भी दृष्टान्ताभास है

तद्वज्ज्येष्ठकनिष्ठभ्रातृद्वैतं विरुद्धदृष्टान्तः।
× सति चाऽधर्मिणि तत्त्वे तथाऽऽश्रयासिद्धदोषत्वात् ॥३८१॥
अपि कोपि परायत्तः सोपि परः सर्वथा परायत्तात्।
सोपि परायत्तः स्यादित्यनवस्था प्रसङ्गदोषश्च ॥३८२॥

अर्थः—छोटे बड़े भाईका दृष्टान्त भी ठीक नहीं है, क्योंकि वह साध्यसे विरुद्ध पड़ता है। हमारा साध्य उभय धर्मात्मक पदार्थ है, परन्तु दृष्टान्त तृतीय पदार्थकी सत्ता सिद्ध करता है। छोटे बड़े भाई विना मातापिताके नहीं हो सकते हैं, मातापिताके होते

---

* यहाँ पर समझानेकी दृष्टि रखकर निरूपण किया गया है, इसलिये हेतुवाद और अनुमान वाक्यका प्रयोग नहीं किया गया है।

× 'धर्मिणि चासति तत्त्वे', ऐसा सशोधित पुस्तकमें पाठ है।

हुए ही वे किसी काल विशेषसे क्रमसे उत्पन्न हुए है। परन्तु यह बात सत् परिणाममें नही है, न तो सत् परिणामका उन दोनोसे अतिरिक्त कोई आश्रय ही है और न उनकी काल विशेषसे क्रमसे उत्पत्ति ही है, इसलिये धर्मीका अभाव होनेसे आश्रयासिद्ध दोष आता है* दूसरी बात यह भी है कि इस दृष्टान्तसे अनवस्था दोष भी आता है क्योकि भाई उनके माता पिताके पराधीन होते है। ऐसा पराधीनताका सिद्धान्त माननेमे जो कोई भी पर होगा उसे पराधीन ही मानना पड़ेगा, जिसप्रकार पुत्र पिताके आधीन है, पिता अपने पिताके अधीन है, वह अपने पिताके अधीन है, इसीप्रकार सत् और परिणामको पराधीन माननेपर अनवस्था दोष आता है — क्योकि पराधीनतारूपी शृङ्खलाका कही अन्त नही आवेगा।

कारकद्वय भी दृष्टान्ताभास है

नार्थक्रियासमर्थो दृष्टान्तः रकादिवद्धि यतः।
सव्यभिचारित्वादिह सपक्षवृत्तिर्विप त्तिश्च ॥३८३॥
वृक्षे शाखा हि यथा स्याद त्मनि तथैव नानात्वे।
स्थाल्यां दधीतिहेतोर्व्यभिचारी कारकः कथं न स्यात् ॥३८४॥
अपि सव्यभिचारित्वे यथाकथञ्चित्सपक्षदक्षश्चेत्।
न यतः परपक्षरिपुर्यथा तथारिः स्वयं स्वपक्षस्य ॥३८५॥
साध्यं देशांशाद्वा सत्परिणामद्वयस्य सांशत्वम्।
तत्स्वाम्येकविलोपे कस्यांशा अंशमात्रएवांशः ॥३८६॥

अर्थः—आधार आधेय न्यायसे जो दो कारकोका दृष्टान्त दिया गया है वह भी ठीक नही है, वह व्यभिचारी है क्योकि वह सपक्ष विपक्ष दोनोमे ही रहता है। साध्यके अनुकूल दृष्टान्तको सपक्ष कहते है और उसके प्रतिकूल दृष्टान्तको विपक्ष कहते है। जो दृष्टान्त साध्यका सपक्ष भी हो तथा विपक्ष भी हो वह व्यभिचार दोष विशिष्ट दृष्टान्त कहलाता है। सत् परिणामके विषयमे दो कारकोका दृष्टान्त भी ऐसा ही है। क्योकि जैसे आधार आधेय दो कारक 'वृक्षे शाखा' (वृक्षमे शाखा) यहाँ पर अभिन्न—एकात्मक

---

* आश्रयासिद्ध दोपका विवेचन किया जा चुका है।

— 'अप्रामाणिकानन्तपदार्थकल्पनयाऽविश्रान्तिरनवस्था, अर्थात् बिना किसी प्रमाणके अनन्त पदार्थोंकी कल्पना करते चले जाना इसीका नाम अनवस्था है। जहाँ पर प्रमाणभूत हैं वहाँ यह दोप नहीं समझा जाता जैसे-पिता पुत्र, बीज वृक्ष आदि कार्यकारण भावमें।

पदार्थमें होते है, वैसे 'स्थाल्या दधि' (वटलोईमे दही) यहाँ पर भिन्न–अनेक पदार्थोमे भी होते है। अर्थात् 'वृक्षे शाखा' यहाँ पर जो आधार आधेय है वह अभिन्न पदार्थमे है इसलिये सपक्ष है। परन्तु 'स्थाल्या दधि' यहाँ पर जो आधार आधेय है वह भिन्न दो पदार्थोमे है इसलिये वह विपक्ष है। इसलिये दो कारकोका दृष्टान्त व्यभिचारी है। यदि कोई यह कहे कि यह दृष्टान्त व्यभिचारी भले ही हो, परन्तु इससे अपने पक्षकी सिद्धि भी किसी तो प्रकार हो ही जाती है। यह कहना भी ठीक नही है, क्योकि व्यभिचारी दृष्टान्त जैसे दूसरे पक्षका शत्रु है वैसे अपने अपने पक्षका भी तो स्वयं शत्रु है अर्थात् व्यभिचारी दृष्टान्त जैसे सपक्षमे रहकर साध्यकी सिद्धि कराता है वैसे विपक्षमे रहकर वह साध्य विरुद्ध भी तो हो जाता है। इसलिये यह दृष्टात दृष्टाताभास है। यहाँपर सत् और परिणाममे देशके अश होनेसे अशपना सिद्ध किया जाता है और उनका आधार उनसे भिन्न पदार्थ सिद्ध किया जाता है (यह शकाकारका मत है) यदि उन दोनोका कोई स्वामी–आधारभूत पदार्थ हो तव तो आधार आधेयभाव उनमे वन जाय, परन्तु सत् परिणामसे अतिरिक्त उनका कोई स्वामी ही नही है तो फिर ये दोनो किसके अश कहलावेगे, वे दोनो तो अश स्वरूप ही माने जा चुके है? इसलिये कारकद्वयका दृष्टात ठीक नही है।

वीजाकुर भी दृष्टान्ताभास है

नाप्युपयोगी क्वचिदपि बीजाङ्कुरवदिहेति दृष्टान्तः।
स्वावसरे स्वावसरे पूर्वापरभावभावित्वात् ॥३८७॥
बीजावसरे नाङ्कुर इव बीजं नाङ्कुरक्षणे हि यथा।
न तथा सत्परिणामद्वैतस्य तदेककालत्वात् ॥३८८॥

अर्थः—बीज और अकुरका दृष्टान्त भी सत् परिणामके विपयमे उपयोगी नही पडता है, क्योकि बीज अपने समयमे होता है, अकुर अपने समयमे होता है। दोनो ही पूर्वापरभाववाले है अर्थात् आगे पीछे होनेवाले है जिसप्रकार वीजके समयमे अकुर नही होता है और अकुरके समयमे बीज नही होता है, उसप्रकार सत् और परिणाममे पूर्वापरभाव नही होता है, उन दोनोका एक ही काल है। उसीको स्पष्ट करते है—

सदभावे परिणामो भवति न सत्ताक आश्रयाभावात्।
दीपाभावे हि यथा तत्क्षणमिव दृश्यते प्रकाशो न ॥३८९॥

अर्थः—जिसप्रकार दीपकका अभाव होनेपर उसीसमय प्रकाशका भी अभाव हो

जाता है, कारण—दीपक प्रकाशका आश्रय है, बिना दीपकके प्रकाश किसके आश्रय ठहरे ? उसीप्रकार सत्के अभावमे परिणाम भी अपनी सत्ता नही रख सकता है, कारण—परिणामका सत् आश्रय है, बिना आश्रयके आश्रयी कैसे रह सकता है ? अर्थात् नही रह सकता।

भावार्थः—परिणाम पर्यायका नाम है, पर्याय किसी द्रव्य अथवा गुणमे ही हो सकती है, जो सत् (भावात्मक) ही नही है उसमे पर्यायका होना उसीप्रकार असम्भव है जिसप्रकार कि गधेके सीगोका होना असम्भव है। इसलिये सत् और परिणाम दोनोका एक ही काल है।

परिणामाभावेपि च सदिति च नालम्बते हि सत्तान्ताम् ।
स यथा प्रकाशनाशे प्रदीपनाशोप्यवश्यमध्यक्षात् ॥३९०॥

अर्थः—जिसप्रकार प्रकाशका नाश होनेपर दीपकका नाश भी प्रत्यक्ष दीखता है, अर्थात् जहाँ प्रकाश नही रहता, वहाँ दीपक भी नही रहता है। उसीप्रकार परिणामके अभावमे सत् भी अपनी सत्ताको नही अवलम्बन कर सकता है।

भावार्थः—दीपक और प्रकाशका सहभावी अविनाभाव है, जबतक दीपक रहता है तभी तक उसका प्रकाश भी रहता है, और जबतक प्रकाश रहता है तभी तक दीपक भी रहता है, ऐसा नही हो सकता कि प्रकाश न रहे और दीपक रह जाय, प्रकाशाभावमे दीपक कोई पदार्थ नही ठहरता। दीपक तेल, बत्ती और शरावेका नाम नही है किन्तु प्रकाशमान लौ (ज्योति)का है। दीप प्रकाशके समान ही सत् परिणामको समझना चाहिये। सत् सामान्य है, परिणाम विशेष है, न तो बिना सामान्यके विशेष ही हो सकता है, और न बिना विशेषके सामान्य ही हो सकता है * इसलिये सामान्य विशेपात्मक—सत् परिणाम दोनो समकालभावी है और कथञ्चित् अभिन्न है।

क्षणभेद माननेमें दोष

अपि च क्षणभेदः किल भवतु यदीहेष्टसिद्धिरनायासात् ।
सापि न यतस्तथा सति सतो विनाशोऽसतश्च सर्गः स्यात् ॥३९१॥

अर्थः—यदि अनायास इष्ट पदार्थकी सिद्धि हो जाय तो सत् और परिणाम दोनोका क्षणभेद—कालभेद भी मान लिया जाय, परन्तु कालभेद माननेसे इष्ट सिद्धि तो दूर रहो उल्टी हानि होती है। दोनोका कालभेद माननेपर सत्का विनाश और असत्की उत्पत्ति

* निर्विशेषं हि सामान्यं भवेच्छशविषाणवत् ।

होने लगेगी। क्योंकि जब दोनोंका काल भेद माना जायगा तो जो है वह सर्वथा नष्ट होगा और जो उत्पन्न होगा वह सर्वथा नवीन ही होगा। परन्तु ऐसा नहीं होता, सत्का विनाश और असत्की उत्पत्ति माननेमे जो दोष आते हैं उनका पहले (१० वें श्लोकमें) विवेचन किया जा चुका है।

कनकोपल भी दृष्टान्ताभास है

कनकोपलवदिहैषः क्षमते न परीक्षितः क्षणं स्थातुम्।
गुणगुणिभावाभावाद्यतः स्वयमसिद्धदोषात्मा ॥२९२॥
हेयादेयविचारो भवति हि कनकोपलद्वयोरेव।
तदनेकद्रव्यत्वान्न स्यात्साध्ये तदेकद्रव्यत्वात् ॥२९३॥

अर्थः—सत् परिणामके विषयमें कनकोपलका दृष्टांत भी ठीक नहीं है। यह दृष्टांत परीक्षा करनेपर क्षण मात्र भी नहीं ठहर सकता है। सोना और पत्थर इन मिले हुये दो द्रव्योंका नाम ही कनकोपल है। इसलिये कनकोपल दो द्रव्योंके समुदायका नाम है। कनकोपलमे गुणगुणीभाव नहीं है अतः यह दृष्टान्त असिद्ध है। क्योंकि जिसप्रकार सत् परिणाममें कथञ्चित् गुणगुणीभाव है इसप्रकार इस दृष्टांतमें नहीं है। दो द्रव्योंका समुदाय होनेसे ही कनकोपलमे कुछ अंशके ग्रहण करनेका और कुछ अंशके छोड़नेका विचार हो सकता है। परन्तु सत् परिणाममें इसप्रकार हेय उपादेय विचार नहीं हो सकता है, क्योंकि वे दोनों एक द्रव्यरूप हैं। जहांपर दो अथवा अनेक द्रव्य होते हैं वहीं पर एक द्रव्यका ग्रहण और एकका त्याग हो सकता है परन्तु जहाँ पर केवल एक ही द्रव्य है वहाँ पर ऐसा होना असम्भव ही है। इसलिये कनकोपलका दृष्टांत सर्वथा विषम है।

वाच्य वाचक भी दृष्टान्ताभास है

वागर्थद्वयमिति वा दृष्टान्तो न स्वसाधनायालम्।
घट इति वर्णद्वैतात् कम्बुग्रीवादिमानिहास्त्यपरः ॥२९४॥
यदि वा निस्सारतया वागेवार्थः समस्यते सिद्धयै।
न तथापीष्टसिद्धिः शब्दवदर्थस्याप्यनित्यत्वात् ॥२९५॥

अर्थः—वचन और पदार्थ अर्थात् वाच्य वाचक द्वैतका दृष्टांत भी अपनी सिद्धि करानेमें समर्थ नहीं है। क्योंकि घट—धकार और टकार इन दो वर्णोंसे कम्बुग्रीवादिवाला घट पदार्थ दूसरा ही है। जिस कम्बु (शंख) ग्रीवावाले घटमें जल रक्खा जाता है वह

घट पदार्थ उन घ-ट वर्णोंसे सर्वथा जुदा ही है। केवल घट शब्दके उच्चारण करनेसे उस घट पदार्थका बोध हो जाता है इतना ही मात्र घट शब्दका घट पदार्थके साथ वाच्य वाचक सम्बन्ध है। परन्तु सत् परिणाम इसप्रकार भिन्न नही है। यदि वागर्थ, शब्दका वचन और पदार्थ, यह अर्थ न किया जाय और दूसरा कि वचन रूप ही अर्थ किया जाय तो ऐसा अर्थ करना पहले तो निस्सार ही है परन्तु सिद्धिके लिये यदि वह माना भी जाय तो भी उससे अभीष्ट सिद्धि नही होती है, क्योकि दूसरे अर्थका यही आशय निकला कि शब्दके समान सत् परिणाम है, परन्तु ऐसा माननेसे शब्दके समान सत् परिणामात्मक पदार्थ भी अनित्य सिद्ध होगा, और ऐसी अनित्यता पदार्थमे अभीष्ट नही है इसलिये उक्त दृष्टान्त भी ठीक नही है।

भेरी दण्ड भी दृष्टान्ताभास है

स्यादविचारितरम्या भेरीदण्डवदिहेति संदृष्टिः।
पक्षाधर्मत्वेपि च व्याप्यासिद्धत्वदोषदुष्टत्वात् ॥३९६॥
युतसिद्धत्वं स्यादिति सत्परिणामद्वयस्य यदि पक्षः।
ए याऽपि न सिद्धिर्यदि वा सर्वोपि सर्वधर्मः स्यात् ॥३९७॥

अर्थः—भेरी दण्डका जो दृष्टान्त दिया गया है वह भी सत् परिणामके विषयमें अविचारित रम्य है अर्थात् जबतक उसके विषयमे विचार नही किया जाता है तभी तक वह अच्छा प्रतीत होता है। विचारनेपर नि:सार प्रतीत होता है। उसीका अनुमान इसप्रकार है—'सत्परिणामौ कार्यकारिणौ सयुक्तत्वात् भेरीदण्डवत्, अर्थात् शंकाकारका पक्ष है कि सत् परिणाम मिलकर कार्य करते है क्योकि वे सयुक्त हैं। जिसप्रकार भेरी दण्ड संयुक्त होकर कार्यकारी होते है। यह शकाकारका अनुमान ठीक नही है। क्योकि यहाँ पर जो 'सयुक्तत्व' हेतु दिया गया है वह सत् परिणामरूप पक्षमे नही रहता है। इसलिये हेतु व्याप्यासिद्ध* दोषसे दूषित है। अर्थात् सत् परिणाम भेरीदण्डके समान मिलकर कार्यकारी नही है, किन्तु कथचित् भिन्नता अथवा तादात्म्यरूपमें कार्यकारी है। यदि सत् परिणामको युतसिद्ध-भिन्न २ स्वतन्त्र माना जाय तो दोनोमेसें एक भी सिद्ध न हो सकेगा। क्योकि दोनो ही परस्पर एक दूसरेकी अपेक्षामे आत्मलाभ—

* पक्षमें हेतुकी असिद्धताको व्याप्यासिद्ध दोष कहते हैं अथवा साध्यके साथ हेतु जहाँपर व्याप्ति न रहता हो वहाँपर व्याप्यासिद्ध दोष आता है। यहाँपर-सत् परिणाममें न तो सयुक्तत्व हेतु रहता है और न कार्यकारित्वके साथ सयुक्तत्वकी व्याप्ति है।

स्वरूप सम्पादन करते हैं। यदि इन्हें स्वतन्त्र २ मानकर एकका दूसरा धर्म माना जाय तो ऐसी अवस्थामें सभी सबके धर्म हो जांयगे। कारण जब स्वतन्त्र रहनेपर भी एक दूसरेका धर्म माना जायगा तो धर्म धर्मीका कुछ नियम नहीं रहेगा। हर कोई हरएकका धर्म बन जाय इसमे कौन बाधक होगा?

भावार्थः—सत् परिणाम न तो भेरीदण्डके समान स्वतन्त्र ही है, और न सयोगी ही हैं। किन्तु परस्पर सापेक्ष तादात्म्य सम्बन्धी है इसलिये भेरीदण्डका दृष्टान्त सर्वथा असिद्ध है।

अपूर्ण न्याय भी दृष्टान्ताभास है

इह यदपूर्णन्यायादस्ति परीक्षाक्षमो न दृष्टान्तः।
अविशेषत्वापत्तौ द्वैताभावस्य दुर्निवारत्वात् ॥३९८॥
अपि चान्यतरेण विना यथेष्टसिद्धिस्तथा तदितरेण।
भवतु विनापि च सिद्धिः स्यादेवं कारणाद्यभावश्च ॥३९९॥

अर्थः—यहांपर अपूर्ण न्यायसे एकका मुख्यतासे दूसरेका उदासीनतासे ग्रहण करने रूप दृष्टान्त भी परीक्षा करने योग्य नहीं है। क्योंकि अपूर्ण न्यायसे जिसका मुख्यतासे ग्रहण किया जायगा वही प्रधान ठहरेगा, दूसरा जो उदासीनतासे कहा जायगा वह नहीं के बराबर सामान्य ठहरेगा, ऐसी अवस्थामे द्वैतका अभाव दुर्निवार ही होगा, अर्थात् जब दूसरा उदासीन नहीं के तुल्य है तो एक ही समझना चाहिये, इसलिये एककी ही सिद्धि होगी, परन्तु सत् परिणाम दो हैं। अत अपूर्ण न्यायका दृष्टान्त उनके विषयमे ठीक नहीं है यदि यह कहा जाय कि दोनो ही यद्यपि समान है तथापि एकको मुख्यतासे कह दिया जाता है तो यह कहना भी विरुद्ध ही पडता है, जब दोनोकी समानतामे भी एकके विना दूसरेकी सिद्धि हो जाती है तो दूसरेकी भी सिद्धि पहलेके विना हो जायगी, अर्थात् दोनो ही निरपेक्ष अथवा एक व्यर्थ सिद्ध होगा, ऐसी अवस्थामे कार्यकारण भाव भी नहीं बन सकेगा। क्योंकि कार्यकारण भाव तो एक दूसरेकी आधीनतामे ही बनता है। इसलिये अपूर्ण न्यायका दृष्टान्त सब तरह विरुद्ध ही पडता है।

मित्रद्वैत भी दृष्टान्ताभास है

मित्रद्वैतवदित्यपि दृष्टान्तः स्वप्नसन्निभो हि यतः।
स्याद्गौरवप्रसंगाद्धेतोरपि हेतु हेतुरनवस्था ॥४००॥

तदुदाहरणं कश्चित्स्वार्थं सृजतीति मूलहेतुतया ।
अपरः सहकारितया तमनु तदन्योपि दुर्निवारः स्यात् ॥४०१॥
कार्यम्प्रति नियतत्वाद्धेतुद्वैतं न ततोऽतिरिक्तंचेत् ।
तन्न यतस्तन्नियमग्राहकमिव न प्रमाणमिह ॥४०२॥

अर्थः—एक अपने कार्यको सिद्ध करता है, दूसरा उसका उसके कार्यमे सहायक होता है, यह मित्रद्वयका दृष्टात भी स्वप्नके समान ही है। जिसप्रकार स्वप्नमे पाये हुए पदार्थसे कार्यसिद्धि नही होती है, उसीप्रकार इस दृष्टातसे भी कुछ कार्यसिद्धि नही होती है, क्योकि इस दृष्टातसे हेतुका हेतु उसका भी फिर हेतु, उस हेतुका भी हेतु मानना पडेगा। ऐसा माननेसे अनवस्था दोष आवेगा और गौरवका प्रसग भी आवेगा। उसका दृष्टात इसप्रकार है कि जैसे कोई पुरुष मुख्यतासे अपने कार्यको सिद्ध करता है और दूसरा उसका मित्र उसके उस कार्यमे सहायक हो जाता है। जिसप्रकार दूसरा पहलेकी सहायता करता है उसीप्रकार दूसरेकी सहायताके लिये तीसरे सहायककी आवश्यकता है, उसके लिये चौथेकी, उसके लिये पांचवेकी, इसप्रकार उत्तरोत्तर सहायकोकी योजना अवश्य ही अनिवार्य (प्राप्त) होगी* यदि यह कहा जाय कि एक कार्यके लिये दो कारणोकी ही आवश्यकता होती है (१) उपादान कारण (२) निमित्त कारण अथवा एक कार्यमे दो ही सहायक मित्र आवश्यक होते है। उनसे अतिरिक्त कारणोकी आवश्यकता ही नही होती तो यह कहना भी अयुक्त है, क्योकि एक कार्यमे दो ही कारण होते है उनसे अधिक होते ही नही, इस नियमका विधायक कोई प्रमाण नही है+ इसलिये सत् परिणामके विषयमे मित्रद्वयका दृष्टात भी कुछ कार्यकारी नही है।

शत्रुद्वैत भी दृष्टान्ताभास है

एवं मिथो विपक्षद्वैतवदित्यपि न साधुदृष्टान्तः ।
अनवस्थादोषत्वाद्यथाऽरिरस्यापरारिरपि यस्मात् ॥४०३॥
कार्यम्प्रति नियतत्वाच्छत्रुद्वैते न ततोऽतिरिक्तं चेत् ।
तन्न यतस्तन्नियमग्राहकमिव न प्रमाणमिह ॥४०४॥

अर्थः—जिसप्रकार मित्र द्वैतका दृष्टात ठीक नही है, उसीप्रकार शत्रु द्वैतका

---

* अप्रामाणिक अनन्त पदार्थोंकी कल्पनाके अन्त न होनेका नाम ही अनवस्था है। यह दोष है।

+ उपादान-प्रेरक-उदासीन आदि कारण एक कार्यमें आवश्यक होते हैं। सम्भव है एक कार्यमें अनेक मित्रोंकी सहायता आवश्यक हो।

दृष्टात भी ठीक नही है। क्योंकि जिसप्रकार मित्र द्वैतके दृष्टान्तमे अनवस्था दोष आता है, उसीप्रकार शत्रुद्वैतके दृष्टातमे भी अनवस्था दोष आता है। जैसे एक पुरुषका दूसरा शत्रु है, वैसे दूसरेका तीसरा और तीसरेका चौथा शत्रु भी होगा। इस शत्रुमालाका भी कही अन्त नही दीखता है। यदि कहा जाय कि एक कार्यके प्रति दो शत्रु ही नियत है, दोसे अधिक नही होते है तो यह कहना भी अयुक्त है, क्योंकि एक कार्यमे दो ही शत्रु होते है, उन शत्रुओके शत्रु नही होते ऐसा नियम करनेमे कोई प्रमाण नही है। इसलिये दो शत्रुओका दृष्टात भी सत् परिणामके विषयमे विरुद्ध ही है।

भावार्थः—सत् परिणाम दो शत्रुओंके समान परस्पर विरुद्धरूपसे नही रहते है किंतु परस्पर सापेक्ष रूपसे ही रहते है। परस्पर सापेक्ष रहते हुए भी दो मित्रोंके समान एक मुख्य साधक दूसरा सहायक साधक भी उनमे नही है किंतु दोनो मिलकर ही समानरूपसे स्वकार्य साधक एक पदार्थ सिद्धिसाधक है। इसलिये उनके विषयमे शत्रुमित्र दोनोके दृष्टात ही विरुद्ध हैं।

रज्जु युग्म भी दृष्टान्ताभास है

वामेतरकरवर्तिरज्जुयुग्मं न चेह दृष्टान्तः।
वाधितविषयत्वाद्वा दोषात्कालात्ययापदिष्टत्वात् ॥४०५॥
तद्वाक्यमुपादानकारणसदृशं हि कार्यमेकत्वात्।
अस्त्यनतिगोरसत्वं दधिदुग्धावस्थयोर्यथाध्यक्षात् ॥४०६॥

अर्थः—छाछको विलोते समय दांये बांये हाथमे रहनेवाली रस्सियोंका दृष्टान्त भी ठीक नही है। क्योकि इस दृष्टान्त द्वारा दोनोको विमुख रहकर कार्यकारी बतलाया गया है। परन्तु परस्परकी विमुखतामे कार्यकी सिद्धि नही होती, उलटी हानि होती है, इसलिये इस दृष्टान्तमे प्रत्यक्ष प्रमाणसे वाधा आती है। अतः यह दृष्टान्त कालात्ययापदिष्ट दोष विशिष्ट है अर्थात् वाधित है। क्यो वाधित है? इसका विवेचन इसप्रकार है—जहांपर एक कार्य होता है वहांपर उपादान कारणके समान ही कार्य होता है। ऐसा प्रत्यक्षसे भी देखा जाता है जैसे कि गौके दूधमे गोरसपना है वैसे उसके दहीमे भी गोरसपना अवश्य है।

भावार्थः—दांयें बांयें हाथमे रहनेवाली रस्सियां परस्पर एक दूसरेसे विमुख रहकर एक कार्य—छाछ विलोनारूप कार्य करती है, ऐसा दृष्टान्त ही प्रत्यक्ष वाधित है, क्योकि छाछ विलोते समय एक हाथकी रस्सीको सकोचना और दूसरे हाथकी रस्सीको फैलाना

यह एक ही कार्य है, दो नही। उनका समय भी एक है। जिससमय दाँया हाथ फैलता है। उसीसमय बाँया सकुचित होता है। तथा दोनो हाथोकी रस्सियाँ परस्पर विरुद्ध भी नही है, जिससमय दॉया हाथ फैलता है उससमय बाँया सकुचित नही होता किन्तु उसकी सहायता करनेके लिये उधरको ही बढता है, यदि वह उधर बढकर सहायक न होता हो तो दॉया हाथ फैल ही नही सकता, इसलिये परस्पर विरुद्ध नही किन्तु अनुकूल ही दोनो हाथोकी रस्सियाँ है। सबसे बडी बात तो यह है कि जिन्हे दो रस्सियोके नामसे पुकारा जाता है वे दो नही किन्तु एक ही है। एक ही रस्सी कभी दाँयेकी ओर कभी बॉये हाथकी ओर जाती है, इसलिये दो रस्सियोका दृष्टांत सर्वथा बाधित है। अथवा इसका दूसरा आशय इसप्रकार है कि यदि शकाकार यह अनुमान बनावे कि 'सत्परिणामौ विसन्धिरूपौ कार्यकारित्वात् वामेतरकरवर्त्तित रज्जूयुग्मवत्, अर्थात् सत्परिणाम परस्पर विमुख बनकर कार्य करते है। जैसे बाँये दाँये हाथकी दो रस्सियाँ तो उसका यह अनुमान प्रत्यक्ष बाधित है। क्योकि सत्परिणाम परस्पर सापेक्ष तादात्म्यस्वरूप है। जहाॅ एक पदार्थमे कार्यकारित्व होता है वहाँ कारणके सदृश ही होता है जहांपर अनेक पदार्थोमे कार्यकारित्व होता है वहांपर ही विमुखताकी सभावना रहती है।

सुन्दोपसुन्द भी दृष्टान्ता भास है।

सुन्दोपसुन्दमल्लद्वैतं दृष्टान्ततः प्रतिज्ञातम्।
तदमदमत्वापत्तेरितरेतरनियतदोषत्वात् ॥४०७॥
सत्युपसुन्दे सुन्दो भवति च सुन्दे किलोपसुन्दोपि।
एकस्यापि न सिद्धिः क्रियाफलं वा तदात्मसुखदोषात् ॥४०८॥

अर्थः—सुन्द और उपसुन्द इन दो मल्लोका जो दृष्टात दिया गया है वह भी ठीक नही है, क्योकि इस दृष्टातसे अन्योन्याश्रय दोषके साथ ही पदार्थके अभावका प्रसङ्ग आता है। जैसे–जब उपसुन्द है तब उसका प्रतिपक्षी सुन्द सिद्ध होता है, और जब सुन्द है तब उसका प्रतिपक्षो उपसुन्द सिद्ध होता है। ये दोनो ही एक दूसरेके आश्रित सिद्ध होते है इसीका नाम अन्योन्याश्रय दोष है।* अन्तमे दोनोमेसे एककी भी सिद्धि नही

* जहाॅ पर दो पदार्थोंमें एककी सिद्धि दूसरे पर अवलम्बित रहती है वहाॅ पर अन्योन्याश्रय दोष आता है। जैसे वैदिक ईश्वरके पास उपकरण–सामग्री हो तो वह सृष्टि रचे, और जब वह सृष्टि रचे तब उसके पास उपकरण–सामग्री हो। इन दोनोंमें एक दूसरेके आधीन होनेसे एक भी सिद्ध नहीं होता है।

हो पाती अर्थात् दोनो ही मर जाते हैं। इसलिये उनमे कुछ भी कार्य सिद्ध नहीं हो पाता। यह दोष शंकाकारने अपने मुखसे ही कह डाला है।

भावार्थः—सुन्द, उपसुन्द मल्लोंके समान सत् परिणामको यदि माना जाय तो उनकी असिद्धि और उनका अभाव सिद्ध होगा।

यदि उन्हें अनादि सिद्ध माना जाय तो

अथ चेदनादिसिद्धं कृतकत्वापह्नवानदेवेह।
तदपि न तद्द्वैतं किल व्यक्तदोषास्पदं यदत्रेतत् ॥४०९॥

अर्थः—यदि यह कहा जाय कि सत् परिणाम दोनो अनादि सिद्ध हैं। वे किसीके किये हुए नही है। उनमे सदा ये वे ही हैं ऐसी नित्यताकी प्रतीति भी होती रहती है तो ऐसा कहना भी निर्दोष सिद्ध नहीं होता है कारण कि उसप्रकारकी नित्यतामें परिणाम नहीं बन सकता है। परिणामकी सिद्धि वहीं पर हो सकती है जहाँ पर कि कथंचित् अनित्यता है। सर्वथा नित्यमे परिणाम नहीं बन सकता है। इसलिये उपर्युक्त रीतिके अनुसार मानने पर भी सत् परिणामके द्वैतमे निर्दोषता नहीं सिद्ध होती है।

भावार्थः—अनादि सिद्ध माननेसे शंकाकारने सत् परिणाममे अन्योन्याश्रय दोषको हटाना चाहा था, परन्तु उसकी ऐसी अनादि सिद्धतामे द्वैतभाव ही हट जाता है। इसलिये कथंचित् (पर्यायकी अपेक्षासे) अनित्यताको लिये हुए ही पदार्थ अनादि सिद्ध है।

उपर्युक्त दृष्टान्त प्रशंसनीय नहीं है

दृष्टान्ताभासा इति निक्षिप्ताः स्वेष्टसाध्यशून्यत्वात्।
लक्ष्योन्मुखेषव इव दृष्टान्तास्त्वथ यथा प्रशस्यन्ते ॥४१०॥

अर्थः—ऊपर जो दृष्टान्त दिये गये है वे सब दृष्टान्ताभास+ है उनसे उनके साध्यकी सिद्धि नहीं होती है। जो दृष्टान्त लक्ष्यके सन्मुखबाणोंके समान स्व साध्यकी सिद्धि कराते हैं वे ही दृष्टान्त प्रशंसनीय कहे जाते हैं।

सत परिणाम कथञ्चित भिन्न अभिन्न हैं

सतपरिणामाद्वैतं स्यादविभिन्नप्रदेशवत्वाद्वै।
सत्परिणामद्वैतं स्यादपि दीपप्रकाशयोरेव ॥४११॥

+ साध्यकी सिद्धि करानेवालेको दृष्टान्त कहते हैं, परन्तु जो साध्यकी सिद्धि तो नहीं करावे, किन्तु दृष्टान्तसा दीखता हो उसे दृष्टान्ताभास कहते हैं।

अर्थः—सत् परिणामके भिन्न प्रदेश नही है किन्तु अभिन्न है, इसलिये उन दोनोमे द्वैत भाव नही है, अर्थात् दोनों एक ही अद्वैत है। तथा कथंचित् सत् और परिणाममें द्वैत भी है, अर्थात् कथचित् सत् भिन्न है और परिणाम भिन्न है। सत् परिणाममें कथंचित् भिन्नता और कथचित् अभिन्नता ऐसी ही है जैसी कि दीप और प्रकाशमें होती है। दीपसे प्रकाश कथचित् भिन्न भी है और कथचित् अभिन्न भी है।

और भी

अथवा जलकल्लोलवदद्वैतं द्वैतमपि च तद्द्वैतम् ।
उन्मज्जच्च निमज्जन्नाप्युन्मज्जन्निमज्जदेवेति ॥४१२॥

अर्थः—अथवा सत् परिणाममे जल और उसकी तरगोके समान कथंचित् भिन्नता और अभिन्नता है। जलमे एक तरग उछलती है दूसरी शान्त होती है, फिर तीसरी उछलती है चौथी शान्त होती है। इस तरंगोके प्रवाहसे तो प्रतीत होता है कि जलसे तरंगे भिन्न है। परन्तु वास्तव दृष्टिसे विचार किया जाय तो न कोई तरंग उछलती है और न कोई शान्त होती है; केवल जल ही जल प्रतीत होता है। विचार करने पर तरंगे भी जलमय ही प्रतीत होने लगती है, इसीप्रकार सत्से परिणाम कथचित् भिन्न भी प्रतीत होता है, क्योकि जो एक समयमे परिणाम है, वह दूसरे समयमे नही है। जो दूसरे समयमे है वह तीसरेमे नही है। यदि द्रव्य दृष्टिसे विचार किया जाय तो उन प्रतिक्षरणमे होनेवाले परिणामो—अवस्थाओका समूह ही द्रव्य है। अनादि—अनन्तकालके परिणामसमूहको छोड़कर सत् और कोई पदार्थ नही है, इसलिये सत्से परिणाम भिन्न भी नही है।

भावार्थः—विवक्षाधीन दोनोकी सिद्धि होती है।

और भी

घटमृत्तिकयोरिव वा द्वैतं तद्द्वैतवदद्वैतम् ।
नित्यं मृण्मात्रतया यदनित्यं घटत्वमात्रतया ॥४१३॥

अर्थः—अथवा सत् परिणाममे घट और मिट्टीके समान द्वैतभाव और अद्वैतभाव है मृत्तिका रूपसे तो उस पदार्थमे नित्यता आती है और घटरूप पर्यायकी अपेक्षासे उसमें अनित्यता आती है। उसीप्रकार द्रव्य दृष्टिसे सत् कहा जाता है और पर्याय दृष्टिसे परिणाम कहा जाता है।

उसीका खुलासा

अयमर्थः सन्नित्यं तदभिज्ञप्तेर्यथा तदेवेदम् ।
न तदेवेदं नियमादिति प्रतीतेश्च सत्त्वनित्यं स्यात् ॥४१४॥

अर्थः—उपर्युक्त कथनका तात्पर्य यह है कि सत् कथचित् नित्य भी है और कथचित् अनित्य भी है । किसी पुरुषको १० वर्ष पहले देखनेके पीछे दुबारा जब देखते है तब उसका वही स्वरूप पाते है जो कि १० वर्ष पहले हमने देखा था, इसलिये हम झट कह देते है कि यह वही पुरुष है जिसे हमने पहले देखा है, इस प्रत्यभिज्ञानरूप प्रतीतिसे तो सत् नित्य सिद्ध होता है, और उस पुरुषकी १० वर्ष पहले जो अवस्था थी वह १० वर्ष पीछे नही रहती । १० वर्ष पीछे एक प्रकारसे वह पुरुष हो बदल जाता है । फिर उसमे यह प्रतीति होने लगती है कि यह वैसा नही है, इस प्रतीतिसे सत् अनित्य सिद्ध होता है ।

और भी

अप्युभयं युक्तिवशादेकं सच्चैककालमेकोक्तेः ।
अप्यनुभयं सदेतन्नयप्रमाणादिवादशून्यत्वात् ॥४१५॥

अर्थः—युक्तिवश–विवक्षावश सत् उभय दो रूप भी है, और एककी विवक्षा करनेसे एक कालमे एक ही कहा जाता है, इसलिये वह एक है, अर्थात् विवक्षावश सत् कथचित् एक रूप है और कथचित् उभयरूप है तथा वही सत् अनुभयरूप भी प्रतीत होने लगता है जबकि नय प्रमाणादि वादसे वह रहित होता है, अर्थात् विकल्पातीत अवस्थामे वह सत् न एक है न दो है, किन्तु अनुभयरूप प्रतीत होता है ।

और भी

व्यस्तं सन्नयप्रयोगान्नित्यं नित्यत्वमात्रतस्तस्य ।
अपि च समस्तं सदिति प्रमाणसापेक्षतो विवक्षायाः ॥४१६॥

अर्थः—नयकी विवक्षा करनेसे सत् पृथक् २ (जुदा) है । नित्यत्वकी विवक्षा करने पर वह नित्य मात्र ही है, और प्रमाणकी विवक्षा करनेसे वही सत् समस्त (अभिन्न–नित्यानित्य) है ।

उभयथा–अविरुद्ध है

न विरुद्धं क्रमवर्ति च सदिति तथाऽनादितोपि परिणामि ।
अक्रमवर्ति सदित्यपि न विरुद्धं सदैकरूपत्वात् ॥४१७॥

अर्थः—सत् क्रमवर्ती–क्रमसे परिवर्त्तनशील है, यह बात भी विरुद्ध नही है। क्योंकि वह अनादिकालसे परिणमन करता आया है तथा वह सत् अक्रमवर्ती है, यह बात भी विरुद्ध नही है क्योकि परिवर्त्तनशील होने पर भी वह सदा एकरूप ही रहता है।

भावार्थः—द्रव्य अनन्त गुणोका समूह है, उन सब गुणोके कार्य भी भिन्न २ है। उनमें एक द्रव्यत्व गुण भी है उस गुणका यह कार्य है कि द्रव्य सदा परिणमन करता रहे, कभी भी परिणाम रहित न हो। द्रव्यत्व गुणके निमित्तसे द्रव्य सदा परिणमन करता रहता है, परन्तु परिणमन करते हुए भी एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप कभी नही हो सकता, अर्थात् जीव द्रव्य पुद्गलरूप अथवा पुद्गल द्रव्य जीवरूप कभी नही हो सकता, ऐसा क्यों नही होता ? इसका उत्तर यह है कि उन्ही गुणोंमें एक अगुरुलघु नामा भी गुण है उसका यह कार्य है कि कोई भी द्रव्य परिणमन अपने स्वरूपमें ही करे, एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप कभी न हो, एक गुण भी दूसरे गुणरूप न हो, तथा एक द्रव्यके अनन्त गुण जुदे २ न बिखर जांय किन्तु तादात्म्यरूपसे बने रहैं। इसप्रकार द्रव्य क्रमवर्ती–अक्रमवर्ती, नित्य–अनित्य, भिन्न–अभिन्न, एक–अनेक, उभय–अनुभय, पृथक्–अपृथक् आदि अनेक धर्मवाला विवक्षासे सिद्ध होता है।

शंकाकार

ननु किमिह जगदशरणं विरुद्धधर्मद्वयाधिरोपत्वात्।
स्वयमपि संशयदोलान्दोलित इव चलितप्रतीतिः स्यात् ॥४१८॥
इह कश्चिज्जिज्ञासुर्नित्यं सदिति प्रतीयमानोपि।
सदनित्यमिति विपक्षे सति शल्ये स्यात्कथं हि निःशल्यः ॥४१९॥
इच्छन्नपि सदनित्यं भवति न निश्चितमना जनः कश्चित्।
जीवदवस्थत्वादिह सन्नित्यं तद्विरोधिनोऽध्यक्षात् ॥४२०॥
तत एव दुरधिगम्यो न श्रेयान् श्रेयसे ह्यनेकान्तः।
अप्यात्मसुखदोषात् सव्यभिचारो यतो चिरादिति चेत् ॥४२१॥

अर्थः—क्या एक द्रव्यमे दो विरोधी धर्म रह सकते है ? यदि ऊपरके कथनानुसार रह सकते है तब तो इस जगत्मे कोई भी शरण नही रहेगा। सर्वत्र ही विरुद्ध धर्म उपस्थित रहेगे। ऐसी विरुद्धतामे कोई भी पदार्थोंके समझनेकी इच्छा रखनेवाला–जिज्ञासु कुछ निश्चय नही कर सकेगा किन्तु वह स्वय सशयरूपी झूलेमे झूलने लगेगा, क्योकि वह जिससमय सत्-वस्तुको नित्य समझेगा उसीसमय उसको नित्यताकी विरोधिनी

अनित्यता भी उसमे प्रतीत होगी, ऐसी अवस्थामे वह न तो वस्तुमे नित्यता ही स्थिर कर सकेगा और न अनित्यता ही स्थिर कर सकेगा किन्तु सदा सशल्य-सशयवान् बना रहेगा। उसीप्रकार यदि वह यह समझने लगे कि वस्तु अनित्य ही होती है, तो भी वह निश्चित विचारवाला नि सशयी नही बन सकेगा, क्योंकि उसीसमय अनित्यका विरोधी नित्यरूप-सदा वस्तुको निजरूप भी वस्तुमे उसे प्रत्यक्ष दीखने लगेगा। इन वातोसे जाना जाता है कि अनेकान्त-स्याद्वाद बहुत ही कठिन है, अर्थात् सब कोई इसका पार नही पा सकते है, इसीलिये यह अच्छा नही है, क्योंकि सहसा इससे कल्याण नही होता है, दूसरी वात यह भी है कि यह अनेकान्त स्वय ही दोषी बन जाता है, क्योंकि जो कुछ भी यह कहता है उसीसमय उसका व्यभिचार-निरोध खडा हो जाता है, इसलिये यह अनेकान्त ठीक नही है ?

उत्तर

तन्न यतस्तदभावे बलवानस्तीह सर्वथैकान्तः।
सोपि च सदनित्यं वा सन्नित्यं वा न साधनायालम् ॥४२२॥

अर्थः—शकाकारका उपर्युक्त कहना ठीक नही है क्योंकि यदि अनेकान्तका अभाव मान लिया जाय तो उससमय एकान्त ही सर्वथा बलवान सिद्ध होगा, वह या तो सत्को सर्वथा नित्य ही कहेगा अथवा सर्वथा उसे अनित्य ही कहेगा, परन्तु सर्वथा एकान्तरूपसे पदार्थमे न तो नित्यता ही सिद्ध होती है और न अनित्यता ही सिद्ध होती है। इसलिये एकान्त पक्षसे कुछ भी सिद्धि नही होती है। इसी वातको नित्य अनित्य पक्षो द्वारा नीचे दिखाते है—

सन्नित्यं सर्वस्मादिति पक्षे विक्रिया कुतो न्यायात्।
तदभावेपि न तत्त्वं क्रियाफलं कारकाणि यावदिति ॥४२३॥
परिणामः सदवस्थाकर्मत्वाद्विक्रियेति निर्देशः।
तदभावे सदभावो नासिद्धः सुप्रसिद्धदृष्टान्तात् ॥४२४॥

अर्थः—सर्वथा सत् नित्य ही है, ऐसा पक्ष स्वीकार करनेपर पदार्थमे विक्रिया किस न्यायसे हो सकती है ? अर्थात् नही हो सकती, यदि पदार्थमे विक्रिया ही न मानी जाय तो उसके अभावमे पदार्थ ही सिद्ध नही होता है, न क्रिया ही सिद्ध होती है, न उसका फल सिद्ध होता है और न उसके कारण ही सिद्ध होते हैं। क्योंकि सत् पदार्थकी अवस्थाओंका नाम ही परिणाम है, और उसीको विक्रियाके नामसे कहते हैं। उस

परिणामका प्रतिक्षण होनेवाली अवस्थाओंका अभाव मानने पर सत्‌का ही अभाव हो जाता है यह बात असिद्ध नही है, किन्तु सुप्रसिद्ध दृष्टान्तसे सिद्ध है।

दृष्टान्त

अथ तद्यथा पटस्य क्रिया प्रसिद्धेति तन्तुसंयोगः।
भवति पटाभावः किल तदभावे यथा तदनन्यात् ॥४२५॥

अर्थः—यह जगत् प्रसिद्ध है कि अनेक तन्तुओंका संयोग ही पटकी क्रिया है। यदि वह तन्तु संयोगरूप पटक्रिया न मानी जाय तो पट ही कुछ नही ठहरता है। क्योंकि तन्तु सयोगसे अतिरिक्त पट कोई पदार्थ नही है।

भावार्थः—तन्तु सयोगरूप क्रियाके मानने पर ही पटकी सत्ता और उससे शीत निवारण आदि कार्य सिद्ध होते है, यदि तन्तु सयोगरूप क्रिया न मानी जाय तो भिन्न भिन्न तन्तुओसे न तो पटात्मक कार्य ही सिद्ध होता है और न उन स्वतन्त्र तन्तुओसे शीत निवारणादि कार्य ही सिद्ध होते है। इसलिये तन्तु संयोगरूपा क्रिया पटकी अवश्य माननी पडती है।

विक्रियाके अभावमें और भी दोष

अपि साधनं क्रिया स्यादपवर्गस्तत्फलं प्रमाणत्वात्।
तत्कर्त्ता ना कारकमेतत् सर्वं न विक्रियाभावात् ॥४२६॥

अर्थः—यदि विक्रिया मानी जाती है तब तो मोक्ष प्राप्तिका जो साधन—उपाय किया जाता है वह तो क्रिया पडती है, और उसका फल मोक्ष भी प्रमाण सिद्ध है तथा उसका करनेवाला—कर्त्ता पुरुषार्थी पुरुष होता है। यदि पदार्थमे विक्रिया ही न मानी जाय तो इनमेसे एक भी कारक सिद्ध नही होता है।

भावार्थः—पदार्थोमे विक्रिया मानने पर ही इस जीवके मोक्ष प्राप्ति और उसके साधनभूत तप आदि उत्तम कार्य सिद्ध होते हैं। अन्यथा कुछ भी नही वनता।

शंकाकार

ननु का नो हानिः स्याद्भवतु तथा कारकाद्यभावश्च।
अर्थात् सन्नित्यं किल नह्यौषधमातुरे तमनुवर्त्ति ॥४२७॥

अर्थः—शंकाकार कहता है कि ग्रन्थकारने विक्रियाके अभावमे जो कारकादिका न बनना आदि दोष बतलाये हैं वे हो, अर्थात् कारकादि भले ही सिद्ध न हो, ऐसा माननेमे भी हमारी कोई हानि नही है। हम तो पदार्थको सर्वथा नित्य ही मानेंगे।

नित्य मानने पर उसमे मोक्ष प्राप्ति आदि कुछ भी न सिद्ध हो, इनकी हमे परवाह नही है, क्योकि औषधि रोगीका रोग दूर करनेके लिये दी जाती है। यह आवश्यक नही है कि वह रोगीको अच्छी लगे या बुरी लगे?

भावार्थः—औषधि देने पर विचार नही किया जाता है कि रोगी इसे अनुकूल समझेगा या नही, उसके समझने न समझने पर औषधिका देना अवलम्बित नही है। उसीप्रकार यहाँ पर वस्तु विचार आवश्यक है। उसमे चाहे कोई भी दोष आओ अथवा किसीका अभाव हो-जाओ इससे शकाकारकी कुछ हानि नही है।

उत्तर

सत्यं सर्वमनीषितमेतत्तदभाववादिना तावत्।
यत्सत्तत्क्षणिकादिति यावन्नोदेति जलददृष्टान्तः ॥४२८॥

अर्थः—ग्रन्थकार कहते है कि शकाकारके पदार्थको सर्वथा नित्य मानना आदि विचार तभी तक ठहर सकते है जबतक कि उसके सामने मेघका दृष्टान्त नही आया है। जिससमय उसके सामने यह अनुमान रक्खा जाता है कि जो सत् है वह क्षणिक भी है* जैसे जलके देनेवाले मेघ। उसीसमय उसके नित्यताके विचार भाग जाते है, अर्थात् जो मेघ अभी आते हुए दीखते है वे ही मेघ तुरन्त ही नष्ट–विलीन होते हुए भी दीखते है, ऐसी अवस्थामे कौन साहस कर सकता है कि वह पदार्थको सर्वथा नित्य कहे?

सत्को सर्वथा अनित्य माननेसे दोष

अयमप्यात्मरिपुः स्यात्सदनित्यं सर्वथेति किल पक्षः।
प्रागेव सतो नाशादपि प्रमाणं क्व तत्फलं यस्मात् ॥४२९॥

अर्थः—सत्–पदार्थ सर्वथा अनित्य है ऐसा पक्ष भी उनका (सत्को अनित्य माननेवालोका) स्वय शत्रु है। क्योकि जब सत् अनित्य है तो पहले ही उसका नाश हो जायगा, फिर प्रमाण और उसका फल किसप्रकार बन सकता है? अर्थात् नही बन सकता।

* सर्वं क्षणिक सत्त्वात्, जो सत् है वह सब क्षणिक ही है। इस व्यतिरेक अनुमानसे बौद्ध भी पदार्थोंमें क्षणिकता सिद्ध करते हैं, परन्तु वे एकान्तरूपसे करते हैं, यह बात प्रत्यक्ष बाधित है। क्योंकि पदार्थोंमें 'यह वही है, ऐसी भी प्रतीति होती है।

और भी दोष

अपि यत्सत्तदिति वचो भवति च निग्रहकृते स्वतस्तस्य ।
यस्मात्सदिति कुतः स्यात्सिद्धं तच्छून्यवादि मिह हि ॥४३०॥

अर्थः—जो दार्शनिक (बौद्धादि) पदार्थको सर्वथा अनित्य मानते है उनके यहाँ उनका वचन ही स्वयं उनका खण्डन करता है, क्योंकि जो पदार्थको सर्वथा विनाशीक माननेवाले–शून्यवादी हैं 'वे जो सत् है सो अनित्य है' ऐसा वाक्य ही नही कह सकते है। उसके न कहनेका कारण भी यही है, कि जब वे वाक्य बोलते है उससमय सत् तो नष्ट ही हो जाता है अथवा सर्वथा अनित्य पक्षवालोके यहाँ पूरा वाक्य ही नही बोला जा सकता, क्योकि जबतक वे 'जो सत् है' इस वाक्यका 'सत्' पद बोलेगे तबतक 'जो' नष्ट हो जायगा। जब 'है' पद बोलेगे तबतक 'सत्' पद भी नष्ट हो जायगा। जब उत्तरार्ध 'सो अनित्य है' बोलेंगे तबतक पूर्वार्ध और उत्तरार्धके पहलेके वर्ण भी नष्ट हो जाँयगे। इसलिये शून्य वादियोके यहाँ पदार्थकी सिद्धि तो दूर रहो, उसका प्रतिवादक वाक्य भी नही बनता है।

अपि च सदमन्यमानः कथमिव तदभावसाधनायालम् ।
वन्ध्यासुतं हिनस्मीत्यध्यवसायादिवद्व्यलीकत्वात् ॥४३१॥

अर्थः—यदि सत्का अभाव स्वीकार करते हुए ही किसीप्रकार पदार्थमे नित्यपनेका अभाव सिद्ध किया जाता है तो यह सिद्ध करना उसीप्रकार मिथ्या (झूँठा) है जिसप्रकार किसीका यह कहना कि मै बाँझ स्त्रीके पुत्रको मारता हूँ, मिथ्या है।

भावार्थः—जब बाँझ स्त्रीके पुत्र ही नही होता तो फिर मारा किसे जायगा। उसीप्रकार जब सत्का अभाव ही सर्वथा अनित्यवादियोने स्वीकार कर लिया है तो वे नित्यताका अभाव किसमे सिद्ध करेगे।

अपि यत्सत्तन्नित्यं तत्साधनमिह यथा तदेवेदम् ।
तदभिज्ञानसमक्षात् क्षणिकैकान्तस्य बाधकं च स्यात् ॥४३२॥

अर्थः—दूसरी बात यह भी है कि लोकमे ऐसी प्रतीति भी होती है जो कि क्षणिक एकान्तकी सर्वथा बाधक है। वह प्रतीति इसप्रकार है–जो सत् है वह नित्य है, जैसे–यह वही वस्तु है जिसे पहले हमने देखा था ऐसा प्रत्यभिज्ञान। प्रत्यभिज्ञान प्रतीति यथार्थ है क्योकि उससे लोक यथार्थ बोध और इष्ट वस्तुकी प्राप्ति करता है, प्रत्यभिज्ञानको

यथार्थतासे पदार्थ भी नित्य सिद्ध हो जाता है। विना कथचित् नित्यताके पदार्थमें प्रत्यभिज्ञान प्रतीति होती ही नही। इसलिये यह प्रतीति ही क्षणिकैकान्तकी बाधक है।

सर्वथा नित्य माननेमें दोष

क्षणिकैकान्तवदित्यपि नित्यैकान्ते न तत्त्वसिद्धिः स्यात्।
तस्मान्न्यायागतमिति नित्यानित्यात्मकं स्वतस्तत्वम् ॥४३३॥

अर्थः—जिसप्रकार क्षणिकैकान्तसे पदार्थकी सिद्धि नहीं होती है उसीप्रकार नित्य एकान्तसे भी पदार्थकी सिद्धि नही होती है। इसलिये यह बात न्यायसे सिद्ध है कि पदार्थ कथंचित् नित्य है और कथंचित् अनित्य भी है, उभयात्मक है।

भावार्थः—जैसे सर्वथा क्षणिक असिद्ध है वैसे सर्वथा नित्य भी असिद्ध है, क्योंकि प्रत्यभिज्ञान जैसे सर्वथा अनित्यमें नहीं हो सकता है वैसे वह सर्वथा नित्यमें भी नहीं हो सकता है। इसका कारण भी यह है कि प्रत्यभिज्ञानमें पूर्व और वर्तमान ऐसी दो प्रकारकी प्रतीति होती है। सर्वथा नित्यमें वैसी प्रतीति नहीं हो सकती है। इसलियें पदार्थ नित्यानित्यात्मक ही युक्ति, अनुभव, आगमसे सुसिद्ध है।

शंकाकार

ननु चैकं सदिति स्यात्किमनेकं स्यादथोभयं चैतत्।
अनुभयमिति किं तत्त्वं शेषं पूर्ववदथान्यथा किमिति ॥४३४॥

अर्थः—क्या सत् एक है, अथवा अनेक है अथवा उभय है वा अनुभय है अथवा बाकीके एक एक भंगरूप है। अथवा और ही प्रकार है?

उत्तर

सत्यं सदेकमिति वा सदनेकं चोभयं च नययोगात्।
न च सर्वथा सदेकं सदनेकं वा सदप्रमाणत्वात् ॥४३५॥

अर्थः—ठीक है, सत् नय दृष्टिसे एक भी है अनेक भी है उभय भी है और अनुभय भी है + परन्तु यह बात नयविवक्षासे ही बनती है, नय विवक्षाकी अपेक्षाको छोड़कर सर्वथा सत्को एक कहना भी ठीक नहीं है, अनेक कहना भी ठीक नहीं है* और उभय कहना भी ठीक नहीं, अनुभय कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि सर्वथा एकान्तरूपसे एक अनेक* सत् अप्रमाण ही हैं।

+ च शब्दसे अनुभयादिका ग्रहण किया जाता है।

* यहाँपर 'वा' शब्दसे उभयादिका ग्रहण कर लेना चाहिये।

सत् स्यात् एक है

अथ तद्यथा सदेकं स्यादविभिन्नप्रदेशवत्त्वाद्वा ।
गुणपर्यायांशैरपि निरंशदेशादखण्डसामान्यात् ॥४३६॥

अर्थः—गुण पर्याय रूप अशोंको अभिन्न प्रदेशी होनेसे सत् एक है अथवा अखण्ड सामान्यकी अपेक्षासे निरश–अंश रहित देश होनेसे सत् एक है ।

भावार्थः—द्रव्यमे गुण पर्यायें इसीप्रकार हैं जिसप्रकार कि जलमें कल्लोले होती हैं। जिसप्रकार जलसे कल्लोलोकी सत्ता भिन्न नही है उसीप्रकार द्रव्यसे गुण पर्यायोकी सत्ता भी भिन्न नही है । केवल विवक्षासे द्रव्य गुणपर्यायोकी कल्पना की जाती है, शुद्ध दृष्टिसे जो द्रव्य है सो ही गुण पर्याय है, जो गुण है सो ही द्रव्य पर्याय है, अथवा जो पर्याय है सो ही द्रव्य गुण है, इसलिये जब तीनों एक ही है तो न उनकी भिन्न सत्ता है, और न उनके भिन्न प्रदेश ही है । तथा शुद्ध दृष्टिसे न उनमें अंश कल्पना ही है किन्तु निरंश–अखण्ड देशात्मक एक ही सत् है ।

तथा

द्रव्येण क्षेत्रेण च कालेनापीह चाथ भावेन ।
सदखण्डं नियमादिति यथाधुना वक्ष्यते हि तल्लक्ष्म ॥४३७॥

अर्थः—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षासे नियमसे सत् अखण्ड है, अब इन चारोकी अपेक्षासे ही सत्मे अखण्डता क्रमसे सिद्ध की जाती है ।

द्रव्य–विचार

गुणपर्ययवद्द्रव्यं तद्गुणपर्ययवपुः सदेकं स्यात् ।
नहि किञ्चिद्गुणरूपं पर्ययरूपं च किञ्चिदंशांशैः ॥४३८॥

अर्थः—गुण पर्यायवाला द्रव्य है, अर्थात् गुणपर्याय ही द्रव्यका शरीर है, गुण पर्याय स्वरूप ही द्रव्य है, इसलिये सत् एक है । ऐसा नही है कि उसके कुछ अंश तो गुणरूप हो, कुछ पर्यायरूप हो ।

दृष्टान्त

रूपादितन्तुमानिह यथा पटः स्यात्स्वयं हि तद्द्वैतम् ।
नहि किञ्चिद्रूपमयं तन्तुमयं स्याच्चदंशगर्भांशैः ॥४३९॥

अर्थः—रूपादि विशिष्ट तन्तुवाला पट कहलाता है, उस कथनकी अपेक्षासे वह स्वयं द्वैतभाव धारण करता है, परन्तु ऐसा नही है कि पटमे कुछ अंश तो रूपमय हों,

और कुछ तन्तुमय हो। किन्तु रूप तन्तु पट तीनों एक ही पदार्थ हैं। केवल विवक्षासे उसमें द्वैतभाव है।

न पुनर्गोरसवदिदं नानासत्त्वैकसत्त्वसामान्यम्।
सम्मिलितावस्थायामपि घृतरूपं च जलमयं किञ्चित् ॥४४०॥

अर्थः—सत्में जो एकत्व है, वह गोरसके समान अनेक सत्ताओंके सम्मेलनसे एक सामान्य सत्यरूप नहीं है। जैसे–गोरस (दुग्धादि)की मिली हुई अवस्थामें कुछ घृतभाग है, और कुछ जलभाग है, परन्तु सम्मेलन होनेके कारण उन्हें एक ही गोरससे पुकारते हैं, वैसे सत्में एकत्व नहीं है।

भावार्थः—जैसे गोरसमें कई पदार्थोंकी भिन्न २ सत्ता है परन्तु मिलापके कारण एक गोरसकी ही सत्ता कही जाती है। वैसे सत् एक नहीं कहा जाता है किन्तु एक सत्ता होनेसे वह एक कहा जाता है।

अपि यदशक्यविवेचनमिह न स्याद्वा प्रयोजकं यस्मात्।
क्वचिदश्मनि तद्भावात्माभूत्कनकोपलद्वयाद्वैतम् ॥४४१॥

अर्थः—अथवा ऐसा भी नहीं कहा जा सकता कि यद्यपि सत्में भिन्न २ सत्तायें हैं परन्तु उनका भिन्न २ विवेचन नहीं किया जा सकता है इसलिये सत्को एक अथवा एक सत्तावाला कह दिया जाता है। जैसे कि स्वर्ण पाषाणमें स्वर्ण और पाषाण दो पदार्थ हैं परन्तु उनका भिन्न २ विवेचन अशक्य है इसलिये उसे एक ही पत्थरके नामसे पुकारा जाता है। ऐसा कहनेसे जिसप्रकार कनकोपल–स्वर्ण पाषाणमें द्वैतभाव है उसीप्रकार सत्में भी द्वैतभाव सिद्ध होगा, परन्तु स्वर्णपाषाणमें जिसप्रकार भिन्न २ दो पदार्थ हैं उसप्रकार सत्में नहीं हैं। सत् वास्तवमें एक सत्तावाला एक ही है।

सारांश

तस्मादेकत्वंप्रति प्रयोजकं स्यादखण्डवस्तुत्वम्।
प्रकृतं यथा सदेकं द्रव्येणाखण्डितं मतं तावत् ॥४४२॥

अर्थः—इसलिये एकत्व सिद्ध करनेके लिये न तो भिन्न भिन्न अनेक सत्ताओंका सम्मेलन ही प्रयोजक है और न अशक्य विवेचन ही एकत्वका प्रयोजक है किन्तु अखण्ड वस्तुत्व ही उसका प्रयोजक है। अर्थात् जो अखण्ड प्रदेशी–एक सत्तात्मक पदार्थ है वही एक है। प्रकृतमें द्रव्यकी अपेक्षासे भी ऐसा ही अखण्ड प्रदेशी एकत्व सत्में माना गया है।

शङ्काकार

नतु यदि सदेव तत्त्वं स्वयं गुणः पर्ययः यं सदिति।
शेषः स्यादन्यतरस्तदितरलोपस्य दुर्निवारत्वात् ॥४४३॥
न च भवति तथावश्यम्भावात्तत्समुदयस्य निर्देशात् ।
तस्मादनवद्यमिदं छायादर्शवदनेकहेतुः स्यात् ॥४४४॥

अर्थः—यदि स्वय सत् ही द्रव्य है, स्वयं ही गुण है, स्वयं ही पर्याय है तो एक शेष रहना चाहिये। अर्थात् जब द्रव्य गुण पर्याय तीनों एक ही है तो तीनोंमेंसे कोई एक कहा जा सकता है बाकीके दोनोका लोप होना अवश्यम्भावी है, परन्तु वैसा होता नही है, द्रव्य गुण पर्याय, तीनोंका कहना ही आवश्यक प्रतीत होता है, इसलिये यह बात ही निर्दोष सिद्ध होती है कि सत् छाया और दर्पणके समान अनेक कारणजन्य है ?

भावार्थः—यदि द्रव्य गुण पर्याय तीनो एक ही बात है तब तो एक शेष रहना चाहिये, दोका लोप हो जाना चाहिये। यदि तीनो ही तीन बाते है तो वे अवश्य ही सत्को अनेक हेतुक सिद्ध करती है, और अनेक हेतुक होनेसे सत्मे अनेकत्व भी सिद्ध होगा ?

उत्तर

सत्यं सदनेकं स्यादपि तद्धेतुश्च यथा प्रतीतत्वात् ।
न च भवति यथेच्छं तच्छायादर्शवदसिद्धदृष्टान्तात् ॥४४५॥

अर्थः—ठीक है, कथचित् सत् अनेक भी है तथा यथायोग्य अनेक हेतुक भी है। परन्तु उसमे अनेक हेतुता छाया और दर्पणके समान इच्छानुसार नही है किन्तु प्रतीतिके अनुसार है। सत्के विषयमे छायादर्शका दृष्टान्त असिद्ध है। क्यो असिद्ध है? उसीका उत्तर नीचे दिया जाता है।

प्रतिबिम्बः किल छाया वदनादर्शादिसन्निकर्षाद्धै ।
आदर्शस्य सा स्यादिति पक्षे सदसदिव वाऽन्वयाभावः ॥४४६॥
यदि वा सा वदनस्य स्यादिति पक्षोऽसमीक्ष्यकारित्वात् ।
व्यतिरेकाभावः किल भवति तदास्यस्य मतोप्यच्छायत्वात् ॥४४७॥

अर्थः—नियममे प्रतिबिम्बका नाम ही छाया है। वह वदन (मुख) और आदर्श (दर्पण)के सम्बन्धसे होती है। यदि उस छायाको केवल दर्पणकी ही कहा जाय तो ऐसा पक्ष माननेसे सत् असत्के समान ठहरेगा। अथवा अन्वय नही बनेगा। अर्थात्

यदि छायाको दर्पणकी ही कहा जाय तो जहाँ जहाँ दर्पण है वहाँ वहाँ छाया होनी चाहिये परन्तु ऐसा देखनेमें नही आता है, विना छायाके भी दर्पण देखा जाता है। परन्तु द्रव्य गुण पर्यायमे वैसा अन्वयाभाव नही है। कथचित् तीनो ही सहभावी है और कथचित् एक हैं। यदि वह छाया मुखकी कही जाय तो यह पक्ष भी विना विचारे कहा हुआ ही प्रतीत होता है, क्योंकि मुखकी छाया माननेसे व्यतिरेक नही वनता है। यदि मुखकी ही छाया मानी जाती है तो जहाँ २ छाया नही है वहाँ २ मुख भी नही होना चाहिये, परन्तु यह बात असिद्ध है, जहाँ मुख देखनेमे आता है वहाँ छाया नही भी देखनेमे आती है। परन्तु द्रव्य गुण पर्यायमे ऐसा व्यतिरेक व्यभिचार नही है। जहाँ द्रव्य नही है वहाँ गुण पर्याय भी नही है और जहाँ गुण पर्याय नही है वहाँ द्रव्य भी नही है। तीनोमे रूप रस गन्ध स्पर्शके समान अभिन्नता है। इसलिये सत्के विषयमे छाया आदर्शका दृष्टान्त ठीक नही है।

फलितार्थ

एतेन निरस्तोभून्नानासत्वैकसत्त्ववादीति ।
प्रत्येकमनेकम्प्रति सद्द्रव्यं सन्गुणो यथेत्यादि ॥४४८॥

अर्थः—कोई दर्शनकार (नैयायिकादि) ऐसा मानता है कि द्रव्यकी सत्ता भिन्न है गुणकी भिन्न है, कर्मकी भिन्न है, और उन सब भिन्न २ सत्तावाले पदार्थोंमे एक महा सत्ता रहती है। इसप्रकार नाना सत्त्वोके ऊपर एक सत्त्व माननेवाला उपर्युक्त कथनसे खण्डित किया गया है।

भावार्थः—नैयायिक १६ पदार्थ मानता है। वैशेषिक ७ पदार्थ मानता है। वे सात पदार्थ ये है—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय, अभाव। ऊपर कहे हुए दोनो ही मत इन सात पदार्थोको भिन्न २ मानते है। परन्तु वास्तवमे ये सातो जुदे २ नही है किन्तु सातो मिलकर एक ही पदार्थ है। क्योकि गुणोका समूह ही द्रव्य है। द्रव्यसे गुण जुदा पदार्थ नही है। गुणोमे दो प्रकारके गुण है (१) भावात्मक (२) क्रियात्मक। क्रियात्मक गुणका नाम ही कर्म है। उन्ही गुणोमे द्रव्यकी सत्ता स्थित रखनेवाला अस्तित्व नामका गुण है। वही सामान्यके नामसे पुकारा जाता है। विशेष गुणोको ही विशेषके नामसे कह दिया गया है। विवक्षावश द्रव्य गुणोमे कथञ्चित् भिन्नता भी लाई जाती है। उससमय उनमे जो तादात्म्य सम्बन्ध माना जाता है उसीका नाम नैयायिकोने समवाय रख लिया है। विवक्षावश जो एक पदार्थमे इतर पदार्थोका अभावरूप नास्तित्व धर्म रहता है। उसीको उन्होने स्वतन्त्र अभाव पदार्थ

मान लिया है। इसप्रकार एक पदार्थकी अनेक अवस्थाओको ही उक्त दर्शनकारोने भिन्न भिन्न पदार्थ माना हैं। परन्तु ऐसा उनका मानना उपर्युक्त रीतिसे सर्वथा बाधित है।

क्षेत्र-विचार

क्षेत्रं प्रदेश इति वा सदधिष्ठानं च भूर्निवासश्च ।
तदपि स्वयं सदेव स्यादपि यावन्न सत्प्रदेशस्थम् ॥४४९॥

अर्थः—क्षेत्र कहो, प्रदेश कहो, सत्का आधार कहो, सत्की पृथ्वी कहो, सत्का निवास कहो, ये सब पर्यायवाची है। परन्तु ये सब स्वयं सत् स्वरूप ही है। ऐसा नही है कि सत् कोई दूसरा पदार्थ हो और क्षेत्र दूसरा हो, उस क्षेत्रमें सत् रहता हो। किन्तु सत् और उसके प्रदेश दोनो एक ही बात है। सत्का क्षेत्र स्वयं सत्का स्वरूप ही है।

भावार्थः—जिन आकाशके प्रदेशोमे सत्–पदार्थ ठहरा हो उनको सत्का क्षेत्र नहीं कहते है, उस क्षेत्रमे तो और भी अनेक द्रव्य है। किन्तु जिन अपने प्रदेशोसे सत्ने अपना स्वरूप पाया है वे ही सत्के प्रदेश कहे जाते है। अर्थात् जितने निज द्रव्यके प्रदेशोमे सत् बँटा हुआ है वही उस द्रव्यका क्षेत्र है।

प्रदेश भेद

अथ ते त्रिधा प्रदेशाः क्वचिन्निरंशैकदेशमात्रं सत् ।
क्वचिदपि च पुनरसंख्यदेशमयं पुनरनन्तदेशवपुः ॥४५०॥

अर्थः—वे प्रदेश तीन प्रकार हैं–कोई सत् तो निरश फिर जिसका खण्ड न हो सके ऐसा एक देश मात्र है, कोई (कही पर) सत् असख्यात प्रदेशवाला है, और कोई अनन्त प्रदेशी भी है।

भावार्थः—एक परमाणु अथवा एक काल द्रव्य एक प्रदेशी है। यहाँ पर प्रदेशसे तात्पर्य परमाणु और काल द्रव्यके आधारभूत आकाशका नही है × किन्तु परमाणु और काल द्रव्यके प्रदेशका है। दोनो ही द्रव्य एक प्रदेशी है। धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, एक जीव द्रव्य ये असख्यात प्रदेशी है। * आकाश अनन्त प्रदेशी है।

× जावदियं आयासं अविभागी पुग्गलाणुवट्टद्धं तं खु पदेसं जाणे सव्वाणुट्ठाणदाणरिहं ।
द्रव्य संग्रह ।

यहाँपर प्रदेशका परिमाण बतलानेके लिये उसका उपचरित लक्षण किया गया है। परन्तु ऊपर वस्तु-प्रदेश लिया गया है।

* असंख्यात प्रदेशी पुद्गल स्कन्ध भी होता है परन्तु उसका यहाँ ग्रहण नहीं है, क्योंकि उसके प्रदेश उपचरित हैं। यहाँ शुद्धोंका ही ग्रहण है।

अर्थः—जिससमय जिस द्रव्यके एक देशमे जैसे सत् रहता है वैसे उस द्रव्यके उससमय सर्व देशोमे सत् समुदित रहता है।

भावार्थः—द्रव्यके एक प्रदेशमे जो सत् है वही उसके सर्व प्रदेशोमें है। यहाँ पर तिर्यक् अंश कल्पना द्वारा वस्तुमें क्षेत्रका विचार किया है। जैसे–कोई वस्तु एक अगुल चौडी दो अगुल लम्बी और उतनी ही मोटी है, यदि ऐसी वस्तुमें तिर्यगश कल्पना की जाय तो वह वस्तु प्रदेशोके विभागकी अपेक्षासे उतनी ही लम्बी चौडी मोटी समझी जायगी ? और उसके प्रदेश उतने ही क्षेत्रमे समझे जांयगे। स्मरण रहे कि यह क्षेत्र उस द्रव्यका आधारभूत आकाशरूप नंही है किन्तु उसी वस्तुके प्रदेशरूप है तथा वे एक अगुल चौड़े दो अगुल लम्बे मोटे प्रदेश अखण्ड–एक सत्तावाले है, इसलिये उन सब प्रदेशोमे एक ही सत् है अथवा वे सब प्रदेश एक सत् एक द्रव्यके नामसे कहे जाते है।

इत्यनवद्यमिदं स्याल्लक्षणमुद्देशि तस्य तत्र यथा।
क्षेत्रेणाखण्डित्वात् सदेकमित्यत्र नयविभागोऽयम् ॥४५४॥

अर्थः—इसप्रकार उस सत्का यह निर्दोष लक्षण क्षेत्रकी अपेक्षासे कहा गया। एक सत्के सर्व ही प्रदेश अखण्ड है इसलिये वे सब एक ही सत् कहे जाते हैं यही एकत्व विवक्षासे नय विभाग है।

न पुनश्चैकापवरकसञ्चरितानेकदीपवत्सदिति।
हि यथा दीपसमृद्धौ प्रकाशवृद्धिस्तथा न सद्वृद्धिः ॥४५५॥

अर्थः—जिसप्रकार किसी मकानके भीतर एक दीप फिर दूसरा दीप फिर तीसरा फिर चौथा इसी क्रमसे अनेक दीप लाये जांय तो जितनी २ दीपोकी सख्या बढ़ती जायगी उतनी २ ही प्रकाशकी वृद्धि भी होती जायगी। उसप्रकार सत् नही है। सत्की वृद्धि अनेक दीपोके प्रकाशके समान नही होती है।

तथा

अपि तत्र दीपशमनेकस्मिंश्चित्प्रकाशहानिः स्यात्।
न तथा स्यादविवक्षितदेशे तद्धानिरेकरूपत्वात् ॥४५६॥

अर्थः—ऐसा भी नही है कि जिसप्रकार मकानमे रक्खे हुए अनेक दीपोमेसे किसी दीपके बुझा देनेपर उस मकानमे कुछ प्रकाशकी कमी हो जाती है, उसप्रकार सत्की भी कमी हो जाती है, किन्तु अविवक्षित देशमे सत्की हानि नही होती है, वह सदा एकरूप ही रहता है।

क्योकि दोनो ही अवस्थाओमें रुई तोलने पर एक ही मन — निकलती है। यदि उसके कुछ अंश कही चले जाते तो अवश्य उसकी तोलमें घटी होना चाहिये अथवा वृद्धि होने पर उसकी तोलमें वृद्धि होना चाहिये, परन्तु रुईमें घटी बढ़ी थोड़ी भी नहीं होती, इसलिये यह बात माननी हो पड़ती हैं कि रुईके अथवा दीपके प्रदेश जितने है वे उतने ही सदा रहते हैं केवल निमित्तकारणसे उनमे सकोच और विस्तार होता है। बस स्थूलतासे इन्ही दृष्टान्तोकी तुलना दार्ष्टान्त—सत् रखता है। सत् जितने प्रदेशोंमें विभाजित है वह सदा उतने ही प्रदेशोमें रहता है। उसके प्रदेशोमें अथवा उसमें कभी कभी अधिकता या न्यूनता नही हो सकती है, केवल द्रव्यान्तरके निमित्तसे उनमें अथवा उसमे संकोच और विस्तार हो सकता है। यदि पदार्थमें न्यूनाधिक्य होने लगे तो सत्का विनाश और असत्का उत्पाद भी स्वयं सिद्ध होगा फिर पदार्थोमे कार्य कारण भावका अभाव होनेसे सकर व्यतिकर अनवस्था शून्यता आदि अनेक दोष भी स्वयं उपस्थित हो जाँयगे जो कि पदार्थमात्रको इस नभोमण्डलमे नही ठहरने देंगे।

सर्वथा अभिन्नता भी प्रयोजक नहीं है

नात्र प्रयोजकं स्यान्नियतनिजाभोगदेशमात्रत्वम् ।
तदनन्यथात्वसिद्धौ सदनेकं क्षेत्रतः कथं स्याद्वा ॥४५७॥

अर्थः—यहाँ पर यह भी प्रयोजन नही है कि सत् जितने देश (यहाँ पर देशसे तात्पर्य आकाशकी अपेक्षासे है।) मे रहता है उसका नियमित उतना ही देश कहा जाय, यदि ऐसा ही कहा जाय और सत्मे अन्यथापना न माना जाय तो क्षेत्रकी अपेक्षासे सत् अनेक किसप्रकार सिद्ध होगा ?

आशका और उसका उत्तर

सदनेकं देशानामुपसंहारात्प्रसर्पणादिति चेत् ।
न यतो नित्यविभूनां व्योमादीनां न तद्धि तदयोगात् ॥४५८॥
अपि परमाणोरिह वा कालाणोरेकदेशमात्रत्वात् ।
कथमिव सदनेकं स्यादुपसंहारप्रसर्पणाभावात् ॥४५९॥

— रुई धुनते समय जो उसमेंसे कुछ धूल (किरकिरी) निकल जानेसे रुई घट जाती है उतना अंश दृष्टान्तांश नहीं कहा जा सकता। यदि उसे भी ले लेना चाहते हैं वे धूलके परिमाण और भी रुई मिलाकर फिर उसे दृष्टान्त बनावें।

अर्थः—सत्के प्रदेशोंका संकोच विस्तार होता है। इसलिये सत् अनेक है, ऐसी आशंका ठीक नहीं है, यदि सत्के प्रदेशोंका संकोच और विस्तार होनेसे ही उसे अनेक कहा जाय तो आकाश आदि नित्य-विभु सर्व व्यापक) पदार्थोंमें अनेकत्व नहीं घट सकेगा, क्योंकि आकाश, धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्यके प्रदेशोंका संकोच विस्तार ही नहीं होता है तथा परमाणु और कालाणु ये दो द्रव्य एक एक प्रदेश मात्र हैं। इनमें संकोच विस्तार हो ही नहीं सकता है, फिर इनमें अनेकत्व किसप्रकार सिद्ध होगा?

भावार्थः—संकोच विस्तारसे ही सत्में अनेकत्व मानना ठीक नहीं है।

शङ्काकार

ननु च सदेकं देशैरिव संख्या खण्डयितुमशक्यत्वात्।
अपि सदनेकं देशैरिव संख्यानेकतो नयादिति चेत् ॥४६०॥

अर्थः—प्रदेशोंके समान सत्की संख्याका खण्ड नहीं किया जा सकता है, इसलिये तो सत् एक है और प्रदेशोंके समान सत् अनेक संख्यावाला है इस नयसे वह अनेक है?

भावार्थः—सत् सदा अखण्ड रहता है, इसलिये तो वह एक है, परन्तु अखण्ड रहने पर भी उसके प्रदेशोंकी संख्या अनेक है इसलिये वह अनेक भी कहा जाता है?

उत्तर

न यतोऽशक्यविवेचनमेकक्षेत्रावगाहिनां चास्ति।
एकत्वमनेकत्वं नहि तेषां तथापि तदयोगात् ॥४६१॥

अर्थः—सत्मे उपर्युक्त रीतिसे एकत्व अनेकत्व लाना ठीक नहीं है। क्योंकि खण्ड तो एक क्षेत्रावगाही अनेक पदार्थोंका भी नहीं होता है, अर्थात् आकाश, धर्म, अधर्म, काल, इन द्रव्योंमें भी क्षेत्र भेद नहीं है। इनके क्षेत्रका भेद करना भी अशक्य ही है, यद्यपि इन पदार्थोंमें क्षेत्र भेदकी अपेक्षासे अनेकत्व नहीं है, तथापि इसप्रकार उनमें एकत्व अथवा अनेकत्व नहीं घटता है।

भावार्थः—लोकाकाशमें सर्वत्र ही धर्म द्रव्य अधर्म द्रव्य काल द्रव्य और आकाश द्रव्यके प्रदेश अनादिकालसे मिले हुए हैं और अनन्तकाल तक सदा मिले ही रहेंगे, उनका कभी क्षेत्र भेद नहीं हो सकता है, परन्तु वास्तवमें वे चारो ही द्रव्य जुदे २ हैं। यदि शंकाकारके आधार पर प्रदेशोंका खण्ड न होनेकी अपेक्षासे ही सत्मे एकत्व आता हो तो धर्मादि चारो द्रव्योंमें एकता ही सिद्ध होगी।

शंकाकार

ननु ते यथा प्रदेशाः सन्ति मिथो गुम्फिकतैकसूत्रत्वात् ।
न तथा सदनेकत्वादेकक्षेत्रावगाहिनः सन्ति + ॥४६२॥

अर्थः—जिसप्रकार एक द्रव्यके प्रदेश एक सूत्रमें गुम्फित (गूंथे हुए) होते है । उसप्रकार एक क्षेत्रावगाही अनेक द्रव्योंके नही होते है ?

भावार्थः—शंकाकार फिर भी अपनी शंकाको पुष्ट करता है कि जिसप्रकार एक द्रव्यके प्रदेश अखण्ड होते है उसप्रकार अनेक द्रव्योके एक क्षेत्रमें रहने पर भी अखण्ड प्रदेश नहीं होते है, इसलिये उसने जो प्रदेशोकी अखण्डतासे सत्में एकत्व बतलाया था वह ठीक ही है ?

उत्तर

सत्यं तत्र निदानं किमिति तदन्वेषणीयमेव स्यात् ।
तेनाखण्डितमिव सत् स्यादेकमनेकदेशवत्त्वेपि ॥४६३॥

अर्थः—ठीक है, एक पदार्थके प्रदेश जैसे अखण्ड होते है वैसे एक क्षेत्रावगाही—अनेक पदार्थोंके नही होते, इसका ही कारण ढूढना चाहिये जिससे कि अनेक प्रदेशवाला होने पर भी सत् एक—अखण्ड प्रतीत हो ।

भावार्थः—आचार्यने शकाकारके उपर्युक्त उत्तरको कथचित्—ठीक समझा है इसीलिये उन्होने अखण्डताके कारण पर विचार करनेके लिये उससे प्रश्न किया है । अब वे यह जानना चाहते है कि शकाकार पदार्थमे किसप्रकार अखण्डता समझता है ।

शङ्काकार

ननु तत्र निदानमिदं परिणममाने यदेकदेशेस्य ।
वेणोरिव पर्वसु किल परिणमनं सर्वदेशेषु ॥४६४॥

अर्थः—एक पदार्थमे अखण्डताका यह निदान—सूचक है कि उसके एक देशमे परिणमन होने पर सर्व देशमे परिणमन होता है । जिसप्रकार किसी बांसको एक भागसे फिराने पर उसके सभी पर्वों (गांठो)मे अर्थात् समस्त बांसमे परिणमन (हिलता) होता है ?

भावार्थः—बांसका दृष्टान्त देनेसे विदित है कि शकाकार अनेक सत्तावाले पदार्थोंको भी एक ही समझता है ।

+ मूल पुस्तकमें "सदेकत्वात्" पाठ है ।

उत्तर

तन्न यतस्तद्ग्राहकमिव प्रमाणं च नास्त्यदृष्टान्तात् ।
केवलमन्वयमात्रादपि वा व्यतिरेकिणश्च तदसिद्धेः ॥४६५॥

अर्थः—एक देशमे परिणमन होनेसे सर्व देशोमे परिणमन होना एक वस्तुकी अखण्डतामे निदान नही हो सकता है। क्योंकि उस बातको सिद्ध करनेवाला न तो कोई प्रमाण ही है और न कोई उसका साधक दृष्टान्त ही है। यदि उपर्युक्त कथन (एक देशमे परिणमन होनेसे सर्व देशमे परिणमन होता है) मे अन्वय व्यतिरेक दोनो घटित होते हो तव तो उसकी सिद्धि हो सकती है, अन्यथा केवल अन्वयमात्रसे अथवा व्यतिरेक मात्रसे उक्त कथनकी सिद्धि नही हो सकती है। यहाँ पर सदृश परिणमनकी अपेक्षासे अन्वय यथा कथंचित् वन भी जाता है परन्तु व्यतिरेक सर्वथा ही नही वनता।

शंकाकार

ननु चैकस्मिन् देशे कस्मिंश्चित्त्वन्यतरेपि हेतुवशात् ।
परिणमति परिणमन्ति हि देशाः सर्वे सदेकतस्त्विति चेत् ॥४६६॥

अर्थः—कारणवश किसी अन्यतर एक देशमे परिणमन होने पर सर्व देशोमे परिणमन होता ही है, क्योकि उन सव प्रदेशोकी एक ही सत्ता है।

भावार्थः—शंकाकारने यह अन्वय वाक्य कहा है।

उत्तर

न यतः सव्यभिचारः पक्षोनैकान्तिकत्वदोषत्वात् ।
परिणमति समयदेशे तद्देशाः परिणमन्ति चेति यथा ॥४६७॥

अर्थः—ऊपर जो अन्वय वतलाया गया है वह ठीक नही है क्योकि वैसा अन्वय पक्ष अनैकान्तिक दोष आनेसे व्यभिचारी (दोषी) है। वह दोष इसप्रकार आता है कि अनेक सत्तावाले-मिले हुए पदार्थोमे किसी सांकेतिक देशमे परिणमन होनेपर सभी देशोमें सभी पदार्थोमे परिणमन होता है।

भावार्थः—शकाकारने एक देशके परिणमन होनेमे एक सत्ता हेतु वतलाया था, परन्तु उसमे दोष आता है। क्योकि अनेक सत्तावाले पदार्थोमे होनेवाला सदृश परिणमन भी एक परिणमनके नामसे कहा जाता है। सूक्ष्मदृष्टिसे विचार किया जाय तो प्रत्येक पदार्थका परिणमन जुदा २ होता है, परन्तु स्थूलतासे समान परिणमनको एक ही परिणमन कह दिया जाता है। एक कहनेका कारण भी अनेक पदार्थोका घनिष्ट संबंध

है। जैसे बाँसमें जो परिणमन होता है उसमें प्रत्येक परमाणुका परिणमन जुदा २ है। परन्तु समुदायकी अपेक्षासे सम्पूर्ण बाँसके परिणमनको एक ही परिणमन कहा जाता है। शकाकार वस्तुके एक देशके परिणमनसे उसके सर्व देशमें परिणमन मानता है परन्तु ऐसा पक्ष युक्ति सगत नही है, इसीलिये आचार्यने दिखा दिया है।

शङ्काकार

व्यतिरेके वाक्यमिदं यदपरिणमति सदेकदेशे हि।
क्वचिदपि न परिणमन्ति हि तद्देशाः सर्वतः सदेकत्वात् ॥४६८॥

अर्थः—व्यतिरेक पक्षमे यह वाक्य है–किसी वस्तुके एक देशका परिणमन न होनेपर उसके सर्व देशोमें भी परिणमन नही होता है। क्योकि उन सब देशोंकी एक ही सत्ता है।

भावार्थः—शकाकारने ऊपर अन्वय वाक्य कहा था उसमे ग्रन्थकारने अनैकान्तिक दोष दिखला दिया था, अब इस श्लोक द्वारा उसने व्यतिरेक वाक्य कहा है।

उत्तर

तन्न यतः सति सति वै व्यतिरेकाभाव एव भवति यथा।
तद्देशसमयभावैरखण्डितत्त्वात्सतः स्वतः सिद्धात् ॥४६९॥

अर्थः—आचार्य कहते है कि शकाकारने जो व्यतिरेक वाक्य कहा है वह बनता ही नही है, क्योकि पदार्थ सदात्मक है अर्थात् उसका सत् लक्षण है और जिसमे उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य होता रहे उसे सत् कहते है। जब पदार्थ उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक–सत्रूप है तब उसमे व्यतिरेक सर्वथा ही नही बनता। क्योकि उस देशमे प्रतिक्षण अखण्ड रीतिसे परिणमन होता रहता है, और वह पदार्थका स्वत सिद्ध परिणमन है।

भावार्थः—ऐसा कोई समय नही जिससमय पदार्थमे परिणमन न होता हो, यदि ऐसा समय कभी माना जाय तो उससमय उस पदार्थका ही अभाव सिद्ध होगा। क्योकि उससमय उसमे सत्ता लक्षण ही नही घटित होगा। इसलिये शकाकारका यह कहना कि 'जहाँपर एक देशमे परिणमन नही होता है वहाँपर सर्व देशमे भी नही होता" सर्वथा निर्मूल है।

बांसका दृष्टान्त देकर एक देशके परिणमनसे सर्व देशोके परिणमन द्वारा शकाकारने जो अखण्ड प्रदेशिता वस्तुमे सिद्ध की थी वह इस अन्वय व्यतिरेकके न बननेसे सिद्ध न हो सकी, इसलिये एक सत्ता ही एक वस्तुकी अखण्ड प्रदेशिताकी नियामक है।

एवं यकेपि दूरादपनेतव्या हि लक्षणाभासाः ।
यदकिञ्चित्कारित्वादत्रानधिकारिणोऽनुक्ताः ॥४७०॥

अर्थः—इसीप्रकार और भी जो लक्षणाभास हैं उन्हे भी दूरसे ही छोड़ देना चाहिये । क्योकि उनसे किसी कार्यकी सिद्धि नही हो पाती, ऐसे अकिञ्चित्कर लक्षणाभासोका यहांपर हम उल्लेख भी नही करते हैं । उनका प्रयोग करना अधिकारसे बाहर है ।

काल-विचार

कालः समयो यदि वा तद्देशे वर्त्तनाकृतिश्चार्थात् ।
तेनाप्यखण्डितत्वाद्भवति सदेकं तदेकनययोगात् ॥४७१॥

अर्थः—काल, समय अथवा उस देश (वस्तु)मे वर्त्तनारूप आकारका होना ये तीनो ही वाते एक हैं । उस कालसे भी वस्तु अखण्डित है । वस्तुमे यह अखण्डता द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे लाई जाती है ।

भावार्थः—यहां पर कालसे तात्पर्य काल द्रव्यका नही है किन्तु द्रव्य मात्रसे है, अथवा प्रत्येक वस्तुके कालसे है । जो काल द्रव्य है वह तो हर एक वस्तुके परिणमनमें उदासीन कारण है परन्तु हर एक द्रव्यके परिणमनमे उपादान कारण स्वयं वह द्रव्य ही है। उसी परिणमनशील द्रव्यका यहां स्व-कालकी अपेक्षासे विचार किया जाता है । प्रत्येक वस्तुका प्रतिक्षण परिणमन होता रहता है । ऐसे अनादिकालसे अनन्त काल तक होनेवाले परिणमनोके समुदायका नाम ही द्रव्य है । वस्तुकी एक समयकी अवस्था उस वस्तुसे अभिन्न है । वह प्रत्येक समयमे होनेवाली अवस्था ही उस वस्तुका काल है । उस कालकी अपेक्षासे भी वस्तु अखण्ड और एक है ।

इसीका स्पष्ट कथन

अयमर्थः सन्मालामिह संस्थाप्य प्रवाहरूपेण ।
क्रमतो व्यस्तसमस्तैरितस्ततो वा विचारयन्तु बुधाः ॥४७२॥
तत्रैकावसरस्थं यद्यावद्यादृगस्ति सत्सर्वम् ।
सर्वावसरसमुदितं तत्तावत्तादृगस्ति सत्सर्वम् ॥४७३॥

अर्थः—उपर्युक्त कथनका स्पष्ट अर्थ यह है कि एक पदार्थ अनादिकालसे अनंतकाल तक (सदा) नवीन २ पर्यायोको धारण करता रहता है । इसलिये पदार्थ उन समस्त अवस्थाओका समूह ही है । उस पर्याय समूहरूप पदार्थमाला पर बुद्धिमान पुरुष विचार

करे तो वे यह बात समझ लेंगे कि प्रवाहरूपसे होनेवाली क्रमसे भिन्न भिन्न अथवा समस्त पर्यायें पदार्थरूप ही है अथवा पदार्थ ही प्रवाहसे होनेवाली उन पर्यायों स्वरूप है किसी रूपसे भी पदार्थके ऊपर विचार किया जाय तो यही बात सिद्ध होती है कि पदार्थ जैसा एक समयमे होनेवाली अवस्थारूप है वैसा सम्पूर्ण समयोंमें होनेवाली अवस्थाओंस्वरूप भी वही है, अथवा वह जितना एक समयमे होनेवाली अवस्थारूप है, उतना ही वह सम्पूर्ण समयोमे होनेवाली अवस्थाओरूप है।

* न पुनः कालसमृद्धौ यथा शरीरादिवृद्धिरिति वृद्धौ ।
अपि तद्धानौ हानिर्न तथा वृद्धिर्न हानिरेव सतः ॥४७४॥

अर्थः—ऐसा नही है कि जिसप्रकार कालकी वृद्धि होनेपर शरीरादिकी वृद्धि होती है और कालकी हानि होनेपर शरीरादिकी हानि होती है, उसप्रकार सत्की भी हानि वृद्धि होती हो। शरीरादिकी हानि वृद्धिके समान न तो पदार्थकी वृद्धि ही होती है और न हानि ही होती है।

भावार्थः—जिसप्रकार थोडे कालका बालक लघु शरीरवाला होता है परन्तु अधिक कालका होनेपर वही बालक हृष्ट पुष्ट—लम्बे चौडे शरीरवाला युवा—पुरुष होता है। वृक्ष वनस्पतियोमे भी यही बात देखी जाती है, कालानुसार वे भी अकुरावस्थासे बढ़कर लम्बे वृक्ष और लताओरूप हो जाती है, उसप्रकार एक पदार्थकी हानि वृद्धि नही होती है। उसके विषयमे शरीरादिका दृष्टान्त विषम है। शरीरादि पुद्गल द्रव्यकी स्थूल पर्याय है और वह अनेक द्रव्योका समूह है। अनेक परमाणुओके मेलसे बना हुआ स्कन्ध ही जीव शरीर है। उन परमाणुओकी न्यूनतामे वह न्यून और उनकी अधिकतामे वह अधिक हो जाता है, परन्तु एक द्रव्यमे ऐसी न्यूनता, अधिकता नही हो सकती है। वह जितना है उतना ही रहता है। पुद्गल द्रव्यमे एक परमाणु भी जितना है वह सदा उतना ही बना रहेगा, उसमे न्यूनाधिकता कभी कुछ नही होगी। उसमे परिणमन किसी प्रकारका भी होता रहो।—

---

* 'न पुन.' के स्थानमें 'च पुनः' पाठ संशोधित पुस्तकमें है। वही ठीक प्रतीत होता है। अन्यथा तीन नकारोंमें एक व्यर्थ ही प्रतीत होता है।

— जैसे क्षेत्रकी अपेक्षासे वस्तुमें विष्कभक्रमसे विचार होता है वैसे कालकी अपेक्षासे उसमें विचार नहीं होता है। क्षेत्रकी अपेक्षासे तो उसके प्रदेशोंका विचार होता है। वस्तुका एक प्रदेश उसके सर्व देशमें नहीं रहता है परन्तु कालकी अपेक्षासे एक गुणाश उस वस्तुके देशमें रहता है प्रत्येक समयमें एक गुणकी जो अवस्था होती है उसे ही गुणाश कहते हैं।

शंकाकार

+ ननु भवति पूर्वपूर्वभावध्वंसान्नु हानिरेव सतः ।
स्यादपि तदुत्तरोत्तरभावोत्पादेन वृद्धिरेव सतः ॥४७५॥

अर्थः—जब पदार्थमें पहले २ भावोका नाश होता जाता है तो अवश्य ही पदार्थकी हानि (न्यूनता) होती है, और जब उत्तरोत्तर–नवीन भावोका उसमें उत्पाद होता रहता है तो अवश्य ही उसकी वृद्धि होती है ?

उत्तर

नैवं सतो ति शाद : सर्गातसिद्धसिद्धान्तात् ।
सदनन्यथाथ वा चेत्सदनित्यं : कथं तस्य ॥४७६॥

अर्थः—उपर्युक्त कहना ठीक नही है, यदि पदार्थकी हानि और वृद्धि होने लगे तो सत्पदार्थका विनाश और असत्का उत्पाद भी स्वय सिद्ध होगा और ऐसा सिद्धान्त सर्वथा असिद्ध है अथवा यदि पदार्थको सर्वथा एकरूपमे ही मान लिया जाय, उसमें उत्पाद व्यय ध्रौव्य न माना जाय तो ऐसा माननेवालेके यहाँ कालकी अपेक्षासे सत् अनित्य किसप्रकार सिद्ध होगा ? अर्थात् विना परिणमन स्वीकार किये पदार्थमे अनित्यता भी कालकी अपेक्षासे नही आ सकती है ।

नासिद्धमनित्यत्वं सतस्ततः कालतोप्यनित्यस्य ।
परिणामित्त्वान्नियतं सिद्धं तज्जलधरादिदृष्टान्तात् ॥४७७॥

अर्थः—पदार्थ कथञ्चित् अनित्य है यह बात असिद्ध भी नही है । कालकी अपेक्षासे वह सदा परिणमन करता ही रहता है, इसलिये उसमे कथञ्चित् अनित्यता स्वय सिद्ध है । इस विषयमे मेघ–बिजली आदि अनेक दृष्टान्त प्रत्यक्ष सिद्ध है ।

साराश

तस्मादनवद्यमिदं परिणममानं पुनः पुनः सदपि ।
स्यादेकं कालादपि निजप्रमाणादखण्डितत्त्वाद्वा ॥४७८॥

अर्थः—ऊपरके कथनसे यह वात निर्दोष रीतिसे सिद्ध होती है कि सत् वार वार परिणमन करता हुआ भी कालकी अपेक्षासे वह एक है, क्योकि उसका जितना प्रमाण (परिमाण) है, उससे वह सदा अखण्ड रहता है ।

+ मूल पुस्तकमें हानिके स्थानमें वृद्धि और वृद्धिके स्थानमें हानि पाठ है वह ठीक नहीं है ।

भावार्थः—पुन. पुन. परिणमनकी अपेक्षा तो सत्‌में अनेकत्व आता है, तथा उसमें अखण्ड निजरूपकी अपेक्षा एकत्व आता है। इसलिये कालकी अपेक्षासे सत् कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य अथवा कथचित् एक और कथचित् अनेक सिद्ध हो चुका।

भाव-विचार

भावः परिणाममयः शक्तिविशेषोऽथवा स्वभावः स्यात् ।
प्रकृतिः स्वरूपमात्रं लक्षणमिह गुणश्च धर्मश्च ॥४७९॥

अर्थः—भाव, परिणाम, शक्ति, विशेष, स्वभाव, प्रकृति, स्वरूप, लक्षण, गुण, धर्म ये सब भावके ही पर्यायवाचक है।

तेनाखण्डतया स्यादेकं सच्चैकदेशनययोगात् ।
तल्लक्षणमिदमधुना विधीयते सावधानतया ॥४८०॥

अर्थः—उस भावसे सत् अखण्ड है। इसलिये एक देश नयसे (गुणोंकी अखण्डताके कारण) वह कथचित् एक है। भावकी अपेक्षासे सत् एक है। इस विषयका लक्षण (स्वरूप) सावधानीसे इससमय कहा जाता है—

सर्वं सदिति यथा स्यादिह संस्थाप्य गुणपंक्तिरूपेण ।
पश्यन्तु भावसादिह निःशेषं सन्नशेषमिह किञ्चित् ॥४८१॥

अर्थः—सम्पूर्ण सत्को गुणोकी पक्तिरूपसे यदि स्थापित किया जाय तो उस सम्पूर्ण सत्को आप भावरूप ही देखेगे, भावो (गुणो)को छोडकर सत्मे और कुछ भी आपकी दृष्टिमें न आवेगा।

भावार्थः—सत् गुणका समुदाय रूप है, इसलिये उसे यदि गुणोकी दृष्टिसे देखा जाय तो वह गुण-भावरूप ही प्रतीत होगा। उससमय गुणोके सिवा उसका भिन्न रूप कुछ नही प्रतीत होगा। जैसे स्कन्ध, शाखा, डाली, गुच्छा, पत्ते, फल, फूल आदि वृक्षके अवयवोको अवयव रूपसे देखा जाय तो फिर समग्र वृक्ष अवयव स्वरूप ही प्रतीत होता है। अवयवोसे भिन्न वृक्ष कोई वस्तु नही ठहरता है। क्योकि अवयव समुदाय ही तो वृक्ष है। वैसे ही एक द्रव्यके-द्रव्यत्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व, प्रदेशवत्व, अगुरुलघुत्व, अस्तित्व, ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, रूप; रस, अमूर्तित्व आदि गुणोको गुण रूपसे देखा जाय तो फिर उनसे भिन्न द्रव्य कोई पदार्थ शेष नही रह जाता है। क्योकि गुणसमुदाय ही तो द्रव्य है इसलिये भावकी विवक्षामें पदार्थ भावमय ही है।

एकं तत्रान्यतरं भावं समपेक्ष्य यावदिह सदिति ।
सर्वानपि भावानिह व्यस्तसमस्तानपेक्ष्य सच्चावत् ॥४८२॥

अर्थः—उन सम्पूर्ण भावो (गुणो) मेसे जब किसी एक भावकी विवक्षा की जाती है तो सम्पूर्ण सत् उसीरूप (तन्मय) प्रतीत होता है। इसीप्रकार भिन्न २ भावोंकी अथवा समस्त भावोकी विवक्षा करनेसे सत् भी उतना ही प्रतीत होता है।

न पुनर्द्व्यणुकादिरिति स्कन्धः पुद्गलमयोऽस्त्यणूनां हि ।
लघुरपि भवति लघुत्वे सति च महत्वे महानिहास्ति यथा ॥४८३॥

अर्थः—जिसप्रकार पुद्गलमय द्व्यणुकादि स्कन्ध परमाणुओंके कम होनेसे छोटा और उनके अधिक होनेपर बड़ा हो जाता है, उसप्रकार सत्मे छोटापन और बड़ापन नही होता है। अर्थात् उसमे न तो कोई गुण कही चला जाता है और न कोई कहीसे आ जाता है। वह जितना है सदा उतना ही रहता है।

स्पष्ट विवेचन

अयमर्थो वस्तु यदा लक्ष्येत विवक्षितैकभावेन ।
तन्मात्रं सदिति स्यात्सन्मात्रः स च विवक्षितो भावः ॥४८४॥
यदि पुनरन्यतरेण हि भावेन विवक्षितं सदेव स्यात् ।
तन्मात्रं सदिति स्यात्सन्मात्रः स च विवक्षितो भावः ॥४८५॥

अर्थः—जिससमय जिस विवक्षित भावसे वस्तु कही जाती है, उससमय वह उसी भावमय प्रतीत होती है, और वह विवक्षित भाव भी सत्स्वरूप प्रतीत होता है, यदि किसी दूसरे भावसे वस्तु विवक्षित की जाती है तो वह उसी भावमय प्रतीत होती है और वह विवक्षित भाव भी उसी रूप (सत्स्वरूप) प्रतीत होता है।

भावार्थः—जिससमय जिस भावकी विवक्षा की जाती है, उससमय सम्पूर्ण वस्तु उसी भावरूप प्रतीत होती है बाकीके सब गुण उसीके अंतर्लीन हो जाते है। इसका कारण भी उनका तादात्म्य भाव है।

दृष्टान्त

अत्रापि च संदृष्टिः कनकः पीतादिमानिहास्ति यथा ।
पीतेन पीतमात्रो भवति गुरुत्वादिना च तन्मात्रः ॥४८६॥
किंचित्स्निग्धत्वमस्ति गु । च ।
॥४८७॥

इदमत्र तु तात्पर्यं यत्पीतत्वं गुणः सुवर्णस्य ।
अन्तर्लीनगुरुत्वादि वक्ष्यते तद्गुरुत्वेन ॥४८८॥

अर्थः—वस्तु जिस भावसे विवक्षित की जाती है उसी भावमय प्रतीत होती है, इस विषयमे सुवर्ण (सोना)का दृष्टान्त भी है सुवर्णमे पीलापन भारीपन, चमकीलापन आदि अनेक गुण हैं। जिससमय वह पीत गुणसे विवक्षित किया जाता है उससमय वह पीत मात्र ही प्रतीत होता है। तथा जिससमय वह सुवर्ण गुरुत्व गुणसे विवक्षित किया जाता है उससमय वह गुरु रूप ही प्रतीत होता है। ऐसा नही है कि उस सोनेमे कुछ तो पीतिमा हो, कुछ स्निग्धता हो, और कुछ गुरुता हो, और उन सबके समवायसे तीन सत्ताओवाला एक सोना कहलाता हो।* यहाँ पर इतना ही तात्पर्य है कि जो सोनेका पीत गुण है उसके गुरुत्व आदिक गुण अन्तर्भूत है इसलिये सोना केवल गुरुत्व गुणके द्वारा भी कहा जाता है।

भावार्थः—सोनेके पीतत्व, गुरुत्व, स्निग्धत्व, आदि सभी गुणोमे तादात्म्य है। वे सब अभिन्न है, इसलिये विवक्षित गुण प्रधान हो जाता है वाकीके सब उसीके अन्तर्लीन हो जाते है। सोना उससमय विवक्षित गुणरूप ही सब ओरसे प्रतीत होता है।

ज्ञानत्वं जीवगुणस्तदिह विवक्षावशात्सुखत्वं स्यात् ।
अन्तर्लीनत्वादिह तदेकसत्त्वं तदात्मकत्वाच्च ॥४८९॥

अर्थः—जीवका जो ज्ञान गुण है, वही विवक्षावश सुखरूप हो जाता है, क्योकि सुख गुण ज्ञान गुणके अन्तर्लीन (भीतर छिपा हुआ) रहता है। इसलिये विवक्षा करने पर ज्ञान सुखरूप ही प्रतीत होने लगता है। जिससमय जीवको सुख गुणसे विवक्षित

* न्यायदर्शन, गुण गुणीका सर्वथा भेद मानता है। सोनेमें जो पीलापन, भारीपन आदि गुण हैं उन्हें वह सोनेसे सर्वथा जुदा ही मानता है, और प्रत्येक गुणकी भिन्न २ सत्ता भी मानता है, परन्तु वैसा उसका मानना सर्वथा बाधित है। जब प्रत्येक गुणकी भिन्न भिन्न सत्ता है तो गुण द्रव्य कहलाना चाहिये। क्योंकि द्रव्य जैसे भिन्न सत्तावाला स्वतन्त्र है वैसे गुण भी भिन्न सत्तावाला स्वतन्त्र होना चाहिये। जब दोनों ही स्वतन्त्र हैं तो एक गुण दूसरा गुणी यह व्यवहार कैसे हो सकता है? दूसरी बात यह भी है कि जब गुण द्रव्यसे सर्वथा जुदे हैं तो वे जिसप्रकार समवाय सम्बन्धसे एक द्रव्यके साथ रहते हैं उसप्रकार किसी अन्य द्रव्यके साथ भी रह सकते हैं, फिर अमुक द्रव्यका ही अमुक गुण है अथवा अमुक गुण अमुक द्रव्यमें ही रहता है, इस प्रतीतिका सर्वथा लोप हो जायेगा। इन दूषणोंके सिवा और भी अनेक दूषण गुण गुणीको सर्वथा भेद माननेमें आते हैं।

किया जाता है, उससमय वह सुखस्वरूप ही प्रतीत होता है। उससमय जीवके ज्ञान, दर्शन, चारित्र, वीर्य आदि सभी गुणोकी सुख स्वरूप ही एक सत्ता प्रतीत होती है।

शंकाकार

ननु निर्गुणा गुणा इति सूत्रे सूक्तं प्रमाणतो वृद्धैः ।
तत्किं ज्ञानं गुण इति विवक्षितं स्यात्सुखत्वेन ॥४९०॥

अर्थः—सूत्रकार–पूर्वमहर्षियोनें गुणोका लक्षण वतलाते हुए उन्हे निर्गुण वतलाया है, ऐसा सूत्र भी है–'द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणा.' और यह वात सप्रमाण सिद्ध की गई है, फिर किसप्रकार जीवका ज्ञान गुण सुखरूपसे विवक्षित किया जा सकता है ?

भावार्थः—जव एक गुणमें दूसरा गुण रहता ही नही है ऐसा सिद्धान्त है तव ज्ञानमे सुखकी अन्तर्लीनता अथवा सुखमें ज्ञानकी अन्तर्लीनता यहाँ पर क्यों वतलाई गई है।

उत्तर

सत्यं लक्षणभेदाद्गुणभेदो निर्विलक्षणः स स्यात् ।
तेषां तदेकसत्त्वादखण्डितत्त्वं प्रमाणतोऽध्यक्षात् ॥४९१॥

अर्थः—ठीक है, परन्तु वात यह है कि गुणोमे जो भेद है वह उनके लक्षणोके भेदसे है। वह ऐसा भेद नही है कि गुणोको सर्वथा जुदा २ सिद्ध करनेवाला हो। उन सम्पूर्ण गुणोंकी एक ही सत्ता है इसलिये प्रत्यक्ष प्रमाणसे उनमे अखण्डता–अभेद सिद्ध है।

भावार्थः—जो पूर्वमहर्षियोने 'द्रव्याश्रयानिर्गुणा गुणा:' इस सूत्र द्वारा वतलाया है, उसका और इस कथनका एक ही आशय है। शंकाकारको जो उन दोनोमे विरुद्धता प्रतीत होती है उसका कारण उसकी असमझ है। उसने अपेक्षाको नही समझा है। अपेक्षाके समझनेपर जिन वातोमें विरोध प्रतीत होता है उन्हीमे अविरोध प्रतीत होने लगता है। सूत्रकारोने गुणोंमे लक्षण भेदसे भेद वतलाया है। लक्षणकी अपेक्षासे सभी गुण परस्पर भेद रखते हैं। जो ज्ञान है वह दर्शन नही है, जो दर्शन है वह चारित्र नही है, जो चारित्र है वह वीर्य नही है, जो वीर्य है वह सुख नहीं है, क्योंकि सभी गुणोके भिन्न २ कार्य प्रतीत होते हैं। इसलिये लक्षण भेदसे सभी गुण भिन्न हैं। एक गुण दूसरे गुणमे नही रह सकता है। ज्ञानका लक्षण वस्तुको जानना है। सुखका लक्षण आनन्द है। जानना आनन्द नही हो सकता है। आनन्द वात दूसरी है, जानना वात दूसरी है। ऐसा भेद देखा भी जाता है कि जिससमय कोई विद्वान् किसी ग्रन्थको

समझने लगता है तो उसे उसके समझनेपर आनन्द आता है* इससे यह बात सिद्ध होती है कि ज्ञान दूसरा है, सुख दूसरा है। इसीप्रकार चारित्र, वीर्य आदि सभी गुणोके भिन्न २ कार्य होनेसे सभी भिन्न है। इसलिये निर्गुणा गुणा', इस सूत्रका आशय गुणोमें सुघटित ही है। साथ ही दूसरी दृष्टिसे विचारने पर वे सभी गुण एक रूप ही प्रतीत होते है। क्योकि सब गुणोकी एक ही सत्ता है। जिनकी एक सत्ता है वे किसीप्रकार भिन्न नही कहे जा सकते है। यदि सत्ताके अभेदमे भी भेद माना जाय तो किसी वस्तुमे अभिन्नता और स्वतन्त्रता आही नही सकती है। ज्ञान दर्शन सुख आदि अभिन्न है ऐसी प्रतीति भी होती है, जिससमय जीवको ज्ञानी कहा जाता है उससमय विचार कहने पर सम्पूर्ण जीव ज्ञानमय ही प्रतीत होता है। दृष्टा कहने पर वह दर्शनमय ही प्रतीत होता है। सुखी कहने पर वह सुखमय ही प्रतीत होता है। ऐसा नही है कि ज्ञानी कहने पर जीवमे कुछ अश तो ज्ञानमय प्रतीत होता हो, कुछ दर्शनमय होता हो और कुछ अंश सुखमय प्रतीत होता हो। किन्तु सर्वाश ज्ञानमय ही प्रतीत होता है। सुखी कहने पर सर्वाशरूपसे जीव सुखमय ही प्रतीत होता है, यदि ऐसा न माना जाय तो ज्ञानी कहनेसे सम्पूर्ण जीवका बोध नही होना चाहिये अथवा दृष्टा और सुखी कहनेसे भी सम्पूर्ण जीवका बोध नही होना चाहिये। किन्तु उसके एक अशका ही बोध होना चाहिये। परन्तु ऐसा बोध नही होता है। इसलिये किसी वस्तु पर विचार करनेसे वह वस्तु अभिन्न गुणमय एक रसमय ही प्रतीत होती है। ऐसी प्रतीतिसे गुणोमे अखण्डता अभिन्नता भी सुघटित ही है। गुणोकी अभिन्नतामे विवक्षित गुणके अन्तर्गत इतर सब गुणोका होना भी स्वय सिद्ध है।

सारांश

तस्मादनवद्यमिदं भावेनाखण्डितं सदेकं स्यात्।
तदपि विवक्षावशतः स्यादिति सर्वं न सर्वथेति नयात् ॥४९२॥

अर्थः—उपर्युक्त कथनसे यह बात निर्दोष रीतिसे सिद्ध हो चुकी कि भावकी अपेक्षासे सत् अखण्डित एक है। इतना विशेष समझना चाहिये कि वह सत्की एकता

* किसी ग्रन्थके समझने पर जो आनन्द आता है वह सच्चा सुख नहीं कहा जा सकता। क्योंकि उसमें रागभाव है। उसे सुख गुणकी वैभाविक परिणति कहनेमें कोई हानि नही दीखती। यह ज्ञान सुखका भेद साधक बहुत स्थूल दृष्टान्त है, ठीक दृष्टान्त सम्यग्दृष्टिके स्वानुभव और सुखका है। जिससमय आत्मा निजका अनुभव करता है उसीसमय उसे अलौकिक आनन्द आता है। वही आनन्द सच्चा सुख है। परन्तु वह अनुभव-ज्ञानसे जुदा है।

विवक्षाके आधीन है। सर्वथा एकता उसमे असिद्ध ही है, क्योंकि वस्तुमे एकता और अनेकता किसी नय विशेषसे सिद्ध होती है।

एवं भवति सदेकं भवति न तदपि च निरंकुशं किन्तु।
सदनेकं स्यादिति किल सप्रतिपक्षं यथा प्रमाणाद्वा ॥४९३॥

अर्थः—सत् एक है परन्तु वह सर्वथा एक नही है। उसका प्रतिपक्ष भी प्रमाण सिद्ध है इसलिये वह निश्चयसे अनेक भी है।

अपि च स्यात्सदनेकं तद्द्रव्याद्यैरखण्डितत्त्वेपि।
व्यतिरेकेण विना यन्नान्वयपक्षः स्वपक्षरक्षार्थम् ॥४९४॥

अर्थः—यद्यपि सत् द्रव्य गुण, पर्यायोसे अखण्ड है तथापि वह अनेक है क्योंकि विना व्यतिरेकपक्ष स्वीकार किये अन्वयपक्ष भी अपनी रक्षा नही कर सकता है।

भावार्थः—विना कथचित् भेदपक्ष स्वीकार किये अभेदपक्ष भी नही सिद्ध होता। उभयात्मक ही वस्तुस्वरूप है। अब द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव चारो ही से वस्तुमे भेद सिद्ध किया जाता है।

द्रव्य विचार

अस्ति गुणस्तल्लक्षणयोगादिह पर्ययस्तथा च स्यात्।
तदनेकत्वे नियमात्सदनेकं द्रव्यतः कथं न स्यात् ॥४९५॥

अर्थः—गुणोका लक्षण भिन्न है, पर्यायका लक्षण * भिन्न है। गुण पर्यायोंकी अनेकतामे द्रव्यकी अपेक्षासे सत् अनेक क्यों नही है? अर्थात् भेद विवक्षासे सत् कथंचित् अनेक भी है।

क्षेत्र विचार

यत्सच्चदेकदेशे तद्देशे न तद्द्वितीयेषु।
अपि तद्द्वितीयदेशे सदनेकं क्षेत्रतश्च को नेच्छेत् ॥४९६॥

अर्थः—जो सत् एक देशमे है वह उसी देशमे है। वह दूसरे देशोमें नहीं है। और जो दूसरे देशमें है वह उसीमे है, वह अन्यमे नही है। इसलिये क्षेत्रकी अपेक्षासे सत् अनेक है, इस बातको कौन नही चाहेगा?

---

* 'सहभाविनो गुणाः व्यतिरेकिणः पर्याया' अर्थात् गुण सहभावी हुआ करते हैं। पर्यायें क्रमभावी ... भेद है।

काल विचार

यत्सत्तदेककाले तत्तत्काले न तदितरत्र पुनः ।
अपि सत्तदितरकाले सदनेकं कालतोपि तदवश्यम् ॥४९७॥

अर्थः—जो सत् एक कालमें है, वह उसी कालमे है, वह दूसरे कालमें नही है, और जो सत् दूसरे कालमे है वह पहलेमे अथवा तीसरे आदि कालोमे नही है इसलिये कालकी अपेक्षासे भी सत् अनेक अवश्य है।

भाव विचार

तन्मात्रत्वादेको भावो यः स न तदन्यभावः स्यात् ।
भवति च तदन्यभावः सदनेकं भावतो भवेन्नियतम् ॥४९८॥

अर्थः—जो एक भाव है वह अपने स्वरूपसे उसीप्रकार है, वह अन्यभावरूप नही हो सकता है, और जो अन्यभाव है वह अन्यरूप ही है वह दूसरे भावरूप नही हो सकता है, इसलिये भावकी अपेक्षासे भी नियमसे सत् अनेक है।

शेषो विधिरुक्तत्वादत्र न निर्दिष्ट एव दृष्टान्तः ।
अपि गौरवप्रसङ्गाद्यदि वा पुनरुक्तदोषभयात् ॥४९९॥

अर्थः—बाकीकी विधि (सत् नित्य अनित्य भिन्न आदिरूप) पहले ही कही जा चुकी है, इसलिये वह नही कही जाती है। गौरवके प्रसगसे अथवा पुनरुक्त दोषके भयसे उस विषयमे दृष्टान्त भी नही कहा जाता है।

साराश

तस्माद्यदिह सदेकं सदनेकं स्यात्तदेव युक्तिवशात् ।
अन्यतरस्य विलोपे शेषविलोपस्य दुर्निवारत्वात् ॥५००॥

अर्थः—इसलिये जो सत् एक है वही युक्तिवशसे अनेक भी सिद्ध होता है। यदि एक और अनेक इन दोनोमेसे किसी एकका लोप कर दिया जाय तो दूसरेका लोप भी दुर्निवार–अवश्यम्भावी है, अर्थात् एक दूसरेकी अपेक्षा रखता है। दोनोकी सिद्धिमे दोनोकी सापेक्षता ही कारण है। एककी असिद्धिमे दूसरेकी असिद्धि स्वयं सिद्ध है।

सर्वथा एक माननेमें दोष

अपि सर्वथा सदेकं स्यादिति पक्षो न साधनायालम् ।
इह तदन्वयवाभावे नियमात्सदन्वयविनोप्यभावत्वात् ॥५०१॥

अर्थः—सत् सर्वथा एक है, यह पक्ष भी वस्तुकी सिद्धि करानेमे समर्थ नही है। वस्तुके अवयवोके अभावमे वस्तुरूप अवयवी भी नियममे सिद्ध नही होता है।

सर्वथा अनेक माननेमें दोष

अपि सदनेकं स्यादिति पक्षः कुशलो न सर्वथेति यतः ।
एकमनेकं स्यादिति नानेकं स्यादनेकमेकंकात् ॥५०२॥

अर्थः—सत् सर्वथा अनेक है यह पक्ष भी सर्वथा ठीक नही है। क्योंकि एक एक मिलकर ही अनेक कहलाता है। अनेक ही अनेक नही कहलाता, किन्तु एक एक सख्याके जोड़से ही अनेक सिद्ध होता है।

भावार्थः—ऊपरके श्लोको द्वारा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे सत्मे अनेकत्व सिद्ध किया गया है। उनसे पहलेके श्लोको द्वारा सत्मे एकत्व–अखण्डता सिद्ध की गई है। अखण्डताके विपयमे ऊपर स्पष्ट विवेचन किया जा चुका है। यहाँ पर सक्षेपसे भेदपक्ष–अनेकत्व दिखला देना अयुक्त न होगा। वस्तुमे लक्षण भेदसे द्रव्य जुदा, गुण जुदा पर्याय जुदी प्रतीत होती है। इसलिये द्रव्यकी अपेक्षासे वस्तु अनेक है। वस्तु जितने प्रदेशोमे विष्कभ क्रमसे विस्तृत है उन प्रदेशोमे जो प्रदेश जिस क्षेत्रमे है वह वहीं है और दूसरे, दूसरे क्षेत्रोमें जहाँके तहाँ हैं, वस्तुका एक प्रदेश दूसरे प्रदेशपर नही जाता है, यदि एक प्रदेश दूसरे प्रदेश पर चला जाय तो वस्तु एक प्रदेश मात्र ठहरेगी। इसलिये प्रदेश भेदसे वस्तु क्षेत्रकी अपेक्षासे अनेक है। तथा जो वस्तुकी एक समयकी अवस्था है वह दूसरे समयकी नही कही जा सकती, जो दूसरे समयकी अवस्था है वह उसी समयकी कहलायगी वह उससे भिन्न समयकी नही कही जायगी। इसलिये वस्तु कालकी अपेक्षासे अनेक है और जो वस्तुका एक गुण है वह दूसरा नही कहा जा सकता, जो पुद्गल (जड़)का रूप गुण है वह गन्ध अथवा रस नही कहा जा सकता। जितने गुण हैं सभी लक्षण भेदसे भिन्न हैं। इसलिये भावकी अपेक्षासे वस्तु अनेक है। इसप्रकार अपेक्षा भेदसे वस्तु कथञ्चित् एक और कथञ्चित् अनेक है। जो विद्वान् एक अनेक, भेद–अभेद, नित्य–अनित्य आदि धर्मोको परस्पर विरोधी बतलाते हुए उनमें संशय विरोध, वैयधिकरण, सकर, व्यतिकर आदि दोष सिद्ध करनेकी चेष्टा करते हैं, उनकी ऐसी असंभव चेष्टा सूर्यमें अन्धकार सिद्ध करनेके समान प्रत्यक्ष बाधित है, उन्हे वस्तुस्वरूप पर दृष्टि डालकर यथार्थ ज्ञान प्राप्त करनेकी चेष्टा करना चाहिये।

प्रमाण नयके स्वरूप कहनेकी प्रतिज्ञा

सदिति यथा स्यादेकमनेकं सुसिद्ध दृष्टान्तात् ।
अधुना तद्वाङ्मात्रं प्रमाणनयलक्षणं वक्ष्ये ॥ ५०३ ॥

अर्थः—सत्–पदार्थ कथंचित् एक है, कथंचित् वह अनेक है, यह बात सुप्रसिद्ध दृष्टान्तो द्वारा सिद्ध की जा चुकी है। अब वचनमात्र प्रमाण नयका लक्षण कहा जाता है।

नयोंका स्वरूप

इत्युक्तलक्षणेऽस्मिन् विरुद्धधर्मद्वयात्मके तत्त्वे ।
तत्राप्यन्यतरस्य स्यादिह धर्मस्य वाचकश्च नयः ॥५०४॥

अर्थः—पदार्थ विरुद्ध दो धर्म स्वरूप है, ऐसा उसका लक्षण ऊपर कहा जा चुका है। उन दोनो विरोधी धर्मोंमेसे किसी एक धर्मका कहनेवाला नय कहलाता है।

भावार्थः—पदार्थ उभय धर्मात्मक है, और उस उभय धर्मात्मक पदार्थको विषय करनेवाला तथा कहनेवाला प्रमाण है। उन धर्मोंमेसे एक धर्मको कहनेवाला नय है अर्थात् विवक्षित अशका प्रतिपादक नय है।

नयोंके भेद

द्रव्यनयो भावनयः स्यादिति भेदाद्द्विधा च सोपि यथा ।
पौद्गलिकः किल शब्दो द्रव्यं भावश्च चिदिति जीवगुणः ॥५०५॥

अर्थः—वह नय भी द्रव्यनय और भावनयके भेदसे दो प्रकार है। × पौद्गलिक शब्द द्रव्यनय कहलाता है तथा जीवका चेतना गुण भावनय कहलाता है।

भावार्थः—किसीअपेक्षासे जो वचन बोला जाता है उसे शब्दनय कहते है। जैसे किसीने घीकी अपेक्षा रख कर यह वाक्य कहा कि घीका घडा लाओ, यह वाक्य असद्भूत व्यवहार नयकी अपेक्षासे कहा गया है। इसलिये यह वाक्य भी नय कहलाता है। अर्थात् पदार्थके एक अशका प्रतिपादक वाक्य द्रव्य नय कहलाता है, और पदार्थके एक अशको विषय करनेवाला ज्ञान भाव नय कहलाता है।

× शब्द भाषा वर्गणासे बनता है इसलिये पौद्गलिक होता ही है उसका पौद्गलिक विशेषण देना स्थूलतासे निरर्थक ही प्रतीत होता है, परन्तु निरर्थक नहीं है। शब्दके दो भेद हैं (१) द्रव्य शब्द (२) भावशब्द। द्रव्य शब्द पौद्गलिक है। भावशब्द ज्ञानात्मक है। इस भेदको दिखलानेके लिये ही शब्दका यहांपर पौद्गलिक विशेषण दिया है। जो वचन बोला जाता है वह सब पौद्गलिक ही है।

अथवा

यदि वा ज्ञानविकल्पो नयो विकल्पोऽस्ति सोप्यपरमार्थः ।
न यतो ज्ञानं गुण इति शुद्धं ज्ञेयं च किन्तु तद्योगात् ॥५०६॥

अर्थः—अथवा ज्ञान विकल्पका नाम ही नय है । अर्थात् विकल्पात्मक ज्ञानको नय कहते हैं–और जितना विकल्प है वह सब अपरमार्थ–अयथार्थ है क्योंकि शुद्ध ज्ञान गुण नय नहीं कहा जाता है, और न शुद्ध ज्ञेय ही नय कहा जाता है । किन्तु ज्ञान और ज्ञेय, इन दोनोंके योग–सम्बन्धसे ही नय कहा जाता है । इसीलिये वह अयथार्थ है ।

स्पष्ट विवेचन

ज्ञानविकल्पो नय इति तत्रेयं प्रक्रियापि संयोज्या ।
ज्ञानं ज्ञानं न नयो नयोपि न ज्ञानमिह विकल्पत्वात् ॥५०७॥

अर्थः—ज्ञान विकल्प नय है इस विषयमें यह प्रक्रिया (शैली) लगानी चाहिये कि ज्ञान तो ज्ञानरूप ही है, ज्ञान नयरूप नहीं है । जो नय है वह ज्ञानरूप नहीं है, क्योंकि नय विकल्प स्वरूप है ।

भावार्थः—शुद्ध ज्ञान नयरूप नहीं है किन्तु विकल्पात्मक ज्ञान नय है ।

उन्मज्जति नयपक्षो भवति विकल्पो विवक्षितो हि यदा ।
न विवक्षितो विकल्पः स्वयं निमज्जति तदा हि नयपक्षः ॥५०८॥

अर्थः—जिससमय विकल्प विवक्षित होता है उससमय नय पक्ष भी प्रकट होता है । जिस समय विकल्प विवक्षित नहीं होता है, उस समय नय पक्ष भी स्वयं छिप जाता है । अर्थात् जहाँ पदार्थ किसी अपेक्षा विशेषमें विवक्षित होता है वहींपर नय पक्ष स्व-कार्यदक्ष होता है ।

दृष्टान्त

संदृष्टिः स्पष्टेयं स्यादुपचारागयथा घटज्ञानम् ।
ज्ञानं ज्ञानं न घटो घटोपि न ज्ञानमस्ति स इति घटः ॥५०९॥

अर्थः—यह दृष्टान्त स्पष्ट ही है कि जैसे उपचारसे घटको विषय करनेवाले ज्ञानको घटज्ञान कहा जाता है ।-वास्तवमें ज्ञान घटरूप नहीं होजाता, और न घट ही ज्ञानरूप होजाता है । ज्ञान ज्ञान ही रहता है तथा घट घट ही रहता है ।

भावार्थः—ज्ञानका स्वभाव जानना है । हरएक वस्तु उसका ज्ञेय पड़ती है ।-फिर घटको विषय करनेवाले ज्ञानको घट ज्ञान क्यों कह दिया जाता है, ? उत्तर–उपचारसे ।

उपचारका कारण भी विकल्प है। यद्यपि घटसे ज्ञान सर्वथा भिन्न है, तथापि ज्ञानमे घट, यह विकल्प अवश्य पड़ा है। इसीसे उस ज्ञानको घटज्ञान कह दिया जाता है।

तात्पर्य

इदमत्र तु तात्पर्यं हेयः सर्वो नयो विकल्पात्मा ।
बलवानिव दुर्वारः प्रवर्त्तते किल तथापि बलात् ॥५१०॥

अर्थः—नयके विषयमे यही तात्पर्य है कि जितना भी विकल्पात्मक नय है सभी त्याज्य (छोड़ने योग्य) है। यहाँपर शका हो सकती है कि जब विकल्पात्मक नय सभी छोड़ने योग्य हैं फिर क्यो कहा जाता है? उत्तर—यद्यपि यह बात ठीक है तथापि उसका कहना आवश्यक प्रतीत होता है। इसलिये वह बलवान्के समान बलपूर्वक प्रवर्तित होता ही है अर्थात्-उसका प्रयोग करना ही पड़ता है। वह यद्यपि त्याज्य है तथापि वह दुर्वार है।

भावार्थः—विकल्पात्मक-नय सम्पूर्ण पदार्थके स्वरूपको नही कह सकता है। इसका कारण भी यह है कि वह पदार्थको अशरूपसे ग्रहण करता है। इसलिये उपादेय नही है। तथापि उसके बिना कहे हुए भी पदार्थव्यवस्था नही जानी जा सकती है, इसलिये उसका कहना भी आवश्यक ही है।

नयमात्र विकल्पात्मक है

अथ तद्यथा यथा सत्सन्मात्रं मन्यमान इह कश्चित् ।
न विकल्पमतिक्रामति सदिति विकल्पस्य दुर्निवारत्वात् ।५११।

अर्थः—जितना भी नय है सब विकल्पात्मक है इसी बातको यहाँ पर स्पष्ट करते हैं। जैसे किसी पुरुषने सत्मे कोई विकल्प नही समझा हो केवल उसे उसने सन्मात्र सत्स्वरूप ही समझा हो तो यहाँ पर भी विकल्पातीत उसका ज्ञान नही कहा जा सकता है, क्योकि 'सत्' यह विकल्प उसके ज्ञानमे आ चुका ही है, वह दुर्निवार है, अर्थात् सत् इस विकल्पको तो कोई उसके ज्ञानसे दूर नही कर सकता।

भावार्थः—सम्पूर्ण विकल्पजाल भेद ज्ञानोको छोडकर केवल जिसने पदार्थको सन्मात्र ही समझा है उसका ज्ञान भी विकल्पात्मक ही है क्योकि उसके ज्ञानमे सत्, यह विकल्प आ चुका है। सत् भी तो पदार्थका एक अश ही है।

स्थूलं वा सूक्ष्मं वा बाह्यान्तर्जल्पमात्रवर्णमयम् ।
ज्ञानं तन्मयमिति वा नयकल्पो वाग्विलासत्वात् ॥५१२॥

अर्थः—स्थूल अथवा सूक्ष्म जो वाह्यजल्प (स्पष्ट वोलना) और अन्तर्जल्प (मन ही मनमे वोलना) है वह सव वर्णमय है और वह नयरूप है, क्योंकि वह वचन विन्यासरूप है। जितना भी वचनात्मक कथन है सव नयात्मक है तथा उन वचनोका जो वोध है ज्ञान है वह भी नयरूप ही है। क्योकि वचनोके समान उसने भी वस्तुके विवक्षित अंशको ही विषय किया है।

भावार्थः—वाचक तथा वाच्य वोध दोनो ही नयात्मक है।

अथवा

अवलोक्य वस्तुधर्मं प्रतिनियतं प्रतिविशिष्टमेकैकम्।
संज्ञाकरणं यदि वा तद्वागुपचर्यते च नयः ॥५१३॥

अर्थः—एक एक प्रतिनियित वस्तु धर्मको वस्तुसे विशिष्ट देखकर उस धर्म विशिष्ट वस्तुकी उसी नामसे संज्ञा—नामकरण करना भी नय है। ऐसा ज्ञान भी नयात्मक है और वचन भी नयात्मक ही उपचार है।

दृष्टान्त

अथ तद्यथा यथाग्नेरौष्ण्यं धर्मं समक्षतोऽपेक्ष्य।
उष्णोग्निरिति वागिह तज्ज्ञानं वा नयोपचारः स्यात् ॥५१४॥

अर्थः—जैसे अग्निका उष्णधर्म सामने देखकर किसीने कहा कि 'अग्नि उष्ण है' यह वचन नयरूप है और उस वचनका वाच्यरूप वोध भी नयात्मक है।

भावार्थः—अग्निमे दीपन, पाचन, प्रकाशन, जलाना, उष्णता आदि अनेक गुण हैं। परन्तु किसी विवक्षित धर्मसे जब वह कही जाती है तव वह अग्नि उतनी मात्र ही समझी जाती है। इसीप्रकार जीवको ज्ञानी कहने पर उसमे अनेक गुण रहते हुए भी वह ज्ञानमय ही प्रतीत होता है। इसलिये यह सब कथन तथा ऐसा ज्ञान नयरूप ही है।

इह किल छिदानिदानं स्यादिह परशुः स्वतंत्र एव यथा।
न तथा नयः स्वतन्त्रो धर्मविशिष्टं करोति वस्तुबलात् ॥५१५॥

अर्थः—जिसप्रकार छेदनक्रियाका कारण फरसा छेदनक्रियाके करनेमे स्वतन्त्र रीतिसे चलाया जाता है। उसप्रकार नय स्वतन्त्र रीतिसे वस्तुको किसी धर्मसे विशिष्ट नही समझता है और न कहता ही है।

भावार्थः—फरसाके चलनेमे यह आवश्यक नही है कि वह किसी दूसरे हथियार (अस्त्र) की अपेक्षा रखकर ही छेदनक्रियाको करे, परन्तु नयका प्रयोग स्वतन्त्र नही हो सकता है।

बिना किसी अपेक्षा विशेषके नय प्रयोग नही हो सकता है। नय प्रयोगमें अपेक्षा विशेष तथा प्रतिपक्ष नयकी सापेक्षता आवश्यक है। इसीलिये छेदन क्रियामे फरसाके समान नय स्वतन्त्र नही, किन्तु विवक्षा और प्रतिपक्ष नयसे वह परतन्त्र है। जो नय बिना अपेक्षाके और प्रतिपक्ष नयकी सापेक्षताके प्रयोग किया जाता है उसे नय ही नही कहना चाहिये अथवा मिथ्या नय कहना चाहिये।

नय भेद

एकः सर्वोपि नयो भवति विकल्पाविशेषतोपि नयात् ।
अपि च द्विविधः स यथास्वविषय भेदे विकल्पद्वैविध्यात् ॥५१६॥

अर्थः—विकल्पात्मक ज्ञानको ही नय कहते है कोई नय क्यो न हो, विकल्पात्मक ही होगा इसलिये विकल्पकी अविशेषता होनेसे सभी नय एक है। सभी नयोकी एकताका विकल्पसामान्य ही हेतु है। विषयभेदकी अपेक्षा होनेपर वह नय दो प्रकार भी है। विषयभेदसे विकल्पभेद—विकल्पद्वैविध्यका होना भी आवश्यक है और विकल्पद्वैविध्यमें नयद्वैविध्यका होना भी आवश्यक है।

अब नयके दो भेदों का उल्लेख किया जाता है

एकोद्रव्यार्थि इति पर्यायार्थिक इति द्वितीयः स्यात् ।
सर्वेषां च नयानां मूलमिदं नयद्वयं यावत् ॥५१७॥

अर्थः—एक द्रव्यार्थिक नय है, दूसरा पर्यायार्थिक नय है। सम्पूर्ण नयोके मूलभूत ये दो ही नय है।

द्रव्यार्थिक नय

द्रव्यं सन्मुख्यतया केवलमर्थः प्रयोजनं यस्य ।
भवति द्रव्यार्थिक इति नयः स्वधात्वर्थसंज्ञकश्चैकः ॥५१८॥

अर्थः—केवल द्रव्य ही मुख्यतासे जिस नयका प्रयोजन विषय है वह नय द्रव्यार्थिक नय कहा जाता है और वही अपनी धातुके अर्थके अनुसार यथार्थ नाम धारक है तथा वह एक है।

भावार्थः—पर्यायको गौण रखकर मुख्यतासे जहाँ द्रव्य कहा जाता है अथवा उसका ज्ञान किया जाता है वह द्रव्यार्थिक नय कहलाता है, और वह एक है, क्योकि उसमे भेद विवक्षा नही है।

पर्यायार्थिक नय

अंशाः पर्याया इति तन्मध्ये यो विवक्षितोंऽशः सः ।
अर्थो यस्येति मतः पर्यायार्थिकनयस्त्वनेकश्च ॥५१९॥

अर्थः—अंशोका नाम ही पर्याय है उन अशोमेसे जो विवक्षित अंश है वह अश जिस नयका विषय है, वही पर्यायार्थिक नय कहलाता है। ऐसे पर्यायार्थिक नय अनेक हैं।

भावार्थः—वस्तुकी प्रतिक्षण नई नई पर्याये होती रहती हैं, वे सब वस्तुके ही अश हैं। जिससमय किसी अवस्थारूपमे वस्तु कही जाती है उससमय वह कथन अथवा वह ज्ञान पर्यायार्थिक नय कहा जाता है। पर्यायें अनेक है इसलिये उनको विषय करनेवाला ज्ञान भी अनेक है तथा उसको प्रतिपादन करनेवाले वाक्य भी अनेक हैं।

नयोंका विशद स्वरूप कहने की प्रतिज्ञा

अधुना रूपदर्शनं संदृष्टिपुरस्सरं द्वयोर्वक्ष्ये ।
श्रुतपूर्वमिव सर्वं भवति च यद्वाऽनुभूतपूर्वं तत् ॥५२०॥

अर्थः—आचार्य कहते है कि वे अब उन दोनो नयोका स्वरूप दृष्टान्तपूर्वक कहेगें। दृष्टान्त पूर्वक कहनेसे सुननेवालोको वह विषय पहले सुने हुएके समान हो जाता है अथवा पहले अनुभव किये हुएके समान हो जाता है।

पर्यायार्थिक नय विचार

पर्यायार्थिक नय इति यदि वा व्यवहार एव नामेति ।
एकार्थो यस्मादिह सर्वोप्युचारमात्रः स्यात् ॥५२१॥

अर्थः—पर्यायार्थिक नय कहो अथवा व्यवहार नय कहो दोनोका एक ही अर्थ है, सभी उपचारमात्र है।

भावार्थः—व्यवहार नय पदार्थके यथार्थ रूपको नही कहता है, वह व्यवहारार्थ पदार्थमे भेद करता है, वास्तव दृष्टिसे पदार्थ वैसा नहो है, इसलिये व्यवहार नय उपचरित कथन करता है। पर्यायार्थिक नय भी व्यवहारनयका ही दूसरा नाम है, क्योकि पर्यायार्थिक नय वस्तुके किसी विवक्षित अंशको ही विषय करता है। इसलिये वह भी वस्तुमे भेद सिद्ध करता है। अतः दोनो नयोका एक ही अर्थ है यह बात सुसिद्ध है।

व्यवहारनयका स्वरूप

व्यवहरणं व्यवहारः स्यादिति शब्दार्थतो न परमार्थः ।
स यथा गुणगुणिनोरिह सदभेदे भेदकरणं स्यात् ॥५२२॥

अर्थः—किसी वस्तुमे भेद करनेका नाम ही व्यवहार है, व्यवहारनय शब्दार्थ–वाक्य विवक्षाके आधार पर है अथवा शब्द और अर्थ दोनो ही से अपरमार्थ है। वास्तवमें यह नय वस्तुके यथार्थ रूपको नही कहता है इसलिये यह परमार्थभूत नही है। जैसे–यद्यपि सत् अभिन्न–अखण्ड है तथापि उसमे 'यह गुण है' यह गुणी है, इसप्रकार गुण गुणीका भेद करना ही इस नयका विषय है।

साधारणगुण इति वा यदि वाऽसाधारणः सतस्तस्य।
भवति विवक्ष्यो हि यदा व्यवहारनयस्तदा श्रेयान् ॥५२३॥

अर्थः—पदार्थका सामान्य गुण हो अथवा विशेष गुण हो, जो जिससमय विवक्षित होता है उसीसमय उसे व्यवहारनयका यथार्थ विषय समझना चाहिये। अर्थात् विवक्षित गुण ही गुण गुणीमें भेद सिद्ध करता है, वह व्यवहारनयका विषय है। यहाँ पर यह शका की जा सकती है कि जब व्यवहारनय वस्तुमे भेद सिद्ध करता है तथा उसके यथार्थ स्वरूपका प्रतिपादक नही है तो फिर उसका विवेचन ही क्यो किया जाता है, अर्थात् उससे जब किसी उपयोगी फलकी सिद्धि ही नही होती तो उसका मानना ही निष्फल है? इस शकाके उत्तरमे व्यवहारनयका फल नीचेके श्लोकसे कहा जाता है–

फलमास्तिक्यमतिः स्यादनन्तधर्मैकधर्मिणस्तस्य।
गुणसद्भावे नियमाद्द्रव्यास्तित्वस्य सुप्रतीतत्वात् ॥५२४॥

अर्थः—व्यवहारनयका फल पदार्थोमे आस्तिक्यबुद्धिका होना है, व्यवहारनयसे वस्तु अनन्त गुणोका पुञ्ज है, यह बात जानी जाती है। क्योकि गुणोकी विवक्षामें गुणोका सद्भाव सिद्ध होता है और गुणोके सद्भावमे गुणी–द्रव्यका सद्भाव स्वय सिद्ध अनुभवमें आता है। नय तो ज्ञानका विकल्प है जो अभिन्न वस्तु होनेपर भी विवक्षासे भेद रूप करता है परन्तु चारित्र रूप व्यवहार उपचार नही है वह वास्तविक है। अणुव्रत, महाव्रत, श्रावक धर्म, मुनि धर्म यह व्यवहार मोक्ष साधक है। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामीने "दाण पूजा मुक्खो सावयधम्मो" आदि रूपसे व्यवहार धर्मको धर्म वताया है।

भावार्थः—व्यवहार नयके विना पदार्थ विज्ञान होता ही नही दृष्टान्तके लिये जीव द्रव्यको ही ले लीजिये, व्यवहार नयसे जीवका कभी ज्ञान गुण विवक्षित किया जाता है, कभी दर्शनगुण, कभी चारित्र, कभी सुख, कभी वीर्य, कभी सम्यक्त्व, कभी अस्तित्व, कभी

वस्तुत्व, कभी द्रव्यत्व इत्यादि सर्व गुणोंको क्रमश विवक्षित करनेसे यह बात ध्यानमें आ जाती है कि जीव द्रव्य अनन्त गुणोका पुञ्ज है। साथ ही इस बातका भी परिज्ञान (व्यवहार नयसे) हो जाता है कि ज्ञान, दर्शन, सुख, चारित्र, सम्यक्त्व, ये जीवके विशेप गुण हैं, क्योंकि ये गुण जीवके सिवा अन्य किसी द्रव्यमें नही पाये जाते हैं, और अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व आदि सामान्य गुण हैं, क्योंकि ये गुण जीव द्रव्यके सिवा अन्य सभी द्रव्योंमें भी पाये जाते हैं, तथा रूप, रस, गन्ध, स्पर्श ये पुद्गलके सिवा अन्य किसी द्रव्यमे नही पाये जाते हैं, इसलिये वे पुद्गलके विशेप गुण हैं। इसप्रकार वस्तुमें अनन्त गुणोके परिज्ञानके साथ ही उसके सामान्य विशेप गुणोंका परिज्ञान भी व्यवहार नयसे होता है। गुण गुणी और सामान्य विशेप गुणोंका परिज्ञान होनेपर ही पदार्थमें आस्तिक्य भाव होता है। इसलिये विना व्यवहार नयके माने काम नही चल सकता। क्योकि पदार्थका स्वरूप विना समझाये आ नहीं सकता और जो कुछ समझाया जायगा वह अंशरूपसे कहा जायगा और इसीको पदार्थमें भेद बुद्धि कहते हैं। अभिन्न अखण्ड पदार्थमे भेद बुद्धिको उपचरित कहा गया है। परन्तु व्यवहार नय निश्चय नयकी अपेक्षा रखनेसे यथार्थ है। निरपेक्ष मिथ्या है।

व्यवहार नयके भेद

व्यवहारनयो द्वेधा सद्भूतस्त्वथ भवेदसद्भूतः।
सद्भूतस्तद्गुण इति व्यवहारस्तत्प्रवृत्तिमात्रत्वात् ॥५२५॥

अर्थः—व्यवहार नयके दो भेद हैं। (१) सद्भूतव्यवहार नय (२) असद्भूत व्यवहार नय। सद्भूत उस वस्तुके गुणोका नाम है, और व्यवहार उनकी प्रवृत्तिका नाम है।

भावार्थः—किसी द्रव्यके गुण उसी द्रव्यमें विवक्षित करनेका नाम ही सद्भूत व्यवहार नय है। यह नय उसी वस्तुके गुणोका विवेचन करता है इसलिये यथार्थ है। इस नयमें अयथार्थपना केवल इतना है कि यह अखण्ड वस्तुमेंसे गुण गुणीका भेद करता है।

सद्भूत व्यवहारनयकी प्रवृतिका हेतु

अत्र निदानं च यथा सदसाधारणगुणो विवक्ष्यः स्यात्।
अविवक्षितोऽथ वापि च सत्साधारणगुणो न चान्यतरात् ॥५२६॥

अर्थः—सद्भूत व्यवहार नयकी प्रवृत्तिका हेतु यह है कि पदार्थके असाधारण गुण

ही इस नय द्वारा विवक्षित नही किये जाते है अथवा पदार्थके साधारण गुण इस नय द्वारा विवक्षित नही किये जाते है। ऐसा नही है कि इस नय द्वारा कभी कोई और कभी कोई गुण विवक्षित और अविवक्षित किया जाय।

भावार्थः—सद्भूत व्यवहार नय वस्तुके सामान्य गुणोको गौण रखता हुआ उसके विशेष गुणोका ही विवेचक है।

इस नयसे होनेवाला फल

अस्यावगमे फलमिति तदितरवस्तुनि निषेधबुद्धिः स्यात् ।
इतरविभिन्नो नय इति भेदाभिव्यञ्जको न नयः ॥५२७॥

अर्थः—सद्भूत व्यवहार नयके समझने पर ऐक पदार्थसे दूसरे पदार्थमे निषेध बुद्धि हो जाती है अर्थात् एक पदार्थसे दूसरा पदार्थ जुदा ही प्रतीत होने लगता है यह सद्भूत व्यवहार नय एक पदार्थकी दूसरे पदार्थसे भिन्न प्रतीति करानेवाला है। एक ही पदार्थमे भिन्नताका सूचक नही है।

भावार्थः—सद्भूत व्यवहारनय वस्तुके विशेष गुणोका विवेचन करता है इसलिये वह वस्तु अपने विशेष गुणो द्वारा दूसरी वस्तुसे भिन्न ही प्रतीत होने लगती है। जैसे जीवका ज्ञान गुण इस नय द्वारा विवक्षित होनेपर वह जीवको इतर पुद्गल आदि द्रव्योसे भिन्न सिद्ध कर देता है। ऐसा नही है कि जीवको उसके गुणोसे ही जुदा सिद्ध करता हो।

बस यही इस नयका फल है

अस्तमित सङ्करदोषं क्षतसर्वशून्यदोषं वा ।
अणुरिव वस्तुसमस्तं ज्ञानं भवतीत्यनन्यशरणमिदम् ॥५२८॥

अर्थः—सद्भूत व्यवहार नयसे वस्तुका यथार्थ परिज्ञान होनेपर वह सब प्रकारके सकर* दोषोसे रहित—सबसे जुदी, सब प्रकारके शून्यता—अभाव आदि दोषोसे रहित, समस्त ही वस्तु परमाणुके समान (अखण्ड) प्रतीत होती है। ऐसी अवस्थामे वह उसका शरण वही दीखती है।

---

* सर्वेषा युगपत्प्राप्तिः सङ्करः, येन रूपेण सत्त्व तेन रूपेणाऽसत्वस्यापि प्रसङ्ग । येनरूपेण चाऽसत्व तेन रूपेण सत्त्वस्यापि प्रसङ्ग. इति. सङ्करः। सप्तभंगी तरङ्गिणी। अर्थात् परस्पर पदार्थोंके मिलनेका नाम ही संकर है।

भावार्थः—इस नय द्वारा जब वस्तु उसके विशेष गुणोंसे सिद्ध सिद्ध हो जाती है, फिर उसमें सङ्कर दोष नहीं आ सकता है। तथा गुणोंका परिज्ञान होने पर उसमें शून्यता, अभाव आदि दोष भी नहीं आ सकते हैं, क्योंकि उसके गुणोंकी सत्ता और उनकी नित्यताका परिज्ञान उक्त दोनों दोषोंका विरोधी है तथा जब वस्तुके (सामान्य भी) गुण उसमें ही दीखते हैं उससे बाहर नहीं दीखते, तब वस्तु रत्नराशिके समान उसके गुणोंमें अखण्ड प्रतीत होती है। इतने बोध होनेपर ही वस्तु अनन्य शरण प्रतीत होती है।

असद्भूत व्यवहार नयका स्वरूप

अपि चाऽसद्भूतादिर्व्यवहारान्तो नयश्च भवति यथा।
अन्यद्रव्यस्य गुणाः सञ्जायन्ते बलात्तदन्यत्र * ॥५२९॥

अर्थः—दूसरे द्रव्यके गुणोंका बल पूर्वक दूसरे द्रव्यमें आरोपण किया जाय, इसीको असद्भूत व्यवहार नय कहते हैं।

दृष्टान्त

स यथा वर्णादिमतो मूर्तद्रव्यस्य कर्म किल मूर्तम्।
तत्संयोगत्वादिह मूर्ताः क्रोधादयोऽपि जीवभवाः ॥५३०॥

अर्थः—वर्णादिवाले मूर्त द्रव्यसे कर्म बनते हैं इसलिये वे भी मूर्त ही हैं। उन कर्मोंके सम्बन्धसे क्रोधादिक भाव बनते हैं इसलिये वे भी मूर्त हैं, उन्हें जीवके कहना यही असद्भूत व्यवहार नयका विषय है।

भावार्थः—रूप रस गन्ध स्पर्शका नाम ही मूर्ति है। यह मूर्ति पुद्गलमें ही पाई जाती है इसलिये पुद्गल ही वास्तवमें मूर्त है। उसी पुद्गलका भेद एक कार्माण वर्गणा भी है। उस वर्गणासे मोहनीय आदि कर्म बनते हैं। उन कर्मोंके सम्बन्धसे ही आत्माके क्रोधादिक वैभाविक भाव बनते हैं। इसलिये वे भी मूर्त हैं। उन क्रोधादिकोंको आत्माके भाव बतलानेवाला ही असद्भूत व्यवहार नय है।+

* संशोधित पुस्तकमें 'सञ्जायते' के स्थानमें 'संयोज्यन्ते' पाठ है वह विशेष अच्छा प्रतीत होता है।

\+ आत्माके चारित्र गुणकी वैभाविक परिणतिका नाम ही क्रोधादि है। ये क्रोधादिभाव पुद्गलके नहीं किन्तु आत्माके ही हैं। परन्तु पुद्गलके निमित्तसे होनेवाले हैं इसलिये वे शुद्धात्माके नहीं कहे जा सकते। स्वामी नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती-सूरिने द्रव्यसंग्रहमें जीवका कर्तृत्व बतलाते हुए क्रोधादिकोंको चेतन कर्म बतलाया है। और उन्हें अशुद्ध निश्चयनयका विषय बतलाया है। शुद्ध द्रव्यका निरूपण करनेवाले पञ्चाध्यायीकारने उन्हीं क्रोधादिकोंको जीवके निजगुण नहीं माना है इसीलिये उन्हें जीवके पक्षमें असद्भूत व्यवहार नयका विषय बतलाया है।

असद्भूतव्यवहार नयकी प्रवृत्तिमें हेतु

कारणमन्तर्लीना द्रव्यस्य विभावभावशक्तिः स्यात् ।
सा भवति सहजसिद्धा केवलमिह जीवपुद्गलयोः ॥५३१॥

अर्थः—असद्भूत व्यवहारनयकी प्रवृत्ति क्यो होती है ? इसका कारण द्रव्यमे रहनेवाली वैभाविक शक्ति है। वह स्वाभाविकी शक्ति है तथा केवल जीव और पुद्गलमे ही वह पाई जाती है।

भावार्थः—जीव और पुद्गल इन दो द्रव्योमे एक वैभाविक नामा गुण है यह उक्त दोनो द्रव्योका स्वाभाविक गुण है उस गुणका पर-कर्मके निमित्तसे वैभाविक परिणमन होता है। बिना पर निमित्तके उसका स्वाभाविक परिणमन होता है। * उसी वैभाविक शक्तिके विभाव परिणमनसे असद्भूत व्यवहार नयके विषयभूत जीवके क्रोधादिक भाव बनते है।

इसका फल

फलमागन्तुकभावादुपाधिमात्रं विहाय यावदिह ।
शेषस्तच्छुद्धगुणः स्यादिति मत्वा सुदृष्टिरिह कश्चित् ॥५३२॥

अर्थः—जीवमे क्रोधादिक उपाधि है। वह आगन्तुक भावो-कर्मोसे हुई है। उपाधिको दूर कर देनेसे जीव शुद्ध गुणोवाला प्रतीत होता है, अर्थात् जीवके गुणोमेसे परनिमित्तसे होनेवाली उपाधिको हटा देनेसे बाकी उसके चारित्र आदि शुद्ध गुण प्रतीत होने लगते है। ऐसा समझ कर जीवके स्वरूपको पहचान कर कोई (मिथ्यादृष्टि अथवा विचलितवृत्ति जीव भी) सम्यग्दृष्टि हो सकता है। बस यही इस नयका फल है।

दृष्टान्त

अत्रापि च संदृष्टिः परगुणयोगाच्च पाण्डुरः कनकः ।
हित्वा परगुणयोगं स एव शुद्धोऽनुभूयते कैश्चित् ॥५३३॥

अर्थः—इस विषयमे दृष्टान्त भी स्पष्ट ही है कि सोना दूसरे पदार्थके गुणके सम्बन्धसे कुछ सफेदीको लिये हुए प्रतीत होता है, परगुणके बिना वही सोना किन्हीको शुद्ध (तेजोमय पीला) अनुभवमे आता है।

सद्भूत, असद्भूत नयोंके भेद

सद्भूतव्यवहारोऽनुपचरितोस्ति च तथोपचरितश्च ।
अपि चाऽसद्भूतः सोनुपचरितोस्ति च तथोपचरितश्च ॥५३४॥

---

* पञ्चाध्यायीके द्वितीयभागमें बन्ध प्रकरणमें इस शक्तिका विशद विवेचन किया गया है

अर्थः—सद्भूत व्यवहार नय अनुपचरित भी होता है और उपचरित होता है। तथा असद्भूत व्यवहार नय भी अनुपचरित और उपचरित होता है।

अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नयका स्वरूप

स्यादादिमो यथान्तर्लीना या शक्तिरस्ति यस्य सतः ।
तत्तत्सामान्यतया निरूप्यते चेद्विशेषनिरपेक्षम् ॥५३५॥

अर्थः—जिस पदार्थके भीतर जो शक्ति है, वह विशेषकी अपेक्षासे रहित सामान्य रीतिसे उसीकी निरूपण की जाती है। यही अनुपचरित सद्भूतव्यवहार नयका स्वरूप है।

दृष्टान्त

इदमत्रोदाहरणं ज्ञानं जीवोऽनुजीवि जीवगुणः ।
ज्ञेयालम्बनकाले न तथा ज्ञेयोपजीवी स्यात् ॥५३६॥

अर्थः—अनुपचरित-सद्भूतव्यवहारनयके विषयमें यह उदाहरण है कि ज्ञान जीवका अनुजीवी गुण है। वह ज्ञेयके अवलम्बन कालमें ज्ञेयका उपजीवी गुण नहीं होता है।

भावार्थः—किसी पदार्थको विषय करते समय ज्ञान सदा जीवका अनुजीवी गुण रहेगा। यही अनुपचरित-सद्भूत व्यवहार नयका विषय है।

उसीका खुलासा

घटसद्भावे हि यथा घटनिरपेक्षं चिदेव जीवगुणः ।
अस्ति घटाभावेऽपि च घटनिरपेक्षं चिदेव जीवगुणः ॥५३७॥

अर्थः—जैसे ज्ञान घटके सद्भाव (घटको विषय करते समय)में घटनिरपेक्ष जीवका गुण है। वैसे घटाभावमें भी वह घट निरपेक्ष जीवका ही गुण है।

भावार्थः—जिससमय ज्ञानमें घट विषय पड़ा है उससमय भी वह घटाकार ज्ञान ज्ञान ही है। घटाकार (घटको विषय करनेसे) होनेसे वह ज्ञान घटरूप अथवा घटका गुण नहीं हो जाता है। घटाकार होना केवल ज्ञानका ही स्वरूप है। जैसे दर्पणमें किसी पदार्थका प्रतिबिम्ब पड़नेसे वह दर्पण पदार्थाकार हो जाता है। दर्पणका पदार्थाकार होना दर्पणकी ही पर्याय है। दर्पण उस प्रतिबिम्बमूलक पदार्थरूप नहीं हो जाता है, तथा जैसा दर्पण पदार्थाकार होनेपर भी वह अपने स्वरूपमें है वैसा पदार्थाकार न होनेपर भी वह अपने स्वरूपमें है। ऐसा नहीं है कि पदार्थाकार होते समय पदार्थके कुछ गुण दर्पणमें आ जाते हों अथवा दर्पणके कुछ गुण पदार्थमें चले जाते हो उसीप्रकार

ज्ञान भी जैसा पदार्थाकार होते समय जीवका चैतन्य गुण है वैसा पदार्थाकारके बिना भी जीवका चैतन्य गुण है। दोनो अवस्थाओमे वह जीवका ही गुण है।

एतेन निरस्तं यन्मतमेतत्सति घटे घटज्ञानम् ।
असति घटे न ज्ञानं न घटज्ञानं प्रमाणशून्यत्वात् ॥५३८॥

अर्थः—जो सिद्धान्त ऐसा मानता है कि घटके होनेपर ही घटज्ञान हो सकता है, घटके न होने पर घटज्ञान भी नही हो सकता और ज्ञान भी नही हो सकता है। वह सिद्धान्त उपर्युक्त कथनसे खण्डित हो चुका, क्योकि ऐसा सिद्धान्त माननेमे कोई प्रमाण नही है।

भावार्थः—बौद्ध सिद्धान्त है कि पदार्थज्ञानमें पदार्थ ही कारण है, बिना पदार्थके उसका ज्ञान नही हो सकता है, साथ ही ज्ञानमात्र भी नही हो सकता है क्योकि जो भी ज्ञान होगा वह पदार्थसे ही उत्पन्न होगा, अर्थात् पदार्थके रहते हुए ही होगा। पदार्थका ज्ञानमे कारण होना वह यो बतलाता है कि यदि पदार्थके ज्ञानमे पदार्थ कारण न हो तो जिससमय घटज्ञान किया जाता है उससमय उस ज्ञानमे घट ही विषय क्यो पड़ता है, पटादि अन्य पदार्थ क्यो नही पड जाते ? उसके यहाँ तो घटज्ञानमे घट कारण है इसलिये घट ही विषय पडता है, घटज्ञानमे अन्य पदार्थ विषय नही पड सकते। पदार्थको ज्ञानमे कारण नही माननेवालोके यहाँ (जैन सिद्धान्तमे) यह व्यवस्था नही बनेगी, ऐसा बोद्ध सिद्धान्त है परन्तु वह सिद्धान्त ऊपरके श्लोक द्वारा खण्डित हो चुका। क्योकि पदार्थके न रहने पर भी पदार्थका ज्ञान होता है। पदार्थको ज्ञानमे कारण माननेसे अनेक दूषण आते है। जैसे कोई पुरुष चादर ओढे हुए और शिर खोले हुए सोरहा है कुछ दूरसे दूसरा आदमी सोनेवालेके काले केश देखकर उन्हे मच्छर समझ लेता है, ऐसा भ्रम होना प्राय देखा जाता है। यदि पदार्थज्ञानमे पदार्थ ही कारण हो तो केशोमे मच्छरोका बोध सर्वथा नही होना चाहिये, वहाँपर जो केश पदार्थ है उसीका बोध होना चाहिये। परन्तु यहाँपर उलटी ही बात है। जो मच्छर पदार्थ नही है उसका तो बोध हो रहा है और जो केश पदार्थ उपस्थित है उसका बोध नही हो रहा है। उभय था अन्वय व्यभिचार, व्यतिरेक व्यभिचार दूपण आता है। इसलिये पदार्थज्ञानमे पदार्थ आवश्यक कारण नही है। जैसे—दीपक पदार्थोका प्रकाशक है, परन्तु दीपक पदार्थोसे उत्पन्न नही है। दीपकके दृष्टान्तसे भी यह बात सिद्ध नही होती कि जो जिससे उत्पन्न होता है वही उसका प्रकाशक है। बौद्धकी यह युक्ति भी कि घटज्ञानमें

घट ही विषय क्यों पड़ता है, पटादि क्यों नहीं ? ठीक नहीं है। क्योंकि मच्छरके विषय न पड़ते हुए भी मच्छरज्ञान हो जाता है अथवा केशके विषय पड़ते हुए भी केशज्ञान नहीं होता है। जैन सिद्धान्त तो घट ज्ञानमें घट ही विषय पड़ता है, पटज्ञानमें पट ही विषय पड़ता है, इस व्यवस्थामें योग्यताको कारण बतलाता है। योग्यता नाम उसके आवरणके क्षयोपशमका है। * जिस ज्ञानका क्षयोपशम होता है उसी ज्ञानका बोध होता है। यद्यपि एक समयमें घट पटादि बहुत पदार्थोंके ज्ञान विषयक आवरणका क्षयोपशम हो जाता है, तथापि उपयोगकी प्रधानतासे उपयुक्त विषयका ही ज्ञान होता है। योग्यताको कारण माननेसे ही पदार्थव्यवस्था बनती है अन्यथा नहीं। बौद्ध सिद्धान्तके आधार पर पदार्थव्यवस्था माननेसे उपयुक्त दूषणोंके सिवा और भी अनेक दूषण आते हैं। इस विषयमें विशदज्ञान चाहनेवालोंको प्रमेयकमलमार्तण्डका अवलोकन करना चाहिये।

इसका फल

फलमास्तिक्यनिदानं सद्द्रव्ये वास्तवप्रतीतिः स्यात्।
भवति क्षणिकादिमते परमोपेक्षा यतो विनायासात् ॥५३९॥

अर्थः—पदार्थमें यथार्थ प्रतीतिका होना ही आस्तिक्य बुद्धिका कारण है। ऐसी यथार्थ प्रतीति अनुपचरित–सद्भूत व्यवहार नयसे होती है। साथ ही क्षणिकादि सिद्धान्तके माननेवालो (बौद्धादि)मे विना किसी प्रयासके ही परम उपेक्षा (उदासीनता) हो जाती है, यही इस नयका फल है।

भावार्थः—घटज्ञान अवस्थामें भी ज्ञानको जीवका ही गुण समझना अनुपचरित–सद्भूत नय है, और यही पदार्थकी यथार्थ प्रतीतिका बीज है।

उपचरित–सद्भूत व्यवहारनयका स्वरूप

उपचरितः सद्भूतो व्यवहारः स्यान्नयो यथा नाम।
अविरुद्धं हेतुवशात्परतोप्युपचर्यते यथा स्वगुणः ॥५४०॥

अर्थः—अविरुद्धता पूर्वक किसी हेतुसे उस वस्तुका उसीमे परकी अपेक्षासे भी जहाँ पर उपचरित किया जाता है वहाँ पर उपचरित सद्भूत व्यवहार नय प्रवर्तित होता है।

* स्वावरणक्षयोपशमलक्षणयोग्यतया हि प्रतिनियतमर्थं व्यवस्थापयति। परीक्षामुख अर्थात् भिन्न भिन्न आवरण क्षयोपशम लक्षण योग्यता द्वारा ज्ञान उस योग्यताके भीतर आये हुए (प्रतिनियत) पदार्थका ही बोध करता है।

भावार्थः—यहाँ पर उसी वस्तुका गुण (विशेषगुण) उसीमे विवक्षित किया जाता है, इतना अंश तो सद्भूतका स्वरूप है। गुणीसे गुणका भेद किया गया है, इतना अंश व्यवहारका स्वरूप है तथा वह गुण उस वस्तुमें परसे उपचरित किया जाता है, इतना उपचरित–अंश है। इसलिये ऐसे ज्ञानवाला–उपचरित–सद्भूत व्यवहार नय कहलाता है, अथवा ऐसा उपचरित–प्रयोग भी उसी नयका विषय है।

दृष्टान्त

अर्थविकल्पो ज्ञानं प्रमाणमिति लक्ष्यतेधुनापि यथा।
अर्थः स्वपरनिकायो भवति विकल्पस्तु चित्तदाकारम् ॥५४१॥

अर्थः—जैसे प्रमाणका लक्षण कहा जाता है कि अर्थ विकल्प ज्ञानरूप प्रमाण होता है, यहाँ पर अर्थ नाम ज्ञान और पर पदार्थोंका है। विकल्प नाम ज्ञानका उस आकाररूप होना है। अर्थात् स्व पर ज्ञान होना ही प्रमाण है।

भावार्थः—ज्ञान अपने स्वरूपको जानता हुआ ही पर पदार्थोंको जानता है, यही उसकी प्रमाणताका हेतु है। स्व पर पदार्थोंका निश्चयात्मक बोध ही प्रमाण कहलाता है और यह ज्ञानकी विकल्पात्मक अवस्था है। यहाँ पर ज्ञानका स्वरूप उसके विषयभूत पदार्थोंके उपचारसे सिद्ध किया जाता है, परन्तु विकलपरूप ज्ञानको जीवका ही गुण बतलाया गया है। इसलिये यह उपचरित सद्भूत व्यवहार नयका विषय है।

असदपि लक्षणमेतत्सन्मात्रत्वे सुनिर्विकल्पत्वात्।
तदपि न विनावलम्बान्निर्विषयं शक्यते वक्तुम् ॥५४२॥

अर्थः—ज्ञान यद्यपि निर्विकल्पक होनेसे सन्मात्र है इसलिये उपर्युक्त विकल्प स्वरूप लक्षण उसमे नही जाता है, तथापि वह बिना अवलम्बनके निर्विपय नही कहा जा सकता है।

तस्मादनन्यशरणं सदपि ज्ञानं स्वरूपसिद्धात्वात्।
उपचरितं हेतुवशात् तदिह ज्ञानं तदन्यशरणमिव ॥५४३॥

अर्थः—इसलिये ज्ञान अपने स्वरूपसे स्वयं सिद्ध है अतएव वह अनन्य शरण (उसका वही अवलम्वन) है तो भी हेतु वश वह ज्ञान अन्य शरणके समान उपचरित होता है।

ऐसा होनेमें हेतु

हेतुः स्वरूपसिद्धिं विना न परसिद्धिरप्रमाणत्वात् ।
तदपि च शक्तिविशेषाद्द्रव्यविशेषे यथा प्रमाणं स्यात् ॥५४४॥

अर्थः—ऐसा होनेमे कारण भी यह है कि स्वरूप सिद्धिके बिना परसे सिद्धि अप्रमाण ही है, अर्थात् ज्ञान स्वरूपसे सिद्ध है तभी वह परसे भी सिद्ध माना जाता है। ज्ञान स्वरूपसे सिद्ध है इस विषयमे भी यही कहा जा सकता है कि वह द्रव्य विशेष (जीव द्रव्य)का गुण विशेष है। यह बात प्रमाण पूर्वक सिद्ध है।

भावार्थः—अर्थ विकल्पो ज्ञान प्रमाणम्, अर्थात् स्व–पर पदार्थका बोध ही प्रमाण है। ऐसा ऊपर कहा गया है। इस कथनसे ज्ञानमे प्रमाणता परसे लाई गई है। परन्तु परसे प्रमाणता ज्ञानमे तभी आ सकती है जब कि वह अपने स्वरूपसे सिद्ध हो, इसी बातको यहाँ पर स्पष्ट किया गया है कि ज्ञान अपने स्वरूपसे स्वय सिद्ध है। कारण कि वह जीवद्रव्यका विशेष गुण है स्वय सिद्ध होकर ही वह परसे उपचरित कहा जाता है।

इसका फल।

अर्थो ज्ञेयज्ञायकसङ्करदोषभ्रमक्षयो यदि वा।
अविनाभावात् साध्यं सामान्यं साधको विशेषः स्यात् ॥५४५॥

अर्थः—उपचरित–सद्भूत व्यवहार नयका यह फल है कि ज्ञेय और ज्ञायकमे अर्थात् ज्ञान और पदार्थमे सकर दोष न उत्पन्न हो, तथा किसी प्रकारका भ्रम भी इनमे न उत्पन्न हो। यदि पहले ज्ञेय और ज्ञायकमे सकर दोष अथवा दोनोमे भ्रम हुआ हो तो इस नयके जानने पर वह दोष तथा वह भ्रम दूर हो जाता है। यहाँ पर अविनाभाव होनेसे सामान्य साध्य है तथा विशेष उसका साधक है अर्थात् ज्ञान साध्य है और घटज्ञान पटज्ञानादि उसके साधक है। दोनोका ही अविनाभाव है। कारण कि पदार्थ प्रमेय है इसलिये वह किसी न किसीके ज्ञानका विषय होता ही है और ज्ञान भी ज्ञेयका अवलम्बन करता ही है निर्विषय वह भी नही होता।

भावार्थः—कोई पदार्थके स्वरूप नही समझनेवाले ज्ञानको घट पटादि पदार्थोंका धर्म बतलाते है, कोई कोई ज्ञेयके धर्म ज्ञायकमे बतलाते है। अथवा विषय–विषयीके सम्बन्धमे किन्हीको भ्रम हो रहा है उन सबका अज्ञान दूर करना ही इस नयका फल है। इस नय द्वारा यही बात बतलाई गई है कि विकल्पता ज्ञानका साधक है अर्थात् घटज्ञान, पटज्ञान, पुस्तकज्ञान, रत्नज्ञान इत्यादि ज्ञानके विशेषण साधक है। सामान्यज्ञान

साध्य है। उपर्युक्त विशेषणोसे सामान्यज्ञानकी ही सिद्धि होती है। ज्ञानमें घटादि धर्मता सिद्ध नही होती। ऐसा यथार्थ परिज्ञान होनेसे ज्ञेय ज्ञायकमे सकरताका बोध कभी नही हो सकता है।

अनुपचरित–असद्भूत व्यवहार नयका दृष्टान्त

अपि वाऽसद्भूतो योऽनुपचरिताख्यो नयः स भवति यथा।
क्रोधाद्या जीवस्य हि विवक्षिताश्चेदबुद्धिभवाः ॥५४६॥

अर्थः—अबुद्धि पूर्वक होनेवाले क्रोधादिक भावोमे जीवके भावोकी विवक्षा करना, यह अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय कहलाता है।

भावार्थः—दूसरे द्रव्यके गुण दूसरे द्रव्यमे विवक्षित किये जाँय इसीको असद्भूत व्यवहार नय कहते है। क्रोधादिक भाव कर्मोके सम्बन्धसे होते है इसलिये वे जीवके नही कहे जा सकते यह बात असद्भूत व्यवहार नयके दृष्टान्तमें स्पष्ट कर दी गई है। उन्ही भावोको जीवके भाव कहना या जानना असद्भूत नय है। परन्तु क्रोधादिक भाव दो प्रकारके होते है (१) बुद्धि पूर्वक (२) अबुद्धि पूर्वक। बुद्धि पूर्वक भाव उन्हे कहते हैं जो भाव स्थूलतासे उदयमे आ रहे हो तथा जिनके विषयमे हम बोध भी कर रहे हों कि वे क्रोधादिक भाव है। ऐसा समझ कर भी कि ये क्रोधादिक है, फिर भी उन्हे जीवके बतलाना या जानना उपचरित नय है, परन्तु जहाँ पर क्रोधादिक भाव सूक्ष्मतासे उदयमे आरहे हैं, जिनके विषयमे यह निर्णय नही किया जा सकता कि क्रोधादि भाव है या नही ऐसे भावोंको अबुद्धि पूर्वक क्रोधादि भावोको जीवके विवक्षित करना अनुपचरित–असद्भूत व्यवहारनय है। यहाँपर वैभाविक भावोको (परभावोको) जीवका कहना इतना अश तो असद्भूतका है। गुण गुणीका विकल्प व्यवहार अश है। अबुद्धि-पूर्वक क्रोधादिकोको कहना इतना अश अनुपचरितका है।

इसका कारण

कारणमिह यस्य सतो या शक्तिः स्याद्विभावभावमयी।
उपयोगदशाविष्टा सा शक्तिः स्यात्तदाप्यनन्यमयी ॥५४७॥

अर्थः—जिस पदार्थकी जो शक्ति वैभाविक भावमय हो रही है और उपयोगदशा (कार्यकारिणी) विशिष्ट है। तो भी वह शक्ति अन्यकी नही कही जा सकती। यही अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनयकी प्रवृत्तिमे कारण है।

भावार्थः—यदि एक शक्ति दूसरी शक्ति रूप परिणत हो जाय तब तो एक पदार्थके गुण दूसरे पदार्थमें चले जानेसे संकर और अभाव दोष उत्पन्न होते हैं, तथा ऐसा ज्ञान और कथन भी मिथ्यानय है। जीवके क्रोधादिक भाव उसके चारित्र गुणके ही परनिमित्तसे होनेवाले विकार हैं। चारित्र गुण कितना ही विकारमय अवस्थामें क्यों न परिणत हो जाय परन्तु वह सदा जीवका ही रहेगा। इसीलिये वहाँ असद्भूत व्यवहारनय प्रवृत्त होता है, अर्थात् किसी वस्तुके गुणका अन्यरूप परिणत न होना ही इस नयकी प्रवृत्तिका हेतु है।

इस नयका फल

फलमागन्तुकभावाः स्वपरनिमित्ता भवन्तियावन्तः।
क्षणिकत्वान्नादेया इति बुद्धिः स्यादनात्मधर्मत्वात् ॥५४८॥

अर्थः—अपने और परके निमित्तसे होनेवाले जितने भी आगन्तुक भाव-वैभाविकभाव हैं। वे सब आत्माके धर्म नहीं हैं। इसलिये वे क्षणिक हैं। क्षणिक होनेसे अथवा आत्मिक धर्म न होनेसे वे ग्राह्य–ग्रहण करने योग्य नहीं हैं ऐसी बुद्धिका होना ही इस नयका फल है।

भावार्थः—अनुपचरित–असद्भूत व्यवहार नय वैभाविक भावमें प्रवृत्त होता है। उसका फल यह निकलता है कि ये भाव परके निमित्तसे होते हैं इसलिये अग्राह्य हैं।

उपचरित–असद्भूत व्यवहार नय

उपचरितोऽसद्भूतो व्यवहाराख्यो नयः स भवति यथा।
क्रोधाद्याः औदयिकाश्चितश्चेद्बुद्धिजा विवक्ष्याः स्युः ॥५४९॥

अर्थः—औदयिक क्रोधादिक भाव यदि बुद्धिपूर्वक हों, फिर उन्हें जीवके समझना या कहना उपचरित–असद्भूत व्यवहार नय है।

भावार्थः—बुद्धिपूर्वक क्रोधादि भाव उन्हें कहते हैं कि जिनके विषयमें यह ज्ञात हो कि ये क्रोधादि भाव हैं। जैसे कोई पुरुष क्रोध करता है अथवा लोभ करता है और जानता भी है कि वह क्रोध कर रहा है अथवा लोभ कर रहा है, फिर भी वह अपने उस क्रोध भावको अथवा लोभभावको अपना निजका समझे या कहे तो उसका वह समझना या कहना उपचरित–असद्भूत व्यवहार नयका विषय है अथवा वह नय है। क्रोधादिक भाव केवल जीवके नहीं हैं। उन्हें जीवके कहना इतना अंश तो असद्भूतका है जो कि पहले ही कहा जा चुका है। क्रोधादिकोंको क्रोधादि समझ करके भी उन्हें

जीवके बतलाना इतना अंश उपचरित है। बुद्धिपूर्वक क्रोधादिक भाव छठे गुणस्थान तक होते हैं। उससे ऊपर नही।

इसका कारण

बीजं विभावभावाः स्वपरोभयहेतवस्तथा नियमात्।
सत्यपि शक्तिविशेषे न परनिमित्ताद्विना न्ति यतः ॥५५०॥

अर्थः—जितने भी वैभाविक भाव है वे नियमसे अपने और परके निमित्तसे होते हैं। यद्यपि वे शक्ति विशेष है अर्थात् किसी द्रव्यके निज गुण है तथापि वे परके निमित्त बिना नही होते है।

भावार्थः—आत्माके गुणोंका पुद्गल कर्मके निमित्तसे वैभाविकरूप होना ही उपचरित असद्भूत व्यवहार नयका कारण है।

इस नयका फल।

तत्फलमविनाभावात्साध्यं तदबुद्धिपूर्वका भावाः।
तत्सत्तामात्रं प्रति साधनमिह बुद्धिपूर्वका भावाः ॥५५१॥

अर्थः—बिना अबुद्धिपूर्वक भावोके बुद्धिपूर्वक भाव हो ही नही सकते है। इसलिये बुद्धिपूर्वक भावोका अबुद्धिपूर्वक भावोके साथ अविनाभाव है। अविनाभाव होनेसे अबुद्धिपूर्वक भाव साध्य है और उनकी सत्ता सिद्ध करनेके लिये साधन बुद्धिपूर्वक भाव है। यही इसका फल है।

भावार्थः—बुद्धिपूर्वक भावोसे अबुद्धिपूर्वक भावोंका परिज्ञान करना ही अनुपचरित–असद्भूत व्यवहार नयका फल है।

शकाकार

ननु चासद्भूतादिर्भवति स यत्रेन्यतद्गुणारोपः।
दृष्टान्तादपि च यथा जीवो वर्णादिमानिहास्त्वितिचेत् ॥५५२॥

अर्थः—असद्भूत व्यवहार नय वहाँपर प्रवृत्त होता है जहाँ कि एक वस्तुके गुण दूसरी वस्तुमे आरोपित किये जाते है। दृष्टान्त–जैसे जीवको वर्णादिवाला कहना। ऐसा माननेमे क्या हानि है?

भावार्थः—ग्रन्थकारने ऊपर अनुपचरित और उपचरित दोनो प्रकारका ही असद्भूत व्यवहार नय तद्गुणारोपी बतलाया है, अर्थात् उसी वस्तुके गुण उसीमे

आरोपित करनेकी विवक्षाको असद्भूत नय कहा है। क्योंकि क्रोधादिक भाव भी तो जीवके ही है और वे जीवमे ही विवक्षित किये गये हैं। शंकाकारका कहना है कि सद्भूत नयको तो तद्गुणारोपी कहना चाहिये और असद्भूत नयको अतद्गुणारोपी कहना चाहिये। इस विषयमे वह दृष्टान्त देता है कि जैसे वर्णादि पुद्गलके गुण हैं उनको जीवके कहना यही असद्भूत नयका विषय है ?

उत्तर

तन्न यतो न नयास्ते किन्तु नयाभासमंज्ञकाः सन्ति।
स्वयमप्यतद्गुणत्वादव्यवहाराऽविशेषतो न्यायात् ॥५५३॥

अर्थः—शंकाकारका उपर्युक्त कहना ठीक नही है। कारण जो तद्गुणारोपी नहीं है किन्तु एक वस्तुके गुण दूसरी वस्तुमे आरोपित करते हैं वे नय नही है किन्तु नयाभास है। वे व्यवहारके योग्य नही हैं।

भावार्थः—मिथ्यानयको नयाभास कहते है। जो नय अतद्गुणारोपी है वह नयाभास है।

तथा

तदभिज्ञानं चैतद्येऽतद्गुणलक्षणा नयाः प्रोक्ताः।
तन्मिथ्यावादत्वाद्ध्वस्तास्तद्वादिनोपि मिथ्याख्याः ॥५५४॥

अर्थः—जो ऊपर कहा गया है उसका खुलासा इसप्रकार है कि जितने अतद्गुण-लक्षण नय कहे गये है वे सब मिथ्यावादरूप है। अतएव वे खण्डित किये गये है। उन नयोके माननेवाले भी मिथ्यावादी है।

वह मिथ्या यों है

तद्वादोऽथ यथा स्याज्जीवो वर्णादिमानिहास्तीति।
इत्युक्ते न गुणः स्यात्प्रत्युत दोषस्तदेकबुद्धित्वात् ॥५५५॥

अर्थः—वह मिथ्यावाद यो है कि यदि कोई यह कहे कि जीव रूप, रस, गन्ध, स्पर्शवाला है। तो ऐसा कहने पर कोई गुण—लाभ नही होता है किन्तु उल्टा दोष होता है। दोष यह होता है कि जीव और रूप रसादिमे एकत्व बुद्धि होने लगती है और ऐसी बुद्धिका होना ही मिथ्या है।

शकाकार

ननु किल वस्तु विचारे भवतु गुणो वाथ दोष एव यतः।
न्यायबलादायातो दुर्वारः स्यान्नयप्रवाहश्च ॥५५६॥

अर्थः—वस्तुके विचार समयमे गुण हो अथवा दोष हो, अर्थात् जो वस्तु जिस रूपमे है उसी रूपमे वह सिद्ध होगी, चाहे उसकी यथार्थसिद्धिमे दोष आवे या गुण । नयोंका प्रवाह न्याय बलसे प्राप्त हुआ है इसलिये वह दूर नही किया जा सकता ?

भावार्थः—जीवको वर्णादिमान् कहना यह भी एक नय है । इस नयकी सिद्धिमे जीव और वर्णादिमे एकता भले ही प्रतीत हो, परन्तु उसकी सिद्धि आवश्यक है ।

उत्तर

सत्यं दुर्वारः स्यान्नयप्रवाहो यथाप्रमाणाद्वा ।
दुर्वारश्च तथा स्यात्सम्यङ्मिथ्येति नयविशेषोपि ।।५५७।।

अर्थः—यह बात ठीक है कि नयप्रवाह अनिवार्य है, परन्तु साथ ही यह भी अनिवार्य है कि वह प्रमाणाधीन हो । तथा कोई नय समीचीन (यथार्थ) होता है कोई मिथ्या होता है यह नयोकी विशेषता भी अनिवार्य है ।

तथा

अर्थ विकल्पो ज्ञानं भवति तदेकं विकल्पमात्रत्वात् ।
अस्ति च सम्यग्ज्ञानं मिथ्याज्ञानं विशेषविषयत्वात् ।५५८।।

अर्थः—ज्ञान अर्थविकल्पात्मक होता है अर्थात् ज्ञान स्व–पर पदार्थको विषय करता है इसलिये ज्ञान सामान्यकी अपेक्षासे ज्ञान एक ही है, क्योकि अर्थ विकल्पता सभी ज्ञानोमे है, परन्तु विशेष २ विषयोकी अपेक्षासे उसी ज्ञानके दो भेद हो जाते है (१) सम्यग्ज्ञान (२) मिथ्याज्ञान ।

दोनों ज्ञानोंका स्वरूप

तत्रापि यथावस्तु ज्ञानं सम्यग्विशेषहेतुः स्यात् ।
अथ चेदयथावस्तु ज्ञानं मिथ्याविशेषहेतुः स्यात् ।।५५९।।

अर्थः—उन दोनो ज्ञानोमे सम्यग्ज्ञानका कारण वस्तुका यथार्थ ज्ञान है तथा मिथ्याज्ञानका कारण वस्तुका अयथार्थ ज्ञान है ।

भावार्थः—जो वस्तु ज्ञानमे विषय पडी है उस वस्तुका वैसा ही ज्ञान होना जैसी कि वह है, उसे सम्यग्ज्ञान कहते है । जैसे–किसीके ज्ञानमे चाँदी विषय पडी हो तो चाँदीको चाँदी ही वह समझे तब तो उसका वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान है और यदि चाँदीको वह ज्ञान सीप समझे तो वह मिथ्याज्ञान है जिस ज्ञानमे वस्तु तो कुछ और हो पडी हो

और ज्ञान दूसरी ही वस्तुका हो उसे मिथ्याज्ञान कहते है। इसप्रकार विषयके भेदसे ज्ञानके भी सम्यक् और मिथ्या ऐसे दो भेद हो जाते है।

नयके भी दो भेद हैं

ज्ञानं यथा तथासौ नयोस्ति सर्वो विकल्पमात्रत्वात्।
तत्रापि नयः सम्यक् तदितरथा स्यान्नयाभासः ॥५६०॥

अर्थः—जिसप्रकार ज्ञान है उसीप्रकार नय भी है, अर्थात् जैसे सामान्य ज्ञान एक है वैसे सम्पूर्ण नय भी विकल्पमात्र होनेसे (विकल्पात्मक ज्ञानको ही नय कहते हैं) सामान्यरूपसे एक है और विशेषकी अपेक्षासे ज्ञानके समान नय भी सम्यक् नय, मिथ्या नय ऐसे दो भेद वाले है। जो सम्यक् नय है उन्हे नय कहते हैं जो मिथ्या नय हैं उन्हे नयाभास कहते है।

दोनोंका स्वरूप

तद्गुणसंविज्ञानः सोदाहरणः सहेतुरथ फलवान्।
यो हि नयः स नयः स्याद्विपरीतो नयो नयाभासः ॥५६१॥

अर्थः—जो तद्गुणसविज्ञान हो अर्थात् गुण गुणीके भेद पूर्वक किसी वस्तुके विशेष गुणोको उसीमे वतलानेवाला हो, उदाहरण सहित हो, हेतु पूर्वक हो, फल सहित हो, वही नय, नय कहलाता है। उपर्युक्त वातोसे जो विपरीत हो, वह नय नयाभास कहलाता है।

फलवत्वेन नयानां भाव्यमवश्यं प्रमाणवद्धि यतः।
स्यादवयविप्रमाणं स्युस्तदवयवा नयास्तदंशत्वात् ॥५६२॥

अर्थः—जिसप्रकार प्रमाण फल सहित होता है उसप्रकार नयोका भी फल सहित होना परम आवश्यक है कारण अवयवी प्रमाण कहलाता है, उसीके अवयव नय कहलाते हैं। नय प्रमाणके ही अश रूप है।

भावार्थः—नयोकी उत्पत्तिमे प्रमाण योनिभूत—मूल कारण है। प्रमाणसे जो पदार्थ कहा जाता है उसके एक अशको लेकर अर्थात् पर्याय विशेषके द्वारा जो पदार्थका विवेचन किया जाता है उसे ही नय कहते है अथवा सम्पूर्ण पदार्थको प्रमाण विषय करता है और उसके एक देशको नय विषय करता है। इसप्रकार अश अशीरूप होनेसे प्रमाणके समान नय भी फलविशिष्ट ही होता है।

सारांश

तस्मादनुपादेयो व्यवहारोऽतद्गुणे तदारोपः ।
इष्टफलाभावादिह न नयो वर्णादिमान् यथा जीवः ॥५६३॥

अर्थः—जिस वस्तुमे जो गुण नही है, दूसरी वस्तुके गुण उसमे आरोपित–विवक्षित किये जाते है; जहाँपर ऐसा व्यवहार किया जाता है वह व्यवहार ग्राह्य नही है। क्योकि ऐसे व्यवहारसे इष्ट फलकी प्राप्ति नहीं होती है। इसलिये जीवको वर्णादिवाला कहना, यह नय नही है किन्तु नयाभास है।

भावार्थः—शकाकारने ऊपर कहा था कि जीवको वर्णादिमान् कहना इसको असद्भूत व्यवहार नय कहना चाहिये। ग्रन्थकार कहते है कि यह नय नही किन्तु नयाभास है। क्योकि जीवके वर्णादि गुण नही है फिर भी उन्हे जीवके कहनेसे जीव और पुद्गलमे ऐकत्वबुद्धि होने लगेगी। यही इष्ट फलकी हानि है।

शकाकार

ननु चैवं सति नियमादुक्तासद्भूतलक्षणो न नयः ।
भवति नयाभासः किल क्रोधादीनामतद्गुणारोपात् ॥५६४॥

अर्थः—यदि एक वस्तुके गुण दूसरी वस्तुमे आरोपित करनेका नाम नयाभास है तो ऐसा माननेसे जो ऊपर असद्भूत व्यवहार नय कहा गया है उसे भी नय नही कहना चाहिये किन्तु नयाभास कहना चाहिये। कारण क्रोधादिक जीवके गुण नही है फिर भी उन्हे जीवके कहा गया है। यह भी तो अतद्गुणारोप ही है, इसलिये ग्रन्थकारका कहा हुआ भी असद्भूत व्यवहार नय नयाभास ही है ?

उत्तर

नैवं यतो यथा ते क्रोधाद्या जीवसंभवा भावाः ।
न तथा पुद्गलवपुषः सन्ति च वर्णादयो हि जीवस्य ॥५६५॥

अर्थः—शकाकारका उपर्युक्त कहना ठीक नही है। क्योकि जिसप्रकार क्रोधादिक भाव जीवसे उत्पन्न है अथवा जीवके है। उसप्रकार पुद्गलमय वर्णादिक जीवके भाव नही है।

भावार्थः—पुद्गल कर्मके निमित्तसे आत्माके चारित्र गुणका जो विकार है उसे ही क्रोध, मान, माया, लोभादिके नामसे कहा जाता है। इसलिये क्रोधादिक आत्माके वैभाविक भाव है। अत जीवमे उनको आरोप करना असद्गुणारोप नही कहा जा सकता किन्तु तद्गुणारोप ही है। वे भाव शुद्धात्माके नही है किन्तु परके निमित्तसे होते

है इसलिये उन्हे असद्भूत नयका विषय कहा जाता है। चाहे सद्भूत हो अथवा असद्भूत हो, तद्गुणारोपी ही नय है अन्यथा वह नयाभास है। रूप, रस, गन्धादिक पुद्गलके ही गुण है, वे जीवके किसी प्रकार नही कहे जा सकते है। रूप रसादिको जीवके भाव कहना, यह अतद्गुणारोप है इसलिये यह नयाभास है।

कुछ नयाभासोका उल्लेख

अथ सन्ति नयाभासा यथोपचाराख्यहेतुदृष्टान्ताः ।
अत्रोच्यन्ते केचिद्धेयतया वा नयादिशुद्धयर्थम् ॥५६६॥

अर्थः—उपचार नामवाले (उपचार पूर्वक) हेतु दृष्टान्तोको ही नयाभास कहते हैं। यहाँपर कुछ नयाभासोका उल्लेख किया जाता है। वह इसलिये कि उन नयाभासोको समझकर उन्हें छोड़ दिया जाय अथवा उन नयाभासोंके देखनेसे शुद्ध नयोका परिज्ञान हो जाय।

लोक व्यवहार

अस्ति व्यवहारः किल लोकानामयमलब्धबुद्धित्वात् ।
योऽयं मनुजादिवपुर्भवति स जीवस्ततोप्यनन्यत्वात् ॥५६७॥

अर्थः—बुद्धिका अभाव होनेसे लोकोका यह व्यवहार होता है कि जो यह मनुष्यादिका शरीर है वह जीव है क्योकि वह जीवसे अभिन्न है।

यह व्यवहार मिथ्या है।

सोऽयं व्यवहारः स्यादव्यवहारो यथापसिद्धान्तात् ।
अप्यपसिद्धान्तत्वं नासिद्धं स्यादनेकधर्मित्वात् ॥५६८॥

अर्थः—शरीरमे जीवका व्यवहार जो लोकमे होता है वह व्यवहार अयोग्य व्यवहार है, अथवा व्यवहारके अयोग्य व्यवहार है। कारण वह सिद्धान्त विरुद्ध है। सिद्धान्त विरुद्धता इस व्यवहारमे असिद्ध नही है, किन्तु शरीर और जीवको भिन्न भिन्न धर्मी होनेसे प्रसिद्ध ही है।

भावार्थः—शरीर पुद्गल द्रव्य भिन्न पदार्थ है और जीव द्रव्य भिन्न पदार्थ है, फिर भी जो लोग शरीरमे जीव व्यवहार करते है वे अवश्य सिद्धान्त विरुद्ध कहते है।

नाशङ्क्यं कारणमिदमेकक्षेत्रावगाहिमात्रं यत् ।
सर्वद्रव्येषु यतस्तथावगाहाद्भवेदतिव्याप्तिः ॥५६९॥

अर्थः—शरीर और जीव दोनोका एक क्षेत्रमे अवगाहन (स्थिति) है इसी कारण लोकमें वैसा व्यवहार होता है ऐसी आशंका भी नही करना चाहिये, क्योकि एक क्षेत्रमें तो सम्पूर्ण द्रव्योंका अवगाहन होरहा है, यदि एक क्षेत्रमे अवगाहन होना ही एकताका कारण हो तो सभी पदार्थोंमें अतिव्याप्ति दोष उत्पन्न होगा।

भावार्थः—धर्म, अधर्म, आकाश, काल, जीव, पुद्गल ये छहो द्रव्य एक क्षेत्रमें रहते है परन्तु छहोंके लक्षण जुदे २ है यदि एक क्षेत्रावगाह ही एकताका कारण हो तो छहोमे अतिव्याप्ति दोष आवेगा, अथवा उनमें अनेकता न रहेगी।

अपि भवति बन्ध्यबन्धकभावो यदिवानयोर्न शङ्क्यमिति ।
तदनेकत्वे नियमाच्चद्बन्धस्य स्वतोप्यसिद्धत्वात् ।।५७०।।

अर्थः—कदाचित् यह कहा जाय कि जीव और शरीरमें परस्पर बन्ध्य बन्धक भाव है इसलिये वैसा व्यवहार होता है, ऐसी आशंका भी नही करना चाहिये क्योकि बन्ध नियमसे अनेक पदार्थोमे होता है। एक पदार्थमें अपने आप ही बन्धका होना असिद्ध ही है।

भावार्थः—पुद्गलको बाँधनेवाला आत्मा है, आत्मासे बँधनेवाला पुद्गल है। इसलिये पुद्गल शरीर बन्ध्य है, आत्मा उसका बन्धक है। ऐसा बन्ध्य बन्धक सम्बन्ध होनेसे शरीरमे जीव व्यवहार किया जाता है ऐसी आशंका भी निर्मूल है, क्योकि बन्ध तभी हो सकता है जब कि दो पदार्थ प्रसिद्ध हो अर्थात् बन्ध्यबन्धक भावमे तो द्वैत ही प्रतीत होता है।

अथ चेदवश्यमेतन्निमित्तनैमित्तिकत्वमस्ति मिथः ।
न यतः स्वयं स्वतो वा परिणममानस्य किं निमित्ततया ।।५७१।।

अर्थः—कदाचित् मनुष्यादि शरीरमे जीवत्व बुद्धिका कारण शरीर और जीवका निमित्त नैमित्तिक सम्वन्ध हो, ऐसा भी नही कहा जा सकता, कारण जो अपने आप परिणामनशील है उसके लिये निमित्तपनेसे क्या प्रयोजन ? अर्थात् जीवस्वरूपमे निमित्त कारण कुछ नही कर सकता।

भावार्थः—जीव और शरीरमे निमित्त नैमित्तिक सम्वन्ध शरीरमे निमित्तता और जीवमें नैमित्तिकताका ही सूचक होगा, वह सम्वन्ध दोनोमे एकत्व बुद्धिका जनक नही कहा जा सकता, क्योकि जीव अपने स्वरूपसे ही परिणमन करता है, निमित्त कारणके

निमित्तसे उसमें पररूपता नहीं आती। इसलिये मनुष्यादि शरीरमें जीव व्यवहार करना नयाभास है।

दूसरा नयाभास

अपरोपि नयाभासो भवति यथा मूर्तस्य तस्य सतः।
कर्त्ता भोक्ता जीवः स्यादपि नोकर्मकर्मकृतेः ॥५७२॥

अर्थः—आहारवर्गणा, भाषावर्गणा, तैजसवर्गणा, मनोवर्गणा ये चार वर्गणायें जब आत्मासे सम्बन्धित होती है, तब वे नोकर्मके नामसे कही जाती है, और कार्माणवर्गणा जब आत्मासे सम्बन्धित होकर कर्मरूप—ज्ञानावरणादिरूप परिणत होती है तव वह कर्मके नामसे कही जाती है। ये कर्म और नोकर्म पुद्गलकी पर्यायें है, अतएव वे मूर्त है। उन मूर्त कर्म नोकर्मका जीव कर्ता तथा भोक्ता है ऐसा कहना दूसरा नयाभास है।

भावार्थः—जीव अमूर्तस्वरूपवाला है, वह अपने ज्ञानादिभावोका ही कर्त्ता भोक्ता हो सकता है, उसको ज्ञानादिभावोका कर्त्ता भोक्ता कहना भी व्यवहार ही है। परन्तु जो उसे मूर्त पदार्थोंका कर्त्ता भोक्ता व्यवहार नयसे बतलाते है उस विषयमे आचार्य कहते है कि वह नय नही किन्तु नयाभास है।

नयाभास यों है

नाभासत्वमसिद्धं स्यादपसिद्धान्ततो नयस्यास्य।
सदनेकत्वे सति किल गुणसंक्रातिः कुतः प्रमाणाद्वा ॥५७३॥
गुणसंक्रातिमृते यदि कर्त्ता स्यात् ॑णश्च भोक्तात्मा।
सर्वस्य सर्वसंकरदोषः स्यात् सर्वशून्यदोषश्च ॥५७४॥

अर्थः—मूर्तकर्मोंका जीवको कर्त्ता भोक्ता बतलानेवाला व्यवहार नय नयाभास है यह बात असिद्ध नही है कारण ऐसा व्यवहार नय सिद्धान्तविरुद्ध है। सिद्धान्तविरुद्धताका भी कारण यह है कि जब कर्म और जीव दोनो भिन्न २ पदार्थ है तब उनमे गुणसक्रमण किस प्रमाणसे होगा? अर्थात् नही होगा तथा विना गुणोके परिवर्त्तन हुए जीव, कर्मका कर्त्ता भोक्ता नही हो सकता, यदि बिना गुणोंकी सक्रातिके ही जीव कर्मका कर्त्ता भोक्ता हो जाय तो सब पदार्थोमे सर्वसकर दोष उत्पन्न होगा। तथा सर्वशून्य दोष भी उत्पन्न होगा।

भावार्थः—यदि जीवके गुण पुद्गलमे चले जांय तभी जीव पुद्गलका कर्त्ता भोक्ता हो सकता है। कपडा बुननेवालेके कुछ गुण वा सब गुण उस कपड़ेमे आवे तभी वह

बुननेवाला उस कपड़ेका कर्त्ता कहा जा सकता है। अन्यथा कपडेमे उसकी कर्तृता क्या आई ? कुछ भी नही केवल निमित्तता है। यदि बिना गुणोका संक्रमण हुए ही जीवमें पुद्गलका कर्तृत्व माना जाय तो सभी पदार्थ एक दूसरेके कर्त्ता हो सकते है। ऐसी अवस्थामे धर्मादि द्रव्योका भी जीवमे कर्तृत्व सिद्ध होगा।

भ्रमका कारण

अस्त्यत्र भ्रमहेतुर्जीवस्याशुद्धपरणतिं प्राप्य।
कर्मत्वं परिणमते स्वयमपि मूर्तिमद्यतो द्रव्यम् ॥५७५॥

अर्थः—जीव कर्मोका कर्त्ता है, इस भ्रमका कारण भी यह है कि जीवकी अशुद्ध परिणतिके निमित्तसे पुद्गलद्रव्य–कार्माण वर्गणा स्वयं (उपादान) कर्मरूप परिणत हो जाती है।

भावार्थः—जीवके रागद्वेष भावोके निमित्तसे कार्माण वर्गणा कर्म पर्यायको धारण करती है। इसीलिये उसमे जीवकर्त्तृताका भ्रम होता है।

स्पष्टीकरण

इदमत्र समाधानं कर्त्ता यः कोपि सः स्वभावस्य।
परभावस्य न कर्त्ता भोक्ता वा तन्निमित्तमात्रेपि ॥५७६॥

अर्थः—उस भ्रमका समाधान यह है कि जो कोई भी कर्त्ता होगा वह अपने स्वभावका ही कर्त्ता होगा। उसका निमित्त कारण मात्र होनेपर भी कोई परभावका कर्त्ता अथवा भोक्ता नही हो सकता है।

दृष्टान्त

भवति स यथा कुलालः कर्त्ता भोक्ता यथात्मभावस्य।
न तथा परभावस्य च कर्त्ता भोक्ता कदापि कलशस्य ॥५७७॥

अर्थः—कुम्हार सदा अपने स्वभावका ही कर्त्ता भोक्ता होता है वह परभाव–कलशका कर्त्ता भोक्ता कभी नही होता, अर्थात् कलशके बनानेमे वह केवल निमित्त कारण है। निमित्त मात्र होनेसे वह उसका कर्त्ता भोक्ता नही कहा जा सकता।

इसीका उल्लेख

तदभिज्ञानं च यथा भवति घटो मृत्तिकास्वभावेन।
अपि मृण्मयो घटः स्यान्न स्यादिह घटः कुलालमयः ॥५७८॥

अर्थः—कुम्हार कलशका कर्त्ता क्यो नही है इस विपयमे यह दृष्टान्त प्रत्यक्ष है कि घट मिट्टीके स्वभाववाला होता है, अथवा मिट्टी स्वरूप ही वह होता है, परन्तु घट कभी कुम्हारके स्वभाववाला अथवा कुम्हारस्वरूप नही होता है ।

भावार्थः—जव घटके भीतर कुम्हारका एक भी गुण नही पाया जाता है तव कुम्हारने घटका क्या किया ? अर्थात् कुछ नही किया, केवल वह उसका निमित्त मात्र है ।

लोक व्यवहार मिथ्या है

अथ चेद्घटकर्त्तासौ घटकारो जनपदोक्तिलेशोयम् ।
दुर्वारो भवतु तदा कानो हानिर्यदा नयाभासः ।।५७९।।

अर्थः—यदि यह कहा जाय कि लोकमे यह व्यवहार होता है कि घटकार–कुम्हार घटका वनानेवाला है; सो क्यो ? आचार्य कहते हैं कि उस व्यवहारको होने दो, उससे हमारी कोई हानि नही है परन्तु उसे नयाभास समझो, अर्थात् उसे नयाभास समझते हुए वरावर व्यवहार करो इससे हमारे कथनमें कोई वाधा नही आती है । परन्तु यदि उसे नय समझनेवाला लोकव्यवहार है तो वह मिथ्या है ।

तीसरा नयाभास

अपरे वहिरात्मानो मिथ्यावादं वदन्ति दुर्मतयः ।
यदवद्धेपि परस्मिन् कर्त्ता भोक्ता परोपि भवति यथा ।।५८०।।

अर्थः—और भी खोटी वुद्धिके धारण करनेवाले मिथ्यादृष्टि पुरुष मिथ्या वाते कहते हैं । जैसे–जो पर पदार्थ सर्वथा दूर है, जीवके साथ जो वँधा हुआ भी नही है उसका भी जीव कर्त्ता भोक्ता होता है । ऐसा वे कहते हैं ।

सद्वेद्योदयभावान् गृहधनधान्यं कलत्रपुत्रांश्च ।
स्वयमिह करोति जीवो भुनक्ति वा स एव जीवश्च ।।५८१।।

अर्थः—सातावेदनीय कर्मके उदयसे होनेवाले जो घर धन, धान्य, स्त्री, पुत्र आदि सजीव निर्जीव पदार्थ (स्थावर जंगम सम्पत्ति) हैं उनका जीव ही स्वय कर्त्ता है और वही जीव उनका भोक्ता है ।

शंकाकार

ननु सति गृहवनितादौ भवति सुखं प्राणिनामिहाध्यक्षात् ।
असति च तत्र न तदिदं तत्त्कर्त्ता स एव तद्भोक्ता ।।५८२।।

अर्थः—यह बात प्रत्यक्ष सिद्ध है कि घर, स्त्री आदिके होने पर ही जीवोंको सुख होता है उनके अभावमे उन्हे सुख भी नही होता। इसलिये जीव ही उनका कर्त्ता है और वही उनका भोक्ता है? अर्थात् अपनी सुख सामग्रीको यह जीव स्वयं संग्रह करता है और स्वय उसको भोगता है।

उत्तर

सत्यं वैषयिकमिदं परमिह तदपि न परत्र सापेक्षम्।
सति बहिरर्थेपि यतः किल केषाञ्चिदसुखादिहेतुत्वात् ॥५८३॥

अर्थः—यह बात ठीक है कि घर वनितादिके सयोगसे यह संसारी जीव सुख समझने लगता है परन्तु उसका यह सुख केवल वैषयिक–विषयजन्य है। वास्तविक नही है। सो भी घर, स्त्री आदि पदार्थोकी अपेक्षा नही रखता है। कारण घर स्त्री आदि बाह्य पदार्थोके होने पर भी किन्ही पुरुषोको सुखके बदले दु:ख होता है, उनके लिये वही सामग्री दु खका कारण होती है।

साराश

इदमत्र तात्पर्यं भवतु स कर्त्ताथ वा च मा भवतु।
भोक्ता स्वस्य परस्य च यथाकथञ्चिच्चिदात्मको जीवः ॥५८४॥

अर्थः—यहाँ पर साराश इतना ही है कि जीव अपना और परका यथा कथचित् कर्त्ता हो अथवा भोक्ता हो अथवा मत हो परन्तु वह चिदात्मक–चैतन्य स्वरूप है।

भावार्थः—जीव सदा अपने भावोका ही कर्त्ता भोक्ता है। परका नही।

चौथा नयाभास

अयमपि च नयाभासो भवति मिथो बोध्यबोधसम्बन्धः।
ज्ञानं ज्ञेयगतं वा ज्ञानगतं ज्ञेयमेतदेव यथा ॥५८५॥

अर्थः—परस्पर ज्ञान और ज्ञेयका जो बोध्यबोधरूप सम्बन्ध है, उसके कारण ज्ञानको ज्ञेयगत–ज्ञेयका धर्म मानना अथवा ज्ञेयको ज्ञानगत मानना यह भी नयाभास है।

भावार्थः—ज्ञानका स्वभाव है कि वह हरएक पदार्थको जाने परन्तु किसी पदार्थको जानता हुआ भी वह सदा अपने ही स्वरूपमे स्थिर रहता है, वह पदार्थमे नही चला जाता है और न वह उसका धर्म ही हो जाता है। तथा न पदार्थका कुछ अग ही ज्ञानमे आता है, जो कोई इसके विरुद्ध मानते हैं वे नयाभास मिथ्याज्ञानसे भ्रमित हैं।

अर्थः—कुम्हार कलशका कर्त्ता क्यो नही है इस विषयमे यह दृष्टान्त प्रत्यक्ष है कि घट मिट्टीके स्वभाववाला होता है, अथवा मिट्टी स्वरूप ही वह होता है, परन्तु घट कभी कुम्हारके स्वभाववाला अथवा कुम्हारस्वरूप नही होता है ।

भावार्थः—जब घटके भीतर कुम्हारका एक भी गुण नही पाया जाता है तब कुम्हारने घटका क्या किया ? अर्थात् कुछ नही किया, केवल वह उसका निमित्त मात्र है ।

लोक व्यवहार मिथ्या है

अथ चेद्घटकर्त्तासौ घटकारो जनपदोक्तिलेशोयम् ।
दुर्वारो भवतु तदा कानो हानिर्यदा नयाभामः ।।५७९।।

अर्थः—यदि यह कहा जाय कि लोकमें यह व्यवहार होता है कि घटकार–कुम्हार घटका बनानेवाला है; सो क्यो ? आचार्य कहते हैं कि उस व्यवहारको होने दो, उमसे हमारी कोई हानि नही है परन्तु उसे नयाभास समझो, अर्थात् उसे नयाभास समझते हुए बराबर व्यवहार करो इससे हमारे कथनमे कोई बाधा नही आती है । परन्तु यदि उसे नय समझनेवाला लोकव्यवहार है तो वह मिथ्या है ।

तीसरा नयाभास

अपरे बहिरात्मानो मिथ्यावादं वदन्ति दुर्मतयः ।
यदबद्धेपि परस्मिन् कर्त्ता भोक्ता परोपि भवति यथा ।।५८०।।

अर्थः—और भी खोटी बुद्धिके धारण करनेवाले मिथ्यादृष्टि पुरुष मिथ्या बाते कहते हैं । जैसे–जो पर पदार्थ सर्वथा दूर है, जीवके साथ जो बँधा हुआ भी नही है उसका भी जीव कर्त्ता भोक्ता होता है । ऐसा वे कहते है ।

सद्वेद्योदयभावान् गृहधनधान्यं कलत्रपुत्रांश्च ।
स्वयमिह करोति जीवो भुनक्ति वा स एव जीवश्च ।।५८१।।

अर्थः—सातावेदनीय कर्मके उदयसे होनेवाले जो घर धन, धान्य, स्त्री, पुत्र आदि सजीव निर्जीव पदार्थ (स्थावर जंगम सम्पत्ति) हैं उनका जीव ही स्वय कर्त्ता है और वही जीव उनका भोक्ता है ।

शंकाकार

ननु सति गृहवनितादौ भवति सुखं प्राणिनामिहाध्यक्षात् ।
असति च तत्र न तदिदं तत्तत्कर्त्ता स एव तद्भोक्ता ।।५८२।।

अर्थः—यह बात प्रत्यक्ष सिद्ध है कि घर, स्त्री आदिके होने पर ही जीवोंको सुख होता है उनके अभावमे उन्हे सुख भी नही होता। इसलिये जीव ही उनका कर्त्ता है और वही उनका भोक्ता है ? अर्थात् अपनी सुख सामग्रीको यह जीव स्वयं संग्रह करता है और स्वय उसको भोगता है।

उत्तर

सत्यं वैषयिकमिदं परमिह तदपि न परत्र सापेक्षम् ।
सति बहिरर्थेपि यतः किल केषाञ्चिदसुखादिहेतुत्वात् ।।५८३।।

अर्थः—यह बात ठीक है कि घर वनितादिके सयोगसे यह संसारी जीव सुख समझने लगता है परन्तु उसका यह सुख केवल वैषयिक–विषयजन्य है। वास्तविक नही है। सो भी घर, स्त्री आदि पदार्थोकी अपेक्षा नही रखता है। कारण घर स्त्री आदि बाह्य पदार्थोके होने पर भी किन्ही पुरुषोको सुखके बदले दु.ख होता है, उनके लिये वही सामग्री दु खका कारण होती है।

साराश

इदमत्र तात्पर्यं भवतु स कर्त्ताथ वा च मा भवतु ।
भोक्ता स्वस्य परस्य च यथाकथञ्चिचिदात्मको जीवः ।।५८४।।

अर्थः—यहाँ पर साराश इतना ही है कि जीव अपना और परका यथा कथंचित् कर्त्ता हो अथवा भोक्ता हो अथवा मत हो परन्तु वह चिदात्मक–चैतन्य स्वरूप है।

भावार्थः—जीव सदा अपने भावोका ही कर्त्ता भोक्ता है। परका नही।

चौथा नयाभास

अयमपि च नयाभासो भवति मिथो बोध्यबोधसम्बन्धः ।
ज्ञानं ज्ञेयगतं वा ज्ञानगतं ज्ञेयमेतदेव यथा ।।५८५।।

अर्थः—परस्पर ज्ञान और ज्ञेयका जो बोध्यबोधरूप सम्बन्ध है, उसके कारण ज्ञानको ज्ञेयगत–ज्ञेयका धर्म मानना अथवा ज्ञेयको ज्ञानगत मानना यह भी नयाभास है।

भावार्थः—ज्ञानका स्वभाव है कि वह हरएक पदार्थको जाने परन्तु किसी पदार्थको जानता हुआ भी वह सदा अपने ही स्वरूपमे स्थिर रहता है, वह पदार्थमे नहीं चला जाता है और न वह उसका धर्म ही हो जाता है। तथा न पदार्थका कुछ अंश ही ज्ञानमे आता है, जो कोई इसके विरुद्ध मानते है वे नयाभास मिथ्याज्ञानसे भ्रमित है।

दृष्टान्त

चक्षू रूपं पश्यति रूपगतं तन्न चक्षुरेव यथा ।
ज्ञानं ज्ञेयमवैति च ज्ञेयगतं वा न भवति तज्ज्ञानम् ॥५८६॥

अर्थः—जिसप्रकार चक्षु रूपको देखता है, परन्तु वह रूपमें चला नहीं जाता है। अथवा रूपका वह धर्म नहीं हो जाता है इसीप्रकार ज्ञान ज्ञेयपदार्थको जानता है परन्तु वह ज्ञान ज्ञेयमें नहीं जाता है अथवा उसका धर्म नहीं हो जाता है।

इत्यादिकाश्च बहवः सन्ति यथालक्षणा नयाभासाः ।
तेषामयमुद्देशो भवति विलक्ष्यो नयान्नयाभासः ॥५८७॥

अर्थः—कुछ नयाभासोंका ऊपर उल्लेख किया गया है, उनके सिवा और भी बहुतसे नयाभास हैं जो कि वैसे ही लक्षणोंवाले हैं। उन सब नयाभासोंका यह उद्देश्य—आशय नयसे विरुद्ध है। इसीलिये वे नयाभास कहे जाते हैं।

भावार्थः—नयोंका जो स्वरूप कहा गया है उससे नयाभासोंका स्वरूप विरुद्ध है। इसलिये जो समीचीन नय है उसे नय कहते हैं और मिथ्या नयको नयाभास कहते हैं।

शङ्काकार

ननु सर्वतो नयास्ते किं नामानोऽथ वा कियन्तश्च ।
कथमिव मिथ्यार्थास्ते कथमिव ते सन्ति सम्यगुपदेश्याः ॥५८८॥

अर्थः—सम्पूर्ण नयोंके क्या २ नाम हैं और वे समस्त नय कितने हैं, तथा कैसे वे मिथ्या अर्थको विषय करनेवाले हो जाते हैं और कैसे यथार्थ पदार्थको विषय करनेवाले होते हैं? अर्थात् कैसे वे ठीक २ कहे जाते हैं और कैसे विरुद्ध कहे जाते हैं?

उत्तर (नयवादके भेद)

सत्यं यावदनन्ताः सन्ति गुणा वस्तुनो विशेषाख्याः ।
तावन्तो नयवादा वचोविलासा विकल्पाख्याः ॥५८९॥
अपि निरपेक्षा मिथ्यास्त एव सापेक्षका नयाः सम्यक् ।
अविनाभावत्वे सति सामान्यविशेषयोश्च सापेक्षात् ॥५९०॥

अर्थः—वास्तवमें ि भी वस्तुके अनन्त विशेष गुण हैं उतने ही नयवाद हैं, तथा जितनी भी वचन नयवाद है। कारण विशेष गुणोंका परिज्ञान और वचनविकल्प दोन ९ ो ही नय कहते हैं, तथा जो

निरपेक्ष नय है वे ही मिथ्या नय है। जो दूसरे नयकी अपेक्षा रखते है वे नय यथार्थ नय हैं, क्योकि सामान्य विशेषात्मक ही पदार्थ है। इसलिये सामान्य विशेष दोनोमे परस्पर अविनाभाव होनेसे सापेक्षता है।

भावार्थः—वस्तुमे जितने भी गुण है वे सब जिससमय विवक्षित किये जाते हैं उससमय नय कहलाते हैं। इसलिये ज्ञानकी अपेक्षासे अनन्त नय हैं, क्योंकि जितना भी भेदरूप विज्ञान है सब नयवाद है। वचन तो नयवाद सुसिद्ध है। यहाँपर विशेष गुणोका उल्लेख इसलिये किया गया है कि शुद्धपदार्थके निरूपणमें तद्गुण ही नय कहा गया है। तद्गुण विशेष ही हो सकता है तथा निरपेक्ष नयको मिथ्या इसलिये कहा गया है कि नय, पदार्थके विवक्षित अंशका ही विवेचन करना है, निरपेक्ष अवस्थामे वह विवेचन एकान्तरूप पड़ता है, परन्तु पदार्थ उतना ही नही है जितना कि वह विवेचित किया गया है। उसके अन्य भी अनन्त धर्म हैं। इसलिये वह एकान्त विवेचन या ज्ञान मिथ्या है। यदि अन्य धर्मोंकी अपेक्षा रखकर किसी नयका प्रयोग किया जाता है तो वह समीचीन प्रयोग है, क्योकि वह सापेक्ष नय वस्तुके एक अंशको तो कहता है परन्तु पदार्थको उस अंशरूप ही नही समझता है। इसलिये सापेक्ष नय सम्यक् नय है। निरपेक्ष नय मिथ्या नय है।

सापेक्षत्वं नियमादविनाभावस्त्वनन्यथासिद्धः।
अविनाभावोपि यथा येन विना जायते न तत्सिद्धिः॥५९१॥

अर्थः—सामान्य विशेषमे परस्पर सापेक्षता इसलिये है कि उनमे नियमसे अविनाभाव है। उनका अविनाभाव अन्यथा सिद्ध नही है अर्थात् और प्रकार नहीं बन सकता है। अविनाभाव उसे कहते हैं कि जिसके विना जिसकी सिद्धि न हो।

भावार्थः—सामान्यके विना विशेप नही सिद्ध होता है और विशेपके विना सामान्य नही सिद्ध होता है। अतएव इन दोनोमे अविनाभाव है। परस्पर अविनाभाव होनेके कारण ही दोनोमे सापेक्षता है।

नयोंके नाम

अस्त्युक्तो यस्य सतो यन्नामा यो गुणो विशेपात्मा।
तत्पर्यायविशिष्टास्तन्नामानो नया यथाम्नायात्॥५९२॥

अर्थः—जिस द्रव्यका जिस नामवाला विशेप गुण कहा जाता है, उस गुणकी पर्यायोंको विषय करनेवाला अथवा उस गुणको विषय करनेवाला नय भी आगमके

अनुसार उसी नामसे कहा जाता है। इसीप्रकार जितने भी गुण विवक्षित किये जाते हैं वे जिस २ नामवाले हैं उनको प्रतिपादन करनेवाले या जाननेवाले नय भी उन्हीं नामोंसे कहे जाते हैं।

दृष्टान्त

अस्तित्वं नाम गुणः स्यादिति साधारणः सतस्तस्य ।
तत्पर्यायश्च नयः समासतोऽस्तित्वनय इति वा ॥५९३॥

अर्थः—द्रव्यका एक सामान्य गुण अस्तित्व नामवाला है, उस अस्तित्वको विषय करनेवाला नय भी संक्षेपसे अस्तित्व नय कहलाता है।

कर्तृत्वं जीवगुणोऽस्त्वथ वैभाविकोऽथवा भावः ।
तत्पर्यायविशिष्टः कर्तृत्वनयो यथा नाम ॥५९४॥

अर्थः—जीवका कर्तृत्व गुण है, अथवा उसका वह वैभाविक भाव है, उस कर्तृत्व पर्यायको विषय करनेवाला नय भी कर्तृत्व नय कहलाता है।

भावार्थः—कर्तृत्व गुणको विषय करनेवाला नय भी कर्तृत्व नय कहा जाता है, और क्रोध कर्तृत्व, मान कर्तृत्व, ज्ञान कर्तृत्व आदि पर्यायोंको विषय करनेवाला नय भी उसी नामसे कहा जाता है।

अनया परिपाट्या किल नयचक्रं यावदस्ति बोद्धव्यम् ।
एकैकं धर्मं प्रति नयोपि चैकैक एव भवति यतः ॥५९५॥

अर्थः—जितना भी नयचक्र है वह सब इसी परिपाटी (शैली)से जान लेना चाहिये, क्योंकि एक २ धर्मके प्रति नय भी एक २ है। इसलिये वस्तुमें जितने धर्म हैं नय भी उतने और उन्हीं नामोंवाले हैं।

सोदाहरणो यावान्नयो विशेषणविशेष्यरूपः स्यात् ।
व्यवहारापरनामा पर्यायार्थो नयो न द्रव्यार्थः ॥५९६॥

अर्थः—जितना भी उदाहरण सहित नय है और विशेषण विशेष्यरूप नय है वह सब पर्यायार्थिक नय है, उसीका दूसरा नाम व्यवहार नय है। उदाहरण पूर्वक विशेषण विशेष्यको विषय करनेवाला नय द्रव्यार्थिक नय नहीं है।

भावार्थः—जो कुछ भी भेद विवक्षासे कहा जाता है वह सब व्यवहार अथवा पर्याय नय है।

प्रश्न

ननु चोक्तलक्षण इति यदि न द्रव्यार्थिको नयो नियमात् ।
कोऽसौ द्रव्यार्थिक इति पृष्टास्तच्चिह्नमाहुराचार्याः ॥५९७॥

अर्थः—यदि उपर्युक्त लक्षणवाला द्रव्यार्थिक नय नही है तो फिर द्रव्यार्थिक नय कौन है ? इसप्रकार किसीने आचार्यसे प्रश्न किया, प्रश्नानुसार अब आचार्य द्रव्यार्थिक नयका लक्षण कहते है ।

द्रव्यार्थिक नयका स्वरूप ।

व्यवहारः प्रतिषेध्यस्तस्य प्रतिषेधकश्च परमार्थः ।
व्यवहारप्रतिषेधः स एव निश्चयनयस्य वाच्यः स्यात् ॥५९८॥

अर्थः—व्यवहार प्रतिषेध्य है अर्थात् निषेध करने योग्य है, उसका निषेध करनेवाला निश्चय है । इसलिये व्यवहारका निषेध ही निश्चय नयका वाच्य-अर्थ है ।

भावार्थः—जो कुछ भी व्यवहार नयसे कहा जाता है वह सब हेय-छोडने योग्य है । कारण जो कुछ व्यवहार नय कहता है वह पदार्थका स्वरूप नही है, पदार्थ अभिन्न-अखण्ड-अवक्तव्यरूप है । व्यवहार नय उसका भेद बतलाता है । पदार्थ अनन्त गुणात्मक है, व्यवहार नय उसे किसी विवक्षित गुणसे विवेचित करता है । पदार्थ सामान्य विशेषात्मक है, व्यवहार नय उसे अशरूपसे ग्रहण करता है, इसलिये जो कुछ भी व्यवहार नयका विषय है वह सव निषेध करने योग्य है वह निषेध ही निश्चय नयका विषय है । जैसे-व्यवहार नय गुणगुणीमे भेद बतलाता है निश्चय नय कहता है कि 'ऐसा नही है' । व्यवहार नयमे जो कुछ विषय पड़ता है उसका निषेध करना ही निश्चय नयका वाच्यार्थ है ।

दृष्टान्त

व्यवहारः स यथा स्यात्सद्द्रव्यं ज्ञानवांश्च जीवो वा ।
नेत्येतावन्मात्रो भवति स निश्चयनयो नयाधिपतिः ॥५९९॥

अर्थः—व्यवहार नय विवेचन करता है अथवा जानता है कि द्रव्य सत्रूप है, निश्चय नय वतलाता है कि नही । व्यवहार नय वतलाता है कि जीव ज्ञानवान् है, निश्चय नय वतलाता है कि नही । इसप्रकार न-निपेधको विषय करनेवाला ही निश्चय नय है, और वही सब नयोका शिरोमणि है ।

भावार्थः—व्यवहार नयने द्रव्यको सत्स्वरूप वतलाया है, परन्तु निश्चय नय इसका

अनुसार उसी नामसे कहा जाता है। इसीप्रकार जितने भी गुण विवक्षित किये जाते हैं वे जिस २ नामवाले हैं उनको प्रतिपादन करनेवाले या जाननेवाले नय भी उन्हीं नामोंसे कहे जाते हैं।

दृष्टान्त

अस्तित्वं नाम गुणः स्यादिति साधारणः सतस्तस्य।
तत्पर्यायश्च नयः समासतोऽस्तित्वनय इति वा ॥५९३॥

अर्थः—द्रव्यका एक सामान्य गुण अस्तित्व नामवाला है, उस अस्तित्वको विषय करनेवाला नय भी संक्षेपसे अस्तित्व नय कहलाता है।

कर्तृत्वं जीवगुणोऽस्त्वथ वैभाविकोऽथवा भावः।
तत्पर्यायविशिष्टः कर्तृत्वनयो यथा नाम ॥५९४॥

अर्थः—जीवका कर्तृत्व गुण है, अथवा उसका वह वैभाविक भाव है, उस कर्तृत्व पर्यायको विषय करनेवाला नय भी कर्तृत्व नय कहलाता है।

भावार्थः—कर्तृत्व गुणको विषय करनेवाला नय भी कर्तृत्व नय कहा जाता है, और क्रोध कर्तृत्व, मान कर्तृत्व, ज्ञान कर्तृत्व आदि पर्यायोंको विषय करनेवाला नय भी उसी नामसे कहा जाता है।

अनया परिपाट्या किल नयचक्रं यावदस्ति बोद्धव्यम्।
एकैकं धर्मं प्रति नयोऽपि चैकैक एव भवति यतः ॥५९५॥

अर्थः—जितना भी नयचक्र है वह सब इसी परिपाटी (शैली)से जान लेना चाहिये, क्योंकि एक २ धर्मके प्रति नय भी एक २ है। इसलिये वस्तुमें जितने धर्म हैं नय भी उतने और उन्हीं नामोंवाले हैं।

सोदाहरणो यावान्नयो विशेषणविशेष्यरूपः स्यात्।
व्यवहारापरनामा पर्यायार्थो नयो न द्रव्यार्थः ॥५९६॥

अर्थः—जितना भी उदाहरण सहित नय है और विशेषण विशेष्यरूप नय है वह सब पर्यायार्थिक नय है, उसीका दूसरा नाम व्यवहार नय है। उदाहरण पूर्वक विशेषण विशेष्यको विषय करनेवाला नय द्रव्यार्थिक नय नहीं है।

भावार्थः—जो कुछ भी भेद विवक्षासे कहा जाता है वह सब व्यवहार अथवा पर्याय नय है।

प्रश्न

ननु चोक्तलक्षण इति यदि न द्रव्यार्थिको नयो नियमात् ।
कोऽसौ द्रव्यार्थिक इति पृष्टास्तच्चिह्नमाहुराचार्याः ।।५९७।।

अर्थः—यदि उपर्युक्त लक्षणवाला द्रव्यार्थिक नय नही है तो फिर द्रव्यार्थिक नय कौन है ? इसप्रकार किसीने आचार्यसे प्रश्न किया, प्रश्नानुसार अब आचार्य द्रव्यार्थिक नयका लक्षण कहते है ।

द्रव्यार्थिक नयका स्वरूप ।

व्यवहारः प्रतिषेध्यस्तस्य प्रतिषेधकश्च परमार्थः ।
व्यवहारप्रतिषेधः स एव निश्चयनयस्य वाच्यः स्यात् ।।५९८।।

अर्थः—व्यवहार प्रतिषेध्य है अर्थात् निषेध करने योग्य है, उसका निषेध करनेवाला निश्चय है । इसलिये व्यवहारका निषेध ही निश्चय नयका वाच्य–अर्थ है ।

भावार्थः—जो कुछ भी व्यवहार नयसे कहा जाता है वह सब हेय–छोडने योग्य है । कारण जो कुछ व्यवहार नय कहता है वह पदार्थका स्वरूप नही है, पदार्थ अभिन्न–अखण्ड–अवक्तव्यरूप है । व्यवहार नय उसका भेद बतलाता है । पदार्थ अनन्त गुणात्मक है, व्यवहार नय उसे किसी विवक्षित गुणसे विवेचित करता है । पदार्थ सामान्य विशेषात्मक है, व्यवहार नय उसे अंशरूपसे ग्रहण करता है, इसलिये जो कुछ भी व्यवहार नयका विषय है वह सब निषेध करने योग्य है वह निषेध ही निश्चय नयका विषय है । जैसे–व्यवहार नय गुणगुणीमे भेद बतलाता है निश्चय नय कहता है कि 'ऐसा नही है' । व्यवहार नयमे जो कुछ विषय पडता है उसका निषेध करना ही निश्चय नयका वाच्यार्थ है ।

दृष्टान्त

व्यवहारः स यथा स्यात्सद्द्रव्यं ज्ञानवांश्च जीवो वा ।
नेत्येतावन्मात्रो भवति स निश्चयनयो नयाधिपतिः ।।५९९।।

अर्थः—व्यवहार नय विवेचन करता है अथवा जानता है कि द्रव्य सत्स्वरूप है, निश्चय नय बतलाता है कि नही । व्यवहार नय बतलाता है कि जीव ज्ञानवान है, निश्चय नय बतलाता है कि नही । इसप्रकार न–निषेधको विषय करनेवाला ही निश्चय नय है, और वही सब नयोंका शिरोमणि है ।

भावार्थः—व्यवहार नयने द्रव्यको सत्स्वरूप बतलाया है,

निषेध करता है कि नहीं, अर्थात् पदार्थ ऐसा नही है। कारण–सत्नाम अस्तित्व गुणका है, पदार्थ केवल अस्तित्व गुण स्वरूप तो नही है किन्तु अनन्त गुणात्मक है इसलिये पदार्थको सदात्मक बतलाना ठीक नही है। इसीलिये निश्चय नय उसका निषेध करता है। इसीप्रकार जीवको ज्ञानवान् कहना यह भी व्यवहार नयका विषय है। निश्चय नय इसका निषेध करता है कि नही, अर्थात् जीव ऐसा नही है क्योकि जीव अनन्तगुणोका अखण्ड पिण्ड है, इसलिये वे अनन्तगुण अभिन्न प्रदेशी हैं। अभिन्नतामे गुण गुणीका भेद करना ही मिथ्या है इसलिये निश्चय नय उसका निषेध करता है। निश्चय नय व्यवहारके समान किसी पदार्थका विवेचन नहीं करता है किन्तु जो कुछ व्यवहार नयसे विवेचन किया जाता है अथवा भेदरूप जाना जाता है उसका निषेध करता है। यदि वह भी किसी विषयका विवेचन करे तो वह भी मिथ्या ठहरेगा। कारण–जितना भी विवेचन है वह सब अशरूप है इसलिये वह मिथ्या है। अतएव निश्चय नय कुछ न कहकर केवल निषेध करता है। शका हो सकती है कि जब निश्चय नय केवल निषेध ही करता है तो फिर इसने कहा क्या ? इसका विषय क्या समझा जाय ? उत्तर–न–निषेध ही इसका विषय है। इस निषेधसे यही ध्वनि निकलती है कि पदार्थ अवक्तव्य स्वरूप है। परन्तु उसकी अवक्तव्यताका प्रतिपादन करना भी वक्तव्य ही है। इसलिये प्रतिपादन मात्रका निषेध करना ही उसकी अवक्तव्यताका सूचक है। अतएव निश्चय नय नयाधिपति है।

शङ्काकार

ननु चोक्तं लक्षणमिह नयोस्ति सर्वोपि किल विकल्पात्मा।
तदिह विकल्पाभावात् कथमस्य नयत्वमिदमिति चेत् ॥६००॥

अर्थः—यह बात पहले कही जा चुकी है कि सभी नय विकल्पात्मक ही होते हैं। नयका लक्षण ही विकल्प है। फिर इस द्रव्यार्थिक नय–निश्चय नयमे विकल्प तो कुछ पड़ता ही नही है। क्योकि उक्त नय केवल निषेधात्मक है। इसलिये विकल्पका अभाव होनेसे इस नयको नयपना ही कैसे आवेगा ? अर्थात् इस नयमे नयका लक्षण ही नही जाता है।

द्रव्यार्थिक नय भी विकल्पात्मक है

तन्न यतोस्ति नयत्वं नेति यथा लक्षितस्य पक्षत्वात्।
पक्षग्राही च नयः पक्षस्य विकल्पमात्रत्वात् ॥६०१॥

अर्थः—उपर्युक्त शंका ठीक नहीं है। क्योकि द्रव्यार्थिक नयमे भी न (निषेधात्मक) यह पक्ष आता ही है। यह बात पहले ही कही जा चुकी है कि द्रव्यार्थिक नयका वाच्य

'न' है अर्थात् निषेध है। यह निषेध ही उसका एक पक्ष है और पक्षका ग्राहक ही नय होता है, तथा पक्ष ही विकल्पात्मक होता है।

भावार्थः—नयका लक्षण विकल्प बतलाया गया है। द्रव्यार्थिक नयमे निषेधरूप विकल्प पडता ही है, अथवा किसी एक पक्षके ग्रहण करनेवाले ज्ञानको अथवा उसके वाचक वाक्यको भी नय कहते है। द्रव्यार्थिक–निश्चय नयमे निषेधरूप पक्षका ही ग्रहण होता है। जिसप्रकार व्यवहार नय किसी धर्मका प्रतिपादन करनेसे विकल्पात्मक है उसीप्रकार व्यवहार नयके विषयभूत पदार्थका निषेध करने रूपका प्रदिपादन करनेसे निश्चय नय भी विकल्पात्मक ही है। इसलिये नयका लक्षण निश्चय नयमे सुघटित ही है।

तथा

प्रतिषेध्यो विधिरूपो भवति विकल्पः स्वयं विकल्पत्वात् ।
प्रतिषेधको विकल्पो भवति तथा सः स्वयं निषेधात्मा ॥६०२॥

अर्थः—जिसप्रकार प्रतिषेध्य विधिरूप है और स्वय विकलपरूप होनेसे विकल्पात्मक है। उसीप्रकार प्रतिषेधक भी निषेधात्मक विकलपरूप है।

भावार्थः—जैसे प्रतिषेध्यमे विधिरूप पक्ष होनेसे वह विकल्पात्मक है वैसे प्रतिषेधकमें निषेधरूप पक्ष होनेसे वह भी विकल्पात्मक है।

दृष्टान्त

तल्लक्षणमपि च यथा स्यादुपयोगो विकल्प एवेति ।
अर्थानुपयोगः किल वाचक इह निर्विकल्पस्य ॥६०३॥
अर्थाकृतिपरिणमनं ज्ञानस्य स्यात् किलोपयोग इति ।
नार्थाकृतिपरिणमनं तस्य स्यादनुपयोग एव यथा ॥६०४॥
नेति निषेधात्मा यो नानुपयोगः सबोधपक्षत्वात् ।
अर्थाकारेण विना नेतिनिषेधावबोधशून्यत्वात् ॥६०५॥

अर्थः—प्रतिषेधक भी विकल्पात्मक है इस बातको ही इन श्लोको द्वारा स्पष्ट किया जाता है। पदार्थका उपयोग ही तो विकल्प कहा जाता है, तथा पदार्थका अनुपयोग निर्विकल्प कहा जाता है, तथा ज्ञानका पदार्थाकार परिणमन होना ही उपयोग कहलाता है, उसका अर्थाकार परिणमन न होना अनुपयोग कहलाता है। जब उपयोग अनुपयोगकी ऐसी व्यवस्था है तब द्रव्यार्थिक नयमे 'न' इत्याकारक जो निषेधात्मक बोध है वह भी निषेध ज्ञानरूप पक्षमे विशिष्ट होनेसे अनुपयोग नही रहा

निषेध करता है कि नहीं, अर्थात् पदार्थ ऐसा नहीं है। कारण—सत्‌नाम अस्तित्व गुणका है, पदार्थ केवल अस्तित्व गुण स्वरूप तो नहीं है किन्तु अनन्त गुणात्मक है इसलिये पदार्थको सदात्मक बतलाना ठीक नहीं है। इसीलिये निश्चय नय उसका निषेध करता है। इसीप्रकार जीवको ज्ञानवान् कहना यह भी व्यवहार नयका विषय है। निश्चय नय इसका निषेध करता है कि नहीं, अर्थात् जीव ऐसा नहीं है क्योंकि जीव अनन्तगुणोंका अखण्ड पिण्ड है, इसलिये वे अनन्तगुण अभिन्न प्रदेशी हैं। अभिन्नतामें गुण गुणीका भेद करना ही मिथ्या है इसलिये निश्चय नय उसका निषेध करता है। निश्चय नय व्यवहारके समान किसी पदार्थका विवेचन नहीं करता है किन्तु जो कुछ व्यवहार नयसे विवेचन किया जाता है अथवा भेदरूप जाना जाता है उसका निषेध करता है। यदि वह भी किसी विषयका विवेचन करे तो वह भी मिथ्या ठहरेगा। कारण—जितना भी विवेचन है वह सब अंशरूप है इसलिये वह मिथ्या है। अतएव निश्चय नय कुछ न कहकर केवल निषेध करता है। शंका हो सकती है कि जब निश्चय नय केवल निषेध ही करता है तो फिर इसने कहा क्या? इसका विषय क्या समझा जाय? उत्तर—न—निषेध ही इसका विषय है। इस निषेधसे यही ध्वनि निकलती है कि पदार्थ अवक्तव्य स्वरूप है। परन्तु उसकी अवक्तव्यताका प्रतिपादन करना भी वक्तव्य ही है। इसलिये प्रतिपादन मात्रका निषेध करना ही उसकी अवक्तव्यताका सूचक है। अतएव निश्चय नय नयाधिपति है।

शङ्काकार

ननु चोक्तं लक्षणमिह नयोस्ति सर्वोपि किल विकल्पात्मा।
तदिह विकल्पाभावात् कथमस्य नयत्वमिदमिति चेत् ॥६००॥

अर्थः—यह बात पहले कही जा चुकी है कि सभी नय विकल्पात्मक ही होते हैं। नयका लक्षण ही विकल्प है। फिर इस द्रव्यार्थिक नय—निश्चय नयमें विकल्प तो कुछ पड़ता ही नहीं है। क्योंकि उक्त नय केवल निषेधात्मक है। इसलिये विकल्पका अभाव होनेसे इस नयको नयपना ही कैसे आवेगा? अर्थात् इस नयमें नयका लक्षण ही नहीं जाता है।

द्रव्यार्थिक नय भी विकल्पात्मक है

तन्न यतोस्ति नयत्वं नेति यथा लक्षितस्य पक्षत्वात्।
पक्षग्राही च नयः पक्षस्य विकल्पमात्रत्वात् ॥६०१॥

अर्थः—उपर्युक्त शंका ठीक नहीं है। क्योंकि द्रव्यार्थिक नयमें भी न (निषेधात्मक) यह पक्ष आता ही है। यह बात पहले ही कही जा चुकी है कि द्रव्यार्थिक नयका वाच्य

'न' है अर्थात् निषेध है। यह निषेध ही उसका एक पक्ष है और पक्षका ग्राहक ही नय होता है, तथा पक्ष ही विकल्पात्मक होता है।

भावार्थः—नयका लक्षण विकल्प बतलाया गया है। द्रव्यार्थिक नयमे निषेधरूप विकल्प पड़ता ही है, अथवा किसी एक पक्षके ग्रहण करनेवाले ज्ञानको अथवा उसके वाचक वाक्यको भी नय कहते है। द्रव्यार्थिक-निश्चय नयमे निषेधरूप पक्षका ही ग्रहण होता है। जिसप्रकार व्यवहार नय किसी धर्मका प्रतिपादन करनेसे विकल्पात्मक है उसीप्रकार व्यवहार नयके विषयभूत पदार्थका निषेध करने रूपका प्रदिपादन करनेसे निश्चय नय भी विकल्पात्मक ही है। इसलिये नयका लक्षण निश्चय नयमे सुघटित ही है।

तथा

प्रतिषेध्यो विधिरूपो भवति विकल्पः स्वयं विकल्पत्वात्।
प्रतिषेधको विकल्पो भवति तथा सः स्वयं निषेधात्मा ॥६०२॥

अर्थः—जिसप्रकार प्रतिषेध्य विधिरूप है और स्वय विकल्परूप होनेसे विकल्पात्मक है। उसीप्रकार प्रतिषेधक भी निषेधात्मक विकल्परूप है।

भावार्थः—जैसे प्रतिषेध्यमे विधिरूप पक्ष होनेसे वह विकल्पात्मक है वैसे प्रतिषेधकमे निषेधरूप पक्ष होनेसे वह भी विकल्पात्मक है।

दृष्टान्त

तल्लक्षणमपि च यथा स्यादुपयोगो विकल्प एवेति।
अर्थानुपयोगः किल वाचक इह निर्विकल्पस्य ॥६०३॥
अर्थाकृतिपरिणमनं ज्ञानस्य स्यात् किलोपयोग इति।
नार्थाकृतिपरिणमनं तस्य स्यादनुपयोग एव यथा ॥६०४॥
नेति निषेधात्मा यो नानुपयोगः सबोधपक्षत्वात्।
अर्थाकारेण विना नेतिनिषेधावबोधशून्यत्वात् ॥६०५॥

अर्थः—प्रतिषेधक भी विकल्पात्मक है इस बातको ही इन श्लोको द्वारा स्पष्ट किया जाता है। पदार्थका उपयोग ही तो विकल्प कहा जाता है, तथा पदार्थका अनुपयोग निर्विकल्प कहा जाता है, तथा ज्ञानका पदार्थाकार परिणमन होना ही उपयोग कहलाता है, उसका अर्थाकार परिणमन न होना अनुपयोग कहलाता है। जब उपयोग अनुपयोगकी ऐसी व्यवस्था है तब द्रव्यार्थिक नयमें 'न' इत्याकारक जो निषेधात्मक बोध है वह भी निषेध ज्ञानरूप पक्षसे विशिष्ट होनेसे अनुपयोग नही कहा

अर्थः—अर्थका प्रकाश–पदार्थ विपयितारूप विकल्प दोनो ही जगह् समान हैं। इसलिये वैसा नही है, इत्याकारक निषेधको विषय करनेसे द्रव्यार्थिक नयमें नयपना है ही। कारण उसने एक निषेध पक्षका अवलम्बन किया है।

एकाङ्गग्रहणादिति पक्षस्य स्यादिहांशधर्मत्वम्।
न तथेति द्रव्यार्थिकनयोस्ति मूलं यथा नयत्वस्य ॥६०९॥

अर्थः—पक्ष उसीको कहते हैं जो एक अगको ग्रहण करता है। इसलिये 'न तथा' इस पक्षमें भी अंश धर्मता है ही। अतएव 'न तथा' को विषय करनेवाला द्रव्यार्थिक नय एक अंशको विषय करनेसे पक्षात्मक है।

एकाङ्गत्वमसिद्धं न नेति निश्चयनयस्य तस्य पुनः।
वस्तुनि शक्तिविशेषो यथा तथा तदविशेषशक्तित्वात् ॥६१०॥

अर्थः—न, इस निषेधको विषय करनेवाले निश्चयनयमें एकाङ्गता असिद्ध नही है, किन्तु सिद्ध ही है। जिसप्रकार वस्तुमे विशेष शक्ति होती है, उसीप्रकार उसमें सामान्य शक्ति भी होती है।

भावार्थः—पदार्थ सामान्य विशेषात्मक है, वही प्रमाणका विषय है, तथा सामान्यांश द्रव्यार्थिकनयका विषय है, विशेषाश पर्यायार्थिकनयका विषय है। इसलिये विशेषके निणेधरूप सामान्याशको विषय करनेवाले निश्चयनय–द्रव्यार्थिकनयमें एकाङ्गता सिद्ध ही है।

शंकाकार

ननु च व्यवहारनयः सोदाहरणो यथा तथायमपि।
भवतु तदा को दोषो ज्ञानविकल्पाविशेषतो न्यायात् ॥६११॥
स यथा व्यवहारनयः सदनेकं स्याच्चिदात्मको जीवः।
तदितरनयः स्वपक्षं वदतु सदेकं चिदात्मवत्त्विितिचेत् ॥६१२॥

अर्थः—जिसप्रकार व्यवहारनय उदाहरण सहित होता है, उसप्रकार निश्चयनय भी उदाहरण सहित माना जाय तो क्या दोप आता है? क्योकि जैसा ज्ञान विकल्प उदाहरण रहित ज्ञानमे है, वैसा ही ज्ञान विकल्प उदाहरण सहित ज्ञान विकल्पमे है। इस न्यायसे निश्चय नयको सोदाहरण ही मानना ठीक है। उदाहरण सहित निश्चय नयको कहनेसे व्यवहार नयसे कैसे भेद होगा? वह इसप्रकार होगा–जैसे व्यवहार नय सत्को अनेक वतलाता है, जीवको चिदात्मक वतलाता है। निश्चय नय केवल अपने

पक्षका ही विवेचन करे, जैसे सत् एक है, जीव चित् ही है। ऐसा कहनेसे निश्चय नय उदाहरण सहित भी हो जाता है, तथा व्यवहार नयसे भिन्न भी हो जाता है ?

उत्तर

न यतः सङ्करदोषो भवति तथा सर्वशून्यदोषश्च ।
स यथा लक्षणभेदाल्लक्ष्यविभागोऽस्त्यनन्यथासिद्धः ॥६१३॥

अर्थ—शंकाकारकी उपर्युक्त शंका ठीक नहीं है। ऐसी शंकामें संकर दोष और सर्वशून्य दोष आता है। क्योंकि लक्षणके भेदसे लक्ष्यका भेद अवश्यंभावी है।

भावार्थ—सत्को एक कहने पर भी सत् लक्ष्य और उसका 'एक' लक्षण सिद्ध होता है। इसीप्रकार जीवको चित्स्वरूप कहने पर भी जीव लक्ष्य और उसका चित् लक्षण सिद्ध होता है। ऐसा लक्ष्य लक्षणरूप भेद व्यवहारनयका ही विषय हो सकता है, निश्चयका नहीं, यदि निश्चयका भी भेद, विषय माना जाय तो संकरता और सर्वशून्यता भी स्वयं सिद्ध है।

लक्षणमेकस्य सतो यथाकथञ्चिद्यथा द्विधाकरणम् ।
व्यवहारस्य तथा स्यात्तदितरथा निश्चयस्य पुनः ॥६१४॥

अर्थ—व्यवहार नयका लक्षण यह है कि एक ही सत्का जिस किसी प्रकार द्वैधीभाव करना, अर्थात् सत्में भेद बतलाना व्यवहार नयका लक्षण है, ठीक इससे उल्टा निश्चय नयका लक्षण है, अर्थात् सत्में अभेद बतलाना निश्चय नयका लक्षण है।

निश्चय नयको सोदाहरण माननेमें दोष

अथ चेत्सदेकमिति वा चिदेव जीवोऽथ निश्चयो वदति ।
व्यवहारान्तर्भावो भवति सदेकस्य तद्द्विधापत्तेः ॥६१५॥

अर्थ—यदि शंकाकारके कथनानुसार सत्को एक माना जाय अथवा चित् ही जीव माना जाय और इनको निश्चय नयका उदाहरण कहा जाय तो व्यवहार नयसे निश्चय नयमें कुछ भी भेद नहीं रहेगा, क्योंकि ये दोनों ही उदाहरण व्यवहार नयके ही अन्तर्गत—(गर्भित) हो जाते हैं। सत्को एक कहनेसे भी सत्में भेद ही सिद्ध होता है, अथवा जीवको चित्स्वरूप कहनेसे भी जीवमें भेद ही सिद्ध होता है। किस प्रकार ? सो नीचे कहते हैं—

एवं सदुदाहरणे सल्लक्ष्यं लक्षणं तदेकमिति ।
लक्षणलक्ष्यविभागो भवति व्यवहारतः स नान्यत्र ॥६१६॥

अथवा चिदेव जीवो यदुदाह्रियतेप्यभेदबुद्धिमता ।
उक्तवदत्रापि तथा व्यवहारनयो न परमार्थः ॥६१७॥

अर्थः—शंकाकारने निश्चय नयका उदाहरण यह बतलाया है कि सत् एक है, इसमें आचार्य दोष दिखलाते है–सत् एक है, यहाँ पर सत् तो लक्ष्य ठहरता है और उसका एक यह लक्षण ठहरता है । इसप्रकारका लक्षण लक्ष्यका भेद व्यवहार नयमें ही होता है निश्चय नयमे नही होता । जिसप्रकार सत् और एकमे लक्षण लक्ष्यका भेद होता है, उसीप्रकार जीव और चित्में भी होता है । जीव लक्ष्य और चित् उसका लक्षण सिद्ध होता है । शंकाकारने यद्यपि इन उदाहरणोंको अभेद बुद्धिसे बतलाया है, परन्तु विचार करनें पर उदाहरण मात्र ही भेदजनक पडता है । इसलिये यह व्यवहार नयका ही विषय है, निश्चयका नही । क्योकि जितना भी भेद व्यवहार है, सब व्यवहार ही है ।

एवं सुसिद्धसंकरदोषे सति सर्वशून्यदोषः स्यात् ।
निरपेक्षस्य नयत्वाभावात्तल्लक्षणाद्यभावत्वात् ॥६१८॥

अर्थः—इसप्रकार दोनों ही नयोंमें संकरता आती है । सकरता आनेसे सर्वशून्य दोष आता है, जो निरपेक्ष है उसमे नयपना ही नही आता, क्योकि निरपेक्षता नयका लक्षण ही नही है ।

भावार्थः—निश्चय नयको भी सोदाहरण माननेसे व्यवहारसे उसमे कुछ भेद नहीं रहेगा दोनों एक रूपमें आजाँयगे ऐसी अवस्थामे प्रमाण भी आत्मलाभ न कर सकेगा इसलिये निश्चय नयको उदाहरण सहित मानना ठीक नही है ।

शंकाकार

ननु केवलं सदेव हि यदि वा जीवो विशेषनिरपेक्षः ।
भवति च तदुदाहरणं भेदाभावात्तदा हि को दोषः ॥६१९॥
अपि चैवं प्रतिनियतं व्यवहारस्यावकाश एव यथा ।
सदनेकं च सदेकं जीवश्चिद्द्रव्यमात्मवानिति चेत् ॥६२०॥

अर्थः—यदि सत्को एक कहनेसे और जीवको चित् रूप कहनेसे भी व्यवहार नयका ही विषय आ जाता है तो निश्चय नयका उदाहरण केवल सत् ही कहना चाहिये, अथवा जीव ही कहना चाहिये । सत्का एकत्व विशेष और जीवका चित् विशेष नही कहना चाहिये । सन्मात्र कहनेसे अथवा जीव मात्र कहनेसे फिर कोई दोप नही रहता है । सन्मात्र और जीव मात्र कहनेसे भेद बुद्धि भी नही रहती है । व्यवहार नयका

अवकाश तो भेदमें ही प्रति नियत है जैसे यह कहना कि सत् एक है, सत् अनेक है, जीव चिद्‌द्रव्य है, जीव आत्मवान् है, यह भेदज्ञान ही व्यवहार नयका लक्षण है। निश्चय नयमे केवल सत् अथवा जीव ही उदाहरण मान लेने चाहिये ?

उत्तर

न यतः सदिति विकल्पो जीवः काल्पनिक इति विकल्पश्च ।
तत्तद्धर्मविशिष्टस्तद्वानुपचर्यते स यथा ॥६२१॥

अर्थः—शंकाकारका उपर्युक्त कथन भी ठीक नही है, क्योंकि सत् यह विकल्प और जीव यह विकल्प दोनों ही काल्पनिक हैं। भिन्न २ धर्मोंसे विशिष्ट होनेसे उन धर्मवाले उपचारसे कहे जाते हैं, अर्थात् जिस धर्मको विवक्षा रक्खी जाती है उसी धर्मसे विशिष्ट वस्तु कही जाती है। वह धर्मका उपचार इसप्रकार होता है—

जीवः प्राणादिमतः संज्ञा करणं यदेतदेवेति ।
जीवनगुणसापेक्षो जीवः प्राणादिमानिहास्त्यर्थात् ॥६२२॥

अर्थः—जो प्राणोंको धारण करनेवाला है उसीको जीव इस नामसे कहा जाता है, अथवा जो जीवन गुणकी अपेक्षा रखनेवाला है उसे ही जीव कहते हैं। इसलिये जीव मात्र कहनेसे भी प्राण विशिष्ट और जीवत्वगुण विशिष्टका ही बोध होता है। इसीप्रकार—

यदि वा सदिति सत्मतः स्यात्संज्ञा सत्तागुणस्य सापेक्षात् ।
लब्धं तदनुक्तमपि सद्भावात् सदिति वा गुणो द्रव्यम् ॥६२३॥

अर्थः—अथवा सत् यह नाम सत्तागुणकी अपेक्षा रखनेवाले (अस्तित्व गुण विशिष्ट) सत् पदार्थका है। इसलिये सत् इतना कहनेसे ही विना कहे हुए भी अस्तित्व गुण अथवा अस्तित्व गुण विशिष्ट द्रव्यका बोध होता है।

भावार्थः—यद्यपि सत्में यह विकल्प नही उठाया गया है कि वह द्रव्य है, अथवा गुण है तथापि वह विकल्प विना कहे हुए भी सत् कहनेसे ही उठ जाता है, और जितना विकल्पात्मक-भेदविज्ञान है सब व्यवहार नयका विषय है।

यदि च विशेषणशून्यं विशेष्यमात्रं सुनिश्चयस्यार्थः ।
द्रव्यं गुणो न पर्यय इति वा व्यवहारलोपदोषः स्यात् ॥६२४॥

अर्थः—यदि विशेषण रहित विशेष्य ही केवल निश्चय नयका विषय माना जाय तो द्रव्य और गुणकी ही सिद्धि होगी, पर्यायकी सिद्धि नही होगी, अथवा व्यवहारका ही लोप हो जायगा । यह एक बडा दोष है ।

सारांश

तस्मादवसेयमिदं यावदुदाहरणपूर्वको रूपः ।
तावान् व्यवहारनयस्तस्य निषेधात्मकस्तु परमार्थः ॥६२५॥

अर्थः—इसलिये यह निश्चय करना चाहिये कि जितना भी उदाहरण पूर्वक कथन है उतना सब व्यवहार नय है । उस व्यवहारका निषेधक ही निश्चय नय है ।

शंकाकार

ननु च व्यवहारनयो भवति च निश्चयनयो विकल्पात्मा ।
कथमाद्यः प्रतिषेध्योऽस्त्यन्यः प्रतिषेधकश्च कथमिति चेत् ॥६२६॥

अर्थः—व्यवहार नय भी विकल्पात्मक है और निश्चय नय भी विकल्पात्मक है फिर व्यवहार नय क्यो निषेध करने योग्य है, तथा निश्चय नय क्यो उसका निषेध करनेवाला है ?

भावार्थः—जब दोनो ही नय विकल्पात्मक है तो एक निषेध्य और दूसरा निषेधक उनमे कैसा ?

उत्तर

न यतो विकल्पमात्रमर्थाकृतिपरिणतं यथा वस्तु ।
प्रतिषेध्यस्य न हेतुश्चेदयथार्थस्तु हेतुरिह तस्य ॥६२७॥

अर्थः—उपर्युक्त शंका ठीक नही है, क्योकि हरएक वस्तुमे उस वस्तुके अनुरूप अर्थाकार परिणमन करनेवाले ज्ञानको ही विकल्प कहते है । वह विकल्प प्रतिषेध्यका हेतु नही है, किन्तु उसका कारण अयथार्थता है ।

भावार्थः—व्यवहार नयके निषेधका कारण विकल्पात्मक बोध नही है विकल्पात्मक बोध तो निश्चय नयमे भी है किन्तु उसका अयथार्थ बोध है, अर्थात् व्यवहार नय मिथ्या है इसीलिये वह निषेध करने योग्य है । इसी बातको नीचे स्पष्ट करते है ।

व्यवहारः किल मिथ्या स्वयमपि मिथ्योपदेशकश्च यतः ।
प्रतिषेध्यस्तस्मादिह मिथ्यादृष्टिस्तदर्थदृष्टिश्च ॥६२८॥

अर्थः—व्यवहार नय मिथ्या है क्योंकि वह स्वयं ही मिथ्या उपदेश देता है। इसलिये वह प्रतिषेध्य निषेध करने योग्य है और उस व्यवहार नयके विषय पर दृष्टि देनेवाला—श्रद्धान करनेवाला भी मिथ्यादृष्टि है।

निश्चय नय यथार्थ है

स्वयमपि भूतार्थत्वाद्भवति स निश्चयनयो हि सम्यक्त्वम् ।
अविकल्पवदतिवागिव स्यादनुभवैकगम्यवाच्यार्थः ॥६२९॥
यदि वा सम्यग्दृष्टिस्तद्दृष्टिः कार्यकारी स्यात् ।
तस्मात् स उपादेयोनोपादेय स्तदन्यनयवादः ॥६३०॥

अर्थः—निश्चय नय यथार्थ विषयका प्रतिपादन करनेवाला है, इसलिये वह सम्यक्रूप है। यद्यपि निश्चयनय भी विकल्पात्मक है, तो भी वह विकल्प रहितसा प्रतीत होता है। यद्यपि वह 'न' इत्याकारक वचनसे कहा जाता है तो भी वह वचनागोचर ही जैसा प्रतीत होता है। निश्चय नयका क्या वाच्य है यह बात अनुभवगम्य ही है अर्थात् निश्चय नयके विषयका बोध अनुभवसे ही जाना जाता है। वचनसे वह नहीं कहा जाता, क्योंकि जो कुछ वचनसे विवेचन किया जायगा वह सब भेदरूप होनेसे व्यवहार नयका ही विषय हो जाता है। इसलिये वचनसे तो वह 'न' निषेधरूप ही वक्तव्य है। अथवा उस निश्चय नयके विषयपर श्रद्धान करनेवाला सम्यग्दृष्टि है और वही कार्यकारी है। इसलिये निश्चयनय ही उपादेय—ग्राह्य है। अन्य जितना भी नयवाद है सभी अग्राह्य—त्याज्य है।

शंकाकार

ननु च व्यवहारनयो भवति स सर्वोपि कथमभूतार्थः ।
गुणपर्ययवद्द्रव्यं यथोपदेशात्तथानुभूतेश्च ॥६३१॥
अथ किमभूतार्थत्वं द्रव्याभावोऽथ वा गुणाभावः ।
उभयाभावो वा किल तद्योगस्याप्यभावसादिति चेत् ॥६३२॥

अर्थः—सम्पूर्ण ही व्यवहार नय किसप्रकार मिथ्या हो सकता है? क्योंकि 'गुणपर्ययवद्द्रव्यम्, गुण पर्यायवाला द्रव्य होता है, ऐसा उपदेश (सर्वज्ञ व महर्षियोंका) भी है तथा अनुभवसे भी यही बात सिद्ध होती है। हम पूछते हैं (शंकाकार) कि यहाँ पर क्या अभूतार्थपना है, द्रव्याभाव है अथवा गुणाभाव है। अथवा दोनोंका अभाव है, अथवा उन दोनोंके योग (मेल)का अभाव है। किसका अभाव है जिससे कि 'गुणपर्यय-

वद्द्रव्यम्' यह कथन अभूतार्थ समझा जाय, यदि किसीका अभाव नही है तो फिर व्यवहार नय मिथ्या क्यों ?

उत्तर

सत्यं न गुणाभावो द्रव्याभावो न नोभयाभावः ।
न हि तद्योगाभावो व्यवहारः स्यात्तथाप्यभूतार्थः ॥६३३॥

अर्थः—ठीक है, न गुणका अभाव है, न द्रव्यका अभाव है, न दोनोका अभाव है, और न उन दोनोके योगका अभाव है, तो भी व्यवहार नय मिथ्या ही है। क्यों मिथ्या है ? उसीको स्पष्ट करते है—

इदमत्र निदानं किल गुणवद्द्रव्यं यदुक्तमिह सूत्रे ।
अस्ति गुणोस्ति द्रव्यं तद्योगात्तदिह लब्धमित्यर्थात् ॥६३४॥
तदसन्न गुणोस्ति यतो न द्रव्यं नोभयं न तद्योगः ।
केवलमद्वैतं सद्भवतु गुणो वा तदेव सद्द्रव्यम् ॥६३५॥

अर्थः—व्यवहारनय मिथ्या है, इसमे यह कारण है कि जो सूत्रमे 'गुणवद्द्रव्यम्' कहा गया है, उसका यह अर्थ निकलता है कि एक कोई गुण पदार्थ है एक द्रव्य पदार्थ है, उन दोनोके योगसे द्रव्य सिद्ध होता है। परन्तु ऐसा कथन ही मिथ्या है। क्योकि न कोई गुण है, न द्रव्य है, न दोनो है, और न उनका योग ही है, किन्तु केवल अद्वैत सत् है, वही सत् गुण कहलाओ अथवा वही सत् द्रव्य कहलाओ। कुछ कहलाओ।

व्यवहारनय मिथ्या है

तस्मान्न्यायागत इति व्यवहारः स्यान्नयोप्यभूतार्थः ।
केवलमनुभवितारस्तस्य च मिथ्यादृशो हतास्तेपि ॥६३६॥

अर्थः—इसलिये यह बात न्यायसे प्राप्त हो चुकी कि व्यवहारनय अभूतार्थ है। जो लोग केवल उसी व्यवहारनयका अनुभव करते रहते है वे नष्ट हो चुके है, अर्थात् सद्विचारसे हीन हैं तथा वे मिथ्यादृष्टि है।

शंकाकार

ननु चैवं चेन्नियमादादरणीयो नयो हि परमार्थः ।
कि ञ्चित्कारित्वाद्व्यवहारेण तथाविधेन यतः ॥६३७॥

अर्थः—यदि व्यवहारनय मिथ्या ही है तो केवल निश्चयनय ही आदरणीय होना चाहिये। व्यवहारनय मिथ्या है इसलिये कुछ भी करनेमे असमर्थ है, फिर उसे सर्वथा कहना ही नही चाहिये ?

उत्तर-वस्तु विचारार्थ व्यवहारनय भी आवश्यक है

नैवं यतो बलादिह विप्रतिपत्तौ च संशयापत्तौ ।
वस्तुविचारे यदि वा प्रमाणमुभयावलम्बि तज्ज्ञानम् ॥६३८॥

अर्थः—ऊपरकी शका ठीक नही है, कारण किसी विषयमें विवाद होने पर अथवा किसी विषयमे सदेह होनेपर अथवा वस्तुके विचार करनेमें व्यवहारनयका अवलम्बन बलपूर्वक (अवश्य ही) लेना पड़ता है। जो ज्ञान निश्चयनय और व्यवहारनय दोनोंका अवलम्बन करता है वही ज्ञान प्रमाणज्ञान समझा जाता है।

भावार्थः—बिना व्यवहारनयका अवलम्बन किये केवल निश्चयनयसे ज्ञानमें प्रमाणता ही नही आ सकती है। बिना व्यवहारनयका अवलम्बन किये पदार्थका विचार ही नही हो सकता है, यह शका फिर भी की जा सकती है कि जब व्यवहारनय मिथ्या है तो उसके द्वारा किया हुआ वस्तु विचार भी मिथ्या ही होगा ? यद्यपि किसी अंशमे यह शका ठीक हो सकती है, परन्तु बात यह है कि वस्तुका विचार बिना व्यवहारके हो नही सकता, बिना विवेचन किये यह कैसे जाना जा सकता है कि वस्तु अनन्त गुणात्मक है, परिणामी है, इसलिये व्यवहार द्वारा वस्तुको जानकर उसकी यथार्थताका बोध हो जाता है। दूसरे शब्दोमे यो कहना चाहिये कि यह आत्मा व्यवहारपूर्वक ही निश्चयनय पर आरूढ़ होता है, विवेचना वस्तुकी यथार्थता नही है, किन्तु विवेचनाके द्वारा ही यथार्थताका बोध होता है इसलिये व्यवहार नय भी आदरणीय है।

तस्मादाश्रयणीयः केषाञ्चित् स नयः प्रसङ्गत्वात् ।
अपि सविकल्पानामिव न श्रेयो निर्विकल्पबोधवताम् ॥६३९॥

अर्थः—इसलिये प्रसगवश किन्ही २ को व्यवहार नय भी आश्रयणीय (आश्रय करने योग्य) है। वह सविकल्पक बोधवालोके लिये ही आश्रय करने योग्य है। सविकल्पक बोधवालोके समान निर्विकल्पक बोधवालोके लिये वह नय हितकारी नही है।

भावार्थः—सविकल्पक बोध पूर्वक जो निर्विकल्पक बोधको पा चुके है, फिर उन्हे व्यवहारनयकी शरण नही लेनी पडती है निश्चय नयको प्राप्तिके लिये ही व्यवहारका आश्रय लेना आवश्यक है।

शंकाकार

ननु च समीहितसिद्धिः किल चैकस्मान्नयात्कथं न स्यात् ।
विप्रतिपत्तिनिरासो वस्तुविचारश्च निश्चयादिति चेत् ॥६४०॥

अर्थः—अपने अभीष्टकी सिद्धि एक ही नय (निश्चय)से क्यों नही हो जाती है, विवादका परिहार और वस्तुका विचार भी निश्चयसे ही हो जायगा इसलिये केवल निश्चयनय ही मान लो ?

उत्तर

नैवं यतोस्ति भेदोऽनिर्वचनीयो नयः स परमार्थः ।
तस्मात्तीर्थस्थितये श्रेयान् कश्चित् स वावदूकोपि ॥६४१॥

अर्थः—ऊपर जो शका की गई है वह ठीक नही है क्योकि दोनो नयोंमे भेद है । निश्चय नय अनिर्वचनीय है, उसके द्वारा पदार्थका विवेचन नही किया जा सकता, इसलिये धर्म अथवा दर्शनकी स्थितिके लिये अर्थात् वस्तु स्वभावको जाननेके लिये कोई बोलनेवाला भी नय—व्यवहार नय हितकारी है ।

शङ्काकार

ननु निश्चयस्य वाच्यं किमिति यदालम्ब्य वर्त्तते ज्ञानम् ।
सर्वविशेषाभावेऽत्यन्ताभावस्य वै प्रतीतत्वात् ॥६४२॥

अर्थः—निश्चय नयका क्या वाच्य (विषय) है कि जिसको अवलम्बन करके ज्ञान रहता है ? सम्पूर्ण विशेषके अभावमें निश्चयनयसे अत्यन्ताभाव ही प्रतीत होता है ।

भावार्थः—निश्चयनय जब किसी विशेषका अवलम्बन नही करता है तो फिर उसका कुछ भी विषय नही है, वह केवल अभावात्मक ही है ।

उत्तर

इदमत्र समाधानं व्यवहारस्य च नयस्य यद्वाच्यम् ।
सर्वविकल्पाभावे तदेव निश्चयनयस्य यद्वाच्यम् ॥६४३॥

अर्थः—ऊपरकी शकाका यहाँपर यह समाधान किया जाता है कि जो कुछ व्यवहार नयका वाच्य है उसमेसे सम्पूर्ण विकल्पोको दूर करनेपर जो वाच्य रहता है वही निश्चय नयका वाच्य है ।

दृष्टान्त

अस्त्यत्र च संदृष्टिस्तृणाग्निरिति वा यदोष्ण एवाग्निः ।
सर्वा ल्पाभावे तत्संस्पर्शादिनाप्यशीतत्वम् ॥६४४॥

अर्थः—निश्चय नयके वाच्यके विषयमे यहाँपर अग्निका दृष्टान्त दिया जाता है— अग्नि यदि तृणकी अग्नि है तब भी अग्नि ही है, यदि वह कण्डेकी अग्नि है तो भी वह

उष्ण अग्नि ही है, यदि वह कोयलेकी अग्नि है तो भी वह उष्ण अग्नि ही है। इसलिये उस अग्निमेंसे तृण, कण्डा (उपला) कोयला आदि विकल्प दूर कर दिये जाँय तो भी वह स्पर्शादिसे उष्ण ही प्रतीत होगी।

भावार्थः—तृणकी अग्नि कहना ही वास्तवमें मिथ्या है, जिससमय तृण अग्नि परिणत है उससमय वह तृण नही किन्तु अग्नि है। जिससमय अग्नि परिणत नहीं है उससमय वह तृण है अग्नि नही है। इसलिये तृणादि विकल्पोंको दूर कर देना ही ठीक है। परन्तु अग्निरूप सिद्ध करनेके लिये पहले तृणादिका व्यवहार होना भी आवश्यक है। ठीक यही दृष्टान्त निश्चयनयमे घटित होता है। जो व्यवहारनयका विषय है वह विकल्पात्मक है, उसमेंसे विकल्पोंको दूर कर जो वाच्य पडता है वही निश्चयनयका विषय है। निश्चयनय गुणद्रव्य पर्यायरूप भेदोको मिथ्या समझता है। गुणात्मक-अखण्डपिण्ड ही निश्चयनयका विषय है। वह अनिर्वचनीय है। इसीलिये व्यवहार नयके विषयको निषेध द्वारा कह दिया जाता है। निषेध कहनेसे उसका अभावात्मक वाच्य नही समझना चाहिये किन्तु शुद्ध द्रव्य समझना चाहिये।

शकाकार

ननु चैवं परसमयः कथं स निश्चयनयावलंबी स्यात्।
अविशेषादपि स यथा व्यवहारनयावलंबी यः ॥६४५॥

अर्थः—जो व्यवहारनयका अवलम्बन करनेवाला है, वह जिसप्रकार सामान्य-रीतिसे मिथ्यादृष्टि है उसीप्रकार जो निश्चयनयका अवलम्बन करनेवाला है वह मिथ्यादृष्टि क्यो है? अर्थात् व्यवहारनय के अवलम्बन करनेवालेको मिथ्यादृष्टि कहा गया है, सो ठीक परन्तु निश्चयनयावलम्बीको भी मिथ्यादृष्टि ही कहा गया है सो क्यो?

उत्तर

सत्यं किन्तु विशेषो भवति स सूक्ष्मो गुरूपदेश्यत्वात्।
अपि निश्चयनयपक्षादपरः स्वात्मानुभूतिमहिमा स्यात् ॥६४६॥

अर्थः—ठीक है, परन्तु निश्चयनयसे भी विशेष कोई है, वह सूक्ष्म है, इसलिये वह गुरुके ही उपदेश योग्य है। सिवा महनीय गुरुके उसका स्वरूप कोई नही बतला सकता। वह विशेष स्वात्मानुभूतिकी महिमा है जो कि निश्चयनयसे भी बहुत सूक्ष्म और भिन्न है।

उभयं णयं विभणिमं जाणइ णवरं तु समय पडिवद्धो।
णदु णयप ` गिण्हदि किंचिवि णयपक्खपरिहीणो ॥१॥

इत्युक्तसूत्रादपि सविकल्पत्वात्तथानुभूतेश्च ।
सर्वोपि नयो यावान् परसमयः स च नयावलंबी ॥६४७॥

अर्थः—निश्चय नयावलम्बीको भी मिथ्यादृष्टि कहा गया है इस विषयमें उक्त गाथा भी प्रमाण है। उसका अर्थ यह है कि जो दो प्रकारके नय कहे गये है उन्हें सम्यग्दृष्टि जानता तो है परन्तु किसी भी नयके पक्षको ग्रहण नही करता है, वह नय पक्षसे रहित है। इस गाथारूप सूत्रसे यह बात सिद्ध हो चुकी कि सम्यग्दृष्टि निश्चय नयका भी अवलम्बन नही करता है। दूसरी बात यह है कि निश्चय नयको भी आचार्यंने सविकल्पक बतलाया है और जितना सविकल्प ज्ञान है उसे अभूतार्थ बतलाया है जैसा कि पहले कहा गया है यथा—"यदि वा ज्ञानविकल्पो नयो विकल्पोस्ति सोप्यपरमार्थ." इसलिये सविकल्पज्ञानात्मक होनेसे भी निश्चय नय मिथ्या सिद्ध होता है, तथा अनुभवसे भी यही बात आती है कि जितने भी नय है सभी पर समय—मिथ्या है, तथा उन नयोका अवलम्बन करनेवाला भी मिथ्यादृष्टि है ?

स्वात्मानुभूतिका स्वरूप

स यथा सति सविकल्पे भवति स निश्चयनयो निषेधात्मा ।
न विकल्पो न निषेधो भवति चिदात्मानुभूतिमात्रं च ॥६४८॥

अर्थः—वह स्वात्मानुभूतिकी महिमा इसप्रकार है कि सविकल्पज्ञान होनेपर निश्चय नय उस विकल्पका निषेध करता है। परन्तु जहाँ पर न तो विकल्प ही है और न निषेध ही है वहाँ पर चिदात्मानुभूति मात्र है।

दृष्टान्त

न्तोपि च महिषध्यानाविष्टो यथा हि कोपि नरः ।
महिषोयमहं तस्योपासक इति नयावलम्बी स्यात् ॥६४९॥
चिरमचिरं वा यावत् स एव दैवात् स्वयं हि महिषात्मा ।
महिषस्यैकस्य यथा भवनान् महिषानुभूतिमात्रं स्यात् ॥६५०॥

अर्थः—स्वात्मानुभूतिके विषयमे दृष्टान्त भी है, जैसे—कोई पुरुष महिषके ध्यानमे आरूढ है। ध्यान करते हुए वह यह समझता है कि यह महिष (भैसा) है और मै उसकी उपासना (सेवा—ध्यान) करनेवाला हूँ। इसप्रकारके विकल्पको लिये हुए जब तक उसका ज्ञान है तब तक वह नयका अवलम्बत करनेवाला है। बहुत काल तक

अथवा जल्दी ही ध्यान करते २ जिससमय वह दैव वश * स्वयं महिषरूप बन जाता है तो उससमय वह केवल एक महिषका ही अनुभव करता है, वही महिषानुभूति है ।

भावार्थः—महिषका ध्यान करनेवाला जब तक यह विकल्प करता है कि यह महिष है मैं उसका उपासक हूँ तब तक तो वह विकल्पात्मक नयके आधीन है, परन्तु ध्यान करते २ जिससमय उसके ज्ञानसे यह उपर्युक्त विकल्प दूर हो जाता है केवल महिषरूप अपने आपको अनुभवन करने लगता है उसीसमय उसके महिषानुभूति होती है । इस प्रकारकी अनुभूतिमे फिर उपास्य उपासकका भेद नही रहता है आत्मा जिसे पहले ध्येय बनाकर स्वय ध्याता बनता है, अनुभूतिके समय ध्याता ध्येयका विकल्प नही रहता है किन्तु ध्याता स्वयं ध्येयरूप होकर तन्मय होजाता है इसीलिये स्वानुभूतिकी अपार महिमा है ।

दार्ष्टान्त

स्वात्मध्यानाविष्टस्तथेह कश्चिन्नरोपि किल यावत् ।
अयमहमात्मा स्वयमिति स्यामनुभवितहमस्यनयपक्षः ।।६५१।।
चिरमचिरं वा दैवात् स एव यदि निर्विकल्पश्च स्यात् ।
स्वयमात्मेत्यनुभवनात् स्यादियमात्मानुभूतिरिह तावत् ।।६५२।।

अर्थः—उसी प्रकार यदि कोई पुरुष अपने आत्माके ध्यान करनेमें आरूढ है, ध्यान करते हुए वह विकल्प उठाता है कि मैं यह आत्मा हूँ और मैं ही स्वयं उसका अनुभवन करनेवाला हूँ, जबतक उसके ऐसा विकल्पात्मक बोध है तब तक उसके नय पक्ष है । बहुत कालतक अथवा जल्दी ही दैववश वही आत्मा यदि निर्विकल्प हो जाय, अर्थात् 'मै उपासक हूँ और मैं ही स्वय उपास्य हूँ, इस उपास्य उपासक विकल्पको दूर कर स्वय आत्मा निज आत्मामे तन्मय होजाय तो उस समय वह आत्मा स्वात्मानुभवन करने लग जाता है । जो स्वात्मानुभवन है वही स्वात्मानुभूति कहलाती है ।

भावार्थः—कविवर दौलतरामजीने छहढालामे इसीका आशय लिया है । वे कहते है कि 'जँह ध्यान ध्याता ध्येयको न विकल्प वच भेद न जहाँ' आदि, अर्थात् जिस आत्मानुभूतिमे ध्यान क्या है, ध्याता कौन है, ध्येय कौन है यह विकल्प ही नही उठता है, और न जिसमे वचनका ही विकल्प है । निश्चय नयमे भी विकल्प है इसीलिये

* दैववशका आशय यह नहीं है कि वह वास्तवमें महिषकी पर्यायको धारण कर लेता हो, किन्तु यह है कि पुण्योदयवश यदि ध्यानकी एकाग्रता हो जाय तो ।

सम्यग्दृष्टि–स्वात्मानुभूतिनिमग्न उसे भी छोड़ देता है, इसीलिये 'णयपक्ख परिहीणो' अर्थात् सम्यग्दृष्टि दोनों नय पक्षोसे रहित है ऐसा कहा गया है। जहाँ विकल्पातीत, वचनातीत आत्माकी निर्विकल्प अवस्था है वही स्वात्मानुभूति विज्ञान है। वह निश्चय-नयसे भी बहुत ऊपर है, बहुत सूक्ष्म है, उस अलौकिक आनन्दमे निमग्न महात्माओं द्वारा ही उसका कुछ विवेचन हो सकता है, उस आनन्दसे वचित पुरुष उसका यथार्थ स्वरूप नही कह सकते है। जिसने मिश्रीको चख लिया है वही कुछ उसका स्वाद किन्ही शब्दोमें कह सकता है। जिसने मिश्रीको सुना मात्र है वह विचारा उसका स्वाद क्या बतला सकता है, इसीलिये स्वात्मानुभूतिको गुरूपदेश्य कहा गया है।

सारांश

तस्माद्व्यवहार इव प्रकृतो नात्मानुभूतिहेतुः स्यात्।
अयमहमस्य स्वामी सदवश्यम्भाविनो विकल्पत्वात् ॥६५३॥

अर्थः—इसलिये व्यवहारनयके समान निश्चयनय भी आत्मानुभूतिका कारण नही है। क्योकि उसमें भी यह आत्मा है, मै इसका स्वामी हूँ, ऐसा सत् पदार्थमें अवश्यंभावी विकल्प उठता ही है।

शङ्काकार

ननु केवलमिह निश्चयनयपक्षो यदि विवक्षितो भवति।
व्यवहारान्निरपेक्षो भवति तदात्मानुभूतिहेतुः सः ॥६५४॥

अर्थः—यदि यहाँपर व्यवहार नयसे निरपेक्ष केवल निश्चयनयका पक्ष ही विवक्षित किया जाय तो वह आत्मानुभूतिका कारण होगा ?

उत्तर

नैवमसंभवदोषाद्यतो न कश्चिन्नयो हि निरपेक्षः।
सति च विधौ प्रतिषेधः प्रतिषेधे सति विधेः प्रसिद्धत्वात् ॥६५५॥

अर्थः—ऊपर जो शका की गई है वह ठीक नही है कारण वैसा माननेमे असम्भव दोष आता है। कोई भी नय निरपेक्ष नही हुआ करता है, न हो सकता है। क्योकि विधिके होनेपर प्रतिषेधका होना भी अवश्यभावी है, और प्रतिषेधके होनेपर विधिका होना भी प्रसिद्ध है।

भावार्थः—नय वस्तुके एक अशको विषय करता है, इसलिये वह एक–विवक्षित अशका विवेचन करता हुआ दूसरे अशकी अपेक्षा अवश्य रखता है। अन्यथा निरपेक्ष

अवस्थामें उसे नय ही नही कह सकते। विधिकी विवक्षामें प्रतिषेधकी सापेक्षता और प्रतिषेधकी विवक्षामें विधिकी सापेक्षताका होना आवश्यक है। इसलिये व्यवहार और निश्चयनयमे परस्पर सापेक्षता ही है।

शंकाकार

ननु च व्यवहारनयो भवति यथाऽनेक एव सांशत्वात् ।
अपि निश्चयो नयः ि ल तद्वदनेकोऽथ चैककस्त्विति चेत् ॥६५६॥

अर्थः—जिसप्रकार अनेक अंश सहित होनेसे व्यवहारनय अनेक ही है, उसीप्रकार व्यवहारनयके समान निश्चयनय भी एक एक मिलाकर नियमसे अनेक है ऐसा माना जाय तो ?

उत्तर

नैवं यतोस्त्यनेको नैकः प्रथमोप्यनन्तधर्मत्वात् ।
न तथेति लक्षणत्वादस्त्येको निश्चयो नि नानेकः ॥६५७॥

अर्थः—उपर्युक्त कहना ठीक नही है, कारण व्यवहारनय तो अनन्तधर्मात्मक होनेसे अनेक है, वह एक नही है। परन्तु निश्चयनय अनेक नही है, क्योकि उसका लक्षण 'न तथा' है अर्थात् जो कुछ व्यवहारनय कहता है उसका निषेध करना, कि (पदार्थ) वैसा नही है। यही निश्चयनयका लक्षण है, इसलिये कितने ही धर्मोके विवेचन क्यो न किये जांय, सबोका निषेध करना मात्र ही निश्चयनयका एक कार्य है अतएव वह एक ही है।

दृष्टान्त

संदृष्टिः कत्वं ताम्रोपाधेर्निवृत्तितो य ।
अपरं तदपरमिह वा रुक्मोपाधेर्निवृत्तितस्तादृक् ॥६५८॥

अर्थः—निश्चयनय क्यो एक है इस विषयमे सोनेका दृष्टान्त भी है। सोना ताँबेकी उपाधिकी निवृत्तिसे जैसा है, वैसा ही चाँदीकी उपाधिकी निवृत्तिमे भी है, अथवा और और अनेक उपाधियोकी निवृत्तिसे भी वैसा ही सोना है, अर्थात् सोनेमे जो ताँवा, पीतल, चाँदी, कालिमा आदि उपाधियाँ है वे अनेक है परन्तु उनका अभाव होना अनेक नही है, किसी उपाधिका अभाव क्यो न हो वह एक रूप ही रहेगा। हरएक उपाधिकी निवृत्तिमें सोना सदा सोना ही रहेगा।

निश्चयनयको अनेक कहनेवाले ठीक नहीं हैं

एतेन हतास्ते ये स्वात्मप्रज्ञापराधतः केचित् ।
अप्येकनिश्चयनयमनेकमिति सेवयन्ति यथा ॥६५९॥

अर्थः—इस कथनसे वे पुरुष खण्डित किये गये जो कि अपने ज्ञानके दोषसे एक निश्चय नयको अनेक समझते है। कोई कोई अज्ञानी निश्चय नयके इसप्रकार भेद कहते है।

शुद्धद्रव्यार्थिक इति स्यादेकः शुद्धनिश्चयो नाम ।
अपरोऽशुद्धद्रव्यार्थिक इति तदशुद्धनिश्चयो नाम ॥६६०॥

अर्थः—एक शुद्ध द्रव्यार्थिक नय है, उसीका नाम शुद्ध निश्चय नय है। दूसरा अशुद्धद्रव्यार्थिक नय है उसका नाम अशुद्ध निश्चय नय है। ऐसे निश्चय नयके दो भेद हैं।

इत्यादिकाश्च बहवो भेदा निश्चयनयस्य यस्य मते ।
सहि मिथ्यादृष्टित्वात् सर्वज्ञावमानको नियमात् ॥६६१॥

अर्थः—और भी बहुतसे भेद निश्चय नयके जिसके मतमे है वह मिथ्यादृष्टि है। इसीलिये वह नियमसे सर्वज्ञकी आज्ञाका उल्लघन करता है, अर्थात् निश्चय नयके शुद्ध अशुद्ध आदि भेद कुछ भी नही है ऐसा जैन सिद्धान्त है, वह केवल निषेधात्मक एक है। जो उसके भेद करता है वह सर्वज्ञकी आज्ञाका उल्लघन करता है। अतएव वह मिथ्यादृष्टि है। *

---

* पञ्चाध्यायीकारका निरूपण स्वसमय की अपेक्षासे है इसीलिये दूसरोंने जो शुद्ध द्रव्यार्थिक अशुद्ध द्रव्यार्थिक भेद किये हैं उनको इन्होंने व्यवहारनयमें ही गर्भित किया है। आलापपद्धतिकारने क्रोधादि भावोंको आत्माके भाव अशुद्ध द्रव्यार्थिक नयसे बतलाये हैं, तथा आत्माके दर्शन ज्ञानादि गुण हैं यह भेदसापेक्ष कल्पना भी उक्त ग्रन्थकारने अशुद्ध द्रव्यार्थिक नयसे बतलाई है, अथवा श्रीमन्नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने द्रव्यसंग्रहमें रागादि भावोंका कर्त्ता जीवको अशुद्ध निश्चयनयसे कहा हैं। पञ्चाध्यायीकारने क्रोधादि भावोंको अनुपचरित-असद्भूत व्यवहारनय तथा उपचरित-असद्भूत व्यवहारनयसे बतलाया है, तथा जीवके ज्ञानदर्शनादि गुण हैं यह कथन सद्भूत व्यवहारनयसे किया है। यह इतना बडा भेद केवल अपेक्षाका भेद है। पचाध्यायीकारने स्वसमयकी अपेक्षासे निरूपण किया है। स्वसमयकी अपेक्षासे जीवके क्रोधादि भाव कहना वास्तवमें मिथ्या है। सूक्ष्मदृष्टिसे विचार करनेवालों को सभीके कथन एक ही प्रतीत होते हैं। क्योंकि सबोंका कथन अपेक्षा भेदसे है। नय विभाग ही अपेक्षा पर निर्भर है। जो कथन एक दृष्टिसे मिथ्या प्रतीत होता है वही दूसरी दृष्टिसे ठीक समझा जाता है। इसलिये विना नय विभागके समझे जैन धर्मकी यथार्थताका बोध हो ही नहीं सकता। शुद्ध निश्चय नयसे द्रव्य अखण्ड एवं अभिन्न रूपसे एक २ रूप अवक्तव्य है।

इदमत्र तु तात्पर्यमधिगन्तव्यं चिदादि यद्वस्तु ।
व्यवहारनिश्चयाभ्यामविरुद्धं यथात्मशुद्ध्यर्थम् ॥६६२॥

अर्थः—यहाँ पर इतना ही तात्पर्य है कि जीवादिक जो पदार्थ हैं वे आत्मशुद्धिके लिये तभी उपयुक्त हो सकते हैं जब कि वे व्यवहार और निश्चय नयके द्वारा अविरुद्ध रीतिसे जाने जाते हैं।

अपि निश्चयस्य नियतं हेतुः सामान्यमात्रमिह वस्तु ।
फलमात्मसिद्धिः स्यात् कर्मकलङ्कावमुक्तबोधात्मा ॥६६३॥

अर्थः—निश्चय नयका कारण नियमसे सामान्य मात्र वस्तु है। फल आत्माकी सिद्धि है। निश्चय नयसे वस्तु बोध करने पर कर्म कलंकसे रहित ज्ञानवाला आत्मा हो जाता है।

प्रमाणका स्वरूप कहनेकी प्रतिज्ञा

उक्तो व्यवहारनयस्तदनु नयो निश्चयः पृथक् पृथक् ।
युगपद्द्वयं च मिलितं प्रमाणमिति लक्षणं वक्ष्ये ॥६६४॥

अर्थः—व्यवहार नयका स्वरूप कहा गया, उसके पीछे निश्चय नयका भी स्वरूप कहा गया। दोनो ही नय भिन्न २ स्वरूपवाले हैं। जब एक साथ दोनों नय मिल जाते हैं तभी वह प्रमाणका स्वरूप कहलाता है। उसी प्रमाणका लक्षण कहा जाता है।

प्रमाणका स्वरूप

विधिपूर्वः प्रतिषेधः प्रतिषेधपुरस्सरो विधिस्त्वनयोः ।
मैत्री प्रमाणमिति वा स्वपराकारावगाहि यज्ज्ञानम् ॥६६५॥

अर्थः—विधिपूर्वक प्रतिषेध होता है। प्रतिषेध पूर्वक विधि होती है। विधि और प्रतिषेध इन दोनोकी जो मैत्री है वही प्रमाण कहलाता है अथवा स्व परको जाननेवाला जो ज्ञान है वही प्रमाण कहलाता है।

स्पष्टीकरण

अयमर्थोर्थविकल्पो ज्ञानं किल लक्षणं स्वतस्तस्य ।
एकविकल्पो नयसादुभयविकल्पः प्रमाणमिति बोधः ॥६६६॥

अर्थः—ऊपर जो कहा गया है उसका खुलासा इसप्रकार है। अर्थाकार—पदार्थाकार परिणमन करनेका नाम ही अर्थ विकल्प है, यही ज्ञानका लक्षण है। वह ज्ञान जब एक विकल्प है अर्थात् एक अंशको विषय करता है तब वह नयाधीन—नयात्मक ज्ञान

कहलाता है, और वही ज्ञान जब उभय विकल्प होता है अर्थात् पदार्थके दोनों अशोको विषय करता है तब वह प्रमाणरूप ज्ञान कहलाता है ।

भावार्थः—पदार्थमें सामान्य और विशेष ऐसी दो प्रकारकी प्रतीति होती है । 'यह वही है' ऐसी अनुगत प्रतीतिको सामान्य प्रतीति कहते है, तथा विशेष २ पर्यायात्मक प्रतीतिको विशेष प्रतीति कहते है । सामान्य विशेष प्रतीति पदार्थमे तभी हो सकती है जब कि वह सामान्य विशेषात्मक हो । इसलिए सिद्ध होता है कि पदार्थ उभयात्मक है । (सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषय) ऐसा सूत्र भी है, अर्थात् पदार्थके सामान्य अशको विषय करनेवाला द्रव्यार्थिक नय है । उसके विशेषाशको विषय करनेवाला पर्यायार्थिक नय है । दोनों अंशोंको युगपत् (एक साथ) विषय करनेवाला प्रमाण ज्ञान है । उभयात्मक पदार्थ ही प्रमाणका विषय है ।

शकाकार

ननु चास्त्येकविकल्पोप्यविरुद्धोभयविकल्प एवास्ति ।
कथमिव तदेकसमये विरुद्धभावद्वयोर्विकल्पः स्यात् ॥६६७॥
अथ चेदस्ति विकल्पो क्रमेण युगपद्वा वलाद्वाच्यः ।
अथ चेत् क्रमेण नय इति भवति न नियमात्प्रमाणमितिदोषः ॥६६८॥
युगपच्चेदथ न मिथो विरोधिनोर्यौगपद्यं स्यात् ।
दृष्टविरुद्धत्वादपि प्रकाशतमसोर्द्वयोरिति चेत् ॥६६९॥

अर्थः—एक विकल्प भी अविरुद्ध उभय (दो) विकल्पवाला हो सकता है । अर्थात् अविरोधी कई धर्म एक साथ रह सकते है परन्तु एक समयमे विरुद्ध दो भावोका विकल्प किसप्रकार हो सकता है ? यदि एक साथ विरुद्ध दो विकल्प हो सकते है तो क्रमसे हो सकते है या एक साथ उन दोनोका हठ पूर्वक प्रयोग किया जा सकता है ? यदि कहा जाय कि विरोधी दो धर्म क्रमसे हो सकते है तो वे क्रमसे होनेवाले धर्म नय ही कहे जाँयगे, प्रमाण वे नियमसे नही कहे जा सकते, यह एक बडा दोष उपस्थित होगा । यदि कहा जाय कि वे दोनो धर्म एक साथ हो सकते है तो यह बात बनती नही, कारण विरोधी धर्म एक साथ दो रह नही सकते । दो विरोधी धर्म एक साथ रहे इस विषयमे प्रत्यक्ष प्रमाणसे विरोध आता है । जैसे प्रकाश और अन्धकार दोनो ही विरोधी है । वे क्या एक साथ रहते हुए कभी किसीने देखे है ?

इदमत्र तु तात्पर्यमधिगन्तव्यं चिदादि यद्वस्तु ।
व्यवहारनिश्चयाभ्यामविरुद्धं यथात्मशुद्ध्यर्थम् ॥६६२॥

अर्थः—यहाँ पर इतना ही तात्पर्य है कि जीवादिक जो पदार्थ हैं वे आत्मशुद्धिके लिये तभी उपयुक्त हो सकते हैं जब कि वे व्यवहार और निश्चय नयके द्वारा अविरुद्ध रीतिसे जाने जाते हैं।

अपि निश्चयस्य नियतं हेतुः सामान्यमात्रमिह वस्तु ।
फलमात्मसिद्धिः स्यात् कर्मकलङ्कावमुक्तबोधात्मा ॥६६३॥

अर्थः—निश्चय नयका कारण नियमसे सामान्य मात्र वस्तु है। फल आत्माकी सिद्धि है। निश्चय नयसे वस्तु बोध करने पर कर्म कलंकसे रहित ज्ञानवाला आत्मा हो जाता है।

प्रमाणका स्वरूप कहनेकी प्रतिज्ञा

उक्तो व्यवहारनयस्तदनु नयो निश्चयः पृथक् पृथक् ।
युगपद्द्वयं च मिलितं प्रमाणमिति लक्षणं वक्ष्ये ॥६६४॥

अर्थः—व्यवहार नयका स्वरूप कहा गया, उसके पीछे निश्चय नयका भी स्वरूप कहा गया। दोनों ही नय भिन्न २ स्वरूपवाले हैं। जब एक साथ दोनों नय मिल जाते हैं तभी वह प्रमाणका स्वरूप कहलाता है। उसी प्रमाणका लक्षण कहा जाता है।

प्रमाणका स्वरूप

विधिपूर्वः प्रतिषेधः प्रतिषेधपुरस्सरो विधिस्त्वनयोः ।
मैत्री प्रमाणमिति वा स्वपराकारावगाहि यज्ज्ञानम् ॥६६५॥

अर्थः—विधिपूर्वक प्रतिषेध होता है। प्रतिषेध पूर्वक विधि होती है। विधि और प्रतिषेध इन दोनोकी जो मैत्री है वही प्रमाण कहलाता है अथवा स्व परको जाननेवाला जो ज्ञान है वही प्रमाण कहलाता है।

स्पष्टीकरण

अयमर्थोऽर्थविकल्पो ज्ञानं किल लक्षणं स्वतस्तस्य ।
एकविकल्पो नयसादुभयविकल्पः प्रमाणमिति बोधः ॥६६६॥

अर्थः—ऊपर जो कहा गया है उसका खुलासा इसप्रकार है। अर्थाकार–पदार्थाकार परिणमन करनेका नाम ही अर्थ विकल्प है, यही ज्ञानका लक्षण है। वह ज्ञान जब एक विकल्प होता है अर्थात् एक अंशको विषय करता है तब वह नयाधीन–नयात्मक ज्ञान

कहलाता है, और वही ज्ञान जब उभय विकल्प होता है अर्थात् पदार्थके दोनों अंशोको विषय करता है तब वह प्रमाणरूप ज्ञान कहलाता है ।

भावार्थः—पदार्थमें सामान्य और विशेष ऐसी दो प्रकारकी प्रतीति होती है । 'यह वही है' ऐसी अनुगत प्रतीतिको सामान्य प्रतीति कहते है, तथा विशेष २ पर्यायात्मक प्रतीतिको विशेष प्रतीति कहते है । सामान्य विशेष प्रतीति पदार्थमें तभी हो सकती है जब कि वह सामान्य विशेषात्मक हो । इसलिए सिद्ध होता है कि पदार्थ उभयात्मक है । (सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषय) ऐसा सूत्र भी है, अर्थात् पदार्थके सामान्य अशको विषय करनेवाला द्रव्यार्थिक नय है । उसके विशेषाशको विषय करनेवाला पर्यायार्थिक नय है । दोनो अंशोंको युगपत् (एक साथ) विषय करनेवाला प्रमाण ज्ञान है । उभयात्मक पदार्थ ही प्रमाणका विषय है ।

शकाकार

ननु चास्त्येकविकल्पोऽप्यविरुद्धोभयविकल्प एवास्ति ।
कथमिव तदेकसमये विरुद्धभावद्वयोर्विकल्पः स्यात् ॥६६७॥
अथ चेदस्ति विकल्पो क्रमेण युगपद्वा वलाद्वाच्यः ।
अथ चेत् क्रमेण नय इति भवति न नियमात्प्रमाणमितिदोषः ॥६६८॥
युगपच्चेदथ न मिथो विरोधिनोर्यौगपद्यं स्यात् ।
दृष्टविरुद्धत्वादपि प्रकाशतमसोर्द्वयोरिति चेत् ॥६६९॥

अर्थः—एक विकल्प भी अविरुद्ध उभय (दो) विकल्पवाला हो सकता है । अर्थात् अविरोधी कई धर्म एक साथ रह सकते है परन्तु एक समयमे विरुद्ध दो भावोका विकल्प किसप्रकार हो सकता है ? यदि एक साथ विरुद्ध दो विकल्प हो सकते है तो क्रमसे हो सकते है या एक साथ उन दोनोका हठ पूर्वक प्रयोग किया जा सकता है ? यदि कहा जाय कि विरोधी दो धर्म क्रमसे हो सकते है तो वे क्रमसे होनेवाले धर्म नय ही कहे जाँयगे, प्रमाण वे नियमसे नही कहे जा सकते, यह एक वड़ा दोप उपस्थित होगा । यदि कहा जाय कि वे दोनो धर्म एक साथ हो सकते है तो यह वात वनती नही, कारण विरोधी धर्म एक साथ दो रह नही सकते । दो विरोधी धर्म एक साथ रहे इस विपयमे प्रत्यक्ष प्रमाणसे विरोध आता है । जैसे प्रकाश और अन्धकार दोनो ही विरोधी है । वे क्या एक साथ रहते हुए कभी किसीने देखे है ?

विरोधी धर्म भी एक साथ रह सकते हैं

न यतो यु विशेषाद्युगपद्वृत्तिर्विरोधिनामस्ति ।
सदसदनेकेषामिह भावाभावध्रुवाध्रुवाणाञ्च ॥६७०॥

अर्थः—ऊपरकी हुई शङ्का ठीक नही है, कारण युक्ति विशेषसे विरोधी धर्मोंकी भी एक साथ वृत्ति रह सकती है। सत् असत्, भाव अभाव, नित्य अनित्य, भेद अभेद, एक अनेक आदि अनेक धर्मोंको एक पदार्थमें एक साथ वृत्ति रहती है।

भावार्थः—यद्यपि स्थूल दृष्टिसे सत् असत् आदि धर्म विरोधी प्रतीत होते हैं, परन्तु सूक्ष्म दृष्टिसे सापेक्ष विचार करनेपर जो विरोधी धर्म है वे भी अविरोधी प्रतीत होने लगते हैं। अथवा यदि वे विरोधी भी बने रहे तो भी पदार्थका यह स्वभाव है कि वह परस्पर विरुद्ध धर्मोंको भी एक समयमें धारण करे, इसका कारण द्रव्य और पर्याय है। द्रव्यदृष्टिसे पदार्थ सदा सत् रूप है, भावरूप है, नित्य है, अभिन्न है, एक है, परन्तु वही पदार्थ पर्यायदृष्टि से असत् है, अभावरूप है, अनित्य है, भिन्न है, अनेक है। ग्रन्थान्तरमें कहा भी है—'समुदेति विलय मृच्छति भावो नियमेन पर्ययनयेन, नोदेति नो विनश्यति द्रव्यनयालिङ्गितो नित्यम्, अर्थात् पदार्थ पर्यायदृष्टिसे उत्पन्न भी होता है तथा नष्ट भी होता रहता है, परन्तु द्रव्य दृष्टिसे उत्पन्न होता है और न नष्ट होता है। स्वामी समन्तभद्राचार्यने भी कहा है—"सत्सामान्यात्तु सर्वैक्य पृथग्द्रव्यादिभेदत.। भेदाभेदविवाक्षायामसाधारणहेतुवत्" ॥ अर्थात् जिस प्रकार असाधारण हेतु पक्षधर्मादि भेदोकी अपेक्षासे अनेक है और हेतु सामान्यकी अपेक्षासे वही हेतु एक है। उसी प्रकार पदार्थ भी द्रव्यभेदकी अपेक्षासे भिन्न है—अनेक है, परन्तु वही पदार्थ सत् सामान्यकी अपेक्षा अभिन्न—एक है। इसलिये पदार्थ कथचित् भेदाभेद विवक्षासे एक अनेक भिन्न अभिन्न आदि धर्मोवाला एक ही समयमे ठहरता है। विना अपेक्षादृष्टिसे उन्ही दो धर्मोमे विरोध दीखता है, अपेक्षादृष्टिका परिज्ञान करनेसे उन्हीमे अविरोध दीखने लगता है।

अयमर्थो जीवादौ प्रकृतपरामर्शपूर्वकं ज्ञानम् ।
यदि वा सदभिज्ञानं यथा हि सोयं बलादृद्वयामर्शि ॥६७१॥

अर्थः—ऊपर जो कुछ कहा गया है उसका यह अर्थ है कि जीवादि पदार्थोंमे व्यवहार और निश्चयके विचारपूर्वक जो ज्ञान है वही प्रमाण ज्ञान है। अथवा पदार्थमे जो प्रत्यभिज्ञान है वह प्रमाण ज्ञान है जैसे—यह वही है, इसप्रकारका ज्ञान एक वस्तुकी सामान्य विशेष दोनो अवस्थाओको एक समयमे ग्रहण करता है।

दृष्टान्त

सोयं जीवविशेषो यः सामान्येन सदिति वस्तुमयः ।
संस्कारस्य वशादिह सामान्यविशेषजं भवेज्ज्ञानम् ॥६७२॥

अर्थः—वही यह जीव विशेष है जो सामान्यतासे सन्मात्र–वस्तुरूप था । उस सत्पदार्थमे संस्कारके वशसे सामान्यविशेषात्मक ज्ञान हो जाता है ।

भावार्थः—सामान्य दृष्टिसे वस्तु सन्मात्र प्रतीत होती है । विशेष दृष्टिसे वही विशेष पदार्थरूप प्रतीत होती है । जो जीव पदार्थ सन्मात्र प्रतीत होता है । वही जीव-रूप (विशेष) भी प्रतीत होता है । जिस समय सन्मात्र और जीवरूप विशेषका बोध एक साथ होता है वही सामान्य विशेषको विषय करनेवाला प्रमाण ज्ञान है ।

अस्त्युपयोगि ज्ञानं सामान्यविशेषयोः समं सम्यक् ।
× आदर्शस्थानीयात् तस्य प्रतिविम्बमात्रतोऽन्यस्य ॥६७३॥

अर्थः—एक साथ सामान्यविशेषका उपयोगात्मक ज्ञान भले प्रकार हो सकता है । जैसे–दर्पणसे उसमे पड़नेवाला प्रतिविम्ब यद्यपि (कथचित्) भिन्न है । तथापि उस प्रतिबिम्बका और दर्पणका एक साथ बोध होता है ।

भावार्थः—जो अनेक प्रकारका चित्र ज्ञान होता है वह भी अनेकोका युगपत् ही होता है इसलिये युगपत् सामान्य विशेषका उपयोगी ज्ञान होता है यह सर्व सम्मत है ।

शंकाकार

ननु चैवं नययुग्मं व्यस्तं नय एव न प्रमाणं स्यात् ।
तदिह समस्तं योगात् प्रमाणमिति केवलं न नयः ॥६७४॥

अर्थः—दोनो ही नय जब भिन्न २ प्रयुक्त किये जाते हैं तब तो वे नय ही है, प्रमाण नही है और वे ही दोनो नय जब मिलाकर एक साथ प्रयोगमे लाये जाते है तब वह केवल प्रमाण कहलाता है, नय नही कहलाता है ?

भावार्थः—या तो नयकी सिद्धि होगी या प्रमाणकी सिद्धि होगी । नय प्रमाण दोनोकी सिद्धि नही हो सकती है ?

× यह श्लोकका अर्ध भाग छपी हुई प्रतिमें नहीं है किन्तु लिखी हुईमे लिया गया है ।

प्रमाण नयोंसे भिन्न है

तन्न यतो नययोगादतिरिक्तरसान्तरं प्रमाणमिदम् ।
लक्षणविषयोदाहृतिहेतुफलाख्यादिभेदभिन्नत्वात् ॥६७५॥

अर्थः—ऊपर जो शका की गई है वह ठीक नही है, क्योंकि नयोंके योगसे प्रमाण भिन्न ही वस्तु है, प्रमाणका लक्षण, विषय, उदाहरण हेतु, फल, नाम, भेद आदि स्वरूप नयोसे जुदा ही है । उसीको नीचे स्पष्ट करते हैं ।

तत्रोक्तं लक्षणमिह सर्वस्वग्राहकं प्रमाणमिति ।
विषयो वस्तुसमस्तं निरंशदेशादिभूरुदाहरणम् ॥६७६॥

अर्थः—प्रमाणका लक्षण सम्पूर्णपदार्थको ग्रहण करना । प्रमाणका विषय–समस्त वस्तु निरशदेशादिक पृथ्वी उसका उदाहरण है ।

तथा

हेतुस्तत्त्वबुभुत्सोः संदिग्धस्याथवा च बालस्य ।
सार्थमनेकं द्रव्यं हस्तामलकवदवेतुकामस्य ॥६७७॥

अर्थः—तत्वके जाननेकी इच्छा रखनेवाला जो कोई सदिग्ध पुरुष अथवा मूर्ख पुरुष है उसकी एक साथ अनेक द्रव्यको हाथमे रक्खे हुए आमलेके समान जाननेकी इच्छाका होना ही प्रमाणका कारण है ।

तथा

फलमस्यानुभवः स्यात्समक्षमिव सर्ववस्तुजातस्य ।
आख्या प्रमाणमिति किल भेदः प्रत्यक्षमथ परोक्षं च ॥६७८॥

अर्थः—सम्पूर्ण वस्तुमात्रका प्रत्यक्षके समान अनुभव होना ही प्रमाणका फल है । प्रमाणका नाम प्रमाण है । प्रत्यक्ष और परोक्ष उसके दो भेद हैं ।

भावार्थः—उपर्युक्त कथनसे प्रमाण और नयमे अन्तर सिद्ध हो गया । प्रमाण वस्तुके सर्व धर्मोको विषय करता है । नय वस्तुके एक देशको विषय करता है । इसी बातको सर्वार्थसिद्धिकारने कहा है कि "सकलादेश प्रमाणाधीनम्, विकलादेशो नयाधीनम्" इसीप्रकार प्रमाणका लक्षण जुदा है । एक गुणके द्वारा समस्त वस्तुके कथनको प्रमाण कहते हैं, प्रमाणसे जाने हुए पदार्थके परिणाम विशेषके कथनको नय कहते है । प्रमाणका फल समस्त वस्तुबोध है । नयका फल वस्तुका एकदेश बोध है । शब्द भेद भी है । प्रमाण और नय ये दो नाम भी जुदे २ है । प्रमाणके प्रत्यक्ष परोक्ष आदि भेद हैं । नयके

द्रव्य, पर्याय आदि भेद है। इसलिये प्रमाण और नय दोनोंका ही स्वरूप जुदा २ है। उनमेसे किसी एकका लोप करना सर्व लोपके प्रसंगका हेतु है। नयके अभावमें प्रमाण व्यवस्था नही बन सकती है, और प्रमाणके अभावमें नय व्यवस्था भी नही बन सकती है।

प्रमाण नयमें विषय भेदसे भेद है

ज्ञानविशेषो नय इति ज्ञानविशेषः प्रमाणमिति नियमात्।
उभयोरन्तर्भेदो विषयविशेषान्न वस्तुतो भेदः ॥६७९॥

अर्थः—नय भी ज्ञानविशेष है, और प्रमाण भी ज्ञानविशेष है। दोनोमें विषय विशेषकी अपेक्षासे ही भेद है, वास्तवमें ज्ञानकी अपेक्षासे दोनोंमें कुछ भी भेद नही है।

भावार्थः—नय और प्रमाण दोनो ही ज्ञानात्मक है परन्तु दोनोंका विषय जुदा २ है इसीलिये उनमें भेद है। अब विषयभेदको ही प्रकट किया जाता है—

स यथा विषयविशेषो द्रव्यैकांशो नयस्य योन्यतमः।
सोप्यपरस्तदपर इह निखिलं विषयः प्रमाणजातस्य ॥६८०॥

अर्थः—प्रमाण और नयमे विषयभेद इसप्रकार है–द्रव्यके अनन्त गुणोमेसे कोई सा विवक्षित अंश नयका विषय है। वह अंश तथा और भी सब अश अर्थात् अनन्त गुणात्मक समस्त ही वस्तु प्रमाणका विषय है।

आशका और परिहार

यदनेकनयसमूहे संग्रहकरणादनेकधर्मत्वम्।
तत्सदपि न सदिव यतस्तदनेकत्वं विरुद्धधर्ममयम् ॥६८१॥
यदनेकांशग्राहकमिह प्रमाणं न प्रत्यनीकतया।
प्रत्युत मैत्रीभावादिति नयभेदाददः प्रभिन्नं स्यात् ॥६८२॥

अर्थः—कोई ऐसी आशका करते है कि जब वस्तुके एक अशको विषय करनेवाला नय है तो अनेक नयोका समूह होनेपर उससे ही अनेक धर्मता प्रमाणमे आ जायगी, अर्थात् प्रमाण स्वतन्त्र कोई ज्ञान विशेष न माना जाय, अनेक नयोके समूहको ही प्रमाण कहा जाय तो क्या हानि है? आचार्य उत्तर देते है कि यह आशका किसी प्रकार ठीक सी मालूम पड़ती है तो भी ठीक नही है। क्योकि अनेक नयोके सग्रहसे जो अनेक धर्मोका सग्रह होगा वह विरुद्ध होगा। कारण नय सभी एक दूसरेसे प्रतिपक्ष धर्मोका विवेचन करते है। प्रमाण जो अनेक अशोका ग्रहण करता है सो वह विरुद्ध रीतिसे

नही करता है। किन्तु परस्पर मैत्रीभाव पूर्वक ही उन धर्मोंको ग्रहण करता है। इसलिये नयभेदसे प्रमाण भिन्न ही है।

भावार्थः—प्रत्येक नय एक २ धर्मको विरुद्ध रीतिसे ग्रहण करता है, परन्तु प्रमाण वस्तुके सर्वांशोंको अविरुद्धतासे ग्रहण करता है। इसका कारण यह है कि सब अशोको विषय करनेवाला एक ही ज्ञान है। भिन्न २ ज्ञान ही प्रत्येक अशको विवक्षतासे ग्रहण कर सकते है। जैसे एक ज्ञान रूपको ही जानता है, दूसरा रसको जानता है, तीसरा गन्धको जानता है, चौथा स्पर्शको जानता है। ये चारो ही ज्ञान परस्पर विरुद्ध हैं क्योकि विरुद्ध विषयोको विषय करते हैं, परन्तु रूप, रस, गन्ध स्पर्श, चारोका समुदायात्मक जो एक ज्ञान होगा वह अविरुद्ध ही होगा। यही दृष्टान्त प्रमाण नयमे सुघटित कर लेना चाहिये। तथा पदार्थका नित्याश उसके अनित्याशका विरोधी है, उसीप्रकार अनित्याश उसके नित्याशका विरोधी है परन्तु दोनो मिलकर ही पदार्थस्वरूपके साधक हैं। इसका कारण यही है कि प्रत्येक पक्षका स्वतन्त्र ज्ञान द्वितीय पक्षका विरोधी है परन्तु उभय पक्षका समुदायात्मक ज्ञान परस्पर विरुद्ध होता हुआ भी अविरुद्ध है।

शंकाकार

ननु युगपदुच्यमानं नययुग्मं तद्यथास्ति नास्तीति।
एको भङ्गः कथमयमेकांशग्राहको नयो नान्यत् ॥६८३॥
अपि चास्ति न चास्तीति सममेकोक्त्या प्रमाणनाशः स्यात्।
अथ च क्रमेण यदि वा स्वस्य रिपुः स्वयमहो स्वनाशाय ॥६८४॥
अथवाऽन्यमयो वक्तुमशक्यात्समं स चेद्भङ्गः।
पूर्वापरबाधायाः कुतः प्रमाणात्प्रमाणमिह सिद्ध्येत् ॥६८५॥
इदमपि वक्तुमयुक्तं वक्ता नय एव न प्रमाणमिह।
मूलविनाशाय यतोऽरि किल चेदवाच्यतादोषः ॥६८६॥

अर्थः—'स्यात् अस्ति नास्ति' यह एक साथ कहा हुआ नययुग्म एक भङ्ग कहलाता है। यह भग एक अशका ग्रहण करनेवाला नय कैसे कहा जा सकता है, इसमे 'अस्ति नास्ति' ऐसे दो अश आ चुके है इसलिये यह प्रमाण क्यो नही कहा जाता है ? दूसरी वात यह भी है कि 'अस्ति नास्ति' ये एक साथ कहे जाते है तो फिर प्रमाणका नाश ही हो जायगा। कारण अस्ति नास्तिको एक साथ कहनेवाला एक भग ही है उसीसे कार्य चल जाता है फिर प्रमाणका लोप ही समझना चाहिये; अथवा यदि यह कहा जाय कि

अस्ति नास्ति क्रमसे होते है तो यह कहना अपने नाशके लिये स्वय अपना शत्रु है। कारण क्रमसे होनेवाला भंग दूसरा ही है, अथवा यदि यह कहा जाय कि अस्ति नास्ति एक साथ कहा नही जा सकता इसलिये वह अवक्तव्यमय भग है तो ऐसा माननेमे पूर्वापर वाधा आती है। किस प्रमाणसे किस प्रमाणकी सिद्धि हो सकती है ? अर्थात् यदि एक साथ कथन अवक्तव्य है तो प्रमाणकी सिद्धि करनेवाला कोई प्रमाण नही रहेगा क्योकि प्रमाण तो अवक्तव्य हो जायगा। यदि यह कहा जाय कि बोलनेवाला नय ही होता है, प्रमाण नही, तो ऐसा कथन भी मूलका विघात करनेवाला है क्योकि प्रमाणको अवक्ता (नही बोलनेवाला) मान लेने पर अवाच्यताका दोष आता है ?

उत्तर

नैवं यतः प्रमाणं भंगध्वंसादभंगबोधवपुः।
भंगात्मको नय इति यावानिह तदंशधर्मत्वात् ॥६८७॥

अर्थः—ऊपर की हुई शका ठीक नही है। क्योकि प्रमाण भगज्ञानमय नही है किन्तु अभगज्ञानमय है, भगज्ञानमय नय होता है, कारण जितना भी नय विभाग है सभी वस्तुके अशधर्मको विषय करता है इसलिये—

* स यथास्ति च नास्तीति च क्रमेण युगपच्च वानयोर्भंगः।
अपि वाऽवक्तव्यमिदं नयो विकल्पानतिक्रमादेव ॥६८८॥

अर्थः—'स्यात् अस्ति स्यात् नास्ति' इनका क्रमसे होनेवाला अथवा युगपत् होनेवाला भग, भग ही है, अथवा अवक्तव्यरूप भी भग ही है। इन सब भगोमे विकल्पका उल्लघन नही है इसलिये ये सभी भग नय रूप है।

भावार्थः—स्यादस्ति स्यान्नास्ति ये दोनो क्रमसे भिन्न २ कहे जाँय तो पहला दूसरा भग होता है यदि इन दोनोका क्रमसे एक साथ प्रयोग किया जाय तो तीसरा भग 'स्यादस्ति नास्ति' होता है। यदि इन दोनोका अक्रमसे एक साथ प्रयोग किया जाय तो 'अवक्तव्य' चौथा भग होता है। इसलिये ये सब नयके ही भेद है और वे सब अशात्मक है। प्रमाणरूप—अनेक धर्मात्मक नही कहे जा सकते है। इसी बातको पुन स्पष्ट किया जाता है—

---

* मूल पुस्तकमें समयोरित, ऐसा पाठ है, उसका अर्थ आत्मा है ऐसा होता है परन्तु वह अर्थ यहाँ पर पूर्वापर सम्बन्ध न होनेसे ठीक नहीं जँचता इसलिये सशोधित पुस्तकका उपर्युक्त 'स यथास्ति' पाठ लिखा गया है।

तत्रास्ति च नास्ति समं भंगस्यास्यैकधर्मता नियमात् ।
न पुनः प्रमाणमिव किल विरुद्धधर्मद्वयाधिरूढत्वम् ॥६८९॥

अर्थः—उन भंगोंमें 'स्यादस्ति नास्ति' यह एक साथ बोला हुआ भंग नियमसे एक धर्मवाला है। वह प्रमाणके समान नही कहा जा सकता क्योकि प्रमाण एक ही समयमे दो विरुद्ध धर्मोका मैत्रीभावसे प्रतिपादन करता है। उस प्रकार यह भंग विरुद्ध दो धर्मोका प्रतिपादन नही करता है किन्तु पहले दूसरे भगकी मिली हुई तीसरी ही अवस्थाका प्रतिपादन करता है इसलिये वह ज्ञान भी अशरूप ही है।

अयमर्थश्चार्थवशादथ च विवक्षावशाच्चदंशत्वम् ।
युगपदिदं कथ्यमानं क्रमाज्ज्ञेयं तथापि तत्स यथा ॥६९०॥

अर्थः—ऊपर कहे हुए कथनका यह आशय है कि प्रयोजनवश अथवा विवक्षावश युगपत् क्रमसे कहा हुआ जो भंग है वह अशरूप है इसलिये वह नय ही है।

अस्ति स्वरूपसिद्धेर्नास्ति च पररूपसिद्ध्यभावाच्च ।
अपरस्योभयरूपादितस्ततः कथितमस्ति नास्तीति ॥६९१॥

अर्थः—वस्तुमे निजरूपकी अपेक्षासे अस्तित्व है, यह प्रथम भग है। उसमे पर रूपकी अपेक्षासे नास्तित्व है, यह द्वितीय भग है। तथा स्वरूपकी अपेक्षासे अस्तित्व पररूपकी अपेक्षासे नास्तित्व ऐसा तृतीय भङ्ग उभयरूपकी अपेक्षासे अस्ति नास्ति रूप कहा गया है। अर्थात् (१) स्यादस्ति (२) स्यान्नास्ति (३) स्यादस्तिनास्ति। ये तीन भङ्ग स्वरूप, पररूप, स्वरूप पररूपकी, अपेक्षासे क्रमसे जान लेने चाहिये। प्रमाण का स्वरूप इन भङ्गोसे जुदा ही है—

उक्तं प्रमाणदर्शनमस्ति स योयं हि नास्तिमानर्थः ।
भवतीदमुदाहरणं न कथञ्चिद्धि प्रमाणतोऽन्यत्र ॥६९२॥

अर्थः—प्रमाणका जो स्वरूप कहा गया है वह नयोसे जुदा ही है वह इस प्रकार है—जो पदार्थ अस्तिरूप है वही पदार्थ नास्तिरूप है। तृतीय भङ्गमे स्वरूपसे अस्तित्व और पररूपसे नास्तित्व क्रमसे कहा जाता है प्रमाणमे दोनो धर्मोका प्रतिपादन समकालमे प्रत्यभिज्ञानरूपसे कहा जाता है। जो अस्ति रूप है वही नास्ति रूप है, यह उदाहरण प्रमाणको छोडकर अन्यत्र किसी प्रकार भी नही मिल सकता है, अर्थात् नयो द्वारा ऐसा विवेचन नही किया जा सकता। नयोसे युगपत् ऐसा विवेचन क्यो नही हो सकता ? उसे ही स्पष्ट करते है—

तदभिज्ञानं हि यथा वक्तुमशक्यात् समं नयस्य यतः ।
अपि तुर्यो नयभंगस्तत्त्वावक्तव्यतां श्रितस्तस्मात् ।।६९३।।

अर्थः—उसका कारण यह है कि नय एक साथ दो धर्मोका प्रतिपादन करनेमें असमर्थ है। इसलिये एक साथ दो धर्मोके कहनेकी विवक्षामे 'अवक्तव्य' नामक चौथा भङ्ग होता है। यह भग भी एक अशात्मक है। जो नही बोला जा सके उसे अवक्तव्य कहते है एक समयमे एक ही धर्मका विवेचन हो सकता है, दो का नही।

परन्तु

न पुनर्वक्तुमशक्यं युगपद्धर्मद्वयं प्रमाणस्य ।
क्रमवर्त्ती केवलमिह नयः प्रमाणं न तद्वदिह यस्मात् ।।६९४।।

अर्थः—परन्तु प्रमाणके विषयभूत दो धर्म एक साथ कहे नही जा सकते ऐसा नही है, किन्तु एक साथ दोनो धर्म कहे जाते है। क्रमवर्त्ती केवल नय है, नयके समान प्रमाण क्रमवर्त्ती नही है, अर्थात् प्रमाण चतुर्थ नयके समान अवक्तव्य भी नही है और तृतीय नयके समान वह क्रमसे भी दो धर्मोका प्रतिपादन नही करता है, किन्तु दोनों धर्मोका समकाल ही प्रतिपादन करता है। इसलिये नय युग्मसे प्रमाण भिन्न ही है।

यत्किल पुनः प्रमाणं वक्तुमलं वस्तुजातमिह यावत् ।
सदसदनेकमथो नित्यानित्यादिकं च युगपदिति ।।६९५।।

अर्थः—वह प्रमाण निश्चयसे वस्तु मात्रका प्रतिपादन करनेमे समर्थ है, अथवा सत् असत् एक अनेक, नित्य अनित्य, इत्यादि अनेक धर्मोका युगपत् प्रतिपादन करनेमे प्रमाण ही समर्थ है।

प्रमाणके भेद

अथ तद्द्विधा प्रमाणं ज्ञानं प्रत्यक्षमथ परोक्षञ्च ।
असहायं प्रत्यक्षं भवति परोक्षं सहायसापेक्षम् ।।६९६।।

अर्थः—प्रमाणरूप ज्ञानके दो भेद है, (१) प्रत्यक्ष (२) परोक्ष। जो ज्ञान किसीकी सहायता की अपेक्षा नही रखता वह प्रत्यक्ष है, और जो ज्ञान दूसरोकी सहायताकी अपेक्षा रखता है वह परोक्ष है।

भावार्थः—जो ज्ञान बिना इन्द्रिय, मन आलोक आदि सहायताके केवल आत्मासे होता है वह प्रत्यक्ष है, और जो ज्ञान इन्द्रियादिकी सहायतासे होता है वह परोक्ष है।

प्रत्यक्षके भेद

प्रत्यक्षं द्विविधं तत्सकलप्रत्यक्षमक्षयं ज्ञानम् ।
क्षायोपशमिकमपरं देशप्रत्यक्षमक्षयं क्षयि च ॥६९७॥

अर्थः—प्रत्यक्ष दो प्रकारका है (१) सकल प्रत्यक्ष (२) विकल प्रत्यक्ष । जो अक्षयअविनाशी ज्ञान है वह सकल प्रत्यक्ष है । दूसरा विकल प्रत्यक्ष अर्थात् देश प्रत्यक्ष कर्मोके क्षयोपशमसे होता है । देश प्रत्यक्ष कर्मोके क्षयसे नही होता है, तथा यह विनाशी भी है तथा अविनाशी भी है । विपुलमति मन पर्यय केवल ज्ञानके पहले छूटता नही है ।

सकल प्रत्यक्षका स्वरूप

अयमर्थो यज्ज्ञानं समस्तकर्मक्षयोद्भवं साक्षात् ।
प्रत्यक्षं क्षायिकमिदमक्षातीतं सुखं तदक्षयिकम् ॥६९८॥

अर्थः—स्पष्ट अर्थ यह है कि जो ज्ञान समस्त कर्मोके क्षयसे प्रकट होता है तथा जो साक्षात्–आत्म मात्र सापेक्ष होता है वह सकल प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाता है । वह प्रत्यक्ष ज्ञान क्षायिक है, इन्द्रियोंसे रहित है, आत्मीक सुख स्वरूप है, तथा अविनश्वर है ।

भावार्थः—आवरण और इन्द्रियो सहित जो ज्ञान होता है वह पूर्ण नही हो सकता, कारण जितने अंशमे उस ज्ञानके साथ आवरण लगे हुए हैं उतने अंशमे वह ज्ञान छिपा हुआ ही रहेगा । जैसा कि हम लोगोका ज्ञान आवरण विशिष्ट है इसलिये वह स्वल्प है । इसीप्रकार इन्द्रियो सहित ज्ञान भी पूर्ण नही हो सकता है । क्योकि इन्द्रिय और मनसे जो ज्ञान होता है वह द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी मर्यादाको लिये हुए होता है, साथ ही वह क्रमसे होता है, इसलिये जो इन्द्रियोसे रहित तथा आवरणसे रहित ज्ञान है वही पूर्ण ज्ञान है । वह ज्ञान फिर कभी नष्ट भी नही हो सकता है और उसी परिपूर्ण ज्ञान–केवलज्ञानके साथ अनन्त अक्षातीत आत्मीक सुख गुण भी प्रकट हो जाता है ।

देश प्रत्यक्षका स्वरूप

देशप्रत्यक्षमिहाप्यवधिमनःपर्ययं च यज्ज्ञानम् ।
देशं नोइन्द्रियमन उत्थात् प्रत्यक्षमितरनिरपेक्षात् ॥६९९॥

अर्थः—अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान ये दो ज्ञान देश प्रत्यक्ष कहलाते है । देश प्रत्यक्ष इन्हे क्यो कहते है। देश तो इसलिये कहते हैं कि ये मनसे उत्पन्न होते है । प्रत्यक्ष इसलिये कहलाते है कि ये इतर इन्द्रियोकी सहायतासे निरपेक्ष है ।

भावार्थः—अवधि और मन पर्यय ये दो ज्ञान स्पर्शनादि इन्द्रियोसे उत्पन्न नही

होते है, केवल मनसे* उत्पन्न होते है इसलिये ये देश प्रत्यक्ष कहलाते है। व्यक्तिका बाहरी रूप एव वचन देखकर ऋजुमति तब मनकी बातको प्रत्यक्ष करता है।

परोक्षका स्वरूप

आभिनिबोधि बोधो विषयविषयिसन्निकर्षजस्तस्मात् ।
भवति परोक्षं नियमादपि च मतिपुरस्सरं श्रुतं ज्ञानम् ॥७००॥

अर्थः—आभिनिबोधिक बोध अर्थात् मतिज्ञान पदार्थ और इन्द्रियोके सन्निकर्षसे होता है इसलिये वह नियमसे परोक्ष है, और मतिज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञान होता है, वह भी परोक्ष है।

भावार्थः—स्थूल वर्त्तमान योग्य क्षेत्रमे ठहरे हुए पदार्थको अभिमुख कहते है, और जो विषय जिस इन्द्रियका नियत है उसे नियमित कहते है। इन्द्रियोके द्वारा जो ज्ञान होता है वह स्थूल पदार्थका होता है, सूक्ष्म परमाणु आदिका नही होता है। साथ ही योग्य देशमे (जितनी निकटता या दूरता आवश्यक है) सामने स्थित पदार्थका ज्ञान होता है। और चक्षुका रूप विषय नियत है, रसनाका रस नियत है ऐसे ही पाँचों इन्द्रियोका नियत विषय है। इनके सिवा जो मनके द्वारा बोध होता है वह सब मतिज्ञान कहलाता है। अभिमुख नियमित बोधको ही आभिनिबोधिक बोध कहा गया है। यह नाम इन्द्रियोकी मुख्यतासे कहा गया है। मतिज्ञान परोक्ष है श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है तथा मनकी अपेक्षा मुख्यतासे रखता है इसलिये वह भी परोक्ष है। इतना विशेष है कि जो मतिज्ञानको विषय विषयीके सन्निकर्ष सम्बन्धसे उत्पन्न बतलाया गया है उसका आशय यह है कि स्पर्शन, रसन, घ्राण, श्रोत्र ये चार इन्द्रियाँ तो पदार्थका सम्बन्ध कर बोध करती है, परन्तु चक्षु और मन ये दो इन्द्रियाँ पदार्थको दूरसे ही जानती है। न तो इनके पास पदार्थ ही आता है और न ये ही पदार्थके पास पहुँचती है। मन्से हजारो कोशोमे ठहरे हुए पदार्थोका बोध होता है। इसलिये वह तो पदार्थका बिना सम्बन्ध किये ही ज्ञान करता है यह निर्णीत है। चक्षु भी यदि सम्बन्धसे

* गोमट्टसारके "इन्दियणोइन्दियजोगादि पेक्खित्तु उजुमदी होदि णिखेक्खिय विउलमदी ओहि वा होदि णियमेण" इस गाथाके अनुसार ऋजुमति मनःपर्यय इन्द्रिय नोइन्द्रियकी सहायतासे होता है परन्तु विपुलमति मन पर्यय और अवधिज्ञान दोनों ही इन्द्रिय मनकी सहायतासे नहीं होते हैं। ऋजुमति ईहामतिज्ञानपूर्वक (परम्परा) होता है। इसलिये उसमें इन्द्रिय मनकी सापेक्षता समझी गई है। पञ्चाध्यायीकारने अवधि मन पर्यय दोनोंमें ही मनकी सापेक्षता वतलाई है। यह सब सापेक्षता वाह्यापेक्षासे है, साक्षात् तो आत्ममात्र सापेक्ष ही दोनो हैं। तथापि चिन्तनीय है।

पदार्थका बोध करता तो नेत्रमें लगे हुए अंजनका बोध स्पष्ट होता, परन्तु चक्षुसे अति निकटका पदार्थ नही देखा जाता है। पुस्तकको यदि चक्षुके अति निकट रख दिया जाय तो चक्षु उसे नही देखता है। दूसरी बात यह भी है कि नेत्रको खोलते ही सामनेके वृक्ष चन्द्रमा आदि सबोको वह एक साथ ही देख लेता है, यदि वह पदार्थोका सम्बन्ध करके ही उनका बोध करता तो जैसे स्पर्शन इन्द्रिय जैसा २ स्पर्श करती है वैसा २ ही क्रमसे बोध करती है उसीप्रकार चक्षु भी पहले पासके पदार्थोको देखता, पीछे दूरवर्ती पदार्थोको क्रमसे जानता। एक साथ सबोका बोध सम्बन्ध माननेसे कदापि नही बन सकता है। तीसरी बात यह है कि यदि पदार्थोके सम्बन्धसे ही चक्षु पदार्थोका बोध करता तो एक बडे मोटे काचके भीतर रक्खे हुए पदार्थोको चक्षु नही देख सकता, परन्तु कितना ही मोटा काच क्यो न हो उसके भीतरके पदार्थोका चक्षु बोध कर लेता है। यदि इसके विपक्षमे यह कहा जाय कि शब्द जिसप्रकार भित्तिका प्रतिबन्ध रहते हुए भी दूसरी ओर ठहरे हुए मनुष्यके कानमें चला जाता है उसीप्रकार चक्षु भी काचके भीतर अपनी किरणे डाल देता है। परन्तु सूक्ष्म विचार करनेपर यह विपक्ष कथन खण्डित हो जाता है। शब्द बिना खुला हुआ प्रदेश पाये बाहर जाता ही नही है। मकानके भीतर रहकर हम भित्तिका प्रतिबन्ध समझते है परन्तु उसमे शब्दके बाहर निकलनेके बहुतसे मार्ग खुले रहते हैं जैसे–किवाड़ोकी दरारे, खिडकियोकी सदे झरोखे आदि। यदि सर्वथा बन्द प्रदेश हो तो शब्द भी बाहर नही जाता है। पानीमे डूब जानेपर यदि बाहरसे कोई मनुष्य कितना ही जोरसे क्यो न चिल्लावे परन्तु पानीमे डूबा हुआ मनुष्य उसका शब्द नही सुनता है यह अनुभव की हुई बात है। यदि शब्द प्रतिबन्ध रहनेपर भी बाहर चला जाय तो भित्तिके भीतर धीरे २ बात करनेपर क्यो नही दूसरी ओर सुनाई पड़ती है। इसका कारण यही है वह शब्द वर्गणा वहीपर दीवालसे टकराकर रह जाती है। इसलिये चक्षु पदार्थसे सम्बन्ध नही करता है किन्तु दूरसे ही उसे जानता है। मन भी ऐसा ही है। इन दोनोके साथ सम्बन्धका अर्थ योग्य देश प्राप्त करना चाहिये।*

चारों ही ज्ञान परोक्ष हैं

छद्मस्थावस्थायामावरणेन्द्रियसहायसापेक्षम्।
यावज्ज्ञानचतुष्टयमर्थात् सर्वं परोक्षमिववाच्यम् ॥७०१॥

---

* नैयायिक तथा वैशेषिक दर्शनवाले चक्षुको प्राप्यकारी अर्थात् पदार्थोंके पास जानेवाला बतलाते हैं परन्तु ऐसा उनका मानना उपर्युक्त युक्तियोंसे सर्वथा बाधित है। चक्षुको प्राप्यकारी माननेमें और भी अनेक दोष आते हैं जिनका विस्तृत वर्णन प्रमेयकमल मार्तण्डमें किया गया है।

अर्थः—छद्मस्थ–अल्पज्ञ अवस्थामे जितने भी ज्ञान है–मति, श्रुत, अवधि, मन पर्यय चारों ही आवरण और इन्द्रियोकी सहायताकी अपेक्षा रखते है। इसलिये इन चारो ही ज्ञानोंको परोक्षके समान ही कहना चाहिये। अर्थात् मतिश्रुत तो परोक्ष कहे हो गये हैं परन्तु अवधि मन पर्यय भी इन्द्रिय आवरणकी अपेक्षा रखते हैं इसलिये वे भी परोक्ष तुल्य ही है।

अवधिमनःपर्ययविद्द्वैतं प्रत्यक्षमेकदेशत्वात् ।
केवलमिदमुपचारादथ च विवक्षावशान्न चान्वर्थात् ॥७०२॥

अर्थः—अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञान ये दो ज्ञान एक देश प्रत्यक्ष कहे गये हैं, परन्तु इनमे यह प्रत्यक्षता विवक्षावश केवल उपचारसे ही घटती है। वास्तवमें ये प्रत्यक्ष नही है।

तत्रोपचारहेतुर्यथा मतिज्ञानमक्षजं नियमात् ।
अथ तत्पूर्वं श्रुतमपि न तथावधिचित्तपर्ययं ज्ञानम् ॥७०३॥

अर्थः—उपचारका कारण भी यह है कि जिस प्रकार मतिज्ञान नियमसे इन्द्रिय-जन्य ज्ञान है, और उस मतिज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञान भी इन्द्रियजन्य है। उस प्रकार अवधि और मन पर्यय ज्ञान इन्द्रियजन्य नही है इसीलिये अवधि और मन·पर्यय उपचारसे प्रत्यक्ष कहे जाते है।

यत्स्यादवग्रहेहावायानतिधारणापरायत्तम् ।
आद्यं ज्ञानं द्वयमिह यथा तथा नैव चान्तिमं द्वैतम् ॥७०४॥

अर्थः—अवग्रह, ईहा, अवाय धारणाके पराधीन जिसप्रकार आदिके दो ज्ञान होते है उस प्रकार अन्तके दो नही होते।

दूरस्थानर्थानिह समक्षमिव वेत्ति हेलया यस्मात् ।
केवलमेव मनःसादवधिमनः पर्ययद्वयं ज्ञानम् ॥७०५॥

अर्थः—अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञान केवल मनकी सहायतासे दूरवर्त्ती पदार्थोको कौतुकके समान प्रत्यक्ष जान लेते है।

मतिश्रुत भी मुख्य प्रत्यक्षके समान प्रत्यक्ष हैं

अपि किंवाभिनिबोधिकबोधद्वैतं तदादिमं यावत् ।
स्वात्मानुभूतिसमये प्रत्यक्षं तत्समक्षमिव नान्यत् ॥७०६॥

अर्थः—विशेष बात यह है कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ये आदिके दो ज्ञान भी स्वात्मानुभूतिके समय प्रत्यक्ष ज्ञानके समान प्रत्यक्ष हो जाते है, और समयमे नही ।

भावार्थः—केवल स्वात्मानुभवके समय जो ज्ञान होता है वह यद्यपि मतिज्ञान है तो भी वह वैसा ही प्रत्यक्ष है जैसा कि आत्ममात्र सापेक्ष ज्ञान प्रत्यक्ष होता है । किन्तु–

तदिह द्वैतमिदं चित्स्पर्शादीन्द्रियविषयपरिग्रहणे ।
व्योमाद्यवगमकाले भवति परोक्षं न समक्षमिह नियमात् ॥७०७॥

अर्थः—वे ही मतिज्ञान श्रुतज्ञान जब स्पर्शादि इन्द्रियोके विषयोका (मानसिक) बोध करने लगते हैं तब वे नियमसे परोक्ष है, प्रत्यक्ष नही क्योकि आकाश धर्म अधर्म काल इन अमूर्तिक द्रव्यो को वे नही जान सकते है ।

शकाकार

ननु चाद्ये हि परोक्षे कथमिव सूत्रे कृतः समुद्देशः ।
अपि तल्लक्षणयोगात् परोक्षमिव सम्भवत्येतत् ॥७०८॥

अर्थः—'आद्ये परोक्षम्' इस सूत्रमे मतिज्ञान श्रुतज्ञानको परोक्ष बतलाया गया है, तथा परोक्षका लक्षण भी इन दोनोमे सुघटित होता है इसलिये ये दोनों ज्ञान परोक्ष है । फिर उन्हें स्वानुभूतिके समय प्रत्यक्ष क्यो बतलाया जाता है ?

भावार्थः—आगम प्रमाणसे भी दोनो ज्ञान परोक्ष है तथा इन्द्रिय और मनकी सहायतासे उत्पन्न होनेके कारण भी मतिश्रुत परोक्ष हैं फिर ग्रन्थकार स्वात्मानुभूति कालमे निरपेक्ष ज्ञानके समान उन्हे प्रत्यक्ष कैसे बतलाते है ?

उत्तर

सत्यं वस्तुविचारः स्यादतिशयवर्जितोऽविसंवादात् ।
साधारणरूपतया भवति परोक्षं तथा प्रतिज्ञायाः ॥७०९॥
इह सम्यग्दृष्टेः किल मिथ्यात्वोदयविनाशजा शक्तिः ।
काचिदनिर्वचनीया स्वात्मप्रत्यक्षमेतदस्ति यया ॥७१०॥

अर्थः—ठीक है परन्तु वस्तुका विचार अतिशय रहित होता है, उसमे कोई विवाद नही रहता । यद्यपि यह वात ठीक है और ऐसी ही सूत्रकारकी प्रतिज्ञा है कि साधारण-रूपसे मतिज्ञान, श्रुतज्ञान परोक्ष है, परन्तु सम्यग्दृष्टिके मिथ्यात्व कर्मोदयके नाश होनेसे कोई ऐसी अनिर्वचनीय शक्ति प्रकट होजाती है कि जिसके द्वारा नियमसे स्वात्म प्रत्यक्ष होने लगता है ।

भावार्थः—यद्यपि सामान्य रीतिसे मति श्रुत परोक्ष है तथापि दर्शनमोहनीयके नाश या उपशम या क्षयोपशम होनेसे सम्यग्दृष्टिके स्वात्मानुभवरूप मतिज्ञान विशेष उत्पन्न हो जाता है वही प्रत्यक्ष है, परन्तु स्वात्मानुभवको छोडकर इतर पदार्थोंके ग्रहण कालमें उक्त ज्ञान परोक्ष ही है। इसका कारण—

तदभिज्ञानं हि यथा शुद्धस्वात्मानुभूतिसमयेस्मिन्।
स्पर्शनरसनघ्राणं चक्षुः श्रोत्रं च नोपयोगि मतम् ॥७११॥

अर्थः—इसका कारण यह है कि इस शुद्ध स्वात्मानुभवके समयमे स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पाँचो इन्द्रियाँ उपयोगात्मक नही मानी गई है। अर्थात् शुद्ध-आत्मानुभवके समय इन्द्रियजन्य ज्ञान नही होता है, किन्तु—

केवलमुपयोगि मनस्तत्र च भवतीह तन्मनो द्वेधा।
द्रव्यमनो भावमनो नोइन्द्रियनाम किल स्वार्थात् ॥७१२॥

अर्थः—केवल मन ही उस समय उपयुक्त होता है। वह मन दो प्रकार है। (१) द्रव्यमन (२) भावमन। मनका ही उसके अर्थानुसार दूसरा नाम नो इन्द्रिय है।

भावार्थः—जिसप्रकार इन्द्रियाँ वाह्य स्थित है और नियत विषयको जानती है उसप्रकार मन वाह्य स्थित नही है तथा नियत विषयको भी नही जानता है। इसलिये वह ईषत् (कम) इन्द्रिय होनेसे नोइन्द्रिय कहलाता है।

द्रव्यमन

द्रव्यमनो हृत्कमले घनाङ्गुलासंख्यभागमात्रं यत्।
अचिदपि च भावमनसः स्वार्थग्रहणे सहायतामेति ॥७१३॥

अर्थः—द्रव्यमन हृदय कमलमे होता है, वह घनाङ्गुलके असख्यात मात्र भाग प्रमाण होता है। यद्यपि वह अचेतन-जड है तथापि भाव मन जिससमय पदार्थोको विषय करता है उससमय द्रव्यमन उसकी सहायता करता है।

भावार्थः—पुद्‌गलकी जिन पाँच वर्गणाओसे जीवका सम्बन्ध है उनमे एक मनोवर्गणा भी है। उसी मनोवर्गणाका हृदय स्थानमे कमलवत् द्रव्य मन बनता है। उसी द्रव्य मनमे आत्माका हेयोपादेयरूप विशेष ज्ञान-भाव मन उत्पन्न होता है। जिसप्रकार रूपका बोध आत्मा चक्षु द्वारा ही करता है उसीप्रकार आत्माके विचारोकी उत्पत्तिका स्थान द्रव्यमन है।

भावमन

भावमनः परिणामो भवति तदात्मोपयोगमात्रं वा ।
लब्ध्युपयोगविशिष्टं स्वावरणस्य क्षयाक्रमाच्च स्यात् ॥७१४॥

अर्थः—भावमन आत्माका ज्ञानात्मक परिणाम विशेष है । वह अपने प्रतिपक्षी आवरण कर्मके क्षय होनेसे लब्धि और उपयोग सहित क्रमसे होता है ।

भावार्थः—कर्मोंके क्षयोपशमसे जो आत्मामें विशुद्धि–निर्मलता होती है उसे लब्धि कहते है, तथा पदार्थोंकी ओर उन्मुख (रुजू) होकर उनके जाननेको उपयोग कहते है। बिना लब्धिरूप ज्ञानके उपयोगात्मक बोध नही हो सकता है, परन्तु लब्धिके रहते हुए उपयोगात्मक बोध हो या न हो, नियम नही है । मनसे जो बोध होता है वह युगपत् नही होता है किन्तु क्रमसे होता है ।

स्पर्शनरसनघ्राणं चक्षुः श्रोत्रं च पञ्चकं यावत् ।
मूर्तग्राहकमेकं मूर्त्तामूर्त्तस्य वेदकं च मनः ॥७१५॥

अर्थः—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये जितनी भी पाँचों इन्द्रियाँ है सभी एक मूर्त्त पदार्थको ग्रहण करनेवाली है । परन्तु मन मूर्त और अमूर्त दोनोको जाननेवाला है । इतना विशेष है कि मूर्त सम्बन्धित अमूर्तको ही मन ग्रहण करता है ।

तस्मादिदमनवद्यं स्वात्मग्रहणे किलोपयोगि मनः ।
किन्तु विशिष्टदशायां भवतीह मनः स्वयं ज्ञानम् ॥७१६॥

अर्थः—इसलिये वह बात निर्दोष रीतिसे सिद्ध हो चुकी कि स्वात्माके ग्रहण करनेमे नियमसे मन ही उपयोगी है । किन्तु इतना विशेष है कि वह मन विशेष अवस्थामे अर्थात् अमूर्त पदार्थके ग्रहण करते समय स्वय भी अमूर्त ज्ञानरूप हो जाता है ।

भावार्थः—पहले कहा गया है कि स्वात्मानुभूति यद्यपि मतिज्ञान स्वरूप है अथवा तत्पूर्वक श्रुत ज्ञान स्वरूप भी है । तथापि वह निरपेक्ष ज्ञानके समान प्रत्यक्ष ज्ञान रूप है । इसी बातको यहाँ पर स्पष्ट कर दिया गया है कि यद्यपि मतिश्रुत परोक्ष होते है तथापि वे इन्द्रिय और मनसे होते है, मन अमूर्तका भी जाननेवाला है । जिससमय वह केवल अमूर्त पदार्थको ही जान रहा है अर्थात् केवल स्वात्माका ही ग्रहण कर रहा है उससमय वह मनरूप ज्ञान भी अमूर्त हो है । इसीलिये वह अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष है । इन्द्रियाँ मूर्त पदार्थका ही ग्रहण करती है इसलिये स्वात्म प्रत्यक्षमे उनका उपयोग ही नही है । इसीको पुन स्पष्ट करते है —

नासिद्धमेतदुक्तं तदिन्द्रियानिन्द्रियोद्भवं सूत्रात् ।
स्यान्मतिज्ञाने यत्तत्पूर्वं किल भवेच्छ्रुतज्ञानम् ॥७१७॥
अयमर्थो भावमनो ज्ञानविशिष्टं स्वयं हि सदमूर्तम् ।
तेनात्मदर्शनमिह प्रत्यक्षमतीन्द्रियं कथं न स्यात् ॥७१८॥

अर्थः—यह बात असिद्ध भी नही है, सूत्र द्वारा यह बतलाया जा चुका है कि मतिज्ञान तथा उस मतिज्ञान पूर्वक श्रुतज्ञान दोनो ही इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न होते है। इतना विशेष है कि भावमन विशेष (अमूर्त) ज्ञान विशिष्ट जब होता है तब वह स्वय अमूर्त स्वरूप हो जाता है। उस अमूर्त—मनरूप ज्ञानद्वारा आत्माका प्रत्यक्ष होता है इसलिये वह प्रत्यक्ष अतीन्द्रिय क्यों न हो ? अर्थात् केवल स्वात्माको जाननेवाला जो मानसिक ज्ञान है वह अवश्य अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष है।

अपि चात्मसंसिद्ध्यै नियतं हेतू मतिश्रुती ज्ञाने ।
प्रान्त्यद्वयं विना स्यान्मोक्षो न स्यादृते मतिद्वैतम् ॥७१९॥

अर्थः—तथा आत्माको भले प्रकार सिद्धिके लिये मतिश्रुत ये दो ही ज्ञान नियत कारण है। कारण इसका यह है कि अवधि और मन.पर्यय ज्ञानोके विना तो मोक्ष होजाता है परन्तु मतिश्रुतके बिना कदापि नही होता।

भावार्थः—यह नियम नही है कि सब ज्ञानोके होनेपर ही केवलज्ञान उत्पन्न हो। किसीके अवधि मन पर्यय नही भी होते है तो भी उसके केवलज्ञान होजाता है। परन्तु मतिश्रुत तो प्राणीमात्रके नियमसे होते है। इसलिये सुमति सुश्रुत ये दो ही आत्माकी प्राप्तिमे मूल कारण है। अतएव मिथ्यात्वके अनुदयमे विशेष मतिज्ञानद्वारा स्वात्माका साक्षात्कार हो ही जाता है।

शकाकार

ननु जैनानामेतन्मतं मतेष्वेव नापरेषां हि ।
विप्रतिपत्तौ बहवः प्रमाणमिदमन्यथा वदन्ति यतः ॥७२०॥

भावार्थः—सम्पूर्ण मतोमे जैनियोके मतमे ही प्रमाणकी ऐसी व्यवस्था है, दूसरोके यहाँ ऐसी नही है। यह विषय विवादग्रस्त है, क्योकि बहुतसे मत प्रमाणका स्वरूप दूसरे ही प्रकार कहते है।

भावार्थः—जैनियोने उपर्युक्त कथनानुसार ज्ञानको ही प्रमाण मानकर उसके प्रत्यक्ष परोक्ष दो भेद किये है परन्तु अन्य दर्शनवाले ऐसा नही मानते हैं ?

कोई वेदको ही प्रमाण मानते हैं

वेदाः ाणमिति किल वदन्ति वेदान्तिनो विदाभासाः ।
यस्मादपौरुषेयाः सन्ति यथा व्योम ते स्वतः सिद्धाः ॥७२१॥

अर्थः—ज्ञानाभासी (मिथ्याज्ञानी) वेदान्त मतवाले कहते है कि वेद ही प्रमाण है। और वे पुरुषके बनाये हुए नही है, किन्तु आकाशके समान स्वत. सिद्ध है। अर्थात् जिसप्रकार आकाश अनादिनिधन स्वय सिद्ध है किसीने उसे नही बनाया है उसी प्रकार वेद भी अनादिनिधन स्वय सिद्ध है।

कोई प्रमाकरणको प्रमाण मानते हैं

अपरे प्रमानिदानं प्रमाणमिच्छन्ति पण्डितम्मन्याः ।
समयन्तिसम्यगनुभवसाधनमिह यत्प्रमाणमिति केचित् ॥७२२॥

अर्थः—दूसरे मतवाले (नैयायिक) अपने आपको पण्डित मानते हुए प्रमाणका स्वरूप यह कहते है कि जो प्रमाका निदान हो वह प्रमाण है अर्थात् प्रमा नाम प्रमाणके फलका है। उस फलका जो साधकतम कारण है वही प्रमाण है ऐसा नैयायिक कहते है। दूसरे कोई ऐसा भी कहते है कि जो सम्यग्ज्ञानमे कारण पडता हो वही प्रमाण है। ऐसा प्रमाणका स्वरूप माननेवालोमें वैशेषिक बौद्ध आदि कई मतवाले आजाते हैं जो कि आलोक, पदार्थ, सन्निकर्षादिको प्रमाण मानते है।

इत्यादि वादिवृन्दैः प्रमाणमालक्ष्यते यथारुचि तत् ।
आप्ताभिमानदग्धैरलब्धमानैरतीन्द्रियं वस्तु ॥७२३॥

अर्थः—जिन्होने अतीन्द्रिय वस्तुके स्वरूपको नही पहचाना है, जो वृथा ही अपने आपको आप्तपनेके अभिमानसे जला रहे है ऐसे अनेक वादीगण प्रमाणका स्वरूप अपनी इच्छानुसार कहते है।

वेदान्तादिवादियोंके माने हुए प्रमाणोंमें दूषण

अकृतमलक्षणमेतल्लक्षणदोषैरधिष्ठितं यस्मात् ।
स्यादविचारितरम्यं विचार्यमाणं खपुष्पवत्सर्वम् ॥७२४॥

अर्थः—जिन प्रमाणोका ऊपर उल्लेख किया गया है वे सब दूषित है, कारण जो प्रमाणका लक्षण होना चाहिये वह लक्षण उनमे आता ही नही है और जो कुछ उनका लक्षण किया गया है वह दोषोसे विशिष्ट (सहित) है तथा अविचारित रम्य है। उन

समस्त प्रमाणोंके लक्षणोंपर विचार किया जाय तो वे आकाशके पुष्पोके समान मालूम होते है। अर्थात् असिद्ध ठहरते है। क्यों ? सो आगे कहा गया है।—

ज्ञान ही प्रमाण है

अर्थाद्यथा कथञ्चिज्ज्ञानादन्यत्र न प्रमाणत्वम् ।
करणादि विना ज्ञानादचेतनं कः प्रमाणयति ॥७२५॥

अर्थः—अर्थात् किसी भी प्रकार ज्ञानको छोडकर अन्य किसी जड़ पदार्थमे प्रमाणता आ नही सकती है। विना ज्ञानके अचेतन करण, सन्निकर्ष इन्द्रिय आदिको कौन प्रमाण समझेगा ? अर्थात् प्रमाणका फल प्रमा-अज्ञान निवृत्तिरूप है, उसका कारण भी अज्ञान निवृत्तिरूप होना आवश्यक है इसलिये प्रमाण भी अज्ञान निवृत्ति ज्ञानस्वरूप होना चाहिये। जड पदार्थ प्रमेय है वे प्रमाण नही हो सकते है, अपने आपको जाननेवाला ही परका ज्ञाता हो सकता है जो स्वय अज्ञानरूप है वह स्व–पर किसीको नही जना सकता है। इसलिये करण आदि जड़ हैं वे प्रमाण नही हो सकते, किन्तु ज्ञान ही प्रमाण है।

तत्रान्तर्लीनत्वाज्ज्ञानसनाथं प्रमाणमिदमिति चेत् ।
ज्ञानं प्रमाणमिति यत्प्रकृतं न कथं प्रतीयेत ॥७२६॥

अर्थः—यदि यह कहा जाय कि करण आदि बाह्य कारण है उनमे भीतर जाननेवाला ज्ञान ही है इसलिये ज्ञान सहित करण आदि प्रमाण है, तो ऐसा कहनेसे वही बात सिद्ध हुई कि जो प्रकृतमे हम (जैन) कह रहे है अर्थात् ज्ञान ही प्रमाण है। यही बात सिद्ध होगई।

भावार्थः—प्रमाणमे सहायक सामग्री प्रकाश योग्यदेश, इन्द्रियव्यापार, कारक साफल्य, पदार्थ सान्निध्य सन्निकर्ष आदि कितने ही क्यो न होजाओ परन्तु पदार्थका बोध करनेवाला प्रमाण ज्ञान ही पडता है उसके विना सभी कारण सामग्री निरर्थक है।

शंकाकार

ननु फलभूतं ज्ञानं तस्य तु करणं भवेत्प्रमाणमिति ।
ज्ञानस्य कृतार्थत्वात् फलवत्त्वमसिद्धमिदमिति चेत् ॥७२७॥

अर्थः—ज्ञानको प्रमाणका फल मानना चाहिये, उसके कारणको प्रमाण मानना चाहिये। यदि ज्ञानको ही प्रमाण मान लिया जाय तो ज्ञानका प्रयोजन तो हो चुका फिर फल क्या होगा ? फिर फल असिद्ध ही होगा।

भावार्थः—शंकाकारका यह अभिप्राय है कि प्रमाण और प्रमाणका फल दोनों ही जुदे २ होने चाहिये और प्रमाण फल सहित ही होना चाहिये। ऐसी अवस्थामें ज्ञानको प्रमाणका फल और उस ज्ञानके कारण (करण-जड)को प्रमाण मानना ही ठीक है, यदि ऐसा नही माना जाय और ज्ञानको ही प्रमाण माना जाय तो फिर प्रमाणका फल क्या ठहरेगा ? उसका अभाव ही हो जायगा ?

उत्तर

नैवं यतः प्रमाणं फलं च फलवच्च तत्स्वयं ज्ञानम्।
दृष्टिर्यथा प्रदीपः स्वयं प्रकाश्यः प्रकाशकश्च स्यात् ॥७२८॥

अर्थः—ऊपर की हुई शका ठीक नही है, क्योकि प्रमाण, उसका फल, उसका कारण स्वयं ज्ञान ही है। जिसप्रकार दीपक स्वय अपना भी प्रकाश करता है और दूसरोका भी प्रकाश करता है, अथवा दीपक स्वय प्रकाश्य (जिसका प्रकाश किया जाय) भी है और वही प्रकाशक है।

भावार्थः—दीपकके दृष्टान्तके समान प्रमाण भी ज्ञान ही है, प्रमाणका कारण भी ज्ञान ही है और प्रमाणका फल भी ज्ञान ही है। ज्ञानसे भिन्न न कोई प्रमाण है और न उसका फल ही है। यहाँ पर यह शका अभी खडी ही रहती है कि दोनोको ज्ञानरूप माननेसे दोनो एक ही हो जाँयगे, अथवा फल शून्य प्रमाण और प्रमाणशून्य फल हो जायगा, परन्तु विचार करनेपर यह शका भी निर्मूल ठहरती है, जैन सिद्धान्तमे प्रमाण और प्रमाणका फल सर्वथा भिन्न नही है। किन्तु कथचित् भिन्न है, कथचित् भेदमें ज्ञानकी पूर्व पर्याय प्रमाणरूप पड़ती है उसकी उत्तर पर्याय फलरूप पडती है। क्योकि प्रमाणका फल अज्ञान निवृत्ति माना है तथा हेयोपादेय और उपेक्षा भी प्रमाणका फल है। जो प्रमाणरूप ज्ञान है वही ज्ञान अज्ञानसे निवृत्त होता है और उसीमे हेयोपादेय तथा उपेक्षा रूप वुद्धि होती है। इसलिये ज्ञान ही प्रमाण और ज्ञान ही फल सिद्ध हो चुका। साथ ही प्रमाण और प्रमाणका फल दोनो एक हो जाँयगे अथवा फल शून्य प्रमाण हो जायगा, इस शकाका परिहार भी हो चुका।

उक्तं कदाचिदिन्द्रियमथ च तदर्थेन सन्निकर्षयुतम्।
भवति कदाचिज्ज्ञानं त्रिविधं करणं प्रमायाश्च ॥७२९॥
पूर्वं पूर्वं करणं तत्र फलं चोत्तरोत्तरं ज्ञेयम्।
न्यायात्सिद्धमिदं चित्फलं च फलवच्च तत्स्वयं ज्ञानम् ॥७३०॥

अर्थः—कभी इन्द्रियोको प्रमाण कहा गया है, कभी इन्द्रिय और पदार्थके सन्निकर्षको प्रमाण कहा गया है, कभी ज्ञानको ही प्रमाण कहा गया है। इसप्रकार तीन प्रकार प्रमा (प्रमाणका फल) का करण अर्थात् प्रमाणका परम साधक कारण कहा गया है। ये तीनो ही आत्माकी अवस्थाये है। पहली इन्द्रियरूप अवस्था भी आत्मावस्था है, सन्निकर्ष विशिष्ट अवस्था भी आत्मावस्था है। तथा ज्ञानावस्था भी आत्मावस्था है, अर्थात् तीनो ही ज्ञान रूप हैं। इन तीनोमे पहला पहला करण पडता है और आगे आगेका फल पडता है। इसलिये यह बात न्यायसे सिद्ध हो चुकी कि ज्ञान ही फल है और ज्ञान ही प्रमाण है।

तत्रापि यदा करणं ज्ञानं फलसिद्धिरस्ति नाम तदा।
अविनाभावेन चितो हानोपादानबुद्धिसिद्धित्वात् ॥७३१॥

अर्थः—उनमे भी जिससमय ज्ञान करण पडता है, उससमय अविनाभावसे आत्माकी हान उपादान रूपा बुद्धि उसका फल पड़ता है अर्थात् पूर्व ज्ञान करण और उत्तर ज्ञान फल पडता है और यह बात असिद्ध भी नही है।

नाप्येतदप्रसिद्धं साधनसाध्यद्वयोः सदृष्टान्तात्।
न विना ज्ञानात्त्यागो भुजगादेर्वा स्रगाद्युपादानम् ॥७३२॥

अर्थः—साधन भी ज्ञान पड़ता है और साध्य भी ज्ञान पडता है यह बात असिद्ध नही है किन्तु दृष्टान्तसे सुसिद्ध है। यह बात प्रसिद्ध है कि ज्ञानके विना सर्पादिका त्याग और माला आदि इष्ट पदार्थोका ग्रहण नही होता है।

भावार्थः—प्रमाणका स्वरूप इसप्रकार है—"हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत्" हित नाम सुख और सुखके कारणोका है, अहित नाम दुःख और दुःखोके कारणोका है। जो हितकी प्राप्ति और अहितका परिहार करानेमे समर्थ है वही प्रमाण होता है। ऐसा प्रमाण ज्ञान ही हो सकता है। क्योकि सुख और सुखके कारणोका परिज्ञान तथा दुःख और दुःखके कारणोका परिज्ञान सिवा ज्ञानके जड पदार्थोमे नही हो सकता है, ज्ञानमे ही यह सामर्थ्य है कि वह सर्पादि अनिष्ट पदार्थोमे त्यागरूप बुद्धि और पुष्पमालामे ग्रहणरूप बुद्धि करावे इसलिये प्रमाण ज्ञान ही हो सकता है। तथा फल भी ज्ञान रूप ही होता है यह बात प्रायः सर्व सिद्ध है। कारण प्रमाणका फल अज्ञान निवृत्तिरूप होता है। ऐसा फल ज्ञान ही हो सकता है, जड़ नही।

प्रमाणलक्षणमिह यदनार्हतं कुवादिभिः स्वैरम् ।
तल्लक्षणदोषत्वात्तत्सर्वं लक्षणाभासम् ॥७३३॥

अर्थः—जो कुछ प्रमाणका लक्षण कुवादियोने कहा है वह आर्हत (जैन) लक्षण नही है, किन्तु उन्होने स्वेच्छा पूर्वक कहा है, उसमें लक्षणके दोष आते है इसलिये वह लक्षण नही किन्तु लक्षणाभास है ।

भावार्थः—अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, असम्भव ये तीन लक्षणके दोष है, जो लक्षण अपने लक्ष्यके एक देशमे न रहे उसे अव्याप्ति दोष कहते है, जो लक्षण अपने लक्ष्यके सिवा अलक्ष्यमे भी रहे उसे अतिव्यप्ति दोष कहते है जो लक्षण अपने लक्ष्यमे सर्वथा न रहे उसे असम्भव दोष कहते है । इन तीन दोषोसे रहित लक्षण ही लक्षण कहलाता है, अन्यथा वह लक्षणाभास है । प्रमाणका जो लक्षण अन्यवादियोने किया है वह इन दोषोंसे रहित नही है यही बात नीचे कही जाती है—

स यथा चेत्प्रमाणं लक्ष्यं तल्लक्षण प्रमाकरणम् ।
अव्याप्तिको हि दोषः सदेश्वरे चापि तदयोगात् ॥७३४॥

अर्थः—यदि प्रमाण लक्ष्य है, उसका प्रमाकरण लक्षण है तो अव्याप्ति दोष आता है, क्योकि ईश्वरमे उस लक्षणका सदा अभाव रहता है ।

भावार्थः—नैयायिक ईश्वरको प्रमाण तो मानते है वे कहते है 'तन्मे प्रमाण शिव इति' अर्थात् वह ईश्वर मुझे प्रमाण है । परन्तु वे उस ईश्वरको प्रमाका करण नही मानते है किन्तु उसका उसे अधिकरण मानते है । उनके मतसे ईश्वर प्रमाण है तो भी उसमे प्रमाकरण रूप प्रमाणका लक्षण नही रहता । इसलिये लक्ष्यके एक देश—ईश्वरमे प्रमाणका लक्षण न जानेसे अव्याप्ति दोष बना रहा ।

तथा

योगिज्ञानेपि तथा न स्याचल्लक्षणं प्रमाकरणम् ।
परमाण्वादिषु नियमान्न स्याचत्सन्निकर्षश्च ॥७३५॥

अर्थः—इसीप्रकार जो लोग प्रमाकरण प्रमाणका लक्षण करते है उनके यहाँ योगियोके ज्ञानमे भी उक्त लक्षण नही जाता है, क्योकि उन्ही लोगोने योगियोके ज्ञानको दिव्य ज्ञान माना है वह सूक्ष्म और अमूर्त पदार्थोंका भी प्रत्यक्ष करता है ऐसा वे स्वीकार करते है परन्तु परमाणु आदि पदार्थोंमे इन्द्रिय सन्निकर्ष नियमसे नही हो सकता है ।

भावार्थः—इन्द्रियसन्निकर्ष अथवा इन्द्रियव्यापार ही को वे प्रमाकरण बतलाते है, यह सन्निकर्ष और व्यापार स्थूल मूर्त पदार्थोके साथ ही हो सकता है, सूक्ष्म परमाणु तथा अमूर्त धर्माधर्म, और दूरवर्ती पदार्थोका वह नही हो सकता है, इसलिये सन्निकर्ष अथवा इन्द्रियव्यापार-प्रमाकरणको प्रमाण माननेसे योगीजन सूक्ष्मादि पदार्थोका प्रत्यक्ष नही कर सकते परन्तु वे करते हैं ऐसा वे मानते है इसलिये योगीजनोमें उनके मतसे ही प्रमाकरण लक्षण नही जाता है यदि वे योगियोको प्रमाका करण स्वयं नही मानते है तो उनके मतसे ही प्रमाणका लक्षण अव्याप्ति दोषसे दूषित हो गया। क्योकि उन्होंने योगियोके ज्ञानको प्रमाण माना है।

वेद भी प्रमाण नहीं है

वेदाः प्रमाणमत्र तु हेतुः केवलमपौरुषेयत्वम् ।
आगमगोचरताया हेतोरन्याश्रितादहेतुत्वम् ॥७३६॥

अर्थः—वेदको प्रमाण माननेवाले वेदान्ती तो केवल अपौरुषेय हेतु द्वारा उसमें प्रमाणता लाते है। दूसरा उनका हेतु आगम है, आगम प्रमाणरूप हेतु अन्योन्याश्रय दोष आनेसे अहेतु हो जाता है।

भावार्थः—वेदको अपौरुषेय माननेवाले उसकी अनादितामें प्रवाह नित्यताका हेतु देते है, वह प्रवाह नित्यता क्या शब्दमात्रमे है या विशेष आनुपूर्वीरूप जो शब्द वेदमें उल्लिखित है उन्हीमे है ? यदि पूर्व पक्ष स्वीकार किया जाय तब तो जितने भी शब्द है सभी वैदिक हो जाँयगे, फिर वेद ही क्यो अपौरुषेय (पुरुषका नहीं बनाया हुआ) कहा जाता है ? यदि उत्तर पक्ष स्वीकार किया जाय तो प्रश्न होता है कि उन विशेष आनुपूर्वीरूप शब्दोंका अर्थ किसीका समझा हुआ है या नही ? यदि नही, तब तो बिना ज्ञानके उन वेद वाक्योमे प्रमाणता नही आ सकती है, यदि किसीका समझा हुआ है तो उन वेद वाक्योके अर्थको समझानेवाला—व्याख्याता सर्वज्ञ है या अल्पज्ञ ? यदि सर्वज्ञ है तो वेदके समान अतीन्द्रिय पदार्थोके जाननेवाले सर्वज्ञके वचन भी प्रमाणरूप क्यो न माने जायँ, ऐसी अवस्थामे वेदमे सर्वज्ञ पुरुष कृत ही प्रमाणता आती है इसलिये उसका अपौरुषेयत्व प्रमाण सूचक नही सिद्ध होता। यदि वेदका व्याख्याता अल्पज्ञ है तो उस वेदके कठिन २ वाक्योका उलटा भी अर्थ कर सकता है, क्योकि वाक्य स्वयं तो यह कहते नही है कि हमारा अमुक अर्थ है, अमुक नही है, किन्तु पुरुषो द्वारा उनके अर्थोका बोध किया जाता है। यदि वे पुरुष अज्ञ और रागादि दोषोमे विशिष्ट है तो वे अवश्य कुछका कुछ निरूपण कर सकते हैं। कदाचित् यह कहा जाय कि उसके व्याख्याता

अल्पज्ञ भी हो तो भी वेदोंके अर्थकी व्याख्यान परम्परा बराबर ठीक चली आनेसे वे उनका यथार्थ निरूपण कर सकते है, ऐसा कहना भी ठीक नही है, क्योकि ठीक परम्परा चली आने पर भी अतीन्द्रिय पदार्थोमें अल्पज्ञोकी सशय रहित प्रवृत्ति (व्याख्यानमे) नही हो सकती है, दूसरी बात यह है कि यदि वेदार्थ अनादि परम्परासे ठीक चला आता है तो मीमासकादि भावना, विधि, नियोगरूप भिन्न २ अर्थ प्रतिपत्तिको क्यो प्रमाण मानते है ? इसलिये वेदको अनादि परम्परागत–अपौरुषेय मानना प्रमाण सिद्ध नही है । वेदको अनादि माननेमें ऐसा भी कहा जाता है कि जिसप्रकार वर्त्तमान कालमे कोई वेदोंको बनानेवाला नही है उसप्रकार भूतकाल और भविष्यत् कालमे भी कोई नही हो सकता है । परन्तु यह कोई युक्ति नही है, विपक्षमे ऐसा भी कहा जा सकता है कि जैसे वर्त्तमानमे श्रुतिका बनानेवाला कोई नही है वैसे भूत भविष्यत् कालमें भी कोई नही हो सकता है, अथवा जैसे वर्त्तमानकालमें वेदोका कोई जानकार नही है वैसे उनका जानकार भूत भविष्यत् कालमे भी कोई नही हो सकता है इसीप्रकार ऐसा कहना भी कि वेदका अध्ययन वेदाध्ययन पूर्वक है वर्त्तमान अध्ययनके समान, मिथ्या ही है। कारण विपक्षमे भी कहा जासकता है कि भारतादिका अध्ययन भारताध्यायन पूर्वक है । वर्त्तमान अध्ययनके समान । इसलिये उपर्युक्त कथनसे भी वेदमे अनादिता सिद्ध नही होती है । यदि यह कहा जाय कि वेदके कर्त्ताका स्मरण नही होता है इसलिये उसके कर्त्ताका अभाव कह दिया जाता है ऐसा कहना भी बाधित है क्योकि ऐसी बहुतसी पुरानी वस्तुऐं हैं जिनके कर्त्ताका स्मरण नही होता है, तो क्या वे भी अपौरुषेय मानी जायँगी ? यदि नही तो वेद ही क्यों वैसा माना जाय ? तथा वेदके कर्त्ताका स्मरण नही होता ऐसा सब वेदानुयायी मानते भी नही हैं । पिटकत्रयमे वेदके कर्त्ताका कुछ लोग स्मरण करते ही हैं । इसलिये वेद पुरुष कृत नही है यह बात किसी प्रकार नही बनती कुछ कालके लिये यदि वेदको अपौरुषेय भी मान लिया जाय तो भी उसमे सर्वज्ञका अभाव होनेसे प्रमाणता नही आती है । सर्वज्ञ वक्ताके मानने पर 'धर्मे चोदनैव प्रमाणम्, अर्थात् धर्मके विषयमे वेद ही प्रमाण है यह बात नही बनेगी, क्योकि सर्वज्ञका वचन भी प्रमाण मानना पडेगा, तथा सर्वज्ञ उसका वक्ता मानने पर उस वेदमे पूर्वापर विरोध नही रह सकता है, परन्तु उसमे पूर्वापर विरोध है, हिंसाका निषेध करता हुआ भी वह कही हिंसाका विधान करता है तथा एक ही वेदका एक अश एक वेदानुयायी नही मानता है वह उसे अप्रमाण समझता हुआ उसीके दूसरे अंशको वह प्रमाण मानता है, जिसे वह प्रमाण मानता है उसे ही तीसरा वेदानुयायी अप्रमाण मानता है । यदि वह सर्वज्ञ वक्तासे प्रति-

पादित होता तो इसप्रकार पूर्वापर विरोध सर्वथा नही हो सकता है इसलिये वेदमें प्रमाणता किसी प्रकार नही आती ।

वेदके विषयमे यह कहना कि उसके कर्त्ताका स्मरण नही होता इसलिये वह अनादि अपौरुषेय है, इस कथनके विषयमे पहली बात तो यह है कि नित्य वस्तुके विषयमे ऐसा कहना ही व्यर्थ है, नित्य वस्तु जो होती है उसमे न तो उसके कर्त्ताका स्मरण ही होता है न अस्मरण (स्मरणका न होना) ही होता है किन्तु वह अकर्तृक होती है यदि यह कहा जाय कि वेदकी सम्प्रदाय (वेदका वर्णक्रम, पाठक्रम, उदात्तादिक्रम) का विच्छेद नही है इसीलिये यह कहा जाता है कि उसके कर्त्ताका स्मरण नही होता है तो यह कथन भी ठीक नही है, बहुतसे ऐसे वाक्य है जिनका विशेष प्रयोजन न होनेके कारण उनके कर्त्ताका स्मरण नही रहा है, साथ ही वे अनवच्छिन्न चले आ रहे है जैसे–'बटे बटे वैश्रवण' वृक्ष वृक्षमे यक्ष (कुबेर) रहता है। तथा "चत्वरे २ ईश्वरः। पर्वते २ राम. सर्वत्र मधुसूदनः। सा ते भवतु सुप्रीता देवी गिरिनिवासिनी, विद्यारभं करिष्यामि सिद्धिर्भवतु मे सदा" अर्थात् घर २ मे ईश्वर है, पर्वत पर्वतमे राम है, सर्वत्र कृष्ण है, तेरे ऊपर पार्वती देवी प्रसन्न हो, मै विद्यारभ करूगा, मेरी सदा सिद्धि हो, इत्यादि अनेक वाक्य अविच्छिन्न हैं, परन्तु उनको वेद वादियोने भी अपौरुषेय नही माना है। दूसरी बात यह है कि वेदके कर्त्ताका अभाव किस प्रकार कहा जा सकता है पौराणिक लोग वेदका कर्त्ता ब्रह्माको बतलाते है। वे कहते है 'कि वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिसूता.' अर्थात् ब्रह्माके मुखोसे वेद निकले हैं। 'यो वेदाश्च प्रहिणोति, इत्यादि वेदवाक्य ही वेदके कर्त्ताको सिद्ध करते हैं। सबसे बड़ी बात यह है कि उसमे ऋषियोके नाम भी आये हैं। इसलिये या तो वेदवादी उन ऋषियोको अनादिनिधन माने या वेदको अनादि न माने। दोनोमेसे एक बात ही बन सकती है, दोनो नही। इस कथनसे यह बात भलीभाँति सिद्ध है कि वेदोकी प्रमाणताकी पोषक एक भी सद्युक्ति नही है। इन सब बातोके सिवा वेदविहित अर्थो पर यदि दृष्टि डाली जायं तो वे सब ऐसे ही असम्बद्ध जान पडते है कि जैसे दशदाड़िमादि वाक्य असम्बद्ध होते है। वेदोका अर्थ पूर्वापर विरुद्ध और असमञ्जस है, वेदोकी अप्रमाणताका विशेष निदर्शन करनेके लिये प्रमेयकमल मार्तण्ड और अष्टसहस्रीको देखना चाहिये।

एवमनेकविधं स्यादिह मिथ्यामतकदम्बकं यावत् ।
अनुपादेयमसारं वृद्धैः स्याद्वादवेदिभिः समयात् ॥७२७॥

अर्थः—इसप्रकार जितना भी अनेक विध प्रचलित मिथ्या मतोका समूह है वह सब असार है, इसलिये वह शास्त्रानुसार स्याद्वादवेदी—वृद्ध पुरुषो द्वारा ग्रहण करने योग्य नही है ।

निक्षेपोंके कहनेकी प्रतिज्ञा

प्रमाणल मनुभवगम्यं यथागमज्ञानात् ।
अधुना निक्षेपपदं संक्षेप क्ष्यते यथालक्ष्म ॥७३८॥

अर्थः—आगमज्ञानके अनुसार अनुभवमे आने योग्य प्रमाणका लक्षण कहा गया । अब संक्षेपसे निक्षेपोका स्वरूप उनके लक्षणानुसार कहा जाता है ।

शंकाकार

ननु निक्षेपो न नयो न च प्रमाणं न चांशकं तस्य ।
पृथगुद्देश्यत्वादपि पृथगिव लक्ष्यं स्वलक्षणादितिचेत् ॥७३९॥

अर्थः—निक्षेप न नय है, और न प्रमाण है, न उसका अंश है, नय प्रमाणसे निक्षेपका उद्देश्य ही जुदा है । उद्देश्य जुदा होनेसे उसका लक्षण ही जुदा है, इसलिये लक्ष्य भी स्वतन्त्र होना चाहिये ? अर्थात् निक्षेप नय प्रमाणसे जब जुदा है तो उनके समान इसका भी स्वतन्त्र ही उल्लेख करना चाहिये ?

निक्षेपका स्वरूप (उत्तर)

सत्यं गुणसाक्षेपो सविपक्षः स च नयः स्वपक्षपतिः ।
य इह गुणाक्षेपः स्यादुपचरितः केवलं स निक्षेपः ॥७४०॥

अर्थः—नय तो गौण और मुख्यकी अपेक्षा रखता है, इसीलिये वह विपक्ष सहित है । नय सदा अपने (विवक्षित) पक्षका स्वामी है अर्थात् वह विवक्षित पक्ष पर आरूढ़ रहता है और दूसरे प्रतिपक्ष नयकी अपेक्षा भी रखता है, निक्षेपमे यह बात नही है, यहाँ पर तो गौण पदार्थमे मुख्यका आक्षेप किया जाता है, इसलिये निक्षेप केवल उपचरित है ।

भावार्थः—नय और निक्षेपका स्वरूप कहनेसे ही शकाकारकी शंकाका परिहार हो जाता है । सबसे बड़ा भेद तो इनमे यह है कि नय तो ज्ञान विकल्परूप है और निक्षेप पदार्थोंमे व्यवहारके लिये किये हुए सकेतोका नाम है । वह सकेत कही पर तद्गुण होता है और कही पर अतद्गुण होता है । नय और निक्षेपमे विषय विषयी सम्बन्ध है, नय विषय करनेवाला ज्ञान है, और निक्षेप उसका विषयभूत पदार्थ है । इसलिये नयोके कहनेसे

हीं निक्षेपोंका विवेचन स्वयं हो जाता है, अतएव इनके स्वतन्त्र उल्लेखकी आवश्यकता नही है। फिर भी यह शका हो सकती है कि जब निक्षेप नयका ही विषय है तो फिर चार निक्षेपोका स्वतन्त्र विवेचन सूत्रो द्वारा ग्रंथकारोने क्यों किया है? इसके उत्तरमे इतना कहना ही पर्याप्त है कि केवल समझानेके अभिप्रायसे निक्षेपोका निरूपण किया गया है, अन्यथा विषयभूत पदार्थोमे ही वे गर्भित है। दूसरे भिन्न भिन्न व्यवहार चलाना ही निक्षेपोका प्रयोजन है इसलिये उस प्रयोजनको स्पष्ट करनेके लिये ग्रन्थकारोंने उनका निरूपण किया है।

इस श्लोकमे 'गुणाक्षेप.' पद आया है, उसका अर्थ चारो निक्षेपोमे इसप्रकार घटित होता है—नाम गौण पदार्थमे अर्थात् अतद्गुण पदार्थमे केवल व्यवहारार्थ किया हुआ आक्षेप। स्थापनामे–अतद्गुण पदार्थमे किया हुआ गुणोका आक्षेप। द्रव्यमें–भावि अथवा भूत तद्गुणमें वर्त्तमानवत् किया हुआ गुणोका आक्षेप। भावमे–वर्त्तमान तद्गुणमें किया हुआ वर्त्तमान गुणोका आक्षेप। इसप्रकार गौणमे आक्षेप अथवा गुणोंका आक्षेप ही निक्षेप है।

नाम, स्थापना, द्रव्य ये तीन निक्षेप द्रव्यार्थिक नयके विषय है। भावनिक्षेप पर्यायार्थिक नयका विषय है। अन्तर्नयोकी अपेक्षासे नाम निक्षेप समभिरूढ नयका विषय है स्थापना और द्रव्य निक्षेप नैगमनयका विषय है। भाव निक्षेप ऋजुसूत्र तथा एवंभूत नयका विषय है।

निक्षेपः स चतुर्धा नाम ततः स्थापना ततो द्रव्यम्।
भावस्तल्लक्षणमिह भवति यथा लक्ष्यतेऽधुना चार्थात् ॥७४१॥

अर्थः—निक्षेप चार प्रकार है–(१) नाम निक्षेप, (२) स्थापना निक्षेप (३) द्रव्य निक्षेप (४) भाव निक्षेप। अब इन चारोका लक्षण कहा जाता है।

वस्तुन्यतद्गुणे खलु संज्ञाकरणं जिनो यथा नाम।
सोऽयं तत्समरूपे तद्बुद्धिः स्थापना यथा प्रतिमा ॥७४२॥

अर्थः—किसी वस्तुमे उसके नामके अनुसार गुण तो न हो, केवल व्यवहार चलानेके लिये उसका नाम रख देना नाम निक्षेप है। जैसे किसी पुरुषमे कर्मोके जीतनेका गुण सर्वथा नही है, वह मिथ्यादृष्टि है उसको बुलानेके लिये 'जिन' यह नाम रख दिया जाता है।

किसी समान आकारवाले अथवा असमान आकारवाले पदार्थमें गुण तो न हों, परन्तु उसमे गुणोकी बुद्धि रखना और उसका 'यह वही है' ऐसा व्यवहार करना स्थापना निक्षेप है। जैसे–प्रतिमा, जैसे पार्श्वनाथकी प्रतिमाको मन्दिरमें हम पूजते है, यद्यपि प्रतिमा पुरुषाकार है परन्तु है पाषाणकी। उस पाषाणकी प्रतिमामे उन पार्श्वनाथ भगवानके जीवकी जो कि अनन्तगुण धारी–अर्हन् है (थे) स्थापना करना और व्यवहार करना कि यह प्रतिमा ही पार्श्वनाथ है स्थापना निक्षेप है।

भावार्थः—उपर्युक्त उदाहरण तदाकार स्थापनाका है। चाँवल आदिमें जो पहले अरहन्तकी स्थापना की जाती थी वह अतदाकार स्थापना है। अथवा शतरजके मोहरोमे जो घोड़े हाथी पयादे आदिकी स्थापना की जाती है वह अतदाकार स्थापना है।

यद्यपि नाम और स्थापना दोनों ही अतद्गुण (गुण रहित) हैं, तथापि दोनोमें अन्तर है। नाम यदि किसीका जिन रक्खा गया है तो उसे मनुष्य केवल उस नामसे बुलावेगे। 'जिन'की जो पूज्यता होती है, वह पूज्यता वहाँपर नही है। परन्तु स्थापनामें जिसकी स्थापना की जाती है, उसका जैसा आदर सत्कार अथवा पूज्यता और गुण स्तवन होता है वैसा ही उसकी स्थापनामें किया जाता है। जैसी जिन (अरहन्त) की पूज्यता मूल जिनमें है वैसी ही उनकी स्थापित मूर्तिमे भी है। बस यही अन्तर है।

ऋजुनयनिरपेक्षतया, सापेक्षं भाविनैगमादिनयैः।
छद्मस्थो जिनजीवो जिन इव मान्यो यथात्र तद्द्रव्यम् ॥७४३॥

अर्थः—ऋजुसूत्र नयकी अपेक्षा नही रखनेवाला किन्तु भाविनैगम आदि नयोकी अपेक्षा रखनेवाला द्रव्य निक्षेप है। जैसे–छद्मस्थ जिनके जीवको साक्षात् जिनके समान समझना।

भावार्थः—द्रव्य निक्षेप तद्गुण होता है, परन्तु पदार्थमे जो गुण आगे होनेवाले है अथवा पहले हो चुके है उन गुणोवाला उसे वर्त्तमानमे कहना यही द्रव्यनिक्षेप है जैसे महावीर स्वामी सर्वज्ञ होनेपर जिन कहलाये थे, परन्तु उन्हे अल्पज्ञ अवस्थामे ही जिन कहना, यह भावि द्रव्य निक्षेप है तथा महावीर स्वामीको मोक्ष गए हुए आज २४४४ वर्ष वीत गये परन्तु दिवालीके दिन यह कहना कि आज ही महावीर स्वामो मोक्ष गये हैं, भूत द्रव्यनिक्षेप है। द्रव्यनिक्षेप वर्त्तमान गुणोकी अपेक्षा नही रखता है, इसलिये वह ऋजुसूत्र नयका विपय नही है किन्तु भूत और भावि नैगम नयका विपय है।

तत्पर्यायो भावो यथा जिनः समवशरणसंस्थितिकः।
घातिचतुष्टयरहितो ज्ञानचतुष्टययुतो हि दिव्यवपुः ॥७४४॥

अर्थः—वर्त्तमानमे जो पदार्थ जिस पर्याय सहित है उसी पर्यायवाला उसे कहना भाव निक्षेप है। जैसे समवशरणमे विराजमान, चार घातियाकर्मोसे रहित, अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य, इस ज्ञानचतुष्टय (अनन्त चतुष्टय)से विशिष्ट, परम औदारिक शरीरवाले अरहन्त–जिनको जिन कहना।

भावार्थः—भावनिक्षेप, वर्त्तमान तद्गुणवाले पदार्थका वर्त्तमानमे ही निरूपण करता है इसलिये वह ऋजुसूत्र नय और एवंभूत नयका विषय है। यदि शब्दकी वाच्य मात्र पर्यायका निरूपण करता है तब तो वह एवभूत नयका विषय है, और यदि पदार्थकी समस्त अर्थ पर्यायोका वर्त्तमानमे निरूपण करता है तो वह ऋजु सूत्र नयका विषय है।* द्रव्यनिक्षेप और भाव निक्षेप दोनो ही तद्गुण है तथापि उनमे कालभेदसे भेद है।

दिङ्मात्रमत्र कथितं व्यासादपि तच्चतुष्टयं यावत्।
प्रत्येकमुदाहरणं ज्ञेयं जीवादिकेषु चार्थेषु ॥७४५॥

अर्थः—यहाँपर चारो निक्षेपोका डिङ्मात्र (सक्षिप्त) स्वरूप कहा गया है। इनका विस्तारसे कथन और प्रत्येकका उदाहरण जीवादि पदार्थोमे सुघटित जानना चाहिये। दूसरे ग्रन्थमे भी सोदाहरण चारो निक्षेपोका उल्लेख इसप्रकार है—

णाम जिणा जिण णामा ठवणजिणा जिणिंदपडिमाए।
दव्वजिणा जिणजीवा भावजिणा समवसरणत्था ॥१॥

अर्थः—जिन नाम रख देना नाम जिन कहलाता है। जिनेन्द्रकी प्रतिमा स्थापना जिन कहलाती है। जिनका जीव द्रव्यजिन कहलाता है और समवसरणमे विराजमान जिनेन्द्र भगवान् भाव जिन कहलाते है।

---

* कुछ लोगोंसे ऐसी शंका भी सुननेमें आती है कि भावनिक्षेप, ऋजुसूत्र नय और एवंभूत नय, इन तीनोंमें क्या अन्तर है, क्योंकि तीनों ही वर्त्तमान पदार्थका निरूपण करते हैं। ऐसे लोगोंकी शकाका परिहार उपर्युक्त कथनसे भलीभाँति हो जाता है, हम लिख चुके हैं कि निक्षेप और नयोंमें तो विषय-विषयीका भेद है। ऋजुसूत्र अर्थनय हैं, एवभूत शब्दनय है अर्थात् ऋजुसूत्र नय पदार्थकी वर्तमान समस्त अर्थ पर्यायोंको ग्रहण करता है, और एवंभूत–बोले हुए शब्दकी वाच्य मात्र वर्तमान क्रियाको ग्रहण करता है, इसलिये दोनोंमें महान् अन्तर है, परन्तु भावनिक्षेप ज्ञानात्मक नहीं है किन्तु पदार्थकी वर्तमान पर्याय है।

प्रतिज्ञा

उक्तं गुरूपदेशं नयनिक्षेपप्रमाणमिति तावत् ।
द्रव्यगुणपर्ययाणामुपरि यथासंभवं दधाम्यधुना ॥७४६॥

अर्थः—गुरु (पूर्वाचार्य) के उपदेशसे नय, निक्षेप और प्रमाणका स्वरूप मैंने कहा । अब उनको द्रव्य गुण पर्यायोंके ऊपर यथायोग्य मैं (ग्रन्थकार) घटाता हूँ ।

भावार्थः—अब ग्रन्थकार नय प्रमाणको निक्षेपों पर घटाते है । पहले वे द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों नयोंका विषय बतलावेंगे पीछे प्रमाणका विषय बतलावेंगे ।

द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक नयोंका विषय

तत्त्वमनिर्वचनीयं शुद्धद्रव्यार्थिकस्य भवति मतम् ।
गुणपर्ययवद्द्रव्यं पर्यायार्थिकनयस्य पक्षोऽयम् ॥७४७॥

अर्थः—तत्त्व अनिर्वचनीय है अर्थात् वचनके अगोचर है । यह शुद्ध द्रव्यार्थिक नयका पक्ष है । तथा तत्त्व (द्रव्य) गुण पर्यायवाला है यह पर्यायार्थिक नयका पक्ष है ।

भावार्थः—तत्त्वमें अभेदबुद्धिका होना द्रव्यार्थिक नय और उसमें भेदबुद्धिका होना पर्यायार्थिक नय है ।

प्रमाणका विषय

यदिदमनिर्वचनीयं गुणपर्ययवत्तदेव नास्त्यन्यत् ।
गुणपर्ययवद्यदिदं तदेव तत्त्वं तथा प्रमाणमिति ॥७४८॥

अर्थः—जो तत्त्व अनिर्वचनीय है वही गुण पर्यायवाला है, अन्य नहीं है तथा जो तत्त्व गुण पर्यायवाला है, वही तत्त्व है, यही प्रमाणका विषय है ।

भावार्थः—वस्तु सामान्य विशेषात्मक है । वस्तुका सामान्यांश द्रव्यार्थिकका विषय है । उसका विशेषांक पर्यायार्थिकका विषय है, तथा सामान्य विशेषात्मक—उभयात्मक वस्तु प्रमाणका विषय है । प्रमाण एक ही समयमें अविरुद्ध रीतिसे दोनो धर्मोंको विषय करता है ।

भेद अभेद पक्ष

यद्द्रव्यं तन्न गुणो योपि गुणस्तन्न द्रव्यमिति चार्थात् ।
पर्यायोपि यथा स्यादृजुनयपक्षः स्वपक्षमात्रत्वात् ॥७४९॥
यदिदं द्रव्यं स गुणो योपि गुणो द्रव्यमेतदेकार्थात् ।
तदुभयपक्षे दक्षो विवक्षितः प्रमाणपक्षोऽयम् ॥७५०॥

अर्थः—जो द्रव्य है, वह गुण नही है, जो गुण है वह द्रव्य नही है, तथा जो द्रव्य गुण है वह पर्याय नही है। यह ऋजुसूत्र नय (पर्यायार्थिक)का पक्ष है क्योकि भेद पक्ष ही पर्यायार्थिक नय का पक्ष है। तथा जो द्रव्य है वही गुण है, जो गुण है वही द्रव्य है। गुण द्रव्य दोनोका एक ही अर्थ है। यह अभेदपक्ष द्रव्यार्थिक नयका पक्ष है तथा भेद और अभेद इन दोनो पक्षोमे समर्थ विवक्षित प्रमाण पक्ष है।

पृथगादानमशिष्टं निक्षेपो नयविशेष इव यस्मात्।
तदुदाहरणं नियमादस्ति नयानां निरूपणावसरे ॥७५१॥

अर्थः—नय और प्रमाणके समान निक्षेपोका स्वतन्त्र निरूपण करना व्यर्थ है, क्योकि निक्षेपोका उदाहरण नयोके विवेचनमे नियमसे किया गया है।

एक अनेक पक्ष

अस्ति द्रव्यं गुणोऽथवा पर्यायस्तत्त्रयं मिथोऽनेकम्।
व्यवहारैकविशिष्टो नयः स वाऽनेकसंज्ञको न्यायात् ॥७५२॥

अर्थः—द्रव्य अथवा गुण अथवा पर्याय, ये तीनों ही अनेक है। व्यवहार विशिष्ट यही नय अनेक सज्ञक कहलाता है, अर्थात् व्यवहार नाम पर्यायका है पर्याय विशिष्ट अनेक अनेक पर्यायार्थिक नय कहलाता है।

एकं सदिति द्रव्यं गुणोऽथवा पर्ययोऽथवा नाम्ना।
इतरद्वयमन्यतरं लब्धमनुक्तं स एकनयपक्षः ॥७५३॥

अर्थः—द्रव्य अथवा गुण अथवा पर्याय ये तीनो ही एक नामसे सत् कहे जाते है। अर्थात् तीनो ही अभिन्न एक सत्‌रूप है। एकके कहनेसे बाकीके दो का बिना कहे हुए ही ग्रहण हो जाता है। यही एक नयका पक्ष है अर्थात् एक पर्यायार्थिक नयका पक्ष है।

न द्रव्यं नापि गुणो न च पर्यायो निरंशदेशत्वात्।
व्यक्तं न विकल्पादपि शुद्धद्रव्यार्थिकस्य मतमेतत् ॥७५४॥

अर्थः—न द्रव्य है, न गुण है, न पर्याय है और न विकल्पद्वारा ही प्रकट है किन्तु निरश देशात्मक (तत्व) है। यह शुद्ध द्रव्यार्थिक नयका पक्ष है।

द्रव्यगुणपर्ययाख्यैर्यदनेकं सद्विभिद्यते हेतोः।
तदभेद्यमनंशत्वादेकं सदिति प्रमाणमतमेतत् ॥७५५॥

अर्थः—कारण वश जो सत् द्रव्यगुण पर्यायोंके द्वारा अनेक रूप भिन्न किया जाता है वही सत् अश रहित होनेसे अभिन्न एक है। यह एक अनेकात्मक उभयरूप प्रमाणपक्ष है।

अस्ति नास्ति पक्ष

अपि चास्ति सामान्यमात्रादथवा विशेषमात्रत्वात् ।
अविवक्षितो विपक्षो यावदनन्यः स तावदस्ति नयः ॥७५६॥

अर्थः—वस्तु सामान्यमात्रसे है, अथवा विशेषमात्रसे है। जब तक विपक्षनय अविवक्षित (गौण) रहता है तबतक अनन्यरूपसे एक अस्ति नय ही प्रधान रहता है।

नास्ति च तदिह विशेषैः सामान्यस्यविवक्षितायां वा ।
सामान्यैरितरस्य च गौणत्वे सति भवति नास्ति नयः ॥७५७॥

अर्थः—वस्तु सामान्यकी विवक्षामे विशेषरूपसे नही है अथवा विशेषकी विवक्षामे सामान्यरूपसे नही है यहाँ पर नास्ति नय ही प्रधान रहता है।

द्रव्यार्थिकनयपक्षादस्ति न तत्त्वं स्वरूपतोपि ततः ।
न च नास्ति परस्वरूपात् सर्वविकल्पातिगं यतो वस्तु ॥७५८॥

अर्थः—द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षासे वस्तु स्वरूपसे भी अस्तिरूप नही है, और पर स्वरूपसे नास्तिरूप भी नही है क्योकि सर्व विकल्पोसे रहित ही वस्तुका स्वरूप है।

यदिदं नास्ति स्वरूपाभावादस्ति स्वरूपसद्भावात् ।
तद्वाच्यात्ययरचितं वाच्यं सर्वं प्रमाणपक्षस्य ॥७५९॥

अर्थः—जो वस्तु स्वरूपाभावसे नास्तिरूप है और जो स्वरूप सद्भावसे अस्तिरूप है वही वस्तु विकल्पातीत (अवक्तव्य) है। यह सब प्रमाण पक्ष है, अर्थात् पर्यायार्थिक नयसे अस्तिरूप और द्रव्यार्थिक नयसे विकल्पातीत तथा प्रमाणसे उभयात्मक वस्तु है।

नित्य अनित्य पक्ष

उत्पद्यते विनश्यति सदिति यथास्वं प्रतिक्षणं यावत् ।
व्यवहार विशिष्टोऽयं नियतमनित्यो नयः प्रसिद्धः स्यात् ॥७६०॥

अर्थः—सत्–पदार्थ अपने आप प्रतिक्षण उत्पन्न होता है और विनष्ट होता है। यह प्रसिद्ध व्यवहार विशिष्ट अनित्य नय अर्थात् अनित्य व्यवहार (पर्यायार्थिक) नय है।

नोत्पद्यते न नश्यति ध्रुवमिति सत्स्यादनन्यथावृत्तेः ।
व्यवहारन्तर्भूतो नयः स नित्योप्यनन्यशरणः स्यात् ॥७६१॥

अर्थः—सत् न तो उत्पन्न होता है और न नष्ट ही होता है, किन्तु अन्यथा भाव न होनेसे वह नित्य है । यह अनन्य शरण (स्वपक्ष नियत) नित्य व्यवहार नय है ।

न विनश्यति वस्तु यथा वस्तु तथा नैव जायते नियमात् ।
स्थितिमेति न केवलमिह भवति स निश्चयनयस्य पक्षश्च ॥७६२॥

अर्थः—जिसप्रकार वस्तु नष्ट नही होती है, उसप्रकार वह नियमसे उत्पन्न भी नही होती है, तथा ध्रुव भी नही है । यह केवल निश्चय नयका पक्ष है ।

भावार्थः—उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य तीनों ही एक समयमें होनेवाली सत्की पर्यायें हैं । इसलिये इन पर्यायोंको पर्यायार्थिक नय विषय करता है, परन्तु निश्चय नय सर्व विकल्पोसे रहित वस्तुको विषय करता है ।

यदिदं नास्ति विशेषैः सामान्यस्याविवक्षया तदिदम् ।
उन्मज्जत्सामान्यैरस्ति तदेतत्प्रमाणमविशेषात् ॥७६३॥

अर्थः—जो वस्तु सामान्यकी अविवक्षामे विशेषोसे नहीं है, वही वस्तु सामान्यकी विवक्षासे है, यही सामान्य रीतिसे प्रमाण पक्ष है ।

भावार्थः—विशेष नाम पर्यायका है, पर्यायें अनित्य होती है । इसलिये विशेषकी अपेक्षासे वस्तु अनित्य है, सामान्यकी अपेक्षा वह नित्य भी है । प्रमाणकी अपेक्षा वह नित्यानित्यात्मक है ।

भाव अभाव पक्ष

अभिनवभाव परिणतेर्योयं वस्तुन्यपूर्वसमयोयः ।
इति यो वदति स कश्चित् पर्यायार्थिकनयेष्वभावनयः ॥७६४॥

अर्थः—नवीन परिणाम धारण करनेसे वस्तुमे नवीन ही भाव होता है, ऐसा जो कोई कहता है वह पर्यायार्थिक नयोमे अभाव नय है ।

परिणममानेपि तथा भूतैर्भावैर्विनश्यमानेपि ।
नायमपूर्वो भावः पर्यायार्थिकविशिष्टभावनयः ॥७६५॥

अर्थः—वस्तुके परिणमन करनेपर भी तथा उसके पूर्व भावोंके विनष्ट होनेपर भी

वस्तुमें नवीन भाव नहीं होता है किन्तु जैसेका तैसा ही रहता है, वह पर्यायार्थिक भाव नय है ।

शुद्धद्रव्यादेशादभिनवभावो न सर्वतो वस्तुनि ।
नाप्यनभिनवश्च यतः स्यादभूतपूर्वो न भूतपूर्वो वा ।।७६६।।

अर्थः—शुद्ध द्रव्यार्थिक नयसे वस्तुमे सर्वथा नवीन भाव भी नही होता है, तथा प्राचीन भाव भी नही रहता है, क्योकि वस्तु न तो अभूतपूर्व है और न भूतपूर्व है। अर्थात् शुद्ध द्रव्यार्थिक दृष्टिसे वस्तु न नवीन है और न पुरानी है किन्तु जैसी है वैसी ही है ।

अभिनवभावैर्यदिदं परि म प्रतिक्षणं यावत् ।
असदुत्पन्नं नहि तत्सन्नष्टं वा न णमतमेतत् ।।७६७।।

अर्थः—जो सत् प्रतिक्षण नवीन २ भावोसे परिणमन करता है वह न तो असत् उत्पन्न होता है और न सत् ि ही होता है यही प्रमाण पक्ष है ।

इत्यादि यथासम्‍ मुक्तमिवानुक्तमपि च नयचक्रम् ।
योऽन्यं ागमादिह प्रत्येकमनेक युतम् ।।७६८।।

अर्थः—इत्यादि अनेक धर्मोंको धारण करनेवाला और भी नयसमूह जो यहाँ पर नही कहा गया है, उसे भी कहे हुए के तुल्य ही समझना चाहिये, तथा हर एक नयको आगमके अनुसार यथायोग्य (जहां जैसी अपेक्षा हो) घटाना चाहिये ।

।। पूर्वार्ध समाप्त ।।

॥ ॐ नमः सिद्धेभ्यः ॥

सामान्य सद्गुण द्रव्य पर्यय व्ययोत्पादन ध्रौव्यकी,
व्यवहार निश्चय नय कथनकी अनेकांत प्रमाणकी।
अतिविशदव्याख्या हो चुकी पूर्वार्द्धमें अब ध्यानसे,
सम्यक्त्वकी व्याख्या पढ़ो भव हरो सम्यग्ज्ञानसे ॥

सिद्धं विशेषवद्वस्तु सत्सामान्यं स्वतो यथा ।
नासिद्धो धातुसंज्ञोपि कश्चित् पीतः सितोऽपरः ॥१॥

अर्थः—जिसप्रकार वस्तुका सामान्य धर्म स्वयं सिद्ध है उसीप्रकार वस्तुका विशेष धर्म भी स्वत सिद्ध है। जिसमें सामान्य धर्म पाया जाता है उसीमे विशेष धर्म भी पाया जाता है यह बात असिद्ध नही है। जिसप्रकार किसी वस्तुको "धातु" संज्ञा रखदी जाती है यह तो सामान्य है, चाँदी भी धातु कहलाती है, सोना भी धातु कहलाता है इसलिये धातु शब्द तो सामान्य है परन्तु कोई धातु पीली है और कोई सफेद है। यह पीले और सफेदका जो कथन है वह विशेषकी अपेक्षासे है।

भावार्थः—ससारमें जितने पदार्थ हैं सभीमे सामान्य धर्म भी पाया जाता है और विशेष धर्म भी पाया जाता है। वस्तुको केवल सामान्य धर्मवाली मानना अथवा केवल

विशेष धर्मवाली मानना यह मिथ्यात्व है। यदि सामान्य तथा विशेष दोनों रूपोसे भी वस्तुका स्वरूप माना जाय, परन्तु निरपेक्ष माना जाय, तो वह भी मिथ्या ही है। इसलिये परस्परमे एक दूसरेकी अपेक्षा लिये हुए सामान्य विशेषात्मक उभयस्वरूप ही वस्तु है। इसी बातको प्रमाणका विषय बतलाते हुए स्वामी माणिक्यनदि आचार्यने भी कहा है कि "सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषयः" इसका आशय यह है कि द्रव्य पर्याय स्वरूप उभयात्मक (सामान्य विशेषात्मक) ही वस्तु प्रमाणका विषय है केवल द्रव्यरूप या केवल पर्यायरूप नयका विषय है और वह नय वस्तुके एक देशको विषय करता है। प्रमाण सम्पूर्ण वस्तुको विषय करता है, इसलिये वस्तुका पूर्ण रूप द्रव्य पर्यायात्मक है। इसी कारण द्रव्य दृष्टिसे वस्तु सदा रहती है उसका कभो नाश नही होता परन्तु पर्याय दृष्टिसे वस्तुका नाश हो जाता है क्योकि पर्याये सदा एकसो नही रहती उत्तरोत्तर बदलती रहती है। द्रव्यपर्यायकी अपेक्षासे ही वस्तु कथचित् नित्य और कथचित् अनित्य है।

सामान्य विशेषमें अन्तर

बहुव्यापकमेवैतत् सामान्यं सदृशत्वतः।
अस्त्यल्पव्यापको यस्तु विशेषः सदृशेतरः॥२॥

अर्थः—सामान्य बहुत वस्तुओमे रहता है। क्योकि अनेक वस्तुओमे रहनेवाले समान धर्मको ही सामान्य कहते है। विशेष बहुत वस्तुओमे नही रहता, किन्तु खास २ वस्तुओमे जुदा जुदा रहता है। जो बहुत देशमे रहे उसे व्यापक कहते है और जो थोडे देशमे रहे उसे व्याप्य कहते है। सामान्य व्यापक है और विशेष व्याप्य है। अस्तित्व गुण एक द्रव्यके सभी अनन्त गुणोमे रहता है क्योकि सभी गुण भावात्मक है परन्तु ज्ञान दर्शन आदि गुण जुदे २ है अत एक द्रव्यमे अस्तित्व गुण सामान्य है और अन्य गुण विशेष है अत एक द्रव्यमे भी व्याप्य व्यापक भाव है।

भावार्थः—सामान्य दो प्रकारका है। एक तिर्यक् सामान्य, दूसरा ऊर्ध्वता सामान्य। वस्तुओके समान परिणाम (आकार)को ही तिर्यक् सामान्य कहते है। जिसप्रकार काली, पीली, नीली, सफेद, चितकवरी, खण्डी, मुण्डी आदि सभी तरहकी गौओमे सबका एकसा ही गौरूपी परिणमन है इसलिये सभीको गौ कहते है। वास्तवमे देखा जाय तो काली गौका परिणमन कालीमे ही है। पीलीका पीलीमे ही है। इसी तरह सभी गौओका परिणमन जुदा जुदा है। परन्तु जुदा जुदा होनेपर भी समान है इसलिये

उस समानताके कारण सबोको गौ शब्दसे पुकारते है। इसीका नाम गोत्व सामान्य है। समान परिणामको छोडकर गोत्व जाति और कोई वस्तु नही है।

पूर्व और उत्तर पर्यायमे रहनेवाले द्रव्यको ऊर्ध्वता सामान्य कहते है। जिसप्रकार कि एक मिट्टीके घडेको फोड देनेसे उसके दो टुकड़े हो जाते है। फिर छोटे छोटे अनेक टुकडे हो जाते है? उन टुकडोकी धूलि हो जाती है। इसीप्रकार और भी कई अवस्थाये हो जाती है परन्तु मिट्टी सब अवस्थाओमे पाई जाती है।

इस श्लोकमे "सदृशत्वत" ऐसा जो सामान्यकी व्यापकतामे हेतु दिया है वह नैयायिक दर्शनमे मानी हुई सामान्य जातिका निराकरण करता है। नैयायिकोने सामान्य जातिको एक स्वतन्त्र पदार्थ माना है उसे नित्य और व्यापक भी माना है, वे लोग सामान्यको दो प्रकारसे मानते है। एक महासत्ता, दूसरी अवान्तर (अन्तर्गत) सत्ता। महासत्ता द्रव्य गुण कर्म तीनोमे रहती है अवान्तर सत्ताये बहुतसी है। ससारभरके सभी घटोमे एक ही घटत्व जाति है और वह नित्य है ऐसा उनका सिद्धान्त है परन्तु यह सिद्धान्त युक्त नही है। यदि सभी घटोमे ऐक ही घटत्व जाति मानी जाय तो वह रस्सीकी तरह एकरूपसे सर्वत्र फैलेगी, ऐसी अवस्थामें जहाँ घट नही है वहाँ भी वह पाई जायगी और उसके सम्बन्धसे घटसे भिन्न पदार्थ भी घट कहलाने लगेगे इसीप्रकार उसके नित्य माननेमें घटका कभी नाश नही होना चाहिये। इसी तरह और भी अनेक दोष आते है इसलिये वस्तुके सदृश परिणमनको छोडकर उससे भिन्न सामान्य नामक कोई स्वतन्त्र पदार्थ नही है।

बिना व्यक्तिके सामान्यसे कोई प्रयोजन भी तो नही निकलता है। गौ से ही दूध दुहा जाता है। गोत्वसे दूध कोई नही दुह सकता है। इसी बातको स्वामी विद्यानन्दिने अष्टसहस्रीमे लिखा है कि "न खलु सर्वात्मना सामान्यं वाच्यं तत्प्रतिपत्तेरर्थक्रिया प्रत्यनुपयोगात् नहि गोत्व वाहदोहादौ उपयुज्यते" इसलिये स्वतन्त्र गोत्व जाति कोई चीज नही है। केवल समान धर्मको ही सामान्य समझना चाहिये।

इसीप्रकार विशेष भी दो प्रकार है एक पर्याय दूसरा व्यतिरेक। एक द्रव्यमे क्रमसे होनेवाले परिणामोको पर्याय कहते है। जिसप्रकार आत्मामे कभी हर्ष होता है कभी विषाद होता है कभी दु:ख होता है, कभी सुख होता है।

एक पदार्थकी अपेक्षा दूसरे पदार्थमे जो विलक्षण परिणाम है उसे व्यतिरेक कहते

है। जिसप्रकार गौसे भिन्न परिणाम भैंसका होता है। पुस्तकसे भिन्न परिणाम चौकीका है, इसीलिये गौसे भैंस जुदी है तथा पुस्तकसे चौकी जुदी है।

जिसप्रकार * सामान्य स्वतन्त्र नही है। इसीप्रकार विशेष भी वस्तुके परिणमन विशेषको छोड़कर और कोई वस्तु नही है। जो लोग सर्वथा विशेषको द्रव्यसे भिन्न ही मानते है वे भी युक्ति और अनुभवसे शून्य है।

विशेष द्रव्योंका स्वरूप

जीवाजीवविशेषोस्ति द्रव्याणां शब्दतोर्थतः।
चेतनालक्षणो जीवः स्यादजीवोप्यचेतनः ॥३॥

अर्थः—द्रव्यके मूलमे दो भेद है जीव द्रव्य और अजीव द्रव्य। ये दोनो भेद शब्दकी अपेक्षासे भी है और अर्थकी अपेक्षासे भी है। जीव और अजीव ये दो वाचक रूप शब्द है। इनके वाच्य भी दो प्रकार है एक जीव और दूसरा अजीव। इसप्रकार शब्दकी अपेक्षासे दो भेद है। अर्थकी अपेक्षासे भी दो भेद है। जिसमे ज्ञान दर्शनादिक गुण पाये जांय, वह जीव द्रव्य है और जिसमे ज्ञान दर्शन आदिक गुण न पाये जांय वह अजीव द्रव्य है।

भावार्थः—"जित्तियमित्ता सद्दा तित्तियमिताण होंति परमत्था" जितने शब्द होते है उतने ही उनके वाच्य रूप अर्थ भी होते है। जीव, अजीव ये दो शब्द है इसलिये जीव अजीव रूप द्रव्य इनके अर्थ है। सामान्य रीतिसे दो ही द्रव्य है एक जीव और दूसरा अजीव, परन्तु विशेष रीतिसे अजीवके ही पाँच भेद हैं–पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इसप्रकार कुल छह द्रव्य हैं। इनमे जीव द्रव्य तो ज्ञान दर्शनवाला है बाकीके द्रव्य ज्ञान दर्शन रहित (जड) हैं। इसीलिये जीवको छोडकर सब अजीवमे ग्रहण कर लिये जाते है।

जीव अजीवकी सिद्धि

नासिद्धं सिद्धदृष्टान्ताच्चेतनाऽचेतनद्वयम्।
जीवद्वपुर्घटादिभ्यो विशिष्टं कथमन्यथा ॥४॥

अर्थः—जीव और अजीव अथवा चेतन और अचेतन ये दो पदार्थ हैं यह बात असिद्ध नही है प्रसिद्ध दृष्टान्तसे जीव और अजीव दोनोकी सिद्धि हो जाती है। यदि

* सामान्य और विशेषका विशेष कथन "अष्टसहस्री"में "सत्सामान्यात्तु सर्वैक्यं पृथग्द्रव्यादि भेदत.। भेदाभेदविवक्षायामसाधारणहेतुवत्" इस कारिकाकी व्याख्यामें विस्तारसे किया है।

जीव और अजीव दोनोको जुदे जुदे न मानकर एक रूप ही मान लिया जाय तो जीते हुए शरीरमें और घट वस्त्र आदिक जड़ पदार्थोमें प्रत्यक्ष अन्तर दीखता है वह नही दीखना चाहिये इस प्रत्यक्ष भेदसे ही जीव और अजीवकी भिन्न २ सिद्धि हो जाती है।

भावार्थः—यद्यपि आत्मा अनन्त गुणात्मक अमूर्त पदार्थ है। इसलिये उसका प्रत्यक्ष नही हो सकता है। तथापि अनादिकालसे मूर्त कर्मोका सम्बन्ध होनेसे संसारी आत्मा शरीरमे अनुमान प्रमाण और स्वानुभवसे जाना जाता है। प्रत्येक ससारी आत्मा जैसा शरीर पाता है उसी प्रमाण रहता है। जिस शरीरमे आत्मा है वही शरीर जीवित शरीर कहलाता है। जीवित शरीरमे जो जो क्रियाये होती हैं वे हो क्रियाये आत्माकी सिद्धिमें प्रमाण है। किसी बातके विषयमे प्रश्न करनेपर ठीक ठीक उत्तर मिलनेसे तथा समझ पूर्वक काम करनेसे, चतुरता पूर्वक बोलनेसे आदि सभी बातोंसे भले प्रकार सिद्ध होता है कि शरीर विशिष्ट आत्मा जुदा पदार्थ है और घट पटादिक जड़ पदार्थ जुदे है।

जीव सिद्धिमें अनुमान

अस्ति जीवः सुखादीनां संवेदनसमक्षतः।
यो नैवं स न जीवोस्ति सुप्रसिद्धो यथा घटः ॥५॥

अर्थः—जीव एक स्वतन्त्र पदार्थ है इस विषयमे सुखादिकोका स्वसवेदन ज्ञान ही प्रमाण है जो सुखादिकका अनुभव नही करता है वह जीव भी नही है, जिसप्रकार कि एक घडा।

भावार्थः—मैं सुखी हूँ अथवा मै दु खी हूँ, इसप्रकार आत्मामे मानसिक स्वसवेदन (ज्ञान) प्रत्यक्ष होता है। सुख दु खका अनुभव ही आत्माको जड़से भिन्न सिद्ध करता है। घट वस्त्र आदिक जड पदार्थोमे सुख दु खकी प्रतीति नही होती है इसलिये वे जीव भी नही है। इस व्यतिरेक व्याप्तिसे सुख दु खादिकका अनुभव करनेवाला जीव पदार्थ सिद्ध होता है।

इति हेतुसनाथेन प्रत्यक्षेणावधारितः।
साध्यो जीवस्त्वसिद्ध्यर्थमजीवश्च ततोऽन्यथा ॥६॥

अर्थः—"जीव· अस्ति स्वसवेदनप्रत्यक्षत्वात्" पूर्वोक्त श्लोकके अनुसार इस अनुमानसे जीवकी सिद्धि होती है। ऊपरके अनुमान वाक्यमे स्वसवेदन हेतु प्रत्यक्षरूप है। जीवका अस्तित्व (सत्ता) साध्य है। जिसमे पूर्वोक्त स्वसवेदन प्रत्यक्ष रूप हेतु नही है वह जोवसे भिन्न अजीव पदार्थ है।

मूर्त तथा अमूर्त द्रव्यका विवेचन

मूर्तामूर्तविशेषश्च द्रव्याणां स्यान्निसर्गतः ।
मूर्तं स्यादिन्द्रियग्राह्यं तदग्राह्यममूर्तिमत् ॥७॥

अर्थः—छहो द्रव्योंमें कुछ द्रव्य तो मूर्त हैं और कुछ अमूर्त है द्रव्योमे यह मूर्त और अमूर्तका भेद स्वभावसे ही है किसी निमित्तसे किया हुआ नही है । जो इन्द्रियोसे जाना जाय उसे मूर्त कहते हैं और जो इन्द्रियोके गोचर न हो उसे अमूर्त कहते है ।

भावार्थः—द्रव्योमे मूर्त और अमूर्त व्यवस्था स्वाभाविक है । जिसमे रूप, रस, गंध और स्पर्श पाया जावे उसे ही मूर्त कहते हैं । इसीलिये दूसरी रीतिसे मूर्तका लक्षण यह वतलाया है कि जो इन्द्रियोसे ग्रहण हो सके वही मूर्त है मूर्त द्रव्यके उपर्युक्त दोनो लक्षण अविरुद्ध हैं । वास्तवमे वही इन्द्रियोसे ग्रहण हो सकता है जिसमें कि रूप, रस, गन्ध, स्पर्श पाया जाता हैं । क्योंकि इन्द्रियोके ही विपय, रूप, रस, गंध, स्पर्श पडते है । चक्षुका रूप विषय है, रसनाका रस विषय है, नाकका गंध विषय है, स्पर्शनेन्द्रियका स्पर्श विपय है । कर्णेन्द्रियका विपय शब्द भी रूप, रस, गंध स्पर्शात्मक ही है । इसलिये विपय विषयीकी अपेक्षासे ही मूर्तका लक्षण इन्द्रिय विषय कहा गया है । जो इन्द्रिय-गोचर है वह तो मूर्त अवश्य है परन्तु जो इन्द्रियगोचर नही है वह भी मूर्त है जैसे कि पुद्गलका एक परमाणु । इद्रियगोचर होनेमे स्थूलता कारण है परमाणु सूक्ष्म है इसलिये वह इन्द्रियगोचर नही है । परतु वही परमाणु स्थूल स्कधमे मिल जानेसे स्थूल रूपमे परिणत होकर इन्द्रियगोचर होने लगता हैं । हाँ स्पर्शनादि प्रत्यक्ष परमाणु अवस्थामे भी हो सकता है । इसलिये इन्द्रियगोचरता मूर्तमात्रमें व्यापक है जो इन्द्रिय-गोचर नही है वह अमूर्त है ।

मूर्तकी तरह अमूर्त भी यथार्थ है

न पुनर्वास्तवं मूर्तममूर्तं स्यादवास्तवम् ।
सर्वशून्यादिदोषाणां सन्निपातात्तथा सति ॥८॥

अर्थः—मूर्त पदार्थ ही वास्तविक है अमूर्त पदार्थ वास्तविक नही है यह वात भी नहीं है क्योकि ऐसा माननेसे सव पदार्थोंकी शून्यताका प्रसग आ जायगा ।

भावार्थः—कितने ही पुरुप प्रत्यक्ष होनेवाले पदार्थोको ही मानते है परोक्ष पदार्थोंको नही मानते । परन्तु परोक्ष पदार्थोंके स्वीकार किये विना पदार्थोंकी व्यवस्था ही नहीं बन सकती परोक्ष पदार्थोंकी सत्ता अनुमान और आगमसे मानी जाती है । अविनाभावी

हेतुसे अनुमान प्रमाण माना जाता है और स्वानुभवन, अखण्डयुक्ति तथा अबाधकपनेसे आगम प्रमाण माना जाता है ।

मूर्तका लक्षण

स्पर्शो रसश्च गन्धश्च वर्णोऽमी मूर्तिसंज्ञ :।
तद्योगान्मूर्तिमद्द्रव्यं तदयोगादमूर्तिमत् ।।९।।

अर्थः—रूप, रस, गन्ध, वर्णका नाम ही मूर्ति है । जिसमे मूर्ति पाई जाय वही मूर्त द्रव्य कहलाता है और जिसमे रूप, रस, गन्ध, वर्णरूप मूर्ति नही पाई जाय वही अमूर्त द्रव्य कहलाता है ।

भावार्थः—पुद्गलमे रूप, रस, गन्ध वर्णरूप मूर्ति पाई जाती है इसलिये वह मूर्त कहलाता है। बाकी द्रव्योमे उपर्युक्त मूर्ति नही पाई जाती इसलिये वे अमूर्त है ।

मूर्तका ही इन्द्रिय प्रत्यक्ष होता है

नासंभवं भवदेतत् प्रत्यक्षानुभवाद्यथा ।
सन्निकर्षोस्ति वर्णाद्यैरिन्द्रियाणां न चेतरैः ।।१०।।

अर्थः—इन्द्रियोका * रूपादिकके साथ ही सम्बन्ध होता है और दूसरे पदार्थोंके साथ नही होता यह बात असम्भव नही है किन्तु प्रत्यक्ष और अनुभवसे सिद्ध है ।

अमूर्त पदार्थ है इसमें क्या प्रमाण है ?

नन्वमूर्तार्थसद्भावे किं प्रमाणं वदाद्य नः ।
यद्विनापीन्द्रियार्थाणां सन्निकर्षात् खपुष्पवत् ।।११।।

अर्थः—यहां पर शकाकार कहता है कि अमूर्त पदार्थ भी है इसमे क्या प्रमाण है क्योकि जितने पदार्थ है उन सबका इन्द्रियोके साथ सम्बन्ध होता है । अमूर्त पदार्थका इन्द्रियोके साथ सम्बन्ध नही होता है इसलिये उसका मानना ऐसा ही है जिसप्रकार कि आकाशके फूलोका मानना ।

भावार्थः—जिसप्रकार आकाशके फूल वास्तवमे कोई पदार्थ नही है, इसलिये उनका इन्द्रिय प्रत्यक्ष भी नही होता । इसीप्रकार जब अमूर्त पदार्थ भी कोई वास्तविक पदार्थ नही है, यदि अमूर्त पदार्थ वास्तवमे होता तो घट वस्त्र आदि पदार्थोंकी तरह उसका भी इन्द्रिय प्रत्यक्ष होता ।

---

* मूर्तिमान पदार्थ ।

यहाँपर शंकाकारका आशय यही है कि जिन पदार्थोंका इन्द्रिय प्रत्यक्ष होता है वे ही तो वास्तवमे हैं उनसे अलग कोई पदार्थ नही है ।

शंकाकारका उत्तर

नैवं यतः सुखादीनां संवेदनसमक्षतः ।
नासिद्धं वास्तवं तत्र किन्त्वसिद्धं रसादिमत् ॥१२॥

अर्थः—अमूर्त पदार्थकी सत्तामे कोई प्रमाण नही है ऐसा शंकाकारका कहना ठीक नही है । क्योंकि सुख दुःखादिकका स्वसंवेदन होनेमे आत्मा भले प्रकार सिद्ध है सुख दुःखादिकका प्रत्यक्ष करनेवाला आत्मा असिद्ध नही है परन्तु उसमे रूप, रस, गन्ध, स्पर्श मानना असिद्ध है ।

वास्तवमे इन्द्रियज्ञान मलिन ज्ञान है और इसीलिये यथार्थ दृष्टिसे वह परोक्ष है । उसका विषय भी बहुत थोड़ा और मोटा है । सूक्ष्म पदार्थोंका विशद बोध अतीन्द्रिय प्रत्यक्षसे ही होता है । इसलिये जिनका इन्द्रिय ज्ञान होता है वे ही पदार्थ ठीक हैं बाकी कुछ नही, ऐसा मानना किसी तरह युक्ति सङ्गत नही है ।*

आत्मा रसादिकसे भिन्न है

तद्यथा तद्रसज्ञानं स्वयं तन्न रसादिमत् ।
यस्माज्ज्ञानं सुखं दुःखं यथा स्यान्न तथा रसः ॥१३॥

अर्थः—ऊपरके श्लोकमे रसादिक आत्मासे भिन्न ही बतलाये है । उसी बातको यहाँपर खुलासा करते है । आत्मामें जो रसका ज्ञान होता है वह ज्ञान ही है । रस ज्ञान होनेसे ज्ञान रसवाला नही हो जाता है क्योंकि रस पुद्गलका गुण है वह जीवमे किस तरह आ सकता है । यदि रस भी आत्मामे पाया जाता तो जिसप्रकार ज्ञान, सुख, दुःखका अनुभव होनेसे ज्ञानी सुखी दुःखी आत्मा बन जाता है उसीप्रकार रसमयी भी हो जाता परन्तु ऐसा नही है ।

सुखदुःखादिक ज्ञानसे भिन्न नहीं है

नासिद्धं सुखदुःखादि ज्ञानानर्थान्तरं यतः ।
चेतनत्वात् सुखं दुःखं ज्ञानादन्यत्र न क्वचित् ॥१४॥

---

* जो लोग इन्द्रिय प्रत्यक्षको ही मानते हैं उनके परलोक तथा जनकादिककी भी सिद्धि नहीं हो सकती है जनकादिककी असिद्धतामें जन्यजनक सम्बन्ध भी नहीं बनता।

अर्थः—सुख दु ख आदिक जो भाव है वे ज्ञानसे अभिन्न हैं अर्थात् ज्ञान स्वरूप ही है । क्योकि चेतन भावोमें ही सुख दु खका अनुभव होता है ज्ञानको छोड़कर अन्यत्र कही सुख दु खादिकका अनुभव नही हो सकता ।

सुखादिक अजीवमें नहीं हैं

न पुनः स्वैरसञ्चारि सुखं दुःखं चिदात्मनि ।
अचिदात्मन्यपि व्याप्तं वर्णादौ तदसम्भवात् ॥१५॥

अर्थः—ऐसा नही है कि सुख दु ख भाव जीव और अजीव दोनोमें ही स्वतंत्रतासे व्याप्त रहें । किन्तु ये भाव जीवके ही हैं । वर्णादिकमे इन भावोंका होना असंभव है ।

भावार्थः—द्रव्योमे दो प्रकारके गुण होते है सामान्य और विशेष । सामान्य गुण समान रीतिसे सभी द्रव्योमे पाये जाते हैं परन्तु विशेष गुणोमे यह वात नही है । वे जिस द्रव्यके होते हैं उसीमे असाधारण रीतिसे रहते है दूसरेमे कदापि नही पाये जाते । सुख दु.खादिक जीव द्रव्यके ही असाधारण वैभाविक तथा स्वाभाविक भाव है । इसलिये वे जीव द्रव्यको छोडकर अन्य पुद्गल आदिकमे नही पाये जा सकते ।

सारांश

ततः सिद्धं चिदात्मादि स्यादमूर्तं तदर्थवत् ।
प्रसाधितसुखादीनामन्यथाऽनुपपत्तितः ॥१६॥

अर्थः—इसलिये यह बात सिद्ध हो चुकी कि आत्मा आदि अमूर्त पदार्थ भी वास्तविक हैं इनको न माननेसे स्वानुभव सिद्ध सुखदु ख आदिकी प्राप्ति नही हो सकती ।

शङ्काकार

नन्वसिद्धं सुखादीनां मूर्तिमत्त्वादमूर्तिमत् ।
तद्यथा यद्रसज्ञानं तद्रसो रसवद्यतः ॥१७॥
तन्मूर्तत्वे कुतस्त्यं स्यादमूर्तं कारणाद्विना ।
यत्साधनाविनाभूतं साध्यं न्यायानतिक्रमात् ॥१८॥

अर्थः—सुख दु ख आदि मूर्त है इसलिये उनको अमूर्त मानना असिद्ध है । जैसे रसका ज्ञान होता है वह रस स्वरूप ही है क्योकि वह ज्ञान रसवाला है इसी तरह सुखादिकमे मूर्तता सिद्ध हो जाने पर विना कारण उनमे अमूर्तता किस तरह आ सकती है ? अविनाभावी साधनसे ही साध्यकी सिद्धि होती है ऐसा न्यायका सिद्धान्त है ।

भावार्थः—शङ्काकारका अभिप्राय है कि जिस पदार्थका ज्ञान होता है वह ज्ञान

उसी रूप हो जाता है। जिस समय ज्ञान रूप, रस, गंध स्पर्शको जान रहा है उससमय ज्ञान रूप रस गंध स्पर्शात्मक ही है।

उत्तर

नैवं यतो रसाद्यर्थं ज्ञानं तन्न रसः स्वयम्।
अर्थाज्ज्ञानममूर्तं स्यान्मूर्तं मूर्तोपचारतः ॥१९॥

अर्थः—ऊपर जो शङ्का उठाई गई है वह ठीक नहीं है। क्योंकि जो रसादि पदार्थोंका ज्ञान होता है वह स्वय रस रूप नहीं हो जाता अर्थात् ज्ञान ज्ञान ही रहता है और वह अमूर्त ही है। यदि उस ज्ञानको मूर्त कहा जाता है तो उससमय केवल उपचारमात्र ही समझना चाहिये।

भावार्थः—यदि जिस पदार्थका ज्ञान होता है वह स्वयं उसी रूप होजाय तो देव या मनुष्य जिससमय नारकियोंके स्वरूपका ज्ञान करते हैं तो क्या उससमय वे नारक स्वरूप हो जाते हैं? इसलिये ज्ञान परपदार्थको जानता है परन्तु उस पदार्थ रूप स्वयं नहीं हो जाता। जो क्षयोपशम ज्ञान है वह भी वास्तव दृष्टिसे अमूर्त ही है। क्योंकि आत्माका गुण है। ज्ञान मूर्त पदार्थोंको विषय करता है इसलिये उसे मूर्त मानना यह केवल मूर्तका उपचार है। ज्ञानमें कोई मूर्तता नहीं आती है।

ज्ञानको मूर्त माननेमें दोष

न पुनः सर्वथा मूर्तं ज्ञानं वर्णादिमद्यतः।
स्वसंवेद्याद्यभावः स्यात्तज्जडत्वानुषङ्गतः ॥२०॥

अर्थः—ज्ञान उपचार मात्रसे तो मूर्त है परन्तु वास्तवमें मूर्त नहीं है। वह वर्णादिकको विषय करनेवाला है इसीलिये उसमें उपचार है। यदि वास्तवमें ज्ञान मूर्त हो जाय तो पुद्गलकी तरह ज्ञानमें जडपना भी आ जायगा, और ऐसी अवस्थामें स्वसंवेदन आदिकका अभाव ही हो जायगा।

भावार्थः—जहांपर मुख्य पदार्थ न हो परन्तु कुछ प्रयोजन या निमित्त हो वहांपर उस मुख्यका उपचार किया जाता है। जिसप्रकार लोग बिल्लीको सिंह कह देते हैं। बिल्ली यद्यपि सिंह नहीं है तथापि क्रूरता, आकृति आदि निमित्तवश बिल्लीमें सिंहका उपचार कर लिया जाता है। इसीप्रकार वर्णादिके आकार ज्ञान हो जाता है इसीलिये उस ज्ञानको उपचारसे मूर्त कह देते हैं, वास्तवमें ज्ञान मूर्त नहीं है अन्यथा वह जड हो

निश्चित सिद्धान्त

तस्माद्वर्णादिशून्यात्मा जीवाद्यर्थोस्त्यमूर्तिमान्।
स्वी ०व्यः प्रमाणाद्वा स्वानुभूतेर्यथागमात् ॥२१॥

अर्थः—इसलिये वर्णादिकसे रहित जीवादिक पदार्थ अमूर्त है ऐसा उपर्युक्त प्रमाणसे स्वीकार करना चाहिये अथवा स्वानुभवसे स्वीकार करना चाहिये। आगम भी इसी बातको बतलाता है कि वर्णादिक पुद्गलके गुण है और बाकी जीवादिक पाँच द्रव्य अमूर्त है।

लोक और अलोकका भेद

लोकालोकविशेषोस्ति द्रव्याणां लक्षणाद्यथा।
षड्द्रव्यात्मा स लोकोस्ति स्यादलोकस्ततोऽन्यथा ॥२२॥

अर्थः—द्रव्योके लक्षणकी अपेक्षासे ही लोक और अलोकका विभाग होता है। जहाँ पर छह द्रव्य पाये जाँय अथवा जो छह द्रव्य स्वरूप हो उसे लोक कहते हैं। और जहाँ छह द्रव्य नही पाये जाँय उसे अलोक कहते है।

भावार्थः—लोक शब्दका यही अर्थ है कि "लोक्यन्ते षट्पदार्था यत्र असौ लोक." अर्थात् जहाँपर छह पदार्थ पाये जाँय या देखे जाँय उसे लोक कहते हैं। जहाँपर छह पदार्थ नही किन्तु केवल आकाश ही पाया जाय उसे अलोक कहते है। तात्पर्य यह है कि सभी द्रव्योका आश्रय, आकाश द्रव्य है। जिस आकाशमे अन्य पाँच द्रव्य हैं उसे लोकाकाश कहते है और जहाँ केवल आकाश ही है, उसे अलोकाकाश कहते है। एक आकाशके ही उपाधिभेदसे (निमित्त भेदसे) दो भेद हो गये है।

अलोकका स्वरूप

सोप्यलोको न शून्योस्ति षड्भिर्द्रव्यैरशेषतः।
व्योममात्रावशेषत्वाद्व्योमात्मा केवलं भवेत् ॥२३॥

अर्थः—जो अलोक है वह भी छह द्रव्योसे सर्वथा शून्य नही है। अलोकमे भी छह द्रव्योमेसे एक आकाश द्रव्य रहता है इसलिये अलोक केवल आकाशस्वरूप ही है

भावार्थः—अलोक भी द्रव्यशून्य नही है किन्तु आकाश द्रव्यात्मक है।

पदार्थोंमें विशेषता

क्रिया भावविशेषोस्ति तेषामन्वर्थतो यतः।
भावक्रियाद्वयोपेताः केचिद्भावगताः परे ॥२४॥

अर्थः—उन छहो द्रव्योमे दो भेद है कोई द्रव्य तो भावात्मक ही है और कोई भावात्मक भी है तथा क्रियात्मक भी है।

भावार्थः—जो पदार्थ सदा एकसे रहते है जिनमें हलन-चलन क्रिया नही होती वे पदार्थ तो भावरूप है, और जो पदार्थ कभी स्थिर भी रहते है और कभी क्रिया भी करते है वे भावस्वरूप भी है और क्रिया स्वरूप भी है। तात्पर्य यह है कि जिन पदार्थोमे क्रियावती शक्ति है उनमे क्रिया होती है, जिन पदार्थोंमे क्रियावती शक्ति नही है उनमे हलन–चलन रूप क्रिया नही होती है। वे केवल भाववती शक्तिवाले कहलाते है।

कोई महाशय जिन पदार्थोमे क्रियावती शक्ति नही है केवल भाववनी शक्ति है उन्हे अपरिणामी न समझ लेवे। परिणमन तो सदा सभी पदार्थोमे होता है परन्तु परिणमन दो तरहका होता है, जिसमे वस्तुके प्रदेशोका एक देशसे दूसरा देश हो अर्थात् स्थानसे स्थानान्तर हो उसे तो क्रियारूप परिणमन कहते है और जिसमे प्रदेशोका तो हलन–चलन न हो परन्तु पहली अवस्थासे दूसरी अवस्था हो जाय उसे भाव–परिणाम कहते है दृष्टातके लिये हमारी कलमको ले लीजिये, कलमका टूट जाना तो उसका क्रियारूप परिणमन है और बिना किसी हरकतके रक्खी हुई नवीन कलमका पुराना हो जाना परिणाम है। निष्क्रियभावोमे इसीप्रकारका परिणमन होता है।

भाववती और क्रियावती शक्तिवाले पदार्थोंके नाम

भाववन्तौ क्रियावन्तौ द्वावेतौ जीवपुद्गलौ।
तौ च शेपचतुष्कं च षडेते भावसंस्कृताः ॥२५॥

अर्थः—जीव और पुद्गल ये दो द्रव्य भाववाले भी है और क्रियावाले भी है। तथा जीव, पुद्गल और शेष चारो द्रव्य भाव सहित है।

भावार्थः—जीव और पुद्गलमे तो क्रिया और भाव दोनो शक्तियाँ है परन्तु धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार द्रव्य केवल भाव शक्तिवाले ही हैं। इन चारोमें क्रिया नही होती, ये चारो ही निष्क्रिय हैं।

क्रिया और भावका लक्षण

तत्र क्रिया प्रदेशानां परिस्पंदश्चलात्मकः।
भावस्तत्परिणामोस्ति धारावाह्येकवस्तुनि ॥२६॥

अर्थः—प्रदेशोके हिलने–चलनेको क्रिया कहते है और भाव परिणामको कहते हैं जो कि प्रत्येक वस्तुमे धारावाही (बराबर)मे होता रहता है।

भावार्थः—प्रदेशोका एक स्थानसे दूसरे स्थानमे जाना—आना तो क्रिया कहलाती है और वस्तुमें जो निष्क्रिय भाव है उन्हे भाव कहते है। इसका खुलासा चौबीसवे श्लोकमे कर चुके है।

परिणमन सदा होता है

नासंभवमिदं यस्मादर्थाः परिणामिनोऽनिशं।
तत्र केचित् कदाचिद्वा प्रदेशचलनात्मकाः ॥२७॥

अर्थः—यह बात असिद्ध नही है कि पदार्थ प्रतिक्षण परिणमन करते रहते है। उसी परिणमनमें कभी—कभी किन्ही—किन्ही पदार्थोके प्रदेश भी हलन चलन करते है।

भावार्थः—सभी पदार्थ निरन्तर एक अवस्थाको छोडकर दूसरी अवस्था तो बदलते ही रहते हैं परन्तु कभी जीव और पुद्गलमे उनके प्रदेशोकी हलन—चलन रूप क्रिया भी होती है।

ग्रन्थकारकी प्रतिज्ञा

तद्यथाचाधिचिद्द्रव्यदेशनाऽरम्यते मया।
युक्त्यागमानुभूतिभ्यः पूर्वाचार्यानतिक्रमात् ॥२८॥

अर्थः—ग्रन्थकार कहते है कि अब हम चेतन द्रव्यके विषयमे ही व्याख्यान करेगें। जो कुछ हम कहेगे वह हमारी निजकी कल्पना नही समझना चाहिये, किन्तु युक्ति, आगम, अनुभव और पूर्वाचार्योके कथनके अनुकूल ही हम कहेगे। इनसे विरुद्ध नही।

भावार्थः—पदार्थकी सिद्धि कई प्रकारसे होती है। कोई पदार्थ युक्तिसे सिद्ध होते है, कोई अनुभवसे सिद्ध होते है, और कोई आगमसे सिद्ध होते है। ग्रन्थकार कहते हैं कि जो हम चेतन पदार्थ (जीव)का स्वरूप कहेगे उसमे युक्ति प्रमाण भी होगा, आगम प्रमाण भी होगा, और अनुभव प्रमाण भी होगा। साथ ही पूर्वके महर्षियोकी विवेचना (कथन)से अविरुद्धता भी रहेगी। इसलिये जव हमारे कथनमे युक्ति, आगम, अनुभव और पूर्वाचार्योके कथनसे अविरुद्धता है तो वह अग्राह्य किसी प्रकार नही हो सकता। इस कथनसे आचार्यने उत्सूत्रता और अयुक्तकथनका परिहार किया है।

सप्त तत्वोंमें जीवकी मुख्यता

प्रागुद्देश्यः स जीवोस्ति ततोऽजीवस्ततः क्रमात्।
आस्रवाद्या यतस्तेषां जीवोधिष्ठानमन्वयात् ॥२९॥

अर्थः—पहले जीवतत्वका निरूपण किया जाता है फिर अजीव तत्वका किया

धर्मवाला है । जो साधारण धर्मवाला होगा वह असाधारण धर्मवाला कैसे हो सकता है ऐसा विरोध सा दिखता है परन्तु वह विरोध नही है केवल अलकारकी झलक है । यहाँपर साहित्यकी न मुख्यता है और न आवश्यकता है इसलिये उसे छोड़कर श्लोकका आशय लिखा जाता है ।

प्रत्येक द्रव्यमे अनन्त गुण होते है अथवा यो कहना चाहिये कि वह द्रव्य अनन्त गुण स्वरूप ही है । उन गुणोमे कुछ साधारण गुण होते है और कुछ विशेष गुण होते है। जो समान रीतिसे सभी द्रव्योमे पाये जाँय उन्हे साधारण गुण कहते है। इन्हीका दूसरा नाम सामान्य गुण भी है। और जो खास २ वस्तुमे ही पाये जाँय उन्हे विशेष गुण कहते है । जीव द्रव्यमे सामान्य गुण भी है और विशेष गुण भी हैं । अस्तित्व, प्रमेयत्व, प्रदेशत्व आदिक सामान्य गुण है । ये गुण समान रीतिसे सभी द्रव्योमे पाये जाते हैं, और ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदिक जीवके विशेष गुण है, ये जीवको छोडकर अन्यत्र नही पाये जाते इसलिये जीवमे साधारण गुण और विशेष गुण दोनो है । लोक असख्यात प्रदेशी है और जीव भी लोकके बराबर असख्यात प्रदेशी है इसलिये यह जीव विश्वरूप है । अर्थात् लोक स्वरूप है तथापि लोकभरमें ठहरा हुआ नही है किन्तु लोकके असख्यातवें भाग स्थानमे है । अथवा ज्ञानकी अपेक्षा विश्वरूप है परन्तु विश्वसे जुदा है । यह जीव सर्व पदार्थोसे उपेक्षित है अर्थात् किसी पदार्थसे इसका सम्वन्ध नही है तथापि यह जीव सव पदार्थोको जाननेवाला है ।

फिर भी जीवका स्वरूप

असंख्यातप्रदेशोपि स्यादखण्डप्रदेशवान् ।
सर्वद्रव्यातिरिक्तोपि तन्मध्ये संस्थितोपि च ॥२२॥

अर्थः—यह जीव असख्यात प्रदेशवाला है । तथापि अखण्ड द्रव्य है अर्थात् इसके प्रदेश सव अभिन्न है तथा सम्पूर्ण द्रव्योसे यह भिन्न है तथापि उनके बीचमे स्थित है ।

फिर भी जीवका स्वरूप

अथ शुद्धनयादेशाच्छुद्धश्चैकविधोपि यः ।
स्याद्द्विधा सोपि पर्यायान्मुक्तामुक्तप्रभेदतः ॥२३॥

अर्थः—शुद्ध नयकी अपेक्षासे यह जीव द्रव्य शुद्धस्वरूप है, एक रूप है, उसमे भेद कल्पना नही है, तथापि पर्याय दृष्टिसे यह जीव दो प्रकार है एक मुक्त जीव दूसरा अमुक्त जीव ।

भावार्थः—निश्चय नय उसे कहते हैं जो कि वस्तुके स्वाभाविक भावको ग्रहण करे और व्यवहार नय वस्तुकी अशुद्ध अवस्थाको ग्रहण करता है। जो भाव पर निमित्तसे होते हैं उन्हें ग्रहण करनेवाला ही व्यवहार नय है। निश्चय नयसे जीवमें किसी प्रकारका भेद नहीं है इसलिये उक्त नयसे जीव सदा शुद्ध स्वरूप है तथा एक रूप है, परन्तु कर्मजनित अवस्थाके भेदसे उसी जीवके दो भेद हैं। एक संसारी, दूसरा मुक्त। जो कर्मोपाधि सहित आत्मा है वह संसारी आत्मा है और जो उस कर्मोपाधिसे रहित है वही मुक्त अथवा सिद्ध आत्मा कहलाता है। ये दो भेद कर्मोपाधिसे हुए हैं। और कर्मोपाधि निश्चयनयसे जीवका स्वरूप नहीं है इसलिये जीवमें द्रव्य दृष्टिसे भेद नहीं किन्तु पर्याय दृष्टिसे भेद है।

संसारी जीवका स्वरूप

बद्धो यथा स संसारी स्यादलब्धस्वरूपवान्।
मूर्छितोनादितोऽष्टाभिर्ज्ञानाद्यावृतिकर्मभिः ॥३४॥

अर्थः—जो आत्मा कर्मोंसे बँधा हुआ है वही संसारी है। संसारी आत्मा अपने यथार्थ स्वरूपसे रहित है और अनादिकालसे ज्ञानावरणीय आदिक आठ कर्मोंसे मूर्छित हो रहा है।

भावार्थः—आत्माका स्वरूप शुद्ध ज्ञान, शुद्ध दर्शन, शुद्ध वीर्य आदि अनन्त गुणात्मक है। ज्ञानावरणीय आदि कर्मोंने उन गुणोंको ढक दिया है। इन्हीं आठों कर्मोंमें जो मोहनीय कर्म है उसने उन्हें विपरीत स्वादु बना दिया है। इसीलिये संसारी आत्मा असली स्वभावका अनुमान नहीं करता है। जब यह दोष और आवरण मल आत्मासे हट जाता है तब वही आत्मा निज शुद्धरूप अनुभव करने लगता है।

जीव कर्मका सम्बन्ध अनादिसे है

यथानादिः स जीवात्मा यथानादिश्च पुद्गलः।
द्वयोर्बन्धोऽप्यनादिः स्यात् सम्बन्धो जीवकर्मणोः ॥३५॥

अर्थः—यह जीवात्मा भी अनादि है और पुद्गल भी अनादि है। इसलिये दोनोंका सम्बन्धरूप बन्ध भी अनादि है।

भावार्थः—जीव और कर्मका सम्बन्ध अनादि कालसे है। यदि इनका सम्बन्ध सादि अर्थात् किसी काल विशेषसे हुआ माना जावे तो अनेक दोष आते हैं। इसी बातको ग्रन्थकार स्वयं आगे दिखलाते हैं।

द्वयोरनादिसम्बन्धः कनकोपलसन्निभः ।
अन्यथा दोषएव स्यादितरेतरसंश्रयः ॥३६॥

अर्थः—जीव और कर्म दोनोका सम्बन्ध अनादि कालसे चला आ रहा है। यह सम्बन्ध उसीप्रकार है जिसप्रकार कि कनकपाषाणका सम्बन्ध अनादिकालीन होता है। यदि जीव पुद्गलका सम्बन्ध अनादिसे न माना जाय तो अन्योन्याश्रय दोष आता है।

भावार्थः—एक पत्थर ऐसा होता है जिसमे सोना मिला रहता है, उसीको कनक-पाषाण कहते है। कनकपाषाण खानिसे मिला हुआ ही निकलता है। जिसप्रकार सोनेका और पत्थरका हमेशासे सम्बन्ध है उसीप्रकार जीव और कर्मका भी हमेशासे सम्बंध है। यदि जीव कर्मका सम्बन्ध अनादिसे न माना जावे तो अन्योन्याश्रय दोष आता है।*

अन्योन्याश्रय दोष

तद्यथा यदि निष्कर्मा जीवः प्रागेव तादृशः ।
बन्धाभावेथ शुद्धेपि बन्धश्चेन्निर्वृत्तिः कथम् ॥३७॥

अर्थः—यदि जीव पहले कर्मरहित अर्थात् शुद्ध माना जाय तो बन्ध नही हो सकता, और यदि शुद्ध होनेपर भी उसके बन्ध मान लिया जाय तो फिर मोक्ष किसप्रकार हो सकती है ?

भावार्थः—आत्माका कर्मके साथ जो बन्ध होता है वह अशुद्ध अवस्थामे होता है। यदि कर्मबन्धसे पहले आत्माको शुद्ध माना जाय तो बन्ध नही हो सकता? क्योकि बन्ध अशुद्ध परिणामोसे ही होता है। इसलिये बन्ध होनेमे तो अशुद्धताकी आवश्यकता पड़ती है और अशुद्धतामे बन्धकी आवश्यकता पडती है। बिना पूर्वबन्धके शुद्ध आत्मामे अशुद्धता आ नही सकती। यदि बिना बन्धके शुद्ध आत्मामे भी अशुद्धता आने लगे तो जो आत्मायें मुक्त हो चुकी है अर्थात् सिद्ध हैं वे भी फिर अशुद्ध हो जांयगी और अशुद्ध होनेपर बन्ध भी करती रहेगी। फिर तो ससारी और मुक्त जीवमे कोई अन्तर नही रहेगा। इसलिये बन्धरूप कार्यके लिये अशुद्धता रूप कारणकी आवश्यकता है और अशुद्धता रूप कार्यके लिये पूर्वबन्ध रूप कारणकी आवश्यकता है। बिना पूर्व कर्मके बँधे हुए अशुद्धता किसी प्रकार नही आ सकती है। इसलिये अशुद्धतामे बन्धकी और बन्धमे अशुद्धताकी अपेक्षा

* दो पदार्थोंमें परस्पर एक दूसरेकी अपेक्षा रहनेसे अन्योन्याश्रय दोष आता है। इस दोषकी सत्तामें एक पदार्थकी भी सिद्धि नहीं हो पाती।

पडनेसे एक भी सिद्ध नही होता, बस यही अन्योन्याश्रय दोष है। यदि जीव कर्मका सम्वन्ध अनादि माना जाय तो यह दोष सर्वथा नही आता।

दूसरी बात यह है कि सादि सम्बन्ध माननेसे पहले तो शुद्ध आत्मामें बन्ध हो नही सकता क्योकि बिना कारणके कार्य होता ही नही। थोडी देरके लिये यह भी मान लिया जाय कि बिना रागद्वेष रूप कारणके शुद्ध आत्मा भी बन्ध करता है तो फिर बिना कारणसे होनेवाला वह बन्ध किस तरह छूट सकता है? यदि रागद्वेषरूप कारणोसे वन्ध माना जाय तब तो उन कारणोके हटनेपर बन्धरूप कार्य भी हट जाता है। परन्तु विना कारणसे होनेवाला बन्ध दूर हो सकता है या नही ऐसी अवस्थामे इसका कोई नियम नही है। इसलिये मोक्ष होनेका भी कोई निश्चय नही है। इस तरह सादि बन्ध माननेमें और भी अनेक दोष आते है।

पुद्गलको शुद्ध माननेमें दोष

अथ चेत्पुद्गलः शुद्धः सर्वतः प्रागनादितः।
हेतोर्विना यथा ज्ञानं तथा क्रोधादिरात्मनः ॥३८॥

अर्थः—यदि कोई यह कहे कि पुद्गल अनादिसे सदा शुद्ध ही रहता है, ऐसा कहनेवालेके मतमे आत्माके साथ कर्मोका सम्बन्ध भी नही बनेगा। फिर तो बिना कारण जिसप्रकार आत्माका ज्ञान स्वाभाविक गुण है उसीप्रकार क्रोधादिक भी आत्माके स्वाभाविक गुण ही ठहरेगे।

भावार्थः—पुद्गलकी कर्म रूप अशुद्ध पर्यायके निमित्तसे ही आत्मामे क्रोधादिक होते है ऐसा माननेसे तो क्रोधादिक आत्माके स्वभाव नही ठहरते है परन्तु पुद्गलको शुद्ध माननेसे आत्मामे विकार करनेवाला फिर कोई पदार्थ नही ठहरता। ऐसी अवस्थामे क्रोधादिकका हेतु आत्मा ही पड़ेगा और क्रोध मान माया लोभ आदि आत्माके स्वभाव समझे जांयगे यह वात प्रमाण विरुद्ध है।

एवं बन्धस्य नित्यत्वं हेतोः सद्भावतोऽथवा।
द्रव्याभावो गुणाभावे क्रोधादीनामदर्शनात् ॥३९॥

अर्थः—यदि पुद्गलको अनादिसे शुद्ध माना जाय और शुद्ध अवस्थामे भी उसका आत्मामे बन्ध माना जाय तो वह वन्ध सदा रहेगा, क्योकि शुद्ध पुद्गल रूप हेतुके सद्भावको कौन हटानेवाला है? पुद्गलकी शुद्धता स्वाभाविक है वह सदा भी रह सकती है, और हेतुकी सत्तामे कार्य भी रहेगा ही।

यदि बन्ध ही न माना जाय तो "ज्ञानकी तरह क्रोधादिक भी आत्माके ही गुण ठहरेंगे" वही दोष जो कि पहले श्लोकमे कह चुके है फिर भी आता है और क्रोधादिकको आत्माका गुण स्वीकार करनेमे दूसरा दोष यह आता है कि जिन जिन आत्माओमे क्रोधादिकका अभाव हो चुका है उन उन आत्माओका भी अभाव हो जायगा। क्योकि जब क्रोधादिकको गुण मान चुके है तो गुणके अभावमे गुणीका अभाव होना स्वत: सिद्ध है, और यह बात देखनेमे भी आती है कि किन्ही २ शात आत्माओमे क्रोधादिक बहुत थोडा पाया जाता है। योगियोमे अति मन्द पाया जाता है, और बारहवे गुणस्थानमें तो उसका सर्वथा अभाव है। इसलिये अशुद्ध पुद्गलका अशुद्ध आत्मासे बन्ध मानना ही न्याय सगत है।

सारांश

तत्सिद्धः सिद्धमम्बन्धो जीवकर्मोभयोर्मिथः ।
सादिसिद्धेरसिद्धत्वात् असत्संदृष्टितश्च तत् ॥४०॥

अर्थः—इसलिये जीव और कर्मका सम्बन्ध प्रसिद्ध है और वह अनादिकालसे बन्ध रूप है यह बात सिद्ध हो चुकी। जो पहले शङ्काकारने जीव कर्मका सम्बन्ध सादि (किसी समय विशेषसे) सिद्ध किया था वह नही सिद्ध हो सका। सादि सम्बन्ध माननेसे इतरेतर (अन्योन्याश्रय) आदि अनेक दोष आते है तथा दृष्टान्त भी कोई ठीक नही मिलता।

भावार्थः—कनक पापाण आदि दृष्टान्तोसे जीव कर्मका अनादि सम्बन्ध ही सिद्ध होता है। यहाँपर यह शङ्का हो सकती है कि दो पदार्थोका सम्बन्ध हमेशासे कैसा? वह तो किसी खास समयमे जब दो पदार्थ मिले तभी हो सकता है? इस शङ्काका उत्तर यह है कि सम्बन्ध दो प्रकारका होता है, किन्ही पदार्थोका तो सादि सम्बन्ध होता है। जैसे कि मकान बनाते समय ईटोका सम्बन्ध सादि है। और किन्ही पदार्थोका अनादि सम्बन्ध होता है, जैसे कि कनक पाषाणका, अथवा जमीनमे मिली हुई अनेक चीजोका, अथवा बीज और वृक्षका, अथवा जगद्व्यापी महास्कन्धका अथवा सुमेरु पर्वतका। इसीप्रकार जीव और कर्मका सम्बन्ध भी अनादि है।

जीवकी अशुद्धताका कारण

जीवस्याशुद्धरागादिभावानां कर्म कारणम् ।
कर्मणस्तस्य रागादिभावाः प्रत्युपकारिवत् ॥४१॥

अर्थः—जीवके अशुद्ध रागादिक भावोका कारण कर्म है, उस कर्मके कारण जीवके

रागादि भाव है। यह परस्परका कार्यकारणपन ऐसा ही है जैसे कि कोई पुरुष किसी पुरुषका उपकार कर दे तो वह उपकृत पुरुष भी उसका बदला चुकानेके लिये उपकार करनेवालेका प्रत्युपकार करता है।

भावार्थः—यह ससारी आत्मा अनादि कालसे कर्मोका बन्ध कर रहा है, उस कर्म वन्धमे कारण आत्माके रागद्वेष भाव है। रागद्वेषके निमित्तसे ही ससारमे भरी हुई कार्माण वर्गणाओको अथवा विस्रसोपचयोंको यह आत्मा *खीचकर अपना सम्बन्धी बना लेता है। जिसप्रकार कि अग्निसे तपा हुआ लोहेका गोला अपने आसपास भरे हुए जलको खीचकर अपनेमे प्रविष्ट कर लेता है। जिन पुद्गल वर्गणाओको यह अशुद्ध जीवात्मा खीचता है वे ही वर्गणाये आत्माके साथ एक क्षेत्रावगाह रूप (एकमएक)से बँध जाती हैं। बध समयसे उन्ही वर्गणाओकी कर्मरूप पर्याय हो जाती है। फिर कालान्तरमे उन्ही बाधे हुए कर्मोके निमित्तसे चारित्रके विभाव भाव रागद्वेष बनते है फिर उन रागद्वेष भावोसे नवीन कर्म बँधते है। उन कर्मोके निमित्तसे फिर भी रागद्वेष उत्पन्न होते है। इसप्रकार पहले कर्मोसे रागद्वेष और रागद्वेषसे नवीन कर्म होते रहते है। यही परस्परमे कार्य कारण भाव अनादिसे चला आता है।

इसी बातको नीचेके श्लोकोंसे पुष्ट करते हैं

पूर्वकर्मोदयाद्भावो भावात्प्रत्यग्रसंचयः।
तस्य पाकात्पुनर्भावो भावाद्बन्धः पुनस्ततः ॥४२॥
एवं सन्तानतोऽनादिः सम्बन्धो जीवकर्मणोः।
संसारः स च दुर्मोच्यो विनासम्यग्दृगादिना ॥४३॥

अर्थः—पहले कर्मके उदयसे रागद्वेष-भाव पैदा होते है, उन्ही रागद्वेष भावोसे नवीन कर्मोका सचय होता है, उन आये हुए कर्मोके पाक (उदय)से फिर रागद्वेष भाव बनते है, उन भावोसे फिर नवीन कर्मोका वन्ध होता है, इसीप्रकार प्रवाहकी अपेक्षासे जीव और कर्मका सम्बन्ध अनादिसे चला आया है। इसी सम्बन्धका नाम ससार है,

* कर्मके खींचनेमें योग कारण है और आये हुए कर्मोके स्थिति अनुभाग बन्धमें कषाय कारण है।

अर्थात् जीवकी रागद्वेष रूप अशुद्ध अवस्थाका ही नाम संसार है। यह ससार बिना सम्यग्दर्शन आदि भावोंके नही छूट सकता है।×

भावार्थः—"ससरण ससारः" परिभ्रमणका नाम संसार है। चारों गतियोंमें जीव उत्पन्न होता रहता है इसीको ससार कहते है। इस परिभ्रमणका कारण कर्म है। जैसा कर्मका उदय होता है उसीके अनुसार गति, आयु, शरीर आदि अवस्थाये मिल जाती है। उस कर्मका भी कारण आत्माके रागद्वेष भाव है, इसलिये संसारके कारणोंको ही आचार्यने ससार कहा है। यह ससार तभी छूट सकता है जब कि ससारके कारणोंको हटाया जाय। ससारके कारण मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग, ये पाँच है। इन पाँचोके प्रतिपक्षी भाव भी पाँच हैं। मिथ्यादर्शनका प्रतिपक्षी सम्यग्दर्शन है। इसीप्रकार अविरतिका विरतिभाव, प्रमादका अप्रमत्तभाव, कषायका अकषायभाव, और योगका अयोगभाव प्रतिपक्षी है। जब ये सम्यग्दर्शनादिक भाव आत्मामे प्रगट हो जाते है तो फिर इस जीवका ससार भी छूट जाता है।

न केवलं प्रदेशानां बन्धः सम्बन्धमात्रतः।
सोपि भावैरशुद्धैः स्यात्सापेक्षस्तद्द्वयोरिति ॥४४॥

ः—आत्मा और कर्मका जो बन्ध होता है, वह केवल दोनोके सम्बन्ध मात्रसे ही नही हो जाता है, किन्तु आत्माके अशुद्ध भावोसे होता है और वह परस्पर दोनोंकी अपेक्षा भी रखता है।

भावार्थः—बन्ध दो प्रकारका होता है। एक तो दो वस्तुओके मेल हो जाने मात्रसे ही होता है। जैसे कि सूखी ईंटोको परस्पर मिलानेसे होता है। सूखी ईंटोका सम्बन्ध अवश्य है, परन्तु घनिष्ट सम्बन्ध नही है। दूसरा ईंटोका ही वह सम्बन्ध जो कि चूनेके लगानेसे वे सब ईंटे एकरूपमे हो जाती है। यद्यपि यह मोटा दृष्टान्त है तथापि एक

× इसका अभिप्राय यह है कि जबतक सम्यग्दर्शन नहीं होता क मिथ्यात्व कर्म आत्माके स्वाभाविक भावोंको ढके रहता है अथवा यों कहना चाहिये कि वह मिथ्यात्व उन भावोंको विपरीत रूपसे परिणमा देता है। उन भावोंके विपरीत होनेसे फिर नये कर्म आते हैं और उन कर्मोंके उदयसे फिर रागद्वेष रूप विपरीत भाव होते हैं परन्तु जब वह मिथ्यात्व नष्ट होकर सम्यग्दर्शन प्रगट हो जाता है तब वे भाव विपरीत नहीं होते किन्तु अपने स्वभावमें ही बने रहते हैं इसलिये फिर उनसे नये कर्मोंका आना भी बन्द हो जाता है और सचय किये हुए कर्म भी धीरे-धीरे नष्ट हो जाते हैं इस तरह सम्यग्दर्शन आदि भावोंसे ही ससार छूटता है।

देशमे घनिष्ट सम्बन्धमे घटता ही है। दूसरा दृष्टान्त जल और दूधका भी है। इसीप्रकार जीव और कर्मका सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध जीव और कर्मके प्रदेशोके एक रूप हो जाने पर ही होता है। इस सम्बन्धमे कारण आत्माके अशुद्ध भाव ही है। कर्म सम्बन्ध और अशुद्ध भाव–इन दोनोमें परस्पर अपेक्षा है, अर्थात् एक दूसरेमे परस्पर कार्य कारण भाव है।

बन्धका मूल कारण

अयस्कान्तोपला सूचीवत्तद्द्वयोः पृथक्।
अस्ति शक्तिर्विभावाख्या मिथो बन्धाधिकारिणी ॥४५॥

अर्थः—जिसप्रकार चुम्बक पत्थरमे सुईको खीचनेकी शक्ति है उसीप्रकार जीव और पुद्गल दोनोमे वैभाविकी नामा एक शक्ति है जो कि दोनोमे परस्पर बन्धका कारण है।

भावार्थः—जिसप्रकार चुम्बक पत्थरमे खीचनेकी शक्ति है उसीप्रकार लोहेमे खीचे जानेकी शक्ति है। यदि दोनोमें खीचने और खीचे जानेकी शक्ति न मानी जाय तो चुम्वक पत्थरके सिवा पीतल, चांदी आदिसे लकडी पत्थर भी खिचने चाहिये। इसलिये मानना पड़ता है कि दोनोमे क्रमसे खीचने और खिचनेकी शक्ति है। उसीप्रकार जीवमे कर्मके वाँधनेकी शक्ति है और कर्ममे जीवके साथ बँधनेकी शक्ति है। जब जीव और कर्म दोनोमे क्रमसे वाँधने और वँधनेकी शक्ति है तव दोनोका आत्मक्षेत्रमे बँध हो जाता है। आत्मामे ही वाधनेकी शक्ति है इसलिये आत्मामे ही कर्म आकर वध जाते है। जीव और पुद्गल ही अपनी शुद्ध अवस्थाको छोडकर बन्ध रूप अशुद्ध अवस्थामे क्यो आते हैं? धर्म अधर्म आदिक द्रव्य क्यो नही अशुद्ध होते। इसका यही कारण है कि वैभाविक नामा गुण इन दो (जीव, पुद्गल) द्रव्योमे ही पाया जाता है इसलिये इन दोमे ही विकार होता है, शेप द्रव्योमे नही होता।

बन्ध तीन प्रकारका होता है

अर्थतस्त्रिविधो बन्धो भावद्रव्योभयात्मकः।
प्रत्येकं तद्द्वयं यावत्तृतीयो द्वन्द्वजः क्रमात् ॥४६॥

अर्थः—वास्तवमे वन्ध तीन प्रकारका है। भाववन्ध द्रव्यवन्ध और उभयवन्ध। इनमे भाव वन्ध और द्रव्य वन्ध तो अलग अलग स्वतन्त्र हैं, परन्तु तीसरा जो उभयवन्ध है वह जीव आदि पुद्गल दोनोके मेलसे होता है।

भावार्थः—बन्धका लक्षण है कि "अनेकपदार्थानामेकत्वबुद्धिजनकसम्बन्धविशेषो बन्धः" अर्थात् अनेक पदार्थोमें एकत्व बुद्धिको उत्पन्न करनेवाले सम्बन्धका नाम वन्ध है। यहाँपर वन्ध तीन प्रकारका बतलाया गया है उसमे उभय वन्ध तो जीवात्मा और पुद्गल–कर्म, इन दोनोके सम्वन्ध होनेसे होता है। वाकीका जो दो प्रकारका बन्ध है वह द्वन्द्वज नही है किन्तु अलग २ स्वतन्त्र है। भावबन्ध तो आत्माका ही वैभाविक (अशुद्ध) भाव है और द्रव्य बन्ध पुद्गलका वह स्कन्ध है जिसमें कि बन्ध होनेकी शक्ति है। इन दोनो प्रकारके अलग अलग वन्धोमें भी एकत्व वुद्धिको पैदा करनेवाला बन्धका लक्षण जाता ही है। क्योकि रागात्मा जो भाववन्ध है वह भी वास्तवमे जीव और पुद्गलका ही विकार है यह राग पर्याय जीव और पुद्गल दोनोके योगसे हुई है। आत्मांशकी अपेक्षासे राग पर्याय जीवकी बतलाई जाती है और पुद्गलांशकी अपेक्षासे वही पर्याय पुद्गलकी बतलाई जाती है। रागपर्याय दोनोकी है इसका अर्थ यह नही है कि जीव पुद्गलात्मक हो जाता है अथवा पुद्गल जीवात्मक हो जाता है किन्तु दोनोके अशोके मेलसे रागपर्याय होती है। जो द्रव्य बन्ध है वह भी अनेक परमाणुओका समुदाय है तथा उभय बन्धमें तो बन्धका लक्षण स्पष्ट ही है।

ऊपर कहे तीनो प्रकारके बन्धोंका स्वरूप ग्रन्थकार स्वयं आगेके श्लोकोसे प्रगट करते हैं—

भाववन्ध और द्रव्य वन्धका स्वरूप

रागात्मा भावबन्धः स जीवबन्ध इति स्मृतः।
द्रव्यं पौद्गलिकः पिण्डो बन्धस्तच्छक्तिरेव वा ॥४७॥

अर्थ—जो आत्माका रागद्वेष रूप परिणाम है वही भावबन्ध कहलाता है। उसीको जीवबन्ध भी कहते हैं। 'द्रव्यबन्ध' इस पदमे पडा हुआ जो द्रव्य शब्द है उसका अर्थ तो पुद्गल पिण्ड है। उस पुद्गल पिण्डमे जो आत्माके साथ वन्ध होनेकी शक्ति है वही वन्ध शब्दका अर्थ है।

भावार्थः—आत्माका रागद्वेष रूप जो परिणाम है वह तो भाववन्ध है और ससारमें भरी हुई वे पुद्गल वर्गणायें जो कि आत्माके साथ वँध जानेकी शक्ति रखती हैं द्रव्य वन्ध कहलाती हैं। सभी पुद्गलोमे आत्माके साथ वन्ध होनेकी शक्ति नही है। पुद्गलके तेईस भेद वतलाये गये हैं। उनमे पाँच वर्गणाये ऐसी हैं जिनसे कि जीवका सम्वन्ध है वाकी पुद्गलसे नही। वे वर्गणायें आहार वर्गणा, तैजस वर्गणा, भाषा वर्गणा, मनोवर्गणा,

कार्मण वर्गणा, इन नामोंसे प्रसिद्ध है। ये ही पाँचो आत्माके साथ बन्ध होनेकी शक्ति रखती हैं। रागद्वेष क्या वस्तु है इस विषयको स्वयं ग्रन्थकार आगे लिखेगे।

उभय बन्ध

इतरेतरबन्धश्च देश तद्द्वयोर्मिथः।
बन्ध्यबन्ध वः स्याद्भावबन्धनिमित्ततः ॥४८॥

अर्थः—भावबंधके निमित्तसे पुद्गल-कर्म और जीवके प्रदेशोका जो परस्पर बन्ध्य-बन्धक भाव अर्थात् एक रूपसे मिल जाना है वही उभय बंध कहलाता है।

भावार्थः—जो बांधनेवाला है वह बधक कहलाता है। और जो बँधनेवाला है वह बन्ध्य कहलाता है। जब बांधनेवाला आत्मा और बँधनेवाला कर्म दोनो मिल जाते हैं तभी बन्ध्य बन्धक भाव कहलाता है। इसीका नाम उभय बध है। आत्माके प्रदेश और कर्मके प्रदेश, दोनो एक क्षेत्रावगाही अर्थात् एक रूपसे मिल जाते है उसीको उभय बध कहते हैं। यह बन्ध भी राग द्वेष रूप भाव बधके निमित्तसे ही होता है।

जीव और कर्मकी सत्ता

नाप्यसिद्धं स्वतस्सिद्धेरस्तित्वं जीवकर्मणोः।
स्वानुभवगर्भयुक्तेर्वा समक्षोपलब्धितः ॥४९॥

अर्थः—जीव और कर्मकी सत्ता भी असिद्ध नही है किन्तु स्वत सिद्ध है। जीव भी स्वत· सिद्ध है और कर्म भी स्वत. सिद्ध है। अथवा जीव और कर्मकी सत्तामे अनेक युक्तियाँ हैं जो कि अपने अनुभवमे आती है, अथवा जीव और कर्मकी सत्तामे प्रत्यक्ष प्रमाण भी है।

भावार्थः—ऊपरके श्लोक द्वारा जीव-कर्मका मिला हुआ उभय बन्ध बतलाया है, उसके विषयमे यदि कोई शका करे कि उभय बन्ध किस तरह हो सकता है ? इस शकाके उत्तरमे आचार्य कहते हैं कि जीव और कर्म दोनो ही अनेक अनुभव पूर्ण युक्तियोसे सिद्ध हैं। दोनोकी सत्ता स्वयं सिद्ध है। दोनो ही प्रत्यक्ष प्रमाणसे प्रसिद्ध हैं।

दोनोंकी सिद्धिमें प्रत्यक्ष प्रमाण

अहम्प्रत्ययवेद्यत्वाज्जीवस्यास्तित्वमन्वयात्।
एको दरिद्र एको हि श्रीमानिति च कर्मणः ॥५०॥

अर्थः—इस शरीरके भीतर "मैं हूं, मैं हूं" ऐसा जो एक प्रकारका ज्ञान होता रहता है उस ज्ञानसे जाना जाता है कि इस शरीरके भीतर जीवरूप एक वस्तु स्वतन्त्र है। अथवा मैं-मैं इस बोधमे ही जीवात्माका मानसिक प्रत्यक्ष स्वयं होता है। इसीप्रकार

कोई दरिद्र है, कोई धनाढ्य है कोई अन्धा है कोई गूगा है आदि अनेक प्रकारके जीवोंके देखनेसे कर्मका बोध होता है ।

भावार्थः—यदि आत्मा शरीरसे भिन्न स्वत सिद्ध—स्वतन्त्र पदार्थ न होता तो शरीरसे भिन्न "मैं—मैं" ऐसी अन्तर्मुखाकार (अभ्यन्तर वचन) प्रतीति कभी न होती। यदि कर्म न होता तो जीवोमे "कोई सुखी कोई दु खी" आदि भेद कभी न पाया जाता ।

जीव कर्मका सन्बन्ध

यथास्तित्वं स्वतः सिद्धं संयोगोपि तथानयोः ।
कर्तृभोक्त्रादिभावानामन्यथानुपपत्तितः ॥५१॥

अर्थः—जिसप्रकार जीव और कर्मका अस्तित्व (सत्ता) स्वत सिद्ध है उसीप्रकार इन दोनोका सयोग भी स्वत सिद्ध है। यदि जीव कर्मका सम्बन्ध नही माना जाय तो जीवमे कर्तापना तथा भोक्तापना नही आ सकता ।

भावार्थः—जीव और कर्मका कार्य हम प्रत्यक्ष देखते हैं इसलिये जीव कर्मके सम्बन्धमे हमको कोई शका नही रहती, यदि जीव कर्मका अनादिकालीन घनिष्ट सबंध न होता तो जीव कर्म करनेवाला और कर्तव्यानुसार फल भोगनेवाला कभी सिद्ध न होता ।

शंकाकार

ननु मूर्तिमता मूर्तो वध्यते द्व्यणुकादिवत् ।
मूर्तिमत्कर्मणा बन्धो नामूर्तस्य स्फुटं चितः ॥५२॥

अर्थः—शकाकार कहता है कि मूर्तिमान पदार्थसे मूर्तिवाला पदार्थ ही बँध सकता है। जैसे कि द्व्यणुक, द्व्यणुक दो परमाणुओके समूहको कहते हैं। दोनों ही परमाणु मूर्त है इसीलिये उन दोनोंका मिलकर द्व्यणुक कहलाता है। परतु मूर्तिवाले कर्मसे अमूर्त—आत्माका वध कभी नही हो सकता ?

उत्तर

नैवं यतः स्वतः सिद्धः स्वभावोतर्कगोचरः ।
तस्मादर्हति नाक्षेपं चेत्परीक्षां च सोर्हति ॥५३॥

अर्थः—कर्मका जीवात्माके साथ बन्ध नही हो सकता है ऐसी शङ्का करना ठीक नही है। क्योंकि जीव—कर्मका वन्ध अनादिसे स्वयं सिद्ध है यह एक स्वाभाविक बात

है, और स्वभाव किसीका कैसा ही क्यो न हो, उसमें किसी प्रकारकी शङ्का नही हो सकती। जीव-कर्मका वन्ध अनादिकालसे हो रहा है यह अशुद्ध जीवात्माका स्वभाव ही है और कर्मका भी यह स्वभाव है कि वह अशुद्ध जीवात्मासे संयुक्त हो जाता है तथा जीवकी अशुद्धता अनादि कालसे है, इसलिये इस स्वाभाविक विषयमे आक्षेप करना व्यर्थ है। यदि कोई इस वातको (जीव-कर्मका वन्ध कैसे हुआ) परीक्षा ही करना चाहे तो उस अनादिकालीन वन्धरूप स्वभावकी परीक्षा भी हो सकती है।

स्वभावका उदाहरण

अग्नेरौष्ण्यं यथा लक्ष्म न केनाप्यर्जितं हि तत्।
एवं विधः स्वभावाद्वा न चेत्स्पर्शेन स्पृश्यताम् ॥५४॥

अर्थः—जिसप्रकार अग्निका उष्ण लक्षण है। वह किसीने कहीसे लाकर नही रक्खा है। इसप्रकारका अग्निका स्वभाव ही है कि वह गर्म रहती है। यदि कोई यह शंका करे कि अग्नि क्यो गर्म है? तो इसका उत्तर यही हो सकता है कि अग्निका स्वभाव ही ऐसा है। "ऐसा स्वभाव क्यो है" यदि ऐसी तर्कणा उठाई जाय तो यही कहना पडेगा कि नही मानते हो तो छूकर देखलो, स्पर्श करनेसे हाथ जलने लगता है इसलिये अग्नि गर्म है। यह निर्णीत अग्निका स्वभाव ही है।

दार्ष्टान्त

तथानादिः स्वतो वन्धो जीवपुद्गलकर्मणोः।
कुतः केन कृतः कुत्र प्रश्नोयं व्योमपुष्पवत् ॥५५॥

अर्थः—जिसप्रकार अग्निमे स्वय सिद्ध उष्णता है, उसीप्रकार जीव और पुद्गल कर्मका भी अनादिसे स्वय सिद्ध वन्ध हो रहा है। जिसप्रकार अग्निके उष्णपनेमे किसी प्रकारकी शंका नही हो सकती है उसीप्रकार जीव और कर्मके वन्धमे भी किसी प्रकारकी शंका नही हो सकती है। फिर यह वन्ध कहांसे हुआ? किसने किया? कहां किया? आदि प्रश्न आकाशके पुष्पकी तरह सर्वथा निष्फल है। जिसप्रकार आकाशके पुष्प नहीं ठहरने उसीप्रकार यह प्रश्न भी नही ठहरता।

चेद्बुभुत्सास्ति चित्ते ते स्याद्यथा वान्यथेति वा।
स्वानुभूतिसनाथेन प्रत्यक्षेण विमृश्यताम् ॥५६॥

अर्थः—कर्मोंका जीवके साथ वध है अथवा नही है? है तो किसप्रकार है? इत्यादि जाननेकी यदि तुम्हारे हृदयमें आकांक्षा है तो स्वानुभूति प्रत्यक्षसे विचार लो।

भावार्थः—जिससमय आत्मामे स्वानुभव होने लगेगा, उससमय इन बातोंका स्वय परिज्ञान हो जायगा ।

अमूर्त आत्माका मूर्त पुद्गलके साथ किस प्रकार सम्बन्ध होता है इसीका खुलासा किया जाता है

अस्त्यमूर्तं मतिज्ञानं श्रुतज्ञानं च वस्तुतः ।
मद्यादिना समूर्तेन स्याच्चत्पाकानुसारि तत् ॥५७॥

अर्थः—वास्तवमे मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनो ही ज्ञान अमूर्त है, परंतु मूर्त मद्य आदि पदार्थोंके योगसे उन ज्ञानोका परिणमन बदल जाता है ।

भावार्थः—मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनो ही आत्माके ज्ञान गुणकी पर्यायरूप हैं । आत्मा अमूर्त है इसलिये ये दोनो भी अमूर्त ही है, परतु जब कोई आदमी मदिरा भंग आदि मादक पदार्थोंका पान कर लेता है तो उस आदमीका ज्ञान गुण नष्ट हो जाता है, मदिरापान करनेवाला मनुष्य बेहोश हो जाता है । यह बेहोशी उसी मूर्त मदिराके निमित्तसे होती है । इस कथनसे आत्माका मूर्त कर्मसे किस तरह बध हो जाता है ? इस प्रश्नका अच्छी तरह निराकरण हो जाता है ।

उसीका स्पष्टार्थ

नासिद्धं तत्तथायोगात् यथा दृष्टोपलब्धितः ।
विना मद्यादिना यस्मात् तद्विशिष्टं न तद्द्वयम् ॥५८॥

अर्थः—मदिराके निमित्तसे ज्ञान मद हो जाता है यह बात असिद्ध नही है किन्तु प्रत्यक्ष सिद्ध है । क्योकि मदिरा आदिके बिना मतिज्ञान, श्रुतज्ञान मूर्छित नही होते ।

भावार्थः—बिना मदिराके ज्ञान निर्मल रहता है और मद्य पीनेसे मूर्छित हो जाता है इसलिये अमूर्त ज्ञानपर मूर्त मदिराका पूरा असर पडता है ।

वास्तवमें ज्ञान अमूर्त है

अपि चोपचारतो मूर्तं तूक्तं ज्ञानद्वयं हि यत् ।
न तत्तत्त्वाद्यथा ज्ञान वस्तुसीम्नोऽनतिक्रमात् ॥५९॥

अर्थः—मतिज्ञान और श्रुतज्ञान कथञ्चित् मूर्त भी हैं, परन्तु उक्त दोनो ज्ञानोमे मूर्तपना उपचारसे है, वास्तवमे नही है । तत्त्वदृष्टिसे देखा जाय तो ज्ञान अमूर्त ही है और अमूर्त ज्ञान मूर्त कभी नही हो सकता है क्योकि वस्तुकी सीमाका उल्लघन कभी नही हो सकता है । जो मूर्त है वह सदा मूर्त ही रहता है और जो अमूर्त है वह सदा

अमूर्त ही रहता है। इसलिये मतिज्ञान श्रुतज्ञान आत्माके गुण हैं वे वास्तवमें अमूर्त ही है केवल उपचारसे मूर्त कहलाते है।

ज्ञान मूर्त भी है

नासिद्धश्चोपचारोयं मूर्तं यत्तत्त्वतोपि च।
वैचित्र्याद्वस्तुशक्तीनां स्वतः स्वस्यापराधतः ॥६०॥

अर्थः—मतिज्ञान, श्रुतज्ञानको वास्तवमे अमूर्त कहा गया है और उपचारसे मूर्त कहा गया है, उस उपचारको कुछ न समझ कर या असिद्ध समझ कर जो कोई उक्त ज्ञानोको सर्वथा अमूर्त ही समझते हो उनके लिये कहा जाता है कि जिस उपचारसे उक्त ज्ञानोको मूर्त कहा गया है वह उपचार भी असिद्ध नही है किन्तु सिद्ध हो है। दूसरी तरहसे यह भी कहा जा सकता है कि वास्तवमे भी उक्त ज्ञान मूर्त हैं। यहाँ पर कोई शका करे कि वास्तवमे अमूर्त पदार्थ मूर्त कैसे हो गया? इसके लिये आचार्य उत्तर देते हैं कि वस्तुओकी शक्तियाँ विचित्र है किसी शक्तिका कैसा ही परिणमन होता है और किसीका कैसा ही। आत्माका ज्ञान गुण अमूर्त है वह मूर्त कैसे हो गया और वस्तु शक्तिका ऐसा विपरिणमन क्यो हुआ? इसमे किसीका दोष नही है, स्वय आत्माने अपना अपराध किया है जिससे उसे मूर्त वनना पडा है।

भावार्थः—"मुख्याभावे सति प्रयोजने निमित्ते चोपचारः प्रवर्तते" जहाँ पर मूल पदार्थ न हो परन्तु किसी प्रकारका प्रयोजन उससे सिद्ध होता हो अथवा वह किसी कार्यमे निमित्त पड़ता हो तो ऐसे स्थल पर उपचारसे उसकी सत्ता स्वीकार की जानी है। जैसे किसी वालकमे तैजस्त्व गुण देखकर उसे अग्नि कह देते हैं वास्तवमे वह अग्नि नही है क्योकि उसमे उष्णता आदि गुण नही है तथापि तैजस्त्व गुणके प्रयोजनसे उसे अग्नि कहते हैं इसलिये वह अग्निका उपचार वालकमे सर्वथा व्यर्थ नही है किन्तु किसी प्रयोजन वश किया गया है। इसीप्रकार कही पर निमित्त वश उपचार होता है। ज्ञानमे जो मूर्तताका उपचार किया गया है वह कर्मके निमित्तसे है। दूसरे—कर्मका आत्माके साथ अनादि कालसे अति घनिष्ट सम्बन्ध होनेसे आत्माका विपाक ही वैसा होने लगा है, इसलिये कहना पडता है कि आत्मा मूर्त है। मूर्ततामे एक हेतु यह भी है कि आत्माने अपना निज स्वभाव छोड़ दिया है।

जीवका परिणमन

अस्त्यस्त्यनादिसिद्धस्य सतः स्वाभाविकी क्रिया।
वैभाविकी क्रिया चास्ति पारिणामिकशक्तितः ॥६१॥

अर्थः—अनादि सिद्ध सत्ता रखनेवाले इस जीवात्माके दो प्रकारकी क्रिया होती है। एक स्वाभाविकी क्रिया और दूसरी वैभाविकी क्रिया। यह दोनों प्रकारकी क्रिया शक्तियोंके परिणमनशील होनेसे होती है।

भावार्थः—सम्पूर्ण शक्तियाँ परिणमनशील है, एक अवस्थाको छोड़कर दूसरी अवस्थाको धारण करती रहती हैं। परिणमनके कारण ही जीवात्मामें स्वभाव परिणमन और विभाव परिणमन—दोनो प्रकारका परिणमन होता है।

वैभाविकी शक्ति आत्माका गुण है

न परं स्यात्परायत्ता सतो वैभाविकी क्रिया।
यस्मात्सतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्यैर्न शक्यते ॥६२॥

अर्थः—यदि कोई वैभाविक शक्तिको पराधीन ही समझे, तो उसके लिये आचार्य कहते है कि वैभाविक शक्ति आतमाका ही निज गुण है क्योकि जिसमें जो गुण नही है वह दूसरोंसे नही आ सकता।

भावार्थः—आत्मामें अन्य गुणोकी तरह एक वैभाविक गुण भी है उसी वैभाविक गुणका विभाव परिणमन और स्वभाव परिणमन होता है। यदि वैभाविक गुण आत्माका निज गुण न होता तो आत्मामें विभाव—स्वभावरूप परिणमन भी नही हो सकता।

शङ्काकार

ननु वैभाविकभावाख्या क्रिया चेत्पारिणामिकी।
भाविक्याः क्रियायाश्च कः शेषो हि विशेषभाक् ॥६३॥

अर्थः—शङ्काकार कहता है कि यदि वैभाविक नामकी शक्ति ही परिणमनशील है तो उसीका विभाव और स्वभाव परिणमन होगा। फिर स्वभावकी शक्तिमे क्या विशेषता बाकी रहेगी?

फिर भी शंकाकार

अपि चार्थ परिच्छेदि ज्ञानं स्वं लक्षणं चितः।
ज्ञेयाकारक्रिया चास्य कुतो वैभाविकी क्रिया ॥६४॥

अर्थः—शकाकारका कहना है कि पदार्थको जाननेवाला जो ज्ञान है वह इस जीवात्माका निज लक्षण है। उस ज्ञानमे जो ज्ञेयके आकार क्रिया होती है वह क्रिया वैभाविकी कैसे कही जा सकती है?

भावार्थः—इस श्लोकसे शंकाकारने वैभाविक शक्तिको अनुपयोगी समझकर उड़ा

ही दिया है। वह कहता है कि वैभाविक उसे ही कहते हैं कि जो पर निमित्तसे हो, ज्ञान भी ज्ञेय पदार्थके निमित्तसे उस ज्ञेयके आकारको धारण करता है, परंतु ज्ञेयाकारको धारण करनेवाला ज्ञान वैभाविक किसीप्रकार नही कहा जा सकता है ?

इसी शंकाको नीचेके श्लोकसे स्पष्ट करते हैं

तस्माद्यथा घटाकृत्या घटज्ञानं न तद्घटः।
मद्याकृत्या तथाज्ञानं ज्ञानं ज्ञानं न तन्मयम् ॥६५॥

अर्थः—शकाकार कहता है कि जिससमय ज्ञेयके निमित्तसे ज्ञान ज्ञेयाकार हो जाता है, उससमय ज्ञान ज्ञान ही रहता है, वह ज्ञेय नही हो जाता। दृष्टान्तके लिये घटज्ञानको ले लीजिये। जिससमय ज्ञान घटाकार होता है उससमय घटज्ञान ज्ञान ही तो है, वह घट ज्ञान घट नही वन जाता। इसीप्रकार मदिराके निमित्तसे जो ज्ञान मद्याकार अर्थात् मलिन तथा मूर्छित हो जाता है, वह भी ज्ञान ही है, ज्ञान मदिरामय (विकारी) कभी नही हो सकता है।

भावार्थः—शंकाकारकी दृष्टिसे वैभाविक परिणमन कोई चीज नही है। वह कहता है कि जिससमय मदिराके निमित्तसे ज्ञान मालिन्य रूपमे आता है उससमय वह ज्ञान ही तो है, चाहे वह किसी रूपमे क्यो न हो। शकाकारने ज्ञेयके निमित्तसे वदलनेवाले ज्ञानमे कुछ भी अन्तर नही समझा है इसलिये उसके कथनानुसार स्वाभाविक शक्ति ही मानना चाहिये। वैभाविक शक्तिकी कोई आवश्यकता नहीं है।

उत्तर

नैवं यतो विशेषोस्ति वद्धावद्धावबोधयोः।
मोहकर्मावृतो वद्धः स्यादवद्धस्तदत्ययात् ॥६६॥

अर्थः—जो पहले शकाकारकी तरफसे यह कहा गया था कि मदिराके निमित्तसे वदला हुआ ज्ञान भी ज्ञान ही है और ज्ञेयाकार होनेवाला भी ज्ञान ही है, ज्ञानपना दोनोंमे समान है। इसके उत्तरमें आचार्य कहते हैं कि यह वात नही है क्योकि विना किसी अन्य निमित्तके (केवल ज्ञेयके निमित्तसे) ज्ञेयाकार होनेवाले ज्ञानमे और मदिराके निमित्तसे वदलने वाले ज्ञानमे वहुत अन्तर है। मदिराके निमित्तसे जो ज्ञान वदला है वह ज्ञान मलिन है, उस ज्ञानमें यथार्थता नही है। यथार्थता उसी ज्ञानमें है जो कि वस्तुको यथार्थ रीतिसे ग्रहण करता है। जो ज्ञान केवल ज्ञेयके निमित्तसे ज्ञेयाकार होता है वह वस्तुको यथार्थ ग्रहण करता है इसलिये दोनो ज्ञानोंमे वडा अन्तर है।

इसीप्रकार जीवोंका ज्ञान दो प्रकारका है, एक बद्ध ज्ञान दूसरा अबद्ध ज्ञान। जो ज्ञान मोहनीय कर्मसे ढका हुआ है अर्थात् जिसके साथ मोहनीय कर्म लगा हुआ है उसे तो बद्ध अर्थात् बँधा हुआ ज्ञान कहते हैं और जो ज्ञान मोहनीय कर्मसे रहित हो चुका है वह ज्ञान अबद्ध कहलाता है। बद्ध और अबद्ध ज्ञानमें बड़ा अन्तर है।

उसी अन्तरको नीचे दिखलाते हैं

मोहकर्मावृतं ज्ञानं प्रत्यर्थं परिणामि यत्।
इष्टानिष्टार्थसंयोगात् स्वयं रज्यद्द्विषद्यथा ॥६७॥

अर्थः—मोहनीय कर्मसे जो ज्ञान आवृत हो रहा है वह जिस–जिस पदार्थको जानता है उसी उसी पदार्थमे इष्ट और अनिष्ट बुद्धि होनेसे स्वयं रागद्वेष करता है।

भावार्थः—यद्यपि प्रत्येक पदार्थको क्रम २ से जानना ऐसी योग्यता ज्ञानमें ज्ञानावरणीयके निमित्तसे होती है, परन्तु इष्टरूप या अनिष्टरूप जैसे पदार्थ मिलते हैं, उन पदार्थोंमें रागद्वेष रूप बुद्धिका होना यह बात ज्ञानमें मोहनीय कर्मके निमित्तसे आती है।

अबद्ध ज्ञानका स्वरूप

तत्र ज्ञानमबद्धं स्यान्मोहकर्मातिगं यथा।
क्षायिकं शुद्धमेवैतल्लोकालोकावभासकम् ॥६८॥

अर्थः—जिस ज्ञानके साथ मोहनीय कर्मका सम्बन्ध नही रहा है वह अबद्ध ज्ञान कहलाता है। ऐसा ज्ञान परम शुद्ध क्षायिक ज्ञान है वही ज्ञान लोक अलोकका जाननेवाला है।

भावार्थः—चार घातिया कर्मोका नाश करनेवाले तेरहवें गुणस्थानवर्ती अरहन्त भगवानके जो जगत्का प्रकाश करनेवाला केवलज्ञान है वही अबद्ध ज्ञान है।

क्षायिक ज्ञान अबद्ध क्यों है सो बतलाते हैं

नासिद्धं सिद्धदृष्टान्तात् एतदृदृष्टोपलब्धितः।
शीतोष्णानुभवः स्वस्मिन् न स्यात्तज्ज्ञे परात्मनि ॥६९॥

अर्थः—क्षायिक ज्ञान अबद्ध है, उसमे इष्ट अनिष्ट रूप बुद्धि नही होती है यह बात असिद्ध नहीं है किन्तु प्रत्यक्ष सिद्ध है। हम शीत और गर्मीका अनुभव करते हैं, अर्थात् हमे ठण्ड भी लगती है और गर्मी भी लगती है, परन्तु दूसरा मनुष्य जो कि हमारे शीत उष्णका परिज्ञान करता है वह शीत उष्णका अनुभव नही करता है।

भावार्थः—हम किसी कष्टको भोग रहे हों तो दूसरा मनुष्य यह तो जानता है कि

वह कष्ट भोग रहा है परन्तु उसे कष्ट नही है। कष्टका होना और कष्टका ज्ञान होना इन दोनोमे वहुत अन्तर है। सिद्धोका ज्ञान सांसारिक पदार्थोको तथा नरकादिक गतियोको जानता है परन्तु उन पदार्थोमे किसी प्रकारकी रुचि अथवा अरुचिका उत्पादक नही हो सकता है। क्योकि रुचि अथवा अरुचिका होना मोहनीयके निमित्तसे है वहाँ पर मोहनीयका सर्वथा अभाव हो चुका है इससे भलीभाँति सिद्ध होता है कि जो मोहनीय कर्मसे सम्वन्ध रखनेवाला ज्ञान है वही वद्ध है और उससे रहित अवद्ध है।

निष्कर्ष

ततः सिद्धः सुदृष्टान्तो मूर्तं ज्ञानद्वयं यथा।
अस्त्यमूर्तोपि जीवात्मा वद्धः स्यान्मूर्तकर्मभिः ॥७०॥

अर्थः—इसलिये इतने कथनसे तथा मदिराके ज्वलन्त उदाहरणसे यह वात भले प्रकार सिद्ध हो गई कि जिसप्रकार मतिज्ञान और श्रुतज्ञान अमूर्त होने पर भी मूर्त हो जाते हैं। उसीप्रकार अमूर्त भी जीवात्मा मूर्तिमान् कर्मोसे वँध जाता है, अर्थात् मूर्त कर्मोके निमित्तसे अमूर्त आत्मा भी कथचित् मूर्त हो जाता है।

प्रश्न

ननु वद्धत्वं किं नाम किमशुद्धत्वमर्थतः।
वावदूकोथ संदिग्धो वोध्यः कश्चिदिति क्रमात् ॥७१॥

अर्थः—ऊपर कहा गया है कि जीव कर्मोसे वँधा हुआ है। यहाँ पर यह वतलाइये कि वद्धता क्या वस्तु है ? तथा अशुद्धता भी वास्तवमे क्या वस्तु है ? जिस किसी अधिक वोलनेवालेको इस विषयमें सन्देह है उसके सन्देहको दूर कर उसे यथार्थ वोध करा दीजिये ?

वन्धका स्वरूप

अर्थाद्वैभाविकी शक्तिर्या सा चेदुपयोगिनी।
तद्गुणाकारसंक्रान्तिर्वन्धः स्यादन्यहेतुकः ॥७२॥

अर्थः—आत्मामे अन्य गुणोकी तरह एक वैभाविक नामा शक्ति भी है। वह शक्ति जव उपयुक्त अवस्थामे आती है तव आत्माके गुणोकी सक्रान्ति (च्युत) होती है। गुणोका अपने स्वरूपमे च्युत होना ही वन्ध कहलाता है और वह वन्ध दूसरेके कारणसे होता है।

भावार्थः—रागद्वेषके निमित्तसे वैभाविक शक्तिका परिणमन विभावरूप होता है।

जो वैभाविक शक्तिका विभावरूप परिणमन है वही परिणमन वैभाविक शक्तिकी उपयोगी व्यवस्था है। उसी अवस्थामें आत्मा अपने स्वरूपसे गिर जाता है वही बन्धका यथार्थ स्वरूप है। इसी बातको नीचे स्पष्ट किया जाता है—

तत्र बन्धे न हेतुः स्याच्छक्ति वैंभाविकी परम्।
नोपयोगोपि तत्किन्तु परायत्तं प्रयोजकम् ॥७३॥

अर्थः—आत्माके गुणोंकी च्युति होने रूप बन्धमें केवल वैभाविकी शक्ति ही कारण नही है अथवा उसका केवल उपयोग भी कारण नही है किन्तु पराधीनता ही प्रयोजक है।

भावार्थः—यदि बन्धका कारण वैभाविक शक्ति ही हो तो वह शक्ति नित्य है—सदा आत्मामे रहती है इसलिये आत्मामें सदा बन्ध ही होता रहेगा, आत्मा मुक्त कभी न होगा। अथवा मुक्त आतमा भी बन्ध करने लगेगा इसलिये केवल शक्ति ही बन्धका कारण नही है। तथा केवल उपयोग भी नही है। उपयोग नाम शक्तिके परिणमनका है। वह उपयोग शक्तिकी स्वभाव अवस्थामे भी होता है और विभाव अवस्थामे भी होता है। यदि शक्तिका शुद्ध उपयोग भी बन्धका कारण हो तो भी वही दोष आता है जो कि ऊपर कहा जा चुका है। इसलिये पुद्गलके निमित्तसे जो वैभाविक शक्तिका विभाव रूप उपयोग है वही बन्धका कारण है। इस कथनसे बन्ध–कारणमे पुद्गलकी भी मुख्यता ली गई है। इसी बातको और भी स्पष्ट करते हैं।

अस्ति वैभाविकी शक्तिस्तत्तद्द्रव्योपजीविनी।
सा चेद्बन्धस्य हेतुः स्यादर्थान्मुक्तेरसंभवः ॥७४॥

अर्थः—जीव और पुद्गलका वैभाविक उपजीवी गुण है यदि वही बन्धका कारण हो तो जीवकी कभी मोक्ष ही नही हो सकती है।

भावार्थः—जो गुण भाव रूप होते हैं उन्हीको उपजीवी गुण कहते है। ज्ञान, सुख, दर्शन, वीर्य, अस्तित्व, वस्तुत्व आदि गुण सभी उपजीवी गुण है ये गुण अपनी सत्ता रखते हैं। इसीप्रकारका गुण वैभाविक भी है। जो गुण भावरूप न हो केवल कर्मोंके निमित्तसे होनेवाली अवस्थाका अभाव हो जानेसे प्रगट हुए हो उन्हे प्रतिजीवो-गुण कहते है। जैसे गोत्रके निमित्तसे आत्मा उच्च नीच कहलाता था। गोत्र कर्मके दूर हो जानेसे अब उच्च नीच नहीं कहलाता इसीका नाम अगुरुलघु है। वास्तवमे यह

*अगुरुलघु गुण नही है किन्तु गुरु और लघुपनेके अभावको ही अगुरुलघु कहा गया है। यह भी आत्माका अभावात्मक धर्म है। वैभाविक आत्माका सत्‌रूप गुण है इसलिये वह बन्धका हेतु नही हो सकता।

उपयोग भी बन्धका कारण नहीं है

योगः स्यादभिव्यक्तिः शक्तेः स्वार्थाधिकारिणी।
सैव वन्धस्य हेतुश्चेत् सर्वो वन्धः समस्यताम् ॥७५॥

अर्थः—शक्तिकी स्वरूपात्मक व्यक्तताका नाम भी उपयोग है। यदि वही उपयोग बन्धका हेतु हो तो सभी बन्ध विशिष्ट हो जांयगे।

ः—वैभाविक शक्तिका अपने स्वरूपको लिये हुए प्रगटपना शुद्ध अवस्थामे होता है। वह उक्त शक्तिका स्वभाव परिणमन कहलाता है। यह स्वभाव परिणमन बन्धका कारण नही है किन्तु दूसरा ही है। उसे ही वतलाते है।

तस्मात्तद्धेतुसामग्री सान्निध्ये तद्गुणाकृतिः।
स्वा रस्य परायत्ता तया बद्धोऽपराधवान् ॥७६॥

—इसलिये बन्धका कारण कलाप मिलनेपर यह स्वयं अपराधी आत्मा परतत्र होता हुआ बँध जाता है उसीसमय आत्माके निज गुणोंका स्वरूप अपनी अवस्थाको छोड़कर विभाव (विकार) अवस्थामें आ जाता है।

आत्माकी पराधीनता भी असिद्ध नहीं है

नासिद्धं तत्परायत्तं सिद्धसंदृष्टितो यथा।
शीतमुष्णमिवात्मानं कुर्वन्नात्माप्यनात्मवित् ॥७७॥

ः—संसारी आत्मा कर्मोंके परतन्त्र है यह बात भी असिद्ध नही है। प्रसिद्ध दृष्टान्तसे यह बात सिद्ध है। जिससमय यह आत्मा ठण्ड या गर्मीका अनुभव करने लगता है उससमय यह मूर्ख आत्मा अपनी आत्माको ही ठण्ड या गरम समझने लगता है। यह मूर्खता इसकी कर्मोंकी परतन्त्रतासे ही होती है।

शीत और उष्ण क्या है ?

था मूर्तद्रव्यस्य शीतश्चोष्णो गुणोखिलः।
आत्मनश्चाप्यमूर्त शीतोष्णानुभवः क्वचित् ॥७८॥

---

* एक द्रव्य दूसरे द्रव्य रूप न हो जाय जिसका यह कार्य है जिसमें षट् गुणी हानि वृद्धि होती है वह अगुरुलघु उपजीवी गुण दूसरा ही है।

अर्थः—शीत और उष्ण दोनों मूर्तद्रव्य (पुद्गल)के *गुण है। इन गुणोंका+ कहीं कही अमूर्त आत्मामे भी अनुभव होता है।

र्थः—आत्मा यद्यपि अमूर्त है उसके न शीत है और न उष्ण है तथापि कर्मकी परतन्त्रतासे यह आत्मा अपने आपको ही ठण्डा और गरम मानता है।

शंकाकार

ननु वैभाविकी शक्तिस्तथा स्यादन्ययोगतः।
परयोगाद्विना किं न स्याद्वास्ति तथान्यथा ॥७९॥

अर्थः—क्या वैभाविक शक्तिका विभाव रूप परिणमन दूसरेके निमित्तसे ही होता है? दूसरेके बिना निमित्तके नही ही होता? अथवा वैभाविक शक्ति वास्तवमे है या नही है?

उत्तर

सत्यं नित्या तथा शक्तिः शक्तित्वाच्छुद्धशक्तिवत्।
अथान्यथा सतो नाशः शक्तीनां नाशतः क्रमात् ॥८०॥

अर्थः—आचार्य कहते हैं कि वैभाविक शक्ति वास्तवमे है और वह नित्य है क्योंकि जो जो शक्तियाँ होती है वे सब नित्य ही हुआ करती हैं, जिसप्रकार आत्माकी शुद्ध शक्तियाँ ज्ञान दर्शनादिक नित्य हैं उसीप्रकार यह भी नित्य है। यदि इस वैभाविक शक्तिको नित्य नही माना जाय तो सत् पदार्थका ही नाश हो जायगा। क्योकि शक्तियो (गुणो)का समूह ही तो पदार्थ है। जब शक्तियोका ही क्रम क्रमसे नाश होने लगे तो पदार्थ भी अवश्य नष्ट हो जायगा। अग नाशसे अगीका नाश अवश्यंभावी है। इसलिये वैभाविक शक्ति आत्माका नित्य गुण है।

अशुद्धतामें हेतु

किन्तु तस्यास्तथाभावः शुद्धादन्योन्यहेतुकः।
तन्निमित्ताद्विना शुद्धो भावः स्यात्केवलं स्वतः ॥८१॥

अर्थः—किन्तु उस वैभाविक शक्तिकी शुद्ध अवस्थासे जो अशुद्ध अवस्था होती है वह दूसरेके निमित्तसे होती है। वह निमित्त जब आत्मासे दूर हो जाता है तब उस शक्तिकी शुद्ध अवस्था हो जाती है।

---

* स्पर्शगुणकी पर्याय। + ससारी आत्मामें।

चाहे आत्मामें कर्मोंका सम्बन्ध हो चाहे न हो आत्माके शुद्ध भावोमे परिणमन करनेवाली स्वाभाविकी शक्ति सदा रहती है। वह शक्ति उन्ही आत्माके अंशोमें काम करती है जो शुद्ध हैं। तथा कर्मोंका जबतक आत्मासे सम्बन्ध रहेगा तबतक वैभाविक शक्तिका परिणमन होता रहेगा, जब कर्मोंका उदय न रहेगा अर्थात् जब कर्म शान्त हो जायेंगे उससमय उस वैभाविक शक्तिका परिणमन भी नही होगा, उससमय वह बेकार ही पडी रहेगी। दृष्टान्त—कुम्हारके चाकको जबतक दण्डका निमित्त रहता है तबतक वह चाक अपने आप घूमता है, परन्तु जब दण्डका सम्बन्ध नही रहता तब वह चाक भित्तिमे बनाये हुए चित्रकी तरह अपने स्थानमें ही ठहरा रहता है।

भावार्थः—शकाकारका अभिप्राय इतना ही है कि आत्मामे एक स्वाभाविक शक्ति और एक वैभाविक शक्ति ऐसी दो शक्तियाँ स्वतन्त्र मानो। ये दोनो शक्तियाँ नित्य हैं, परन्तु आत्माके स्वाभाविक गुणोमे स्वाभाविकी शक्तिका परिणमन होता रहता है। कर्मोंके निमित्तसे जब आत्माके गुणोका वैभाविक स्वरूप हो जाता है तब वैभाविक शक्तिका परिणमन होता रहता है। परन्तु कर्मोंके दूर होनेपर या अनुदय होनेपर वैभाविक शक्तिका परिणमन नही होता है।

शकाकार दो शक्तियां मानकर उन्हे नित्य मानता है तथापि उनमे परिणमन वह सदा नही मानता। उसके सिद्धान्तानुसार अब दो शंकाये हो गईं। एक तो एक शक्तिके स्थानमे दो शक्तियाँ स्वीकार करना। दूसरे शक्तियोको नित्य मानते हुए भी उनमें सदा परिणमन नही मानना। इन्ही दोनो शंकाओका परिहार नीचे किया जाता है—

उत्तर

नैवं यतोस्ति परिणामि शक्तिजातं सतोऽखिलम्।
कथं वैभाविकी शक्तिर्न स्याद्वै पारिणामिकी ॥८८॥

अर्थः—शकाकारका यह कहना कि वैभाविक शक्ति विना कर्मोदयके चित्रकी तरह कूटस्थ–परिणाम शून्य रह जाती है, सर्वथा युक्ति–आगम शून्य है। क्योंकि जितना भी शक्ति समूह है सब परिणमनशील है। पदार्थमे ऐसी कोई भी शक्ति नही है जो प्रतिक्षण अपनी अवस्थाको न बदलती हो। फिर वैभाविकी शक्ति परिणमनशील क्यो न होगी। जब वह परिणमनशील है तो "कर्मोंके अनुदयमे चित्रकी तरह परिणाम रहित हो जाती है" यह शंकाकारकी शका नितान्त व्यर्थ है।

और ऐसा भी नही है कि कोई शक्ति परिणमनवाली हो और कोई न हो, सभी शक्तियां परिणमनशील हैं, इसी बातको नीचे दिखाते हैं—

शक्तिको परिणाम रहित माननेमें कोई प्रमाण नहीं है

परिणामात्मिका काचिच्छक्तिश्चाऽपारिणामिकी ।
तद्ग्राहकप्रमाणस्याऽभावात्संदृष्टयभावतः ॥८९॥

अर्थः—द्रव्यमे जितनी शक्तियाँ हैं सभी प्रतिक्षण परिणमन करती रहती हैं। किसी शक्तिको परिणमनशील माना जाय और किसीको नही माना जाय या कुछ कालके लिये परिणमनशील माना जाय, इसमें कोई प्रमाण नही है और न कोई दृष्टान्त ही है।

भावार्थः—वस्तुमे दो प्रकारकी पर्याये होती है एक व्यंजन पर्याय, दूसरी अर्थ पर्याय। प्रदेशवत्त्व गुणके विकारको व्यंजन पर्याय कहते हैं, अर्थात् समग्र वस्तुके अवस्था भेदको व्यंजन पर्याय कहते हैं। तथा उस द्रव्यमे रहनेवाले अनन्त गुणोकी पर्यायको अर्थ पर्याय कहते हैं। उक्त दोनो प्रकारकी पर्याये वस्तुमे प्रति समय हुआ करती हैं।

फलितार्थ

तस्माद्वैभाविकी शक्तिः स्वयं स्वाभाविकी भवेत् ।
परिणामात्मिका भावैरभावे कृत्स्नकर्मणाम् ॥९०॥

अर्थः—जब उपर्युक्त कथनानुसार सभी शक्तियोका परिणमन होता है। तब वैभाविकी शक्तिका भी प्रतिक्षण परिणमन सिद्ध हो चुका। इसलिये फलितार्थ यह हुआ कि वैभाविकी शक्ति ही अवस्था भेदसे स्वभाव विभावमे आया करती है। जब कर्मोका सम्बन्ध रहता है तब तो उस वैभाविकी शक्तिका विभावरूप परिणमन होता है और जब सम्पूर्ण कर्मोका अभाव होता है तथा आत्मा अपने स्वाभाविक शुद्धभावोका अधिकारी हो जाता है, उससमय उस वैभाविकी शक्तिका परिणमन स्वभावरूप होता है। इसप्रकार केवल एक वैभाविक शक्तिके ही स्वाभाविक और वैभाविक ऐसे दो अवस्था भेद है।

निष्कर्ष

ततः सिद्धं सतोऽवश्यं न्यायाच्छक्तिद्वयं यतः ।
सदवस्थाभेदतो द्वैतं न द्वैतं युगपत्तयोः ॥९१॥

यह बात भलीभांति सिद्ध हो जाती है कि पदार्थमें
यह द्वैत अवस्था भेदसे ही है, स्वाभाविक और
द्वैत नही है।

भावार्थः—वस्तुमे एक समयमें एक ही पर्याय होती है इस नियमसे वैभाविक शक्तिकी क्रमसे होनेवाली दोनो अवस्थाये वस्तुमे रहती है। परन्तु कोई कहे कि स्वाभाविक और वैभाविक दोनो एक साथ रह जाँय यह कभी नही हो सकता। क्योकि यदि एक साथ एक कालमे दोनों रह जाँय तो वे दो गुण कहे जाँयगे, पर्याये नही कही जाँयगी। पर्याय तो एक समयमे एक ही होती है। इसलिये अवस्थाभेदसे क्रमसे ही स्वाभाविक और वैभाविक दोनो अवस्थाये पायी जाती हैं। एक कालमे नही।

दोनोंको एक में माननेसे दोष

यौगपद्ये महान् दोषस्तद्द्वैतस्य नयादपि।
कार्यकारणयोर्नाशो नाशः स्याद्बन्धमोक्षयोः ॥९२॥

अर्थ—यद्यपि वैभाविक शक्ति एक ही है और उसकी दो अवस्थायें क्रमसे होती हैं यह सिद्धान्त है। तथापि अवस्था भेदसे जो द्वैत है अर्थात् पर्यायकी अपेक्षासे जो स्वाभाविक और वैभाविक दो भेद हैं इन भेदोको एक साथ ही कोई स्वीकार करे तो भी ठीक नही है। ऐसा माननेसे अनेक दोष आते है। एक तो कार्य कारण भाव इनमें नही रहेगा क्योकि वैभाविक अवस्था पूर्वक ही स्वाभाविक अवस्था होती है। जिसप्रकार ससार पूर्वक ही मोक्ष होती है। इसलिये ससार मोक्ष प्राप्तिमे कारण है। इसीप्रकार वैभाविक अवस्थाके बिना स्वाभाविक अवस्था भी नही हो सकती है। एक साथ माननेमें यह कार्यकारणभाव नही बनेगा। दूसरे बन्ध और मोक्षकी भी व्यवस्था नहीं बनेगी, क्योकि वैभाविक अवस्थाको पहले माननेसे तो बन्धपूर्वक मोक्षका होना सिद्ध होता है। परन्तु एक साथ दोनो अवस्थाओकी सत्ता स्वीकार करनेसे बन्ध और मोक्ष एक साथ ही प्राप्त होगी। अथवा बन्धकी सत्ता होते हुए मोक्ष कभी हो नही सकती, इसलिये इस आत्माकी कभी भी मोक्ष नही होगी। इसी बातको नीचे भी दिखाते है—

नैकशक्तेर्द्विधाभावो यौगपद्यानुषङ्गतः।
सति तत्र विभावस्य नित्यत्वं स्यादबाधितम् ॥९३॥

अर्थः—यद्यपि एक शक्ति (वैभाविक)के ही दो भेद होते हैं अर्थात् एक ही शक्ति दो रूप धारण करती है। परन्तु एक साथ ही एक शक्तिके दो भेद नही हो सकते। यदि दोनो भेद बराबर एक साथ ही होने लगें तो वैभाविक अवस्था भी नियमसे सदा बनी रहेगी और वैभाविक अवस्थाकी नित्यतामे आत्माका मोक्ष-प्रयास व्यर्थ हो जायगा। इसलिये एक गुणकी वैभाविक और स्वाभाविक अवस्थाये क्रमसे ही होती हैं। एक कालमे नही होती।

शङ्काकार

ननु चानादितः सिद्धं वस्तुजातमहेतुकम् ।
तथाजातं परं नाम स्वतः सिद्धमहेतुकम् ॥९४॥
तदवश्यमवश्यं स्यादन्यथा सर्वसङ्करः ।
सर्वशून्यादिदोषश्च दुर्वारो निग्रहास्पदम् ॥९५॥
ततः सिद्धं यथा वस्तु यत्किंचिज्जड़ात्मकम् ।
तत्सर्वं स्वस्वरूपाद्यैः स्यादनन्यगतिः स्वतः ॥९६॥
अयमर्थः कोपि कस्यापि देशमात्रं हि नाश्नुते ।
द्रव्यतः क्षेत्रतः कालाद्भावात् सीम्नोनतिक्रमात् ॥९७॥
व्याप्यव्यापकभावस्य स्यादभावेपि मूर्तिमत् ।
द्रव्यं हेतुर्विभावस्य तत्किं तत्रापि नापरम् ॥९८॥
वैभाविकस्य भावस्य हेतुः स्यात्सन्निकर्षतः ।
तत्रस्थोप्यपरो हेतु र्न स्यात्किंवा वतेति चेत् ॥९९॥

अर्थः—शंकाकार कहता है कि सभी पदार्थ अनादि सिद्ध है। पदार्थोको पैदा करनेवाला कोई कारण नही है, वे सभी अपने आप ही अनादि सिद्ध है। उसीप्रकार उनके नाम भी अनादि सिद्ध है। यद्यपि एक वस्तुका पहले कुछ नाम और पीछे कुछ नाम भले ही हो जाय परन्तु वाच्यवाचक सम्बन्ध सदा ही रहता है। इसलिये जिसप्रकार पदार्थ अनादिसे हैं उसीप्रकार उनके वाचक नाम भी अनादिसे हैं। यह पदार्थो और उनके सकेतोकी अनादिता अवश्य अवश्य स्वीकार करनी पडती है। यदि ऐसा न माना जाय तो "सर्व सङ्कर" और "शून्यता" आदिक अनेक दोष आते है जो कि पदार्थोके नाशके कारण हैं। इसलिये यह बात भलीभाँति सिद्ध है कि जो कोई भी चैतन्य या जड वस्तु है सभी अपने अपने स्वरूपको लिये हुए है। उसके स्वरूपका परिवर्तन (फेरफार) कभी नही हो सकता। उपर्युक्त कथनका साराश यह निकला कि कोई भी पदार्थ किसी दूसरे पदार्थके एक देशमात्रको भी नहीं बिगाड़ सकता है। सभी पदार्थ द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे अपने अपने स्वरूपमे ही स्थित है, यदि इन चारोमेसे किसी एककी अपेक्षासे भी पदार्थ दूसरे रूपमे आ जाँय तो वह अपनी सीमासे बाहर हो जाँय। कोई भी पदार्थ क्यो न हो वह अपनी सीमाका उल्लङ्घन कभी किसी अशमे नही कर सकता। जब ऐसा नियम है तो क्या कारण है कि जीव और पुद्गलमे व्याप्य व्यापक भाव सम्बन्ध न होनेपर भी मूर्तिमान् पुद्गल द्रव्य जीवके वैभाविक भावोंमे कारण हो

जाता है। यदि विना किसी प्रकारके सम्वन्धके भी पुद्गलकर्म जीवके वैभाविक भावमें कारण हो जाता है तो उसी स्थलपर रहनेवाला धर्मादिक अपर द्रव्य भी जीवके विकारका कारण क्यो न माना जाय ? इसके उत्तरमे यदि यह कहा जाय कि सन्निकर्ष —सम्वन्ध विशेष होनेसे पुद्गलद्रव्य ही जीवके विभावका कारण होता है, धर्मादिक नहीं होते, तो भी यह दोष आता है कि उसी स्थानपर रहनेवाला सन्निकर्ष सम्बन्ध विशि विस्रसोपचयरूप पुद्गलपिण्ड जीवके विकारका कारण क्यों नही हो जाता है ?

उत्तर

सत्यं वद्धमवद्धं स्याच्चिद्द्रव्यं चाथ मूर्तिमत् ।
स्वीयसम्वन्धिभिर्वद्धमवद्धं परवन्धिभिः ॥१००॥
वद्धावद्धत्वयोरस्ति विशेषः पारमार्थि ः ।
तयोर्जात्यन्तरत्वेपि हेतुमद्धेतुशक्तितः ॥१०१॥

अर्थः—आपने जो शका उठाई है सो ठीक, परन्तु बात यह है कि सभी जीव पुद्गल वद्ध तथा अवद्ध नही होते किन्तु कोई बद्ध होते है और कोई अबद्ध होते है। ससारी जीव पुद्गल कर्मोसे वँधे हुए हैं, मुक्त नही। इसीप्रकार पुद्गल द्रव्यमें भी ज्ञानावरणीय आदि कर्म परिणत पुद्गल द्रव्य ही जीवसे बँधे हुए है, अन्य (पाँच प्रकारकी वर्गणाओको छोड़कर) पुद्गल नही। और भी जो बन्ध योग्य जीव व पुद्गल द्रव्य है, उनमे भी सभी जीव ससारकी समस्त कर्मवर्गणाओसे एक साथ नही बँध जाते, और न समस्त कर्मवर्गणाये हो प्रत्येक जीवके साथ प्रतिसमय बँध जाती है, किन्तु जिस समय जिस जीवके जैसी कषाय होती है उसीके योग्य कर्मोसे जीव बँध जाता है अन्य प्रकारकी कपायसे बँधने योग्य कर्मोके साथ नही बँधता। इसलिये कोई पुद्गलद्रव्य जीवमे विकार करता है कोई नही करता। ऐसा भी नही है कि सांख्यमतकी तरह पुरुष (जीवात्मा)को सर्वथा शुद्ध मान लिया जाय और बन्धको केवल प्रकृति (कर्म)का ही धर्म मान लिया जाय तथा बद्धजीव और मुक्तजीवमे वास्तवमे कुछ अन्तर ही न माना जाय, और ऐसा भी नही है कि किसी द्रव्यमे दूसरे द्रव्यके निमित्तसे विकार सर्वथा हो ही नही सकता। ऐसा माननेसे पदार्थोका निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध ही उड जाता है। और निमित्त नैमित्तिक सम्बन्धके अभावमे किसी कार्यको सिद्धि नही हो सकती है। इसलिये बद्ध जीव और मुक्त जीवमे वास्तविक भेद है। तथा जीव और पुद्गलमे विजातीयपना होनेपर भी परस्पर इसप्रकारका निमित्त नैमित्तिक भाव है जिससे कि ससारी जीवोकी कषायका निमित्त पाकर पुद्गल कर्म जीवोके साथ वन्धको

प्राप्त हो जाता है, और उन बँधे हुए कर्मोंके परिपाक कालमे जीवोमे कषायादि रूप विकार उत्पन्न हो जाते है।

बद्ध और मुक्तका स्वरूप

बद्धःस्याद्बद्धयोर्भावः स्यादबद्धोप्यबद्धयोः।
सानुकूलतया बन्धो न बन्धः प्रतिकूलयोः ॥१०२॥

अर्थः—बँधे हुए दो पदार्थोकी अवस्था विशेषको बद्ध कहते हैं। इसीप्रकार नही बँधे हुए दो पदार्थोंकी अवस्थाको अबद्ध कहते है। बन्ध वही होता है जहां पर कि अनुकूलता होती है। प्रतिकूल पदार्थोका बन्ध नही होता है।

भावार्थः—जहाँ अनुकूल योग्य सामग्री जुट जाती है वहीपर बन्ध होता है, जहाँ योग्य सामग्री नही मिलती वहाँ बन्धकी योग्यता भी नही है।

बन्ध-भेद

अर्थतस्त्रिविधो बन्धो वाच्यं तल्लक्षणं त्रयम्।
प्रत्येकं तद्द्वयं यावत्तृतीयस्तूच्यतेऽधुना ॥१०३॥

अर्थः—वास्तवमे बन्ध तीन प्रकारका होता है इसीलिये उन तीनोके जुदे जुदे तीन लक्षण भी है। तीनो प्रकारोके बन्धोमे दो बन्धोका स्वरूप तो एक एक स्वतन्त्र है। परन्तु तीसरे बन्धका स्वरूप जो कि दो के मिलनेसे होता है कहा जाता है—

भावार्थः—पहले कहा जा चुका है कि भाव बन्ध, द्रव्य बन्ध और उभय बन्ध, इसप्रकार बन्धके तीन भेद है। उनमे भाव बन्ध और द्रव्य बन्धमे तो मोटी रीतिसे एक एक ही पदार्थ पडता है। क्योकि राग द्वेषादि भाव ही भाव बन्ध कहलाते हैं इन भावोमे आत्माकी ही मुख्यता रहती है। कर्मके निमित्तसे आत्माके चारित्र गुणके विकारको रागद्वेष कहते हैं। द्रव्य बन्धमे केवल पुद्गल ही पडता है। इसलिये ये दोनो बन्ध तो प्रत्येक स्वतन्त्र है परन्तु तीसरा बन्ध जो उभय बन्ध है वह आत्मा और पुद्गल इन दो द्रव्योके सम्बन्धसे होता है। इसलिये उसीका स्वरूप कहा जाता है।

जीवकर्मोभयोर्बन्धः स्यान्मिथः साभिलाषुकः।
जीवः कर्मनिबद्धो हि जीवबद्धं हि कर्म तत् ॥१०४॥

अर्थः—परस्परमे एक दूसरेकी अपेक्षाको लिये हुए जो जीव और कर्म दोनोका सम्बन्ध है वही उभयबन्ध कहलाता है। जीव तो कर्मोसे बँधा हुआ है और कर्म जीवसे [illegible]ए है।

बन्धके कारण पर विचार

तद्गुणाकारसंक्रान्ति र्भावो वैभाविकश्चितः ।
तन्निमित्तं च तत्कर्म तथा सामर्थ्यकारणम् ।।१०५।।

अर्थः—जीवके गुणोका अपने स्वरूपसे बदलकर दूसरे रूपमे आ जाना, इसीका नाम वैभाविक भाव है। यही जीवका भाव कर्मके बन्ध करनेमें कारण है, और वैभाविक भावके निमित्तसे होनेवाला वही कर्म उसी वैभाविक भावके पैदा करनेकी सामर्थ्यका कारण है।

भावार्थः—कर्मोके निमित्तसे होनेवाली रागद्वेष रूप आत्माकी अवस्थाका नाम ही वैभाविक है। वही अशुद्धभाव पुद्गलोको कर्मरूप बनानेमें कारण है, और वह कर्म भी उस वैभाविक भावकी उत्पत्तिका कारण है इसलिये इन दोनोमें परस्पर कारणता है। इसी बातको नीचे स्पष्ट करते है—

अर्थोयं यस्य कार्यं तत् कर्मणस्तस्य कारणम् ।
एको भावश्च कर्मैकं बन्धोयं द्वन्द्वजः स्मृतः ।।१०६।।

अर्थः—उपर्युक्त कथनका यही आशय है कि जिस कर्मका यह वैभाविक भाव कार्य है, उसी कर्मका कारण भी है। इसलिये एक तो भाव और एक कर्म इन दोनोसे ही उभय बन्ध होता है।

भावार्थः—यहाँपर यह शका उपस्थित हो सकती है कि एक ही कर्मका वैभाविक भाव कार्य है और उसी एक कर्मका कारण भी है। उसीका कार्य और उसीका कारण यह बात एक अनबनसी प्रतीत होती है। परन्तु सजातीयताको ध्यानमे रखनेसे यह शका सर्वथा निर्मूल हो जाती है। वैभाविक भावको जिस कर्मने पैदा किया है उसी कर्मका कारण वैभाविक भाव नही है किन्तु नवीन कर्मके लिये वह कारण है। अर्थात् वैभाविक भावसे नवीन कर्म बँधते है और उन कर्मोसे नवीन २ भाव पैदा होते है। सजातीयकी अपेक्षासे ही "उसी कर्मका कारण उसीका कार्य" ऐसा कहा गया है।

यदि कोई दूसरे सजातीय कर्मको भी कर्मत्व धर्मकी अपेक्षासे एक ही कर्म समझकर शका उठावे कि कर्म ही स्वय कार्य और कर्म ही स्वय कारण कैसे हो सकता है ? इस शकाका उत्तर भी एक ही पदार्थमे कार्य कारण भाव दिखानेवाले दृष्टान्त द्वारा स्फुट करते है—

तथाऽऽदर्शे यथा चक्षुः स्वरूपं संदधत्पुनः ।
स्वाकाराकारसंक्रान्तं कार्यं हेतुः स्वयं च तत् ॥१०७॥

अर्थः—जिसप्रकार दर्पणमे मुख देखनेसे चक्षुका प्रतिबिम्ब दर्पणमे पड़ता है। उस अपने प्रतिबिम्बमे कारण स्वय चक्षु है, प्रतिबिम्ब कार्य है। परन्तु वही चक्षुके आकारको धारण करनेवाला चक्षुका प्रतिबिम्ब अपने दिखानेमे कारण भी है।

भावार्थः—जब चक्षुसे दर्पण देखते है तब चक्षुका आकार दर्पणमे पडता है, इसलिये तो वह आकार चक्षुका कार्य हुआ, क्योकि चक्षुसे पैदा हुआ है। परन्तु उसी आकारको जब चक्षुसे देखते है तब अपने दिखानेमे वह आकार कारण भी होता है। इसलिये एकही पदार्थमे कार्य कारण भाव भी उपर्युक्त दृष्टान्त द्वारा सुघटित हो जाता है।

अपि चाचेतनं मूर्तं पौद्गलं कर्म तद्यथा ।
* ....॥१०८॥

जीवभावविकारस्य हेतुः स्याद्द्रव्य कर्म तत् ।
तद्धेतुस्तद्विकारश्च यथा प्रत्युपकारकः ॥१०९॥

अर्थः—अचेतन, पौद्गलिक, मूर्त द्रव्य कर्म तो जीवके भावोके विकारका कारण है। और उस द्रव्य कर्मका कारण वह वैभाविक भाव है। यह परस्पर कारणपना इसीप्रकार है कि मानो एक दूसरेके उपकारका परस्पर वदला ही चुकाते हो।

इन दोनोंमें क्यों कारणता हुई ?

चिद्विकाराकृतिस्तस्य भावो वैभाविकः स्मृतः ।
तन्निमित्तात्पृथग्भूतोऽप्यर्थः स्यात्तन्निमित्तकः ॥११०॥

अर्थः—जीवकी शुद्ध अवस्थासे विगड़कर जो विकार अवस्था है वही जीवका वैभाविक भाव है उसी वैभाविक भावके निमित्तसे जीवसे सर्वथा भिन्न भी पुद्गल द्रव्य उस वैभाविक भावके लिये निमित्त कारण होता है।

भावार्थः—यद्यपि पुद्गलकार्माण द्रव्य जीवसे सर्वथा भिन्न जड पदार्थ है, परन्तु जीवके अशुद्ध भावोसे वह खिचकर कर्मरूप हो जाता है। फिर वही जड़कर्म चेतनके भावोके बिगाडनेमे कारण होता है। इसमे परस्परकी निमित्तता ही कारण है।

* मूल पुस्तकमें भी इस श्लोकके दो चरण नहीं मिले।

ऐसा होनेमें भी उभयबन्ध ही कारण है

तद्धि नोभयबन्धाद्वै वहिर्बद्धाश्चिरादपि ।
न हेतवो भवन्त्येकक्षेत्रस्याप्यबद्धवत् ॥१११॥

अर्थः—वह कर्म चेतन–भावोके बिगाड़नेका कारण हो जाता है इसमें भी उभयबन्ध ही कारण है। क्योकि जब तक वह पुद्गल द्रव्य कर्मरूप परिणत न होगा तब तक वह आत्माके भावोको विकारी बनानेमे कारण नही हो सकता है। यदि बिना कर्मरूप अवस्थाको धारण किये ही पुद्गल द्रव्य जीवके विकार भावोका कारण हो जाय तो जीवके साथ ही उसी क्षेत्रमे चिरकालसे लगे हुए विस्रसोपचय भी कारण हो जाँयगे, परन्तु विस्रसोपचय विकारमे कारण होते नही, किन्तु कर्म ही कारण है और कर्म–अवस्था पुद्गलकी तभी होती है जब कि वह उभयबन्ध रूपमे परिणत हो जाता है।

भावार्थः—विस्रसोपचय उन्हे कहते है कि जो पुद्गल परमाणु (कार्माण स्कन्ध) कर्मरूप परिणत तो नही हुए हो किन्तु आत्माके आसपास ही कर्मरूप परिणत होनेके लिये सन्मुख हो। इन पुद्गल परमाणुओकी बन्धरूप अवस्था नही है। जिससमय आत्मा त्रियोग और रागद्वेषादि कषाय भावोको धारण करता है उसीसमय अन्य संसारमें भरी हुई कार्माण वर्गणायें अथवा ये विस्रसोपचय सज्ञा धारण करनेवाले परमाणु झट आत्माके साथ बँध जाते है। बँधनेपर ही उनकी कर्म सज्ञा हो जाती है। उससे पहले पहले कार्माण (कर्म होनेके योग्य) संज्ञा है। ये विस्रसोपचय आत्मासे बँधे हुए कर्मोंसे भी अनन्त गुणे हैं। क्योकि पहले तो आत्माके साथ बँधे हुए कर्म परमाणु ही अनन्तानन्त है। उन कर्मरूप परमाणुओमेसे प्रत्येक परमाणुके साथ अनन्तानन्त सूक्ष्म परमाणु (विस्रसोपचय) लगे हुए है।

अशुद्धता

तद्बद्धत्वाविनाभूतं स्यादशुद्धत्वमक्रमात् ।
तल्लक्षणं यथा द्वैतं स्याद्द्वैतात्स्वतोन्यतः ॥११२॥

अर्थः—आत्माकी बद्धताकी अविनाभाविनो अशुद्धता भी उसीसमय आ जाती है। उस अशुद्धताका यही लक्षण है कि स्वय अद्वैत आत्मा अन्य पदार्थके निमित्तसे द्वैत हो जाता है।

भावार्थः—जिससमय आत्मा कर्मोंसे बद्ध होता है उसीसमय अशुद्ध भी है। बिना अशुद्धताके बद्धता आ ही नही सकती है। इसीप्रकार बिना बद्धताके अशुद्धता भी नही

आ सकती । इसलिये बद्धता और अशुद्धता ये दोनो अविनाभाविनी है । एकके विना दूसरा न होवे इसीका नाम अविनाभाव है । यद्यपि आत्मा स्वय (अपने आप) अद्वैत अर्थात् अमिल–एक है । तथापि अशुद्धताको धारण करनेमे (पर पदार्थके निमित्तसे) वही आत्मा द्वैत अर्थात् दो रूपधारी (दुरगा) बना हुआ है ।

आत्मामें द्विरूपता किस प्रकारकी है

तत्राऽद्वैतेपि यद्द्वैतं तद्द्विधाप्यौपचारिकम् ।
तत्राद्यं स्वांशसंकल्पश्चेत्सोपाधि द्वितीयकम् ॥११३॥

अर्थः—आत्मा अशुद्ध अवस्थामे द्विरूपता धारण करता है अर्थात् उसमे दो प्रकारके अशोका मेल हो जाता है। यह दोनो ही प्रकारका मेल औपचारिक (उपचारसे) है। उन दोनों अशोमे एक अश तो स्वय आत्माका ही है, और दूसरा उपाधिसे होनेवाला अर्थात् पर पदार्थका है ।

भावार्थः—आत्मा और कर्म, इन दोनोके स्वरूपका जब विकाररूप परिणमन होता है, दोनो ही जब अपने स्वरूपको छोड देते है उसीका नाम अशुद्धता है । यह अशुद्धता व्यवहार दृष्टिसे है । वास्तव दृष्टिसे आत्मा अमूर्त है । अशुद्धता कर्म और आत्माका भाव दोनो ही के मेलसे होती है, इसलिये अशुद्धतामे दो भाग होते हैं। उन दोनो भागोका यदि विचार करे तो एक भाग तो आत्माका है । क्योकि अशुद्धता आत्माके ही गुणकी विकार अवस्था है परन्तु दूसरा भाग कर्मका है । इसीलिये रागद्वेषादि वैभाविक अवस्थायें जीवात्मा और पुद्गल कर्म दोनोकी है ।

शकाकार

ननु चैकं सत्सामान्यात् द्वैतं स्यात्सद्विशेषतः ।
तद्विशेषेपि सोपाधि निरुपाधि कुतोर्थतः ॥११४॥
अपिचाभिज्ञानमत्रास्ति ज्ञानं यद्रसरूपयोः ।
न रूपं न रसो ज्ञानं ज्ञानमात्रमथार्थतः ॥११५॥

अर्थः—शकाकार कहता है कि हर एक पदार्थकी दो अवस्थाये होती हैं। एक सामान्य अवस्था, दूसरी विशेष अवस्था । सामान्य रीतिसे पदार्थ एक ही है, और विशेष रीतिसे दो प्रकार है । ऐसा विशेष खुलासा होनेपर भी सोपाधि और निरुपाधि भेद कैसा ? और ऐसा अनुभव भी होता है कि जो ज्ञान रस रूपको जानता है वह ज्ञान ही रूप, रस रूप स्वय नही हो जाता है । वास्तवमे ज्ञान ज्ञान ही है और रूप, रस ...गल ही है ।

भावार्थः—शंकाकारका अभिप्राय यह है कि सामान्य और विशेषात्मक उभय रूप पदार्थ है। सामान्य दृष्टिसे एक है और विशेष दृष्टिसे उसमें द्विरूपता है, अर्थात् द्रव्यार्थिकनयसे पदार्थ सदा एक है और पर्यायकी अपेक्षासे वही पदार्थ अनेक रूप है। जब ऐसा सिद्धान्त है तो फिर अशुद्ध-आत्मामें जो द्विरूपता है वह पर निमित्तसे क्यों मानी जावे ? ऊपर जो यह कहा गया है कि एक अंश आत्माका है और दूसरा पुद्गलका है-यह कहना व्यर्थ है। अशुद्ध आत्माकी जो द्विरूपता है वह आत्माकी ही विशेष अवस्था है। इसलिये आत्मामे सोपाधि और निरुपाधि, ऐसे दो भेद करना ठीक नही है। हम जानते भी है कि रूप रसादिको जाननेवाला ज्ञान उन रूपादि पदार्थोंसे सर्वथा जुदा है जाननेसे ज्ञानमे किसी प्रकारकी अशुद्धता नही आती है। शकाकारका अभिप्राय है कि अशुद्धता कोई चीज नही है ?

नैवं यतो विशेपोस्ति सद्विशेषेपि वस्तुतः।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां द्वाभ्यां वै सिद्धसाधनात् ॥११६॥

अर्थः—शंकाकारका यह कहना कि ज्ञानमे अज्ञानता आती ही नही है। अथवा अशुद्धता कोई चीज ही नही है सर्वथा मिथ्या है। क्योकि पदार्थके सामान्य और विशेष ये दो भेद होनेपर भी कुछ और भी विशेषता है। वह विशेषता अन्वय, व्यतिरेकके द्वारा सिद्ध होती है। किस प्रकार ? सो नीचे दिखाते हैं—

तत्रान्वयो यथा ज्ञानमज्ञानं परहेतुतः।
अर्थाच्छीतमशीतं स्याद्वह्नियोगाद्धि वारिवत् ॥११७॥

अर्थः—"यत्सत्त्वे यत्सत्त्वमन्वय" जिसके होनेपर जो हो इसीका नाम अन्वय है। पर पदार्थकी निमित्ततासे ज्ञान अज्ञान हो जाता है यह अन्वय यहांपर ठीक घटता है। जिसप्रकार ठण्डा जल अग्निके सम्बन्धसे गरम हो जाता है।

यह बात असिद्ध भी नहीं है

नासिद्धोसौ हि दृष्टान्तो ज्ञानस्याज्ञानतः सतः।
अस्त्यवस्थान्तरं तस्य यथाजातप्रमात्त्वतः ॥११८॥

अर्थ—यह दृष्टान्त असिद्ध भी नही है। जिससमय ज्ञान अज्ञानरूपमे आता है उससमय पदार्थकी यथार्थ प्रमिति नही हो पाती है किन्तु अवस्थान्तर ही हो जाता है।

व्यतिरेक

व्यतिरेकोऽस्यात्मविज्ञानं यथास्वं परहेतुतः ।
मिथ्यावस्थाविशिष्टं स्याद्गतेऽवं शुद्धमेव तत् ॥११९॥

अर्थः—जिसप्रकार ज्ञानमे अन्वय घटता है उसीप्रकार व्यतिरेक भी घटता है। व्यतिरेक उसे कहते हैं कि जिसके न होनेपर जो न हो। जिसप्रकार आत्माका ज्ञान दूसरेके निमित्तसे मिथ्या–अवस्था सहित हो जाता है उसीप्रकार उस परहेतुके बिना शुद्ध ही है। अर्थात् कर्मके निमित्तसे ज्ञान अज्ञानरूप और कर्मके अभावमे ज्ञान शुद्ध ज्ञानरूप रहता है। इसीका नाम अन्वय व्यतिरेक है।

भावार्थः—इस अन्वय व्यतिरेकसे आत्मामे अशुद्धता पर निमित्तसे होती है यह बात अच्छी तरह बतला दी गई है। जो बात अन्वय व्यतिरेकसे सिद्ध होती है वह अवश्यभावी अथवा नियमितरूपसे सिद्ध स्वीकार की जाती है। इसलिये आत्माकी अशुद्धता अवश्य माननी पड़ती है।

शुद्ध ज्ञानका स्वरूप

तद्यथा क्षायिकं ज्ञानं सार्थं सर्वार्थगोचरम् ।
शुद्धं स्वजातिमात्रत्वात् अबद्धं निरुपाधितः ॥१२०॥

अर्थः—सम्पूर्ण पदार्थोंका प्रत्यक्ष करनेवाला जो क्षायिक ज्ञान (केवलज्ञान) है वह शुद्धज्ञान है। क्योकि उसमे परनिमित्तता नही है। वह केवल स्वस्वरूप मात्र ही है। वही ज्ञान अबद्ध भी है। क्योंकि उसमे किसी पर पदार्थरूप उपाधिका सम्बन्ध नही है।

अशुद्ध ज्ञानका स्वरूप

क्षायोपशमिकं ज्ञानमक्षयात्कर्मणां सताम् ।
आत्मजातेश्च्युतेरेतद्बद्धं चाशुद्धमक्रमात् ॥१२१॥

अर्थः—सर्व घाति कर्मोका उदयाभावी क्षय होनेसे और उन्ही सर्व घाति कर्मोके सत्तामे उपशम होनेसे तथा देश घाति कर्मोके उदय होनेसे क्षायोपशमिक कहलाता है। यह क्षायोपशमिक ज्ञान कर्म सहित है, क्योकि सत्कर्मोका अभी क्षय नही हुआ है। इसलिये यह ज्ञान अपने स्वरूपसे च्युत है अतएव बद्ध कहलाता है तथा अशुद्ध भी है।

भावार्थः—जो कर्म बिना फल दिये खिर जांय उन्हे उदयाभावी क्षय कहते हैं तथा जो कर्म सत्तामें बैठे है वे उदयमे नही आवें और देशघाती कर्मोका उदय हो इस अवस्थाका नाम क्षायोपशमिक भाव है।

शुद्धता तथा अशुद्धता दोनों ही ठीक हैं

नस्याच्छुद्धं तथाऽशुद्धं ज्ञानं चेदिति सर्वतः ।
न बन्धो न फलं तस्य बन्धहेतोरसंभवात् ॥१२२॥

अर्थः—यदि कोई यह कहे कि ज्ञान न तो शुद्ध ही है, और न अशुद्ध ही है, जैसा है वैसा ही है। तो उसके उत्तरमे यही कहा जा सकता है कि आत्मामे बन्ध भी नही है, और न उसका फल ही है। क्योकि बन्धका कारण ही कोई नही है।

भावार्थः—बन्धका कारण अशुद्धता है यह बात पहले अच्छी तरह कही जा चुकी है। यदि अशुद्धताको न माना जावे तो बन्ध भी नही ठहरता, और बन्धके अभावमें बन्धका फल भी नही बनता।

अथचेद्बन्धस्तदा बन्धो-बन्धो नाऽबन्ध एव यः ।
न शेषश्चिद्विशेषाणां निर्विशेषादबन्धभाक् ॥१२३॥

अर्थः—यदि अशुद्धताके विना ही बन्ध हो जाय तो फिर बन्ध ही रहेगा। बन्ध—अबन्ध अवस्थामे कभी नही आ सकता। ऐसी अवस्थामे कोई भी जीव सम्पूर्ण रीतिसे मुक्त नही हो सकता।

भावार्थः—यदि बन्धका कारण अशुद्धता मानी जाय तब तो यह बात नही बनती कि बन्ध ही सदा रहेगा, अबन्ध हो ही नही सकता। क्योकि कारणके सद्भावमें ही कार्य होता है। कारणके न रहने पर कार्य भी नही रह सकता। जब तक अशुद्धता है तभी तक बन्ध रहेगा। अशुद्धताके अभावमे बन्धका भी अभाव अवश्यंभावी है। इसलिये अशुद्धता माननी ही चाहिये।

यदि ऊपरके श्लोक द्वारा ही अशुद्धताकी सिद्धि हो चुकी ऐसा कहा जाय तो इस श्लोकका दूसरा अर्थ शुद्धता—साधक भी हो जाता है। वह इसप्रकार है कि यदि अशुद्धता ही मानी जावे, शुद्धता नही मानी जावे, तो सदा बन्ध ही रहेगा, अबन्ध कभी होगा ही नही। ऐसी अवस्थामे सभी आत्माये बद्ध ही रहेगी। मुक्त कोई भी कभी न होगा। इसलिये शुद्धता भी माननी ही पडती है।

सारांश—शुद्धता और अशुद्धता दोनो ही ठीक है। पहले आत्मा अशुद्ध रहता है। फिर तप आदि कारणो द्वारा कर्मोंकी निर्जरा करने पर शुद्ध हो जाता है। इसी बातको नीचेके श्लोकसे बतलाते है—

भूद्वा सर्वतो बन्धः स्यादबन्धप्रसिद्धितः ।
नाबन्धः सर्वतः श्रेयान् बन्धकार्योपलब्धितः ॥१२४॥

र्थः—न तो सब आत्माओंके सदा बन्ध ही रहता है, क्योंकि अबन्धकी भी प्रसिद्धि है अर्थात् मुक्त जीव भी प्रसिद्ध है, तथा न सर्वथा सदा अबन्ध ही मानना ठीक है क्योंकि बन्ध रूप कार्य अथवा बन्धका कार्य भी पाया जाता है। अर्थात् संसारी आत्मामें कर्मोंका बन्ध है और मुक्तात्मामें कर्मोंका अभाव होनेसे बन्ध नही है।

अबद्धका दृष्टान्त

अस्तिचित्सार्थसर्वार्थसाक्षात्कार्यविकारभुक् ।
अक्षयि क्षायिकं साक्षादबद्धं बन्धव्यत्ययात् ॥१२५॥

र्थः—सम्पूर्ण पदार्थोंका साक्षात् (प्रत्यक्ष) करनेवाला, सदा अविनश्वर, ऐसा जो यिक ज्ञान–केवल ज्ञान है वह निर्विकार है, शुद्ध है, तथा बन्धका नाश होनेसे अबद्ध अर्थात् मुक्त है।

बद्धका दृष्टान्त

बद्धः सर्वोपि संसारकार्यत्वे वैपरीत ः ।
सिद्धं सोपाधि तद्धेतोरन्यथानुपपत्तितः ॥१२६॥

र्थः—संसारी जीवोंका ज्ञान बद्ध है, क्योंकि उसके कार्यमें विपरीतता पाई जाती है। इसलिये ज्ञान उपाधि सहित भी होता है यह बात अच्छी तरह सिद्ध होती है। उपाधि पदसे यहाँ कर्मोपाधिका ग्रहण करना चाहिये। यदि ससारियोके ज्ञानको सोपाधि न माना जावे तो उसमें विपरी । रूप हेतु नही बन सकता। संसारी जीवोंके ज्ञानमे अल्पज्ञता भी है।

फलि

सिद्धमेतावता ज्ञानं सोपाधि नि पाधि च ।
तत्राशुद्धं हि सोपाधि तन्निरुपाधि यत् ॥१२७॥

अर्थः—उपर्युक्त कथनसे यह बात अच्छी तरह सिद्ध होती है कि ज्ञान दो प्रकारका है एक तो उपाधि सहित है और दूसरा उपाधि रहित है। कर्मोपाधि सहित ज्ञान अशुद्ध है। कर्मोपाधिसे रहित शुद्ध है।

शङ्काकार

ननु कस्को विशेषोस्ति बद्धाबद्धत्वयोर्द्वयोः ।
त्यनर्थान्तरं यस्मादर्थादैक्योपलब्धितः ॥१२८॥

अर्थ—शंकाकार कहता है कि बद्धता और अबद्धतामें क्या विशेषता है ? क्योंकि हम दोनों अवस्थाओमें कोई भी भेद नही पाते हैं अर्थात् दोनों अवस्थायें एक ही हैं।

उत्तर

नैवं यतो विशेषोस्ति हेतुमद्धेतुभावतः ।
कार्यकारणभेदाद्वा द्वयोस्तल्लक्षणं यथा ॥१२९॥

अर्थः—बद्धता और अबद्धताको एक ही मानना सर्वथा मिथ्या है। इन दोनोंमें हेतु और हेतुमान् अथवा कार्यकारणके भेदसे विशेषता है।

भावार्थः—मुक्त अवस्थाके पहले बद्ध अवस्था रहती है इसलिये बद्धता और अबद्धता दोनोमे कार्य कारणका भेद है। अब उन दोनोका लक्षण कहा जाता है। यहाँ कार्यकारणका अर्थ पूर्व और पर अवस्था है।

बन्धका लक्षण

बन्धः परगुणाकारा क्रिया स्यात्पारिणामिकी ।
तस्यां सत्यामशुद्धत्वं तद्द्वयोः स्वगुणच्युतिः ॥१३०॥

अर्थः—जीव और पुद्गलके गुणोंका परगुणाकार परिणमन होनेका नाम ही बन्ध है। जिससमय जीव और पुद्गलमे परगुणाकार परिणमन होता है उसीसमय उनमें अशुद्धता आती है, अशुद्धतामें उन दोनोके गुणोकी च्युति हो जाती है अर्थात् दोनो ही अपने अपने स्वरूपको छोड़कर विकार अवस्थाको धारण कर लेते है।

भावार्थः—जिस बन्धका स्वरूप यहाँ पर कहा गया है वह कर्मोके रस दान कालमें होता है। जिससमय कर्मोका विपाक काल आता है उससमय आत्माका चारित्र गुण अपने स्वरूपसे च्युत होता है और कर्म अपने स्वरूप*से च्युत हो जाते हैं। दोनोंकी मिली हुई रागद्वेषात्मक तीसरी ही अवस्था उससमय हो जाती है। रागद्वेष अवस्था न केवल आत्माकी है और न केवल कर्मोकी है, किन्तु दोनोकी है। जिसप्रकार चूना और हल्दीको साथ २ घिसनेसे चूना अपने स्वरूपको छोड़ देता है और हल्दी अपने स्वरूपको छोड देती है दोनोकी तीसरी लाल अवस्था हो जाती है। यह मोटा दृष्टान्त है, इससे यह नही समझ लेना चाहिये कि जीव पुद्गल-

* पुद्गलमें अशुद्धता पुद्गलसे भी आती है और जीवके निमित्तसे भी आती है परन्तु जीवमें अशुद्धता पुद्गलके निमित्तसे ही आती है पुद्गलके स्वतन्त्र बन्धमें स्निग्धता और रूक्षता कारण है इसीसे पुद्गलमें परगुणाकारता आती है।

भूद्वा सर्वतो बन्धः स्यादबन्धप्रसिद्धितः ।
नाबन्धः सर्वतः श्रेयान् बन्धकार्योपलब्धितः ॥१२४॥

अर्थः—न तो सब आत्माओके सदा बन्ध ही रहता है, क्योकि अबन्धकी भी प्रसिद्धि है अर्थात् मुक्त जीव भी प्रसिद्ध है, तथा न सर्वथा सदा अबन्ध ही मानना ठीक है क्योंकि बन्ध रूप कार्य अथवा बन्धका कार्य भी पाया जाता है। अर्थात् ससारी आत्मामें कर्मोंका बन्ध है और मुक्तात्मामें कर्मोंका अभाव होनेसे बन्ध नही है।

अबद्धका दृष्टान्त

अस्तिचित्सार्थसर्वार्थसाक्षात्कार्यविकारभुक् ।
अक्षयि क्षायिकं साक्षादबद्धं बन्धव्यत्ययात् ॥१२५॥

अर्थः—सम्पूर्ण पदार्थोंका साक्षात् (प्रत्यक्ष) करनेवाला, सदा अविनश्वर, ऐसा जो क्षायिक ज्ञान–केवल ज्ञान है वह निर्विकार है, शुद्ध है, तथा बन्धका नाश होनेसे अबद्ध अर्थात् मुक्त है।

बद्धका दृष्टान्त

बद्धः सर्वोपि संसारकार्यत्वे वैपरीत्यतः ।
सिद्धं सोपाधि तद्धेतोरन्यथानुपपत्तितः ॥१२६॥

अर्थः—संसारी जीवोंका ज्ञान बद्ध है, क्योकि उसके कार्यमें विपरीतता पाई जाती है। इसलिये ज्ञान उपाधि सहित भी होता है यह बात अच्छी तरह सिद्ध होती है। उपाधि पदसे यहां कर्मोपाधिका ग्रहण करना चाहिये। यदि ससारियोके ज्ञानको सोपाधि न माना जावे तो उसमें विपरीतता रूप हेतु नही बन सकता। ससारी जीवोके ज्ञानमे अल्पज्ञता भी है।

फलितार्थ

सिद्धमेतावता ज्ञानं सोपाधि निरुपाधि च ।
तत्राशुद्धं हि सोपाधि शुद्धं तन्निरुपाधि यत् ॥१२७॥

अर्थः—उपर्युक्त कथनसे यह बात अच्छी तरह सिद्ध होती है कि ज्ञान दो प्रकारका है एक तो उपाधि सहित है और दूसरा उपाधि रहित है। कर्मोपाधि सहित ज्ञान अशुद्ध है। कर्मोपाधिसे रहित शुद्ध है।

शङ्काकार

ननु कस्को विशेषोस्ति बद्धाबद्धत्वयोर्द्वयोः ।
अस्त्यनर्थान्तरं यस्मादर्थादैक्योपलब्धितः ॥१२८॥

अर्थ—शंकाकार कहता है कि बद्धता और अबद्धतामें क्या विशेषता है ? क्योंकि हम दोनों अवस्थाओमें कोई भी भेद नही पाते हैं अर्थात् दोनों अवस्थायें एक ही हैं।

उत्तर

नैवं यतो विशेषोस्ति हेतुमद्धेतुभावतः ।
कार्यकारणभेदाद्वा द्वयोस्तल्लक्षणं यथा ॥१२९॥

अर्थः—बद्धता और अबद्धताको एक ही मानना सर्वथा मिथ्या है। इन दोनोंमें हेतु और हेतुमान् अथवा कार्यकारणके भेदसे विशेषता है।

भावार्थः—मुक्त अवस्थाके पहले बद्ध अवस्था रहती है इसलिये बद्धता और अबद्धता दोनोमे कार्य कारणका भेद है। अब उन दोनोका लक्षण कहा जाता है। यहाँ कार्यकारणका अर्थ पूर्व और पर अवस्था है।

बन्धका लक्षण

बन्धः परगुणाकारा क्रिया स्यात्पारिणामिकी ।
तस्यां सत्यामशुद्धत्वं तद्द्वयोः स्वगुणच्युतिः ॥१३०॥

अर्थः—जीव और पुद्गलके गुणोका परगुणाकार परिणमन होनेका नाम ही बन्ध है। जिससमय जीव और पुद्गलमे परगुणाकार परिणमन होता है उसीसमय उनमें अशुद्धता आती है, अशुद्धतामें उन दोनोके गुणोकी च्युति हो जाती है अर्थात् दोनो ही अपने अपने स्वरूपको छोडकर विकार अवस्थाको धारण कर लेते है।

भावार्थः—जिस बन्धका स्वरूप यहाँ पर कहा गया है वह कर्मोंके रस दान कालमें होता है। जिससमय कर्मोका विपाक काल आता है उससमय आत्माका चारित्र गुण अपने स्वरूपसे च्युत होता है और कर्म अपने स्वरूप*से च्युत हो जाते है। दोनोकी मिली हुई रागद्वेषात्मक तीसरी ही अवस्था उससमय हो जाती है। रागद्वेष अवस्था न केवल आत्माकी है और न केवल कर्मोंकी है, किन्तु दोनोकी है। जिसप्रकार चूना और हल्दीको साथ २ घिसनेसे चूना अपने स्वरूपको छोड़ देता है और हल्दी अपने स्वरूपको छोड देती है दोनोकी तीसरी लाल अवस्था हो जाती है। यह मोटा दृष्टान्त है, इससे यह नही समझ लेना चाहिये कि जीव पुद्गल-

* पुद्गलमें अशुद्धता पुद्गलसे भी आती है और जीवके निमित्तसे भी आती है परन्तु जीवमें अशुद्धता पुद्गलके निमित्तसे ही आती है पुद्गलके स्वतन्त्र बन्धमें स्निग्धता और रूक्षता कारण है उसीसे पुद्गलमें परगुणाकारता आती है।

भूद्वा सर्वतो बन्धः स्यादबन्धप्रसिद्धितः ।
नाबन्धः सर्वतः श्रेयान् बन्धकार्योपलब्धितः ॥१२४॥

अर्थः—न तो सब आत्माओंके सदा बन्ध ही रहता है, क्योंकि अबन्धकी भी प्रसिद्धि है अर्थात् मुक्त जीव भी प्रसिद्ध है, तथा न सर्वथा सदा अबन्ध ही मानना ठीक है क्योंकि बन्ध रूप कार्य अथवा बन्धका कार्य भी पाया जाता है। अर्थात् संसारी आत्मामें कर्मोंका बन्ध है और मुक्तात्मामे कर्मोंका अभाव होनेसे बन्ध नही है।

अबद्धका दृष्टान्त

अस्तिचित्सार्थसर्वार्थसाक्षात्कार्यविकारभुक् ।
अक्षयि क्षायिकं साक्षादबद्धं बन्धव्यत्ययात् ॥१२५॥

अर्थः—सम्पूर्ण पदार्थोंका साक्षात् (प्रत्यक्ष) करनेवाला, सदा अविनश्वर, ऐसा जो यिक ज्ञान—केवल ज्ञान है वह निर्विकार है, शुद्ध है, तथा बन्धका नाश होनेसे अबद्ध अर्थात् मुक्त है।

बद्धका दृष्टान्त

बद्धः सर्वोपि संसारकार्यत्वे वैपरीत ः ।
सिद्धं सोपाधि तद्धेतोरन्यथानुपपत्तितः ॥१२६॥

अर्थः—संसारी जीवोंका ज्ञान बद्ध है, क्योंकि उसके कार्यमे विपरीतता पाई जाती है। इसलिये ज्ञान उपाधि सहित भी होता है यह बात अच्छी तरह सिद्ध होती है। उपाधि पदसे यहाँ कर्मोपाधिका ग्रहण करना चाहिये। यदि संसारियोके ज्ञानको सोपाधि न माना जावे तो उसमें विपरी ा रूप हेतु नही बन सकता। संसारी जीवोके ज्ञानमे अल्पज्ञता भी है।

फलितार्थ

सिद्धमेतावता ज्ञानं सोपाधि नि पाधि च ।
तत्राशुद्धं हि सोपाधि शुद्धं तन्निरुपाधि यत् ॥१२७॥

अर्थः—उपर्युक्त कथनसे यह बात अच्छी तरह सिद्ध होती है कि ज्ञान दो प्रकारका है एक तो उपाधि सहित है और दूसरा उपाधि रहित है। कर्मोपाधि सहित ज्ञान अशुद्ध है। कर्मोपाधिसे रहित शुद्ध है।

शङ्काकार

ननु ्तो विशेषोस्ति बद्धाबद्धत्वयोर्द्वयोः ।
त्यनर्थान्तरं दर्थादैक्योपलब्धितः ॥१२८॥

अर्थ—शंकाकार कहता है कि बद्धता और अबद्धतामें क्या विशेषता है ? क्योंकि हम दोनों अवस्थाओमें कोई भी भेद नहीं पाते है अर्थात् दोनों अवस्थायें एक ही हैं ।

उत्तर

नैवं यतो विशेषोस्ति हेतुमद्धेतुभावतः ।
कार्यकारणभेदाद्वा द्वयोस्तल्लक्षणं यथा ॥१२९॥

अर्थः—बद्धता और अबद्धताको एक ही मानना सर्वथा मिथ्या है । इन दोनोंमें हेतु और हेतुमान् अथवा कार्यकारणके भेदसे विशेषता है ।

भावार्थः—मुक्त अवस्थाके पहले बद्ध अवस्था रहती है इसलिये बद्धता और अबद्धता दोनोमे कार्य कारणका भेद है । अब उन दोनोंका लक्षण कहा जाता है । यहाँ कार्यकारणका अर्थ पूर्व और पर अवस्था है ।

बन्धका लक्षण

बन्धः परगुणाकारा क्रिया स्यात्पारिणामिकी ।
तस्यां सत्यामशुद्धत्वं तद्द्वयोः स्वगुणच्युतिः ॥१३०॥

अर्थः—जीव और पुद्गलके गुणोका परगुणाकार परिणमन होनेका नाम ही बन्ध है । जिससमय जीव और पुद्गलमे परगुणाकार परिणमन होता है उसीसमय उनमें अशुद्धता आती है, अशुद्धतामे उन दोनोके गुणोकी च्युति हो जाती है अर्थात् दोनों ही अपने अपने स्वरूपको छोडकर विकार अवस्थाको धारण कर लेते हैं ।

भावार्थः—जिस बन्धका स्वरूप यहाँ पर कहा गया है वह कर्मोके रस दान कालमे होता है । जिससमय कर्मोका विपाक काल आता है उससमय आत्माका चारित्र गुण अपने स्वरूपसे च्युत होता है और कर्म अपने स्वरूप*से च्युत हो जाते हैं । दोनोंकी मिली हुई रागद्वेषात्मक तीसरी ही अवस्था उससमय हो जाती है । रागद्वेष अवस्था न केवल आत्माकी है और न केवल कर्मोंकी है, किन्तु दोनोकी है । जिसप्रकार चूना और हल्दीको साथ २ घिसनेसे चूना अपने स्वरूपको छोड़ देता है और हल्दी अपने स्वरूपको छोड देती है दोनोकी तीसरी लाल अवस्था हो जाती है । यह मोटा दृष्टान्त है, इससे यह नही समझ लेना चाहिये कि जीव पुद्गल-

* पुद्गलमें अशुद्धता पुद्गलसे भी आती है और जीवके निमित्तसे भी आती है परन्तु जीवमें अशुद्धता पुद्गलके निमित्तसे ही आती है पुद्गलके स्वतन्त्र बन्धमें स्निग्धता और रूक्षता कारण है उसीसे पुद्गलमें परगुणाकारता आती है ।

स्वरूप हो जाता हो अथवा पुद्गल जीवस्वरूप हो जाता हो, ऐसा होना तो असम्भव ही है, और न उपर्युक्त कथनका ऐसा आशय ही है, उपर्युक्त कथनका आशय यही है कि रागद्वेष जीव-और पुद्गल दोनोंकी वैभाविक अवस्था है। जिससमय रागद्वेष जीवका वैभाविक भाव कहा जाता है उससमय उक्त कथनमे जीवाश ही विवक्षित होता है, अर्थात् जीवके अशोकी अपेक्षासे रागद्वेषको जीवका ही भाव कह दिया जाता है। इसीप्रकार पुद्गलके अशोकी अपेक्षासे रागद्वेष कर्मोंका भी कहा जाता है, और इसलिये उसका सिद्धोमे निषेध बतलाया जाता है, यदि रागद्वेष भाव जीवका ही होता तो सिद्धोमे भी उसका होना अनिवार्य होता। यदि यह कहा जाय कि पुद्गलके निमित्तसे जीवका रागद्वेष भाव है तो यहाँपर निमित्त कारणका ही विचार कर लेना चाहिये। निमित्तता दो प्रकारसे आती है, एक तो मूल पदार्थमे अपने गुण दोष न लाकर केवल सहायकपनसे आती है। जैसे—चकला बेलनके निमित्तसे आटेकी रोटी बनना। रोटीमे चकला बेलनका निमित्त अवश्य है परन्तु चकला बेलनके गुण रोटीमे नही आते हैं, केवल उनके निमित्तसे आटेमे एक आकारसे दूसरा आकार हो जाता है। दूसरी निमित्तता अपनेसे उपकृत पदार्थमें अपनी बाह्य सहायता देनेसे आती है। जैसे—आटेमे नमक। नमकके निमित्तसे रोटीका स्वाद ही बदल जाता है। रागद्वेषमे पहले प्रकारकी निमित्तता तो कही नही जा सकती, क्योकि वह तो गुण च्युतिमे कारण ही नही पडती है, इसलिये दूसरी ही माननी पड़ेगी, दूसरी निमित्तता स्वीकार करनेसे उक्त कथनमे विरोध भी नही आता है। रागद्वेषमे आटे और नमकका दृष्टान्त केवल घनिष्ट सम्बन्धमे ही घटित करना चाहिये विपरीत स्वादुके लिये कड़ुवी तूम्बी और दूधका दृष्टान्त ठीक है कडुवी तूम्वीके अश मिलनेसे ही दूध विपरीत स्वादु होता है।

अशुद्धता बन्धका कार्य भी है और कारण भी है

बन्धहेतुरशुद्धत्वं हेतुमच्चेति निर्णयः।
यस्माद्बन्धं विना न स्यादशुद्धत्वं कदाचन ॥१३१॥

अर्थः—बन्धका कारण अशुद्धता है, और बन्धका कार्य भी है, क्योकि बन्धके विना अशुद्धता कभी नही होती।

इस श्लोकमे बन्धकी कारणता ही मुख्य रीतिसे बतलाई है। नीचेके श्लोक द्वारा बन्धकी कार्यता बतलाते है—

न परीक्षाक्षमं चैतच्छुद्धं शुद्धं यदा तदा ।
शुद्धस्यानुपलब्धौ स्याल्लब्धिहेतोरदर्शनम् ॥१६१॥

अर्थः—यह कहना भी परीक्षाके योग्य नही है कि जिससमय सोना शुद्ध है उससमय वह शुद्ध ही है। ऐसा माननेसे शुद्ध सोनेका प्रतिभास भी नही हो सकेगा। क्योकि शुद्धतामे कारण अशुद्धता है। अशुद्धतामे ही शुद्धताका प्रतिभास होता है। अशुद्धताका अदर्शन (लोप) होनेसे शुद्धताका भी लोप हो जायगा।

यदा तद्वर्णमालायां दृश्यते हेम केवलम् ।
न दृश्यते परोपाधिः स्वेष्टं दृष्टेन हेम तत् ॥१६२॥

अर्थः—जिससमय अनेक रूपोको लिये हुए उस मिले हुए सोनेमे केवल सोनेको हम देखते हैं तो उससमय दूसरे पदार्थोंकी उपाधिका प्रतिभास नही करते हैं। उससमय तो अपना इष्ट जो सोना है उसीका प्रत्यक्ष कर लेते हैं।

भावार्थः—मिले हुए सोनेमेसे सोनेका स्वरूप विचारने पर केवल सोनेका ही स्वरूप झलक जाता है। उससमय उस सोनेके साथ जो दूसरे पदार्थ मिले हुए हैं वे नही की तरह ठहर जाते है।

फलितार्थ

ततः सिद्धं यथा हेम परयोगाद्विना पृ ।
सिद्धं तद्वर्णमालायामन्ययोगेपि वस्तुतः ॥१६३॥
प्रक्रियेयं हि संयोज्या सर्व न्तभूमिषु ।
साध्यार्थस्याविरोधेन साधनालंकरिष्णुषु ॥१६४॥

अर्थः—तांबा, पीतल, चाँदी आदिसे मिला हुआ भी सोना वास्तवदृष्टिसे विचार करनेपर दूसरे पदार्थोंके मेलसे रहित शुद्ध ही प्रतीत हो जाता है अर्थात् अनेक पदार्थोंका मेल होनेपर भी सोनेका स्वरूप भिन्न ही प्रतीत हो जाता है। उसीप्रकार पुद्गलके निमित्तसे नौ अवस्थाओमें आया हुआ भी जीव, (उसका स्वरूप विचारने पर) शुद्ध ही प्रतीत हो जाता है।

जिसप्रकार सोनेका दृष्टान्त घटित किया गया है उसीप्रकार सब न्तोको घटित करना चाहिये। वे दृष्टान्त ही साध्यार्थके साथ अविरोध रीतिसे साधनको बतलानेके लिये भूषण स्वरूप है अर्थात् साध्य साधनके ठीक ठीक परिज्ञानके लिये ये न्त अत्युपयोगी हैं।

कमलका दृष्टान्त

ोयमग्नं यथा पद्मपत्रमत्र तथा न तत् ।
तदस्पृश्यस्वभावत्वादर्थतो नास्ति पत्रतः ॥१६५॥

अर्थः—यद्यपि कमल जलमें मग्न है तथापि वह जलमे नही है, वास्तव दृष्टिसे जलमे कमल नही है । क्योकि उसका जलसे भिन्न रहनेका स्वभाव है ।

र्थः—उसीप्रकार जीवात्माका स्वभाव भी वास्तवमे पुद्गलसे भिन्न है जिसप्रकार कि जलमे डूबे रहने पर भी कमल जलसे भिन्न है ।

जलका दृष्टान्त

सकर्दमं यथा वारि वारि पश्य न कर्दमम् ।
दृश्यते तदवस्थायां शुद्धं वारि विपङ्कवत् ॥१६६॥

अर्थः—जो जल कीचड़मे मिला हुआ है, उस जलमें भी यदि तुम जलका स्वरूप देखो, कीचड़का न देखो तो तुम्हें मिली हुई अवस्थामें भी कीचड़से भिन्न शुद्ध जलकी ही प्रतीति होगी । इसीप्रकार जीवात्मा भी पुद्गलसे भिन्न प्रतीत होता है ।

अग्निका दृष्टान्त

अग्निर्यथा तृणाग्निः स्यादुपचारात्तृणं दहन् ।
नाग्निस्तृणं तृणं नाग्निरग्निरग्निस्तृणं तृणम् ॥१६७॥

अर्थः—जिससमय अग्नि तिनकेको जला रही है, उससमय उस अग्निको तिनकेके निमित्तसे—उपचारसे तिनकेकी अग्नि कह देते है । परन्तु वास्तवमे तिनकेकी अग्नि क्या है ? अग्नि ही अग्नि है । अग्नि तिनका नही है । और न तिनका अग्नि है । अग्नि, अग्नि ही है और तिनका, तिनका ही है ।

दर्पणका दृष्टान्त

प्रतिबिम्बं यथादर्शे सन्निकर्षात्कलापि ः ।
तदात्वे तदवस्थायामपि तत्र कुतः शिखी ॥१६८॥

अर्थः—जिसप्रकार दर्पणमे मयूरके सम्बन्धसे प्रतिबिम्ब (छाया) पडता है । परन्तु वास्तवमे छाया पडने पर भी वहाँ मयूर नही है । केवल दर्पण ही है । उसीप्रकार पुद्गलके निमित्तसे जीवात्मा अशुद्ध प्रतीत होता है वास्तवमे वह शुद्ध निराला ही है ।

स्फटिकका दृष्टान्त

जपापुष्पोपयोगेन विकारः स्फटिकाश्मनि ।
अर्थात्सोपि विकारश्चाऽवास्तवस्तत्र वस्तुतः ॥१६९॥

अर्थ—जपापुष्प लाल फूल होता है, उस फूलको स्फटिक पत्थरके पीछे लगानेसे स्फटिक पत्थरमे विकार हो जाता है अर्थात् वह स्फटिक भी लाल मालूम होने लगता है। परन्तु यथार्थ रीतिसे देखा जाय तो स्फटिकमे कोई प्रकारकी लाली आदि विकार नही है।

भावार्थः—इसीप्रकार आत्मा भी पुद्गलके निमित्तसे नौ प्रकार दीखने लगता है, परन्तु यथार्थमें वह ऐसा नही है ।

ज्ञानका दृष्टान्त

ज्ञानं स्वयं घटज्ञानं परिच्छिन्दद्यथा घटम् ।
नार्थाज्ज्ञानं घटोयं स्याज्ज्ञानं ज्ञानं घटो घटः ॥१७०॥

अर्थः—जिससमय ज्ञान घटको जानता है उससमय वह स्वयं घट ज्ञान कहलाता है। परन्तु वास्तवमें ज्ञान घट रूप नही हो जाता है। किन्तु ज्ञान, ज्ञान ही रहता है और घट, घट ही रहता है।

भावार्थः—ज्ञानका यह स्वभाव है कि जिस पदार्थको वह जानता है, उसी पदार्थके आकार हो जाता है। ऐसा होनेपर भी वह ज्ञान पदार्थरूप परिणत नही होता है, वास्तवमे वह तो ज्ञान ही है। इसीप्रकार जीवात्मा भी वास्तवमे रागद्वेषादि विकार मय नही है।

समुद्रका दृष्टान्त

वारिधिः सोत्तरङ्गोऽपि वायुना प्रेरितो यथा ।
नार्थादैक्यं तदात्वेपि पारावारसमीरयोः ॥१७१॥

अर्थः—वायुके निमित्तसे प्रेरित होता हुआ समुद्र ऊँची ऊँची तरङ्गोको धारण करता है। परन्तु ऐसा होनेपर भी समुद्र और वायुमे अभिन्नता नही है।

भावार्थः—इसीप्रकार आत्मा भी पुद्गलके निमित्तसे नौ अवस्थाओको धारण करता है, वास्तवमे वह पुद्गलसे अभिन्न नही है।

सैन्धवका दृष्टान्त

सर्वतः सैन्धवं खिल्यमर्थादेकरसं स्वयम् ।
चित्रोपदंशकेषूच्चैर्यन्नानेकरसं यतः ॥१७२॥

अर्थ:—वास्तवमे नमकका खण्ड एक रस स्वरूप है, उसका स्वाद तो नमक रूप ही होता है। परन्तु भिन्न भिन्न प्रकारके व्यजनोमे पहुँचनेमे भिन्न भिन्न रीतिसे स्वाद आता है। लेकिन नमक तो नमक ही रहता है। वह किसी भी वस्तुमे क्यो न मिला दिया जाय, नमकका दूसरा स्वाद नही वदलेगा।

भावार्थ:—इसीप्रकार आत्माकी पुद्गल सम्वन्धसे अनेक अवस्थायें प्रतीत होनेपर भी वास्तवमे आत्मा शुद्ध स्वरूप एक रसमे ही प्रतीत होता है।

फलितार्थ

इति दृष्टान्तसनाथेन स्वेष्टं दृष्टेन सिद्धिमत्।
यत्पदानि नवामूनि वाच्यान्यर्थादवश्यतः ॥१७३॥

अर्थ:—इसप्रकार अनेक दृष्टान्तोसे प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा हमारा अभीष्ट सिद्ध हो चुका। वह अभीष्ट यही है कि ये आत्माकी नौ अवस्थाये (नव पदार्थ) अवश्य कहनी चाहिये।

भावार्थ:—अनेक लोगोका इस विषयमें विवाद था कि नौ पदार्थ कहने चाहिये अथवा शुद्ध आत्माका ही सदा ग्रहण करना चाहिये। इस विषयमें उपर्युक्त दृष्टान्तो द्वारा आचार्यने नौ पदार्थोंकी आवश्यकता भी वतला दी है। विना नौ पदार्थोंके स्वीकार किये शुद्ध आत्माकी भी प्रतीति नही होती है। इसलिये नव पदार्थ भी कहने योग्य हैं।

एकान्त कथन और उसका परिहार

केश्चित्तु कल्प्यते मोहाद्वक्तव्यानि पदानि न।
हेयानीति यतस्तेभ्यः शुद्धमन्यत्र सर्वतः ॥१७४॥
तदसत्सर्वतस्त्यागः स्यादसिद्धः प्रमाणतः।
तथा तेभ्योऽतिरिक्तस्य, शुद्धस्यानुपलब्धितः ॥१७५॥

अर्थ:—मोहनीय कर्मकी तीव्रतासे भूले हुए कोई तो कहते हैं कि ये नव पदार्थ नही कहना चाहिये। क्योकि ये सर्वथा त्याज्य हैं। इन नवो पदार्थोंसे आत्माका शुद्ध निजरूप सर्वथा भिन्न ही है।

आचार्य कहते हैं कि ऐसा कहना सर्वथा अयुक्त है। इस नव पदार्थोंको सर्वथा ही न कहा जाय अथवा ये सर्वथा ही त्यागने योग्य हैं यह वात किसी भी प्रमाणसे सिद्ध नही होती है, और उन नौ पदार्थोंके छोड़नेपर शुद्ध आत्माकी भी प्रतीति नही हो सकती है।

भावार्थ:—अशुद्धताके माननेपर ही शुद्धताकी उपलब्धि होती है अन्यथा नही,

क्योकि ये दोनो शब्द सापेक्ष है। इसलिये व्यवहार नयसे ये नव पदार्थ भी ठीक है और निश्चय नयसे शुद्ध आत्मा ही उपादेय है।

नौ पदार्थोंके नहीं माननेमें और भी दोष

नावश्यं वाच्यता सिद्ध्येत्सर्वतो हेयवस्तुनि ।
नान्धकारेऽप्रविष्टस्य प्रकाशानुभवो मनाक् ॥१७६॥

अर्थः—इन नौ पदार्थोंको निन्द्य तथा त्यागने योग्य वतलाया है और शुद्धात्माको उपादेय अर्थात् ग्रहण करने योग्य बतलाया है। यदि इनको सर्वथा ही छोड़ दिया जाय तो इनमे त्याग करनेका उपदेश भी किसप्रकार सिद्ध हो सकता है? और शुद्ध आत्मामें ग्राह्यताका उपदेश भी कैसे हो सकता है? जो पुरुष अन्धकारको अच्छी तरह पहचानता है वही तो प्रकाशका अनुभव करता है। जिसने कभी अन्धकारमे प्रवेश ही नही किया है वह प्रकाशका अनुभव भी क्या करेगा।

आशङ्का

नावाच्यता पदार्थानां स्यादकिञ्चित्करत्वतः ।
सार्थानीति यतोऽवश्यं वक्तव्यानि नवार्थतः ॥१७७॥

अर्थः—यदि कोई कहे कि ये नौ पदार्थ अकिञ्चित्कर (कुछ प्रयोजनीभूत नहीं) है इसलिये इनको कहनेकी कोई आवश्यकता नही है? ऐसा कहना ठीक नही है क्योकि इन नौ पदार्थोका कहना अवश्य सार्थक (कुछ प्रयोजन रखता है) है इसलिये नौ पदार्थ अवश्य ही कहने योग्य हैं।

नौ पदार्थोंके कहनेका प्रयोजन

न स्याच्चेभ्योऽतिरिक्तस्य सिद्धिः शुद्धस्य सर्वतः ।
साधनाभावतस्तस्य तद्यथानुपलब्धितः ॥१७८॥

अर्थः—यदि नौ पदार्थोको न माना जाय तो उनसे अतिरिक्त शुद्ध जीवका भी कभी अनुभव नही हो सकता अर्थात् शुद्ध जीव भी बिना अशुद्धताके स्वीकार किये सिद्ध नही होता। क्योकि कारणसामग्रीके अभावमे कार्यकी प्राप्ति कभी नही हो सकती है। अशुद्धता पूर्वक ही शुद्धताकी उपलब्धि होती है।

शङ्काकार

ननु चार्थान्तरं तेभ्यः शुद्धं सम्यक्त्वगोचरम् ।
अस्ति जीवस्य स्वं रूपं नित्योद्योगं निरामयम् ॥१७९॥

न पश्यति जगद्यावन्मिथ्यान्धतमसा ततम् ।
अस्तमिथ्यान्ध रं चेत् पश्यतीदं जगज्ज्वात् ॥१८०॥

अर्थः—शंकाकार कहता है कि उन नौ पदार्थोंसे जीवका निज रूप भिन्न ही है, वह शुद्ध है, नित्य उद्योगशील है, निरोग है, और वही शुद्ध रूप सम्यक्त्व गोचर है। परन्तु उस शुद्ध रूपको जगत् तबतक नहीं देख सकता है जबतक कि वह मिथ्यात्व रूपी अँधेरेसे व्याप्त (अन्धा) हो रहा है। जब इस जगत्का मिथ्यान्धकार नष्ट हो जाता है तभी यह जगत् बहुत ही शीघ्र उस शुद्ध जीवात्माको देखने लगता है?

उत्तर

विरुद्धधर्मत्वाच्छुद्धाशुद्धत्वयोर्द्वयोः ।
नैकस्यैकपदे द्वेस्तः शुद्धाशुद्धे क्रियेर्थतः ॥१८१॥

ः—शङ्काकारका उपर्युक्त कहना ठीक नहीं है क्योंकि शुद्धता और अशुद्धता ये दोनों ही विरोधी धर्म हैं। और विरोधी पदार्थ एक स्थानमें रह नहीं सकते। इसलिये शुद्धता और अशुद्धता ये दोनो एक स्थानमें कैसे रह सकती हैं? क्यों नहीं रह सकती हैं? इसी बातको नीचे स्पष्ट करते है—

अथ सत्यां हि शुद्धायां क्रियायामर्थतश्चितः ।
स्यादशुद्धा कथं वा चेदस्ति नित्या न सा ॥१८२॥

अर्थः—यदि वास्तवमे जीवमे शुद्धता ही मानी जाय तो अशुद्धता किसप्रकार हो सकती है? यदि हो सकती है तो वह फिर नित्य क्यो नहीं?

अथ सत्यामशुद्धायां बन्ध ो विरुद्धभाक् ।
नित्यायामथ तस्यां हि सत्यां मुक्तेर ः ॥१८३॥

अर्थः—यदि जीवमे अशुद्धता ही मानी जाय तो बन्धका अभाव कभी नहीं हो सकता, यदि वह अशुद्धता नित्य है तो इस जीवात्माकी मुक्ति ही असभव हो जायगी।

भावार्थः—आचार्यने सर्वथा शुद्ध तथा सर्वथा अशुद्ध पक्षमें दोष बतलाकर कथञ्चित् दोनोको ही स्वीकार किया है। इससे शङ्काकारका जीवको सर्वथा शुद्ध मानना असत्य ठहरता है।

फलितार्थ

ः सिद्धं यदा येन भावेनात्मा समन्वितः ।
तदाऽनन्‍ तिस्तेन भावेनात्माऽस्ति तन्मयः ॥१८४॥

अर्थः—ऊपर कहे हुए तीनो श्लोकोसे यह परिणाम निकालना चाहिये कि जिससमय आत्मा जिस भावसे सहित है उससमय वह उसी भावमें तल्लीन हो रहा है। उससमय उसकी और कोई गति नही है।

इसीका खुलासा

तस्माच्छुभः शुभेनैव स्यादशुभोऽशुभेन यः।
शुद्धः शुद्धेन भावेन तदात्वे तन्मयत्वतः ॥१८५॥

अर्थः—जिससमय आत्मा शुभ भावोंको धारण करता है उससमय आत्मा शुभ है, जिससमय अशुभ भावोको धारण करता है, उससमय आत्मा अशुभ है, जिससमय शुद्ध भावोको धारण करता है, उससमय वही आत्मा शुद्ध है। ऐसा होनेका कारण भी यही है कि जिससमय यह आत्मा जैसे भावोको धारण करता है उससमय उन्ही भावोंमें तन्मय (तल्लीन) हो जाता है।

साराश

ततोऽनर्थान्तरं तेभ्यः किंचिच्छुद्धमनीदृशम्।
शुद्धं नव पदान्येव तद्विकारादृते परम् ॥१८६॥

अर्थः—इसलिये अशुद्धतासे विलक्षण जो शुद्ध जीव है वह उन नौ पदार्थोंसे कथञ्चित् अभिन्न है, सर्वथा भिन्न कहना मिथ्या है। ऐसा भी कह सकते है कि विकारके दूर हो जानेपर वे नौ पदार्थ ही शुद्ध स्वरूप है।

भावार्थः—जीवकी ही नव रूप विकारावस्था है इसलिये उस विकारावस्थाके हटा देनेपर वही जीव शुद्ध हो जाता है।

पहले शङ्काकारने शुद्ध जीवको नव पदार्थोंसे सर्वथा भिन्न बतलाया था, परन्तु इस कथनसे कथञ्चित् अभिन्नता सिद्ध की गई है।

सूत्रका आशय

अतस्तत्त्वार्थश्रद्धानं सूत्रे सद्दर्शनं मतम्।
तत्तत्त्वं नव जीवाद्या यथोद्देश्याः क्रमादपि ॥१८७॥

अर्थः—श्रीमद्भगवान् उमास्वामीने "तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शनम्" इस सूत्रद्वारा तत्त्वार्थश्रद्धानको सम्यग्दर्शन बतलाया है, वही सूत्रका आशय उपर्युक्त कथनसे सिद्ध होता है। अब उन्ही जीवादिक नव तत्त्वो (पदार्थो)को क्रमसे बतलाते हैं—

तदुद्देश्यो यथा जीवः स्यादजीवस्तथास्रवः।
बन्धः स्यात्संवरश्चापि निर्जरा मोक्ष इत्यपि ॥१८८॥

सप्तैते पुण्यपापाभ्यां पदार्थास्ते नव स्मृताः ।
सन्ति सद्दर्शनस्योच्चैर्विषया भूतार्थमाश्रिताः ॥१८९॥

अर्थः—वे नव पदार्थ इसप्रकार हैं—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष ये सात तत्त्व और पुण्य तथा पाप। ये नो पदार्थ सम्यग्दर्शनके विषयभूत हैं अर्थात् इन्हीका श्रद्धानी सम्यग्दृष्टी है और ये पदार्थ वास्तविक है ।

आचार्यकी नई प्रतिज्ञा।

तत्रादिर्जीवमाख्यानं विदधाति यथाधुना ।
कविः पूर्वापरायत्तपर्यालोचविचक्षणः ॥१९०॥

अर्थः—पूर्वापर विचार करनेमे अति चतुर कविवर (आचार्य) अब जीवके विषयमे व्याख्यान करते हैं—

भावार्थः—आचार्यने इस श्लोक द्वारा कई वातोको सिद्ध कर दिखाया है। प्रतिज्ञा तो इस वातकी है कि अब वे जीवका निरूपण सबसे पहले करेंगे। अपनेको उन्होंने कवि कहा है, इससे जाना जाता है कि वे कविता करनेमे भी धुरन्धर थे, वास्तवमें इतने गहन तत्वोको पद्यो द्वारा प्रकट करना, सो भी अति स्पष्टतासे, यह वात उनके महाकवि होनेमे पूर्ण प्रमाण है। साथमे उन्होंने पूर्वापर विचारक अपनेको वतलाया है। इससे उन्होने अपने ग्रन्थमे निर्दोषता सिद्ध की है। वह दो तरहकी है—एक तो अपने ही ग्रंथमें पूर्वापर कही विरुद्धता न हो जाय, अथवा कथन, क्रम पद्धतिसे वाहर तो नही है इस दोषको उन्होने हटाया है। दूसरे—पूर्वाचार्योके कथनको पूर्वापर अवलोकन करके ही यह ग्रन्थ वनाया है, यह वात भी उन्होने प्रकट की है। इन वातोसे आचार्यने अपनी निजी कल्पना, ग्रथकी असवद्धता और साहित्यदोष आदि सभी वातोको हटा दिया है।

जीवका निरूपण

जीवसिद्धिः सती साध्या सिद्धा साधीयसी पुरा ।
तत्सिद्धलक्षणं वक्ष्ये साक्षाच्चल्लब्धिसिद्धये ॥१९१॥

अर्थः—पहले जीवकी सिद्धि कह चुके हैं, इसलिये प्रसिद्ध है उसीको पुनः साध्य बनाते हैं अर्थात् सिद्ध करते हैं। जीवके ठीक ठीक स्वरूपकी प्राप्ति हो जाय, इसलिये उसका सिद्ध (प्रसिद्ध) लक्षण कहते हैं।

अब जीवका स्वरूप वतलाते हैं

स्वरूपं चेतना जन्तोः सा सामान्यात्सदेकधा ।
सद्विशेषादपि द्वेधा क्रमात्सा नाऽक्रमादिह ॥१९२॥

कार्यरूपः स बन्धोस्ति कर्मणां पाकसंभवात् ।
हेतुरूपमशुद्धत्वं तन्नवाकर्षणत्वतः ॥१३२॥

अर्थः—बन्ध कार्य रूप भी है। क्योकि कर्मोके विपाक होनेसे होता है। अशुद्धता उसका कारण है। अशुद्धताके द्वारा ही नवीन नवीन कर्म खिचकर आता है और फिर बन्धको प्राप्त होता है।

जीव शुद्ध भी है और अशुद्ध भी है

जीवः शुद्धनयादेशादस्ति शुद्धोपि तत्त्वतः।
नासिद्धश्चाप्यशुद्धोपि बद्धाबद्धनयादिह ॥१३३॥

अर्थः—शुद्धनय (निश्चयनय)से जीव वास्तवमें शुद्ध है परन्तु व्यवहार नयसे जीव अशुद्ध भी है। व्यवहारमें यह जीव कर्मोसे बँधा हुआ भी है और मुक्त भी होता है इसलिये इसकी अशुद्धता भी असिद्ध नही है।

निश्चय नय और व्यवहार नयमें भेद

एकः शुद्धनयः सर्वो निर्द्वन्द्वो निर्विकल्पकः।
व्यवहारनयोऽनेकः सद्वन्द्वः सविकल्पकः ॥१३४॥

अर्थः—सम्पूर्ण शुद्धनय एक है वह निर्द्वन्द्व है, उसमें किसी प्रकारका भेद नही है, वह निर्विकल्प है अर्थात् यह शुद्धनय न तो किसी दूसरे पदार्थसे मिश्रित ही है और न इसमे किसी प्रकार भेदकल्पना है इसलिये इसका स्वरूप वचनातीत है। क्योकि वचनोंद्वारा जितना स्वरूप कहा जायगा वह सब खण्डशः होगा, इसलिये वह कथन शुद्ध नयसे गिर जाता है। परन्तु व्यवहार नय शुद्ध नयसे प्रतिकूल है। वह अनेक है, उसमें दूसरे पदार्थोका मिश्रण है, उसके अनेक भेद है, वह सविकल्प है। इस नयके द्वारा वस्तुका असली रूप नही कहा जा सकता। यह नय वस्तुको खण्डशः प्रतिपादन करता है।

शुद्ध और व्यवहारसे जीवस्वरूप

वाच्यः शुद्धनयस्यास्य शुद्धो जीवश्चिदात्मकः।
शुद्धादन्यत्र जीवाद्याः पदार्थास्ते नव स्मृताः ॥१३५॥

अर्थः—शुद्ध नयकी अपेक्षासे जीव सदा शुद्ध चैतन्य स्वरूप है, इस नयसे जीव सदा एक और अखण्ड द्रव्य है, परन्तु व्यवहार नयसे जीव अनेक स्वरूप है। व्यवहार नयकी अपेक्षासे ही जीव, अजीव, आश्रव, बन्ध, सँवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप ये नौ पदार्थ कहलाते हैं।

भावार्थः—ये नो पदार्थ भी जीवकी ही अशुद्ध अवस्थाके भेद हैं। अशुद्ध जीव ही नौ अवस्थाओंको धारण करता है इसीलिये व्यवहार नयसे नौ पदार्थ कहे गये हैं। मोक्ष शुद्ध है परन्तु वह भी व्यवहारसे ही कहा जाता है।

शङ्काकार

ननु शुद्धनयः साक्षादस्तिसम्यक्त्वगोचरः।
एको वाच्यः किमन्येन व्यवहारनयेन चेत् ॥१३६॥

अर्थः—सम्यक्त्वगोचर एक शुद्ध नय ही है। इसलिये उसीका कथन करना चाहिये बाकी व्यवहार नयसे क्या लाभ है ?

भावार्थः—व्यवहार नय मिथ्या है। इसलिये उसके माननेकी कोई आवश्यकता नही है। सम्यग्दर्शनका विषय साक्षात् शुद्ध नय ही है। इसलिये उसे ही मानना चाहिये ?

उत्तर

सत्यं शुद्धनयः श्रेयान न श्रेयानितरो नयः।
अपि न्यायवलादस्ति नयः श्रेयानिवेतरः ॥१३७॥

अर्थः—यह बात ठीक है कि शुद्ध नय उत्तम है, उसीसे वास्तविक वस्तुबोध होता है और यह भी ठीक है कि व्यवहार नय वास्तविक नही है। परन्तु शुद्ध नयके समान अशुद्ध नय भी न्यायके वलसे मानना ही पड़ता है।

भावार्थः—शुद्ध और अशुद्ध ये दोनो ही प्रतिपक्षी हैं इसलिये शुद्ध कहनेसे ही अशुद्धका ग्रहण हो जाता है। अत व्यवहार नय चाहे शुद्ध स्वरूपको नही वता सके तथापि न्यायदृष्टिसे मानना ही पडता है। दूसरी वात यह भी है कि व्यवहारके विना स्वीकार किये निश्चय भी नही वनता है। यही वात नीचे वतलाते हैं—

तद्यथानादिसन्तानवन्धपर्यायमात्रतः।
एको विवक्षितो जीवः स्मृता नव पदा अमी ॥१३८॥

अर्थः—एक ही जीव अनादि सन्तान रूपसे प्राप्त वन्धपर्यायकी अपेक्षासे जव कहा जाता है तव वही जीव नव पदार्थ रूपसे स्मरण किया जाता है।

भावार्थः—व्यवहार नयसे ही जीवका अनादि कालसे वन्ध हो रहा है और उसी वन्धकी अपेक्षासे इस एक जीवकी ही नौ अवस्थाये हो जाती हैं। उन अवस्था विशेषोका नाम ही नौ पदार्थ है। इसीको नीचे पुनः दिखलाते हैं—

किञ्च पर्यायधर्माणो नवामी पद संज्ञकाः ।
उपरक्तिरुपाधिः स्यान्नात्र पर्यायमात्रता ॥१३९॥

अर्थः—अथवा ये नौ पदार्थ जीवकी पर्यायें हैं। इतना विशेष है कि ये केवल जीवकी पर्यायें ही नहीं हैं किन्तु इन पर्यायोमे उपराग (कर्ममल) रूप उपाधि लगी हुई है। उपरागोपाधि सहित पर्यायोको ही नौ पदार्थ कहते है।

उपराधिपाधि असिद्ध नहीं है

नात्रासिद्धमुपाधित्वं सोपरक्तेस्तथा स्वतः ।
यतो नव पदव्याप्तमव्याप्तं पर्ययेषु तत् ॥१४०॥

अर्थः—संसारी जीवके उपराग रूप उपाधि असिद्ध नही है किन्तु स्वतः सिद्ध है। इस उपाधिका सम्बन्ध इन नौ पदार्थों (अशुद्ध जीवकी पर्यायों)मे ही है। जीवकी सभी पर्यायोमें नही है। क्योंकि जीवकी शुद्ध पर्यायमें इसका बिलकुल सम्बन्ध नही है।

उपाधि मानना आवश्यक है

सोपरक्तेरुपाधित्वान्नादरश्चेद्विधीयते ।
क्व पदानि नवामूनि जीवः शुद्धोनुभूयते ॥१४१॥

अर्थः—व्यवहार दृष्टिसे जीव उपराग–उपाधिवाला है। यदि उपाधि होनेसे उसका अनादर किया जाय अर्थात् उसे न माना जाय, तो ये जीवकी नौ अवस्थायें भी नही हो सकती हैं। सदा शुद्ध जीवका ही अनुभव होना चाहिये। अथवा नौ पदार्थोंके असिद्ध होनेपर शुद्ध जीवका भी अनुभव नही हो सकता है।

भावार्थः—शुद्धता प्राप्त करनेके लिये अशुद्धता कारण है अर्थात् पूर्वावस्था है। यदि अशुद्धताको स्वीकार न किया जाय तो शुद्धता भी नही हो सकती। इसलिये व्यवहार नयको मानते हुए ही निश्चयमार्गका बोध होता है। जिन्होने व्यवहारको सर्वथा कुछ नही समझा है वास्तवमे वे निश्चय तक भी नही पहुँच सके हैं। व्यवहार और निश्चय नयके विषयमें पहले अध्यायमें इसी ग्रन्थमे बहुत खुलासा किया गया है। संक्षिप्त स्वरूप यही पड़ता है कि व्यवहार नयका जो विषय है उसमेसे यदि सभी विकल्पजालोको दूर कर दिया जाय तो वही निश्चय नयका विषय हो जाता है।

जिसप्रकार तृणकी अग्नि, कण्डेकी अग्नि, कोयलेकी अग्नि, पत्तोकी अग्नि, ये अग्नि विकल्प व्यवहार नयका विषय है। इसमेसे सभी विकल्पोको दूर-कर शुद्ध अग्नि

स्वरूप लिया जाय तो निश्चयका विषय हो जाता है। इसलिये व्यवहारको सर्वथा मिथ्या समझना नितान्त भूल है। हाँ अन्तमें निश्चय ही उपादेय अवश्य है।

शंकाकार

ननूपरक्तिरस्तीति किंवा नास्तीति तत्त्वतः।
उभयं नोभयं किंवा तत्क्रमेणाक्रमेण किम् ॥१४२॥
अस्तीति चेत्तदा तस्यां सत्यां कथमनादरः।
नास्तीति चेदसत्त्वेस्याः सिद्धो नानादरो नयात् ॥१४३॥
सत्यामुपरक्तौ तस्यां नादेयानि पदानि वै।
शुद्धादन्यत्र सर्वत्र नयस्यानधिकारतः ॥१४४॥
असत्यामुपरक्तौ वा नैवामूनि पदानि च।
हेतुशून्याविनाभूतकार्यशून्यस्य दर्शनात् ॥१४५॥
उभयं चेत्क्रमेणेह सिद्धं न्यायाद्विवक्षितम्।
शुद्धमात्रमुपादेयं हेयं शुद्धेतरं तदा ॥१४६॥
यौगपद्येपि तद्द्वैतं न समीहितसिद्धये।
केवलं शुद्धमादेयं नादेयं तत्परं यतः ॥१४७॥
नैकस्यैकपदे स्तो द्वे क्रिये वा कर्मणी ततः।
यौगपद्यमसिद्धं स्याद्द्वैताद्वैतस्य कथा ॥१४८॥
ततोऽनन्यगतेर्न्यायाच्छुद्धः सम्यक्त्वगोचरः।
तद्वाचकश्च यः कोपि वाच्यः शुद्धनयोपि सः ॥१४९॥

अर्थः—शंकाकार कहता है कि निश्चयनयसे (वास्तवमे) उपराग इस जीवात्मामे है या नहीं है? अथवा उपराग और अनुपराग (शुद्धता) दोनो है? अथवा क्या दोनो ही नहीं हैं? दोनो हैं तो क्रमसे है या एक साथ? यदि वास्तवमे उपराग है तो फिर उसमे अनादर (अग्राह्यता) क्यो किया जाता है? यदि वास्तवमें व्यवहारनयका विषय भूत उपराग कोई वस्तु नहीं है, तो उसमें अनादर भी सिद्ध नहीं होता। क्योंकि अनादर उसीका किया जाता हैं जो कि कुछ चीज हो। जब निश्चय नयसे उपराग कोई चीज ही नहीं है तो अनादर किसका? दूसरी बात यह है कि यदि राग भी जाय तो

भी नौ पदार्थोमें ग्राह्यता नहीं आती, क्योंकि शुद्ध पदार्थके सिवाय दूसरी जगह नयका अधिकार ही नही है ? (शंकाकारकी यह शका केवल शुद्ध नयको ध्यानमें रखकर ही की गई है) यदि उपराग नही माना जाय तब तो ये जीवके नौ स्थान किसी प्रकार भी नही बन सकते है क्योकि जिसका कारण ही नही है उसका कार्य भी नही हो सकता है।

यदि शुद्धता और अशुद्धता (उपराग) दोनोंहीको माना जावे, परन्तु क्रमसे माना जावे तो भी न्यायसे शुद्ध मात्र ही उपादेय (ग्राह्य) सिद्ध होगा, और शुद्धसे भिन्न अशुद्ध त्याज्य होगा ?

यदि शुद्धता और उपरागजन्य अशुद्धता, इन दोनोंको एक साथ ही माना जावें तो भी दोनोसे हमारा अभीष्ट सिद्ध न होगा, उससमय भी शुद्ध ही ग्राह्य होगा और अशुद्ध अग्राह्य होगा ?

एक बात यह भी है कि एक पदार्थके एक स्थानमें दो क्रियायें अथवा दो कर्म रह भी नहीं सकते हैं इसलिये जीवमे एक साथ शुद्धता और अशुद्धता नही बन सकती, फिर "दोनोमेसे शुद्ध ही ग्राह्य होगा" इत्यादि द्वैताद्वैतकी कथा तो पीछे है।

इसलिये अनन्य गति न्यायसे अर्थात् अन्यत्र गति न होनेसे अथवा घूम-फिरकर वही आजानेसे शुद्ध ही एक पदार्थ मानना चाहिये, वही सम्यग्दर्शनका विषय है। उसी पदार्थका कहनेवाला यदि कोई नय है तो केवल शुद्धनय (निश्चयनय) है ?

भावार्थः—उपर्युक्त कथनसे शंकाकारका अभिप्राय केवल शुद्धनयको मानकर शुद्ध जीवकी ग्राह्यतासे है। उसकी दृष्टिमें व्यवहार नय सर्वथा मिथ्या है, इसीलिये उसकी दृष्टिमें नव पदार्थ अर्थात् जीवकी अशुद्धता भी कोई वस्तु नही है। आचार्य इसका खण्डन नीचे करते है—

उत्तर

नैवं त्वनन्यथासिद्धेः शुद्धाशुद्धत्वयोर्द्वयोः ।
विरोधेप्यविरोधः स्यान्मिथः सापेक्षतः सतः ॥१५०॥

अर्थः—शकाकारका उपर्युक्त कथन ठीक नही है क्योकि शुद्धता और अशुद्धता इन दोनोमेसे किसी एकको न माना जाय अथवा इन दोनोका कार्य कारण भाव न माना जाय तो काम नही चल सकता। ये दोनो ही अनन्यथा सिद्ध है अर्थात् दोनो ही आवश्यक है। दोनोके माननेमे अशुद्धता पक्षमे जो शकाकारने विरोध बतलाया है सो

भी अविरोध ही है पदार्थ परस्परकी अपेक्षाको लिये हुए हैं इसलिये विरोध नहीं रहता किन्तु अपेक्षाकृत भेदसे दोनो ही ठीक है ।

नासिद्धानन्यथासिद्धिस्तद्द्वयोरेकवस्तुतः ।
यद्विशेषेपि सामान्यमेकमात्रं प्रतीयते ॥१५१॥

अर्थः—शुद्धता और अशुद्धता ये दोनो ही आवश्यक है यह बात भी असिद्ध नहीं है क्योकि दोनो एक ही वस्तु तो पडती है । उक्त दोनो ही भेद जीवकी अवस्था विशेष ही तो है । इन भेदोकी अपेक्षासे जीव अनेक होनेपर भी सामान्य रीतिसे केवल एक ही प्रतीत होता है ।

इसीका खुलासा

तद्यथा नव तत्त्वानि केवलं जीवपुद्गलौ ।
स्वद्रव्याद्यैरनन्यत्वाद्वस्तुतः कर्तृकर्मणोः ॥१५२॥

:—वास्तवमे विचार किया जाय तो ये नौ भी पदार्थ (अशुद्ध–अवस्था) केवल जीव और पुद्‌गल दो द्रव्य रूप ही पडते हैं, और कर्ता तथा कर्म ये वास्तवमे अपने द्रव्यादिकसे अभिन्न होते हैं ।

भावार्थः—पहले शङ्काकारने यह कहा था कि एक वस्तु ही कर्ता कर्म कैसे हो सकती है ? इसीका यह उत्तर है कि जीव कर्ता और पुद्‌गल कर्म है । कर्तृत्व जीवसे अभिन्न है और कर्मत्व पुद्‌गलसे अभिन्न है । तथा इन दोनोके मेलसे ही नौ पदार्थ होते हैं इसलिये दोनोकी मिली हुई एक अवस्थामे कर्ता, कर्मके रहने मे कोई विरोध नहीं रहता ।

ताभ्यामन्यत्र नैतेषां किञ्चिद्द्रव्यान्तरं पृथक् ।
न प्रत्येकं विशुद्धस्य जीवस्य पुद्गलस्य च ॥१५३॥

:—जीव और पुद्‌गल, इन दो द्रव्योको छोडकर नव पदार्थ और कोई दूसरे द्रव्य नहीं है । अर्थात् नौ ही पदार्थ जीव, पुद्‌गलकी अवस्था विशेष हैं इनमे अन्य किसी द्रव्यका मेल नहीं है । और ऐसा भी नहीं है कि ये नौ ही पदार्थ केवल शुद्ध जीवके ही हो अथवा केवल पुद्‌गलके ही हो । किन्तु दोनो ही के योगसे हुए हैं । इसी बातको नीचे दिखाते हैं—

जीव और पुद्‌गल इन दोनोंके ही नौ पदार्थ हैं

किन्तु सम्बद्धयोरेव तद्द्वयोरितरेतरम् ।
नैमित्तिकनिमित्ताभ्यां भावा नव पदा अमी ॥१५४॥

अर्थः—नैमित्तिक जीव और निमित्तकारण पुद्गल, इन दोनोंके ही परस्पर सम्बन्धसे ये नौ पदार्थ हो गये हैं।

जीवकी ही नौ अवस्थायें हैं

अर्थान्नवपदीभूय जीवश्चैको विराजते ।
तदात्वेपि परं शुद्धस्तद्विशिष्टदशामृते ॥१५५॥

अर्थः—उपर्युक्त कथनका सारांश यही निकलता है कि यह जीव ही नौ पदार्थ रूप होकर ठहरा हुआ है। यद्यपि पहले श्लोको द्वारा जीव और पुद्गल दोनों ही की अवस्था नौ पदार्थ रूप बतलाई है। परन्तु यहाँपर जीवके ही अवस्था भेद नौ पदार्थोंको बतलाया है। इसका अभिप्राय यह है कि यहाँपर निमित्तकारणको विवक्षित नही रक्खा है। पुद्गलके निमित्तसे जीवके ये नौ भेद होते हैं। अर्थात् अवस्था तो ये जीवकी हैं परन्तु पुद्गल निमित्तकारण है इसलिये यहाँपर निमित्तकारणको अविवक्षित रखकर "जीव ही नौ पदार्थ रूप है" ऐसा कहा है।

यद्यपि इन अवस्थाओंसे यह जीव अशुद्ध है तथापि इन अवस्थाओसे रहित विचारनेसे केवल शुद्ध जीवका ही प्रतिभास होता है।

भावार्थः—अशुद्धताके भीतर भी शुद्ध जीवका प्रतिभास होता ही है।

नासंभवं भवेदेतत् तद्विधेरूपलब्धितः ।
सोपरक्तेरभूतार्थात् सिद्धं न्यायाददर्शनम् ॥१५६॥

अर्थः—अशुद्धताके भीतर शुद्ध जीवका प्रतिभास होता है यह बात असिद्ध नही है। किन्तु अनेक प्रकारसे सिद्ध है। परन्तु अयथार्थ उपाधिका सम्बन्ध हो जानेके कारण उस शुद्धताका दर्शन नही होता है।

भावार्थः—पुद्गलके निमित्तसे जो आत्मामे अशुद्धता—मलिनता आ गई है इससे इस आत्माका शुद्ध रूप ढक गया है। तो भी उपाधि रहित अवस्थाका ध्यान करनेसे अशुद्धताके भीतर भी शुद्धात्माका अवलोकन होता ही है।

दृष्टान्तमाला

सन्त्यनेकेत्र दृष्टान्ता हेमपद्मजलाऽनलाः ।
आदर्शस्फटिकाश्मानौ बोधवारिधिसैन्धवाः ॥१५७॥

अर्थः—अशुद्धताके भीतर शुद्धताका ज्ञान होता है इस विषयमे अनेक उदाहरण है।

उनमेसे कितने ही दृष्टान्त तो ये हैं—सोना, कमल, जल, अग्नि, दर्पण, स्फटिक पत्थर, ज्ञान, समुद्र और नमक (लवण)।

सोनेका दृष्टान्त

एकं हेम यथानेकवर्णं स्यात्परयोगतः।
तमसन्तमिवोपेक्ष्य पश्य तद्धेम केवलम् ॥१५८॥

अर्थः—यद्यपि सोना दूसरे पदार्थके निमित्तसे अनेक रूपोंको धारण करता है। जैसे कभी चादीमे मिला दिया जाय तो दूसरे ही रूपको धारण करता है, कभी पीतलमें मिला दिया जाय तो दूसरे ही रूपको धारण करता है, इसीप्रकार तांबा, लोहा, अलमोनियम, रेडियम आदि पदार्थोंके सम्बन्धसे अनेक प्रकार दीखता है, तथापि उन पदार्थोंको नही सा समझकर उनकी उपेक्षा कर दें तो केवल सोनेका स्वरूप ही दृष्टिगत होगा।

भावार्थः—दूसरे पदार्थोंके मेलसे अनेक रूपमे परिणत होनेवाले भी सोनेमे अन्य पदार्थोंका ध्यान छोड़कर केवल सोनेका स्वरूप चितवन करनेसे पीतल आदिकसे भिन्न पीतादि गुण विशिष्ट सोनेमात्रका ही प्रतिभास होता है।

शङ्का

नचाशंक्यं सतस्तस्य स्यादुपेक्षा कथं जवात्।
सिद्धं कुतः प्रमाणाद्वा तत्सत्त्वं न कुतोपिवा ॥१५९॥

अर्थः—केवल सोनेके ग्रहण करनेमे दूसरे मिले हुए पदार्थकी शीघ्र ही कैसे उपेक्षा की जा सकती है ? अथवा उस सोनेमे दूसरे पदार्थकी सत्ता है या नही है ? है तो किस प्रमाणसे है ? अथवा किसी भी प्रमाणसे नही है ? इसप्रकारकी शंका करना ठीक नही है। क्यो ठीक नही है ? सो नीचे वतलाते हैं—

परिहार

दिंयं हि तद्धेम सोपरक्तेरुपाधिवत्।
तत्त्यागे सर्वशून्यादिदोषाणां सन्निपाततः ॥१६०॥

अर्थः—सोनेके साथ दूसरे पदार्थका मेल हो रहा है। मेल होनेसे सोना अग्राह्य नही है। यदि उपाधिविशिष्ट सोनेका ग्रहण न किया जाय तो सर्वशून्यता आदि अनेक दोषोका सन्निपात होगा। क्योकि विना अशुद्धताके स्वीकार किये शुद्धता भी नही ठहरती।

अर्थः—जीवका स्वरूप चेतना है, वह चेतना सामान्य रीतिसे एकप्रकार है क्योंकि सामान्य रीतिसे सत्ता एक ही प्रकार है। तथा सत् विशेषकी अपेक्षासे वह चेतना दो प्रकार है। परन्तु उसके दोनो भेद क्रमसे होते हैं एक साथ नहीं होते है।

भावार्थः—जीव ज्ञान दर्शनमय है। सामान्य रीतिसे यही एक लक्षण जीव मात्रमें घटित होता है। शुद्ध अशुद्ध विशेष भेद करनेसे लक्षण भी दो प्रकारका हो जाता है। इतना विशेष है कि एक समयमे एक ही स्वरूप घटित होता है।

उन्हीं भेदोंको बतलाते हैं

एका स्याच्चेतना शुद्धा स्यादशुद्धा परा ततः।
शुद्धा स्यादात्मनस्तत्त्वमस्त्यशुद्धाऽऽत्मकर्मजा ॥१९३॥

अर्थः—एक शुद्ध चेतना और दूसरी अशुद्ध चेतना है। शुद्ध चेतना आत्माका निजरूप है और अशुद्ध चेतना आत्मा और कर्मके निमित्तसे होती है।

चेतनाके भेद

एकधा चेतना शुद्धा शुद्धस्यैकविधत्वतः।
शुद्धाशुद्धोपलब्धित्वाज्ज्ञानत्वाज्ज्ञानचेतना ॥१९४॥

अर्थ—शुद्ध चेतना एक प्रकार है क्योंकि शुद्ध एक प्रकार ही है। शुद्ध चेतनामें शुद्धताकी उपलब्धि होती है इसलिये वह शुद्ध है और वह शुद्धोपलब्धि ज्ञान रूप है इसलिये उसे ज्ञान चेतना कहते है।

भावार्थः—आत्मामें जो भेद होते है वे कर्मोके निमित्तसे होते है आत्माका निज रूप एक ही प्रकार है, उसमें भेद नही है, इसीलिये कहा गया है कि शुद्ध एक ही प्रकार होता है। जो चेतना जीवके असली स्वरूपको लिये हुए है उसीका नाम शुद्ध-चेतना है। और वह चेतना ज्ञान रूप है इसलिये उसे ज्ञान चेतना कहते है।

अशुद्ध चेतना

अशुद्धा चेतना द्वेधा तद्यथा कर्मचेतना।
चेतनत्वात्फलस्यास्य स्यात्कर्मफलचेतना ॥१९५॥

अर्थः—अशुद्ध चेतना दो प्रकार है। एक कर्म चेतना, दूसरी कर्मफल चेतना। कर्मफल चेतनामे फल भोगनेकी मुख्यता है।

भावार्थः—चेतनाके तीन भेद कहे गये हैं—१ ज्ञान चेतना, २ कर्म-चेतना ३ कर्मफल चेतना। ज्ञान चेतना सम्यग्दृष्टिके ही होती है क्योकि वहाँ पर शुद्ध—आत्मीक भावोकी

प्रधानता है । बाकीकी दोनों चेतनायें मिथ्यादृष्टिके होती हैं । इतना विशेष है कि कर्म चेतना सञ्ज्ञी मिथ्यादृष्टिके होती है और कर्मफल चेतना असञ्ज्ञीके होती है । कर्म चेतनामें ज्ञानपूर्वक क्रियाओ द्वारा कर्म बन्ध करनेकी प्रधानता है और कर्म फल चेतनामें कर्म बन्ध करनेकी प्रधानता नही है किन्तु कर्मका फल भोगनेकी प्रधानता है ।

ज्ञान चेतनाकी व्युत्पत्ति

अत्रात्मा ज्ञानशब्देन वाच्यस्तन्मात्रतः स्वयम् ।
स चेत्यतेऽनया शुद्धः शुद्धा सा ज्ञानचेतना ॥१९६॥

अर्थः—यहां पर ज्ञान शब्दसे आत्मा समझना चाहिये । क्योकि आत्मा ज्ञान रूप ही स्वय है । वह आत्मा जिसके द्वारा शुद्ध जानी जावे उसीका नाम ज्ञान चेतना है ।

भावार्थः—जिससमय शुद्धात्माका अनुभवन होता है । उसीसमय चेतना (ज्ञान) ज्ञान चेतना कहलाती है । उससमय बाह्योपाधिकी मुख्यता नही रहती है । जिससमय बाह्योपाधिकी मुख्यता होती है उससमय आत्माका ज्ञान गुण (चेतना) अशुद्धताको धारण करता है और उसके अभावमे ज्ञान मात्र ही रह जाता है । इसलिये उसे शुद्ध चेतना अथवा ज्ञान चेतना कहते है ।

उसीका खुलासा

अर्थाज्ज्ञानं गुणः सम्यक् प्राप्तावस्थान्तरं यदा ।
आत्मोपलब्धिरूपं स्यादुच्यते ज्ञानचेतना ॥१९७॥

अर्थः—अर्थात् जिससमय आत्माका ज्ञानगुण सम्यक् अवस्थाको प्राप्त हो जाता है, केवल शुद्धात्माका अनुभवन करता है उसीसमय उसे ज्ञान चेतना कहते है ।

ज्ञानचेतनाका स्वामी

सा ज्ञानचेतना नूनमस्ति सम्यग्दृगात्मनः ।
न स्यान्मिथ्यादृशः क्वापि तदात्वे तदसम्भवात् ॥१९८॥

अर्थः—वह ज्ञानचेतना निश्चयसे सम्यग्दृष्टिके ही होती है । मिथ्यादृष्टिके कही भी नही हो सकती, क्योकि मिथ्यादर्शनके होनेपर उसका होना असम्भव ही है ।

भावार्थः—सम्यग्दर्शनके होनेपर ही मतिज्ञानावरणीयकर्मका विशेष क्षयोपशम होता है उसीका नाम ज्ञानचेतना है । मिथ्यादर्शनकी सत्ता रहते हुए उसका होना सर्वथा असम्भव है ।

मिथ्यादर्शनका माहात्म्य

अस्ति चैकादशाङ्गानां ज्ञानं मिथ्यादृशोपि यत् ।
नात्मोपलब्धिरस्यास्ति मिथ्याकर्मोदयात्परम् ॥१९९॥

अर्थः—मिथ्यादृष्टिको ग्यारह अग तकका ज्ञान हो जाता है, परन्तु आत्माका शुद्ध अनुभव उसको नही होता है यह केवल मिथ्यादर्शनके उदयका ही माहात्म्य है।

भावार्थः—द्रव्यलिंग धारण करनेवाले मुनि यद्यपि ग्यारह अंग तक पढ़ जाते हैं परन्तु मिथ्यात्व पटलके उदय होनेसे वे शुद्धात्माका स्वाद नही ले सकते। आश्चर्य है कि उनके पढ़ाये हुए शिष्य भी जिनका कि मिथ्यात्वकर्म दूर हो गया है, शुद्धात्माका आनन्द ले लेते है परन्तु वे नही ले सकते।

शङ्काकार

ननूपलब्धिशब्देन ज्ञानं प्रत्यक्षमर्थतः ।
तत् किं ज्ञानावृतेः स्वीयकर्मणोन्यत्र तत्क्षतिः ॥२००॥

अर्थः—शङ्काकार कहता है कि आत्माकी उपलब्धि सम्यग्दृष्टिको होती है, यहांपर 'उपलब्धि' शब्दसे प्रत्यक्ष ज्ञान लेते हैं अर्थात् आत्माका प्रत्यक्ष होता है। यह अर्थ हुआ तो क्या आत्मीय ज्ञानावरण कर्मका वहाँ क्षय हो जाता है ?

उत्तर

सत्यं स्वावरणस्योच्चैर्मूलं हेतुर्यथोदयः ।
कर्मान्तरोदयापेक्षो नासिद्धः कार्यकृद्यथा ॥२०१॥

अर्थः—तुम्हारा कहना ठीक है। आत्माके प्रत्यक्ष न होनेमे मूल कारण आत्मीय ज्ञानावरण कर्मका उदय ही है। परन्तु साथ ही दूसरे कर्मका उदय भी उस प्रत्यक्षको रोक रहा है। एक गुणके घात करनेके लिये कर्मान्तर (दूसरे कर्म)के उदयकी अपेक्षा असिद्ध नही किन्तु कार्यकारी ही है।

विशेष खुलासा

अस्ति मत्यादि यज्ज्ञानं ज्ञानावृत्त्युदयक्षतेः ।
तथा वीर्यान्तरायस्य कर्मणोऽनुदयादपि ॥२०२॥

अर्थ—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आदि जितने भी ज्ञान हैं, वे सभी अपने २ ज्ञानावरणीय कर्मके उदयका क्षय होनेसे होते हैं। साथमे वीर्यान्तराय कर्मका अनुदय भी आवश्यक है।

भावार्थः—हरएक शक्तिके काम करनेमे बलकी आवश्यकता है। इसलिये ज्ञान

भाव भी करता है कि यह क्रोधी है मैं इस शत्रुको अवश्य ही मार डालूंगा तथा अपने मित्रको कभी नहीं मारूंगा। इन बातोसे यह बात सिद्ध होती है कि यह जगत् सुख दुःखादिका वेदन करनेवाला है।

उपलब्धि प्रत्यक्षात्मक है

बुद्धिमानत्र संवेद्यो यः स्वयं स्यात्सवेदकः।
स्मृतिव्यतिरिक्तं ज्ञानमुपलब्धिरियं यतः ॥२०८॥

अर्थः—यहांपर स्वय जाननेवाला बुद्धिमान पुरुष ही समझना चाहिये वही समझ सकता है कि यह सुख दु·खकी जो आत्मामे उपलब्धि होती है वह स्मृतिज्ञान नही है, किन्तु उससे भिन्न ही है।

उपलब्धिका अनुभव होता है

नोपलब्धिरसिद्धास्य स्वादुसंवेदनात्स्वयम्।
अन्यादेशस्य कारमन्तरेण सुद ात् ॥२०९॥

अर्थः—आत्मामे सुख दु·खका अनुभव होता है, इसलिये इसकी उपलब्धि असिद्ध नही है किन्तु सिद्ध ही है। क्योकि यह आत्मा बिना किसीके कहे हुए सस्कारके स्वयं ही कभी सुखका और कभी दुःखका अनुभव करता है यह सुप्रतीत है।

अतिव्याप्ति दोष नहीं है

नातिव्याप्तिरभिज्ञाने ज्ञाने वा सर्ववेदिनः।
तयोः संवेदना ात् केवलं ज्ञानमात्रतः ॥२१०॥

ः—इस सुख दु खके स्वादुसवेदनकी तरह प्रत्यभिज्ञान अथवा केवलज्ञान भी हो ऐसा नही है। प्रत्यभिज्ञान और केवलज्ञान दोनो ही वस्तुका ज्ञान मात्र तो करते है, परन्तु वस्तुके स्वादका अनुभव नही करते। इसलिये यह उपलब्धि उक्त दोनो ज्ञानोसे भिन्न प्रकारकी ही है। यहाँ अभिज्ञानका अर्थ मतिश्रुत ज्ञान भी हो सकता है।

भावार्थः—वस्तुके स्वय अनुभव करनेमे और दूसरेको उसका ज्ञान होनेमे प्रत्यक्ष ही अन्तर है। शास्त्रज्ञ नारकियोके दु खका केवल ज्ञान रखते है परन्तु नारकी उस दु खका स्वय अनुभव करते हैं। इसीप्रकार केवलज्ञानी (सर्वज्ञ) भी वस्तुका ज्ञान मात्र करते है उसका स्वाद नही लेते।

क्योंकि

*व्याप्यव्यापकभावः स्यादात्मनि नातदात्मनि ।
व्याप्यव्यापकताभावः स्वतः सर्वत्र वस्तुषु ॥२११॥

अर्थः—जिसका जिसके साथ व्याप्य व्यापक भाव (सम्बन्धविशेष) होता है उसीका उसके साथ अनुभव घटता है। व्याप्य व्यापक भाव अपने सुख दुःखका अपने साथ है। दूसरेके साथ नही। क्योकि व्याप्य व्यापकपना सर्वत्र वस्तुओमे भिन्न २ हुआ करता है।

भावार्थः—हरएक आत्माके गुणका सम्बन्ध हरएक आत्माके साथ जुदा है। इसलिये एक आत्माके सुख दुःखका अनुभव दूसरा आत्मा कभी नही कर सकता है। हां उसका उसे ज्ञान हो सकता है। किसी बातके जाननेमे और स्वय उसका स्वाद लेनेमे बहुत अन्तर है।

अशुद्धोपलब्धि बन्धका कारण है

उपलब्धिरशुद्धासौ परिणामक्रियामयी ।
अर्थादौदयिकी नित्यं तस्माद्बन्धफला स्मृता ॥२१२॥

अर्थः—यह जो सुख दुःखादिककी उपलब्धि होती है वह अशुद्ध-उपलब्धि है तथा क्रियारूप परिणामको लिये हुए है अर्थात् वह उपलब्धि कर्मोके उदयसे होनेवाली है। इसलिये उसका बन्ध होना ही फल बतलाया गया है।

अशुद्धोपलब्धि ज्ञान चेतना नहीं है

अस्त्यशुद्धोपलब्धिः सा ज्ञानाभासाच्चिदन्वयात् ।
न ज्ञानचेतना किन्तु कर्म तत्फलचेतना ॥२१३॥

भावार्थः—वह उपलब्धि, अशुद्ध-उपलब्धि कहलाती है। उस ज्ञान नही होता, किन्तु मिथ्या स्वादुसंवेदनरूप ज्ञाना[illegible] ज्ञानचेतना नही कह सकते। किन्तु अशुद्ध ज्ञानका बंध करनेकी और कर्मफलके भोगनेकी प्रधानता चेतना कहते हैं।

* अल्प देशवृत्ति पदार्थ व्याप्य कहलाता है, अधि[illegible] स्थूल कथन है। यह एक सम्बन्ध विशेष है। जैसे वृक्ष और।

अर्थः—सामान्यमात्र विषय होनेसे शुद्धता समझी जाती है और वस्तुकी विशेषतामें अशुद्धता समझी जाती है। सद्वस्तुका बोध करनेवाले सम्यग्दृष्टियोको वस्तुका सामान्य-रूपसे स्वाद आता है।

भावार्थः—सम्यग्दृष्टि पुरुष, वस्तुका स्वरूप जैसा है वैसा ही सामान्य रीतिसे जानते हैं किन्तु मिथ्यादृष्टिपुरुष कर्मोदयसे उसी वस्तुका विशेषरीतिसे (स्वरूपविहीन, और रागरञ्जित) स्वाद लेते है। इसलिये एक वस्तु होनेपर भी शुद्ध तथा अशुद्ध ये दो भेद हो जाते हैं।

मिथ्यादृष्टिका वस्तु स्वाद

स्वदते न परेषां तद्यद्विशेषेप्यनीदृशम्।
तेषामलब्धबुद्धित्वाद् दृष्टेर्दृङ्मोहदोषतः ॥२२२॥

अर्थः—वस्तुकी विशेषतामें भी जिसप्रकार सम्यग्दृष्टी स्वाद लेता है वैसा मिथ्यादृष्टियोंको कभी नही आता। वे दूसरी तरहका ही वस्तुका विशेष स्वाद लेते है और उसमे भी दर्शनमोहनीय कर्मके दोषसे होनेवाली उनकी अज्ञानता ही कारण है।

भावार्थः—मिथ्यादृष्टि मिथ्यादर्शनके उदयसे वस्तुका विपरीत–विशेष ही ग्रहण करता है।

और भी

यद्वा विशेषरूपेण स्वदते तत्कुदृष्टिनाम्।
अर्थात् सा चेतना नूनं कर्मकार्येऽथ कर्मणि ॥२२३॥

अर्थः—मिथ्यादृष्टियोको वस्तुका विलक्षणरीतिसे ही स्वाद आता है अर्थात् उनकी चेतना (बोध) निश्चयसे कर्मफलमे अथवा कर्ममे ही लगी रहती है।

भावार्थः—उन्हे ज्ञान चेतना जोकि बन्धका हेतु नही है कभी नही होती।

मिथ्यादृष्टियोंके स्वादका दृष्टान्त

दृष्टान्तः सैन्धवं खिल्यं व्यञ्जनेषु विमिश्रितम्।
व्यञ्जनं क्षारमज्ञानां स्वदते तद्विमोहिनाम् ॥२२४॥

अर्थः—दृष्टान्त—नमकका टुकडा (डली) जिस भोजन सामग्रीमे मिला दिया जाता है उस भोजनको यदि अज्ञानी जीमता है, तो वह समझता है कि भोजन ही खारा है।

भावार्थः—आटेमे नमक मिलानेसे अज्ञानी समझता है कि यह खारापन आटेका

अर्थः—सामान्यमात्र विषय होनेसे शुद्धता समझी जाती है और वस्तुकी विशेषतामें अशुद्धता समझी जाती है। सद्वस्तुका बोध करनेवाले सम्यग्दृष्टियोंको वस्तुका सामान्य-रूपसे स्वाद आता है।

भावार्थः—सम्यग्दृष्टि पुरुष, वस्तुका स्वरूप जैसा है वैसा ही सामान्य रीतिसे जानते हैं किन्तु मिथ्यादृष्टिपुरुष कर्मोदयसे उसी वस्तुका विशेषरीतिसे (स्वरूपविहीन, और रागरञ्जित) स्वाद लेते हैं। इसलिये एक वस्तु होनेपर भी शुद्ध तथा अशुद्ध ये दो भेद हो जाते हैं।

मिथ्यादृष्टिका वस्तु स्वाद

स्वदते न परेषां तद्यद्विशेषेप्यनीदृशम्।
तेषामलब्धबुद्धित्वाद् दृष्टेर्दङ्मोहदोषतः ॥२२२॥

अर्थः—वस्तुकी विशेषतामें भी जिसप्रकार सम्यग्दृष्टी स्वाद लेता है वैसा मिथ्यादृष्टियोंको कभी नही आता। वे दूसरी तरहका ही वस्तुका विशेष स्वाद लेते है और उसमें भी दर्शनमोहनीय कर्मके दोषसे होनेवाली उनकी अज्ञानता ही कारण है।

भावार्थः—मिथ्यादृष्टि मिथ्यादर्शनके उदयसे वस्तुका विपरीत–विशेष ही ग्रहण करता है।

और भी

यद्वा विशेषरूपेण स्वदते तत्कुदृष्टिनाम्।
अर्थात् सा चे नूनं ऽथ कर्मणि ॥२२३॥

अर्थः—मिथ्यादृष्टियोको वस्तुका विलक्षणरीतिसे ही स्वाद आता है अर्थात् उनकी चेतना (बोध) निश्चयसे कर्मफलमे अथवा कर्ममें ही लगी रहती है।

भावार्थः—उन्हे ज्ञान चेतना जोकि बन्धका हेतु नही है कभी नही होती।

मिथ्यादृष्टियोंके स्वादका दृष्टान्त

दृष्टान्तः सैन्धवं खिल्यं व्यञ्जनेषु विमिश्रितम्।
व्यञ्जनं क्षारम स्वदते तद्विमोहिनाम् ॥२२४॥

अर्थः—दृष्टान्त—नमकका टुकडा (डली) जिस भोजन सामग्रीमे मिला दिया जाता है उस भोजनको यदि अज्ञानी जीमता है, तो वह समझता है कि भोजन ही खारा है।

भावार्थः—आटेमें नमक मिलानेसे अज्ञानी समझता है कि यह खारापन आटेका

ही है उसे नमकका नही समझना । इसीप्रकार मिथ्यादृष्टी पुरुष वस्तुकी यथार्थताको नही जानता ।

सम्यग्दृष्टियोंके स्वादका दृष्टान्त

क्षारं खिल्यं तदेवैकं मिश्रितं व्यञ्जनेषु वा ।
न मिश्रितं तदेवैकं स्वदते ज्ञानवेदिनाम् ॥२२५॥

अर्थः—चाहे नमक भोजनमें मिला हो चाहे न मिला हो ज्ञानीपुरुष खारापन नमकका ही समझते है ।

भावार्थः—आटेमे नमक मिलनेसे जो खारापनका स्वाद आता है उसे ज्ञानी पुरुष आटेका नही समझते, किन्तु नमकका ही समझते हैं । इसीप्रकार सम्यग्दृष्टी पुरुष वस्तुकी यथार्थताको भलीभाँति जानता है । इसलिये यह वात अच्छी तरह सिद्ध हो गई कि वस्तुके एक होनेपर भी स्वादभेद होता है और उसमे व्यञ्जक मिथ्यादर्शनका उदय अनुदय ही है ।

सारांश

इति सिद्धं कुदृष्टीनामेकैवाज्ञानचे । ।
सर्वैर्भावैस्तदज्ञानजातैस्तैरनतिक्रमात् ॥२२६॥

ः—इसलिये यह बात सिद्ध हो चुकी है कि मिथ्यादृष्टियोके एक ही अज्ञान चेतना है क्योकि ानसे होनेवाले सभी भावोका उनमें समावेश (सत्ता) है ।

दूसरा सारांश

सिद्धमेतावता यावच्छुद्धोपलब्धिरात्मनः ।
सम्यक्त्वं तावदेवास्ति तावती ज्ञानचे ॥२२७॥

ः—उपर्युक्त कथनसे यह बात भी सिद्ध हो चुकी कि जब तक आत्माकी शुद्ध उपलब्धि है तभी तक सम्यक्त्व है और तभी तक ज्ञानचेतना भी है ।

भावार्थः—सम्यग्दर्शनके अभावमे न शुद्धोपलब्धि है, और न ज्ञानचेतना ही है । सम्यग्दर्शनके होनेपर ही दोनो हो सकती है ।

ज्ञानी और अज्ञानी

ः सम्यग्दृगात्माऽसौ केवलं वानिह ।
ो मिथ्यादृशः नित्य ानिनो मताः ॥२२८॥

अर्थः—इस ससारमें केवल एक ही सम्यग्दृष्टी ज्ञानवान् (सम्यग्ज्ञानी) है। बाकी सभी मिथ्यादृष्टी जीव सदा अज्ञानी (मिथ्याज्ञानी) कहे गये है।

ज्ञानी और अज्ञानीका क्रियाफल

क्रिया साधारणी वृत्तिर्ज्ञानिनोऽज्ञानिनस्तथा।
अज्ञानिनः क्रिया, बन्धहेतुर्न ज्ञानिनः क्वचित् ॥२२९॥

अर्थः—ज्ञानी और अज्ञानी (सम्यग्दृष्टी और मिथ्यादृष्टी) दोनो ही की क्रिया यद्यपि समान है, तथापि अज्ञानीकी क्रिया बन्धका कारण है परन्तु ज्ञानीकी क्रिया कही भी बन्धका कारण नही है।

ज्ञानीकी क्रियाका और भी विशेप फल।

आस्तां न बन्धहेतुः स्याज्ज्ञानिनां कर्मजा क्रिया।
चित्रं यत्पूर्वबद्धानां निर्जरायै च कर्मणाम् ॥२३०॥

अर्थः—ज्ञानियोके कर्मसे होनेवाली क्रिया बन्धका हेतु नही है, यह तो है ही परन्तु आश्चर्य तो इस बातका है कि वह क्रिया केवल पूर्व बँधे हुए कर्मोकी निर्जराका कारण है।

भावार्थः—सम्यग्दृष्टी और मिथ्यादृष्टीकी क्रियामें बडा भारी अन्तर है। मिथ्यादृष्टीकी क्रिया तो बन्धका कारण है और सम्यग्दृष्टीकी क्रिया, बन्धका कारण तो दूर रहो, उलटी पूर्व बँधे हुए कर्मोकी निर्जराका कारण है।

ऐसा होनेमें हेतु

यस्माज्ज्ञानमया भावा ज्ञानिनां ज्ञाननिर्वृताः।
अज्ञानमयभावानां नावकाशः सुदृष्टिसु ॥२३१॥

अर्थः—सम्यक्ज्ञानियोके ज्ञानसे होनेवाले ज्ञानस्वरूप भाव ही सदा होते हैं तथा सम्यग्दृष्टियोमे अज्ञानसे होने वाले अज्ञानमय भावोंका स्थान नही है।

र्थः—बन्धके कारण अज्ञानमय भाव हैं। वे सम्यग्दृष्टियोके होते नही हैं, इस लिये सम्यग्दृष्टीकी क्रिया बन्धका हेतु नही है किन्तु शुद्ध ज्ञानकी मात्रा होनेसे निर्जराका हेतु है।

ज्ञानीका चिह्न

वैराग्यं परमोपेक्षाज्ञानं स्वानुभवः स्वयम्।
तद्द्वयं ज्ञानिनो लक्ष्म जीवन्मुक्तः स एव च ॥२३२॥

अर्थः—सम्यग्ज्ञानी, वैराग्य परम उदासीनतारूप ज्ञान तथा अपनी आत्माका अनुभव स्वयं करता रहता है। वैराग्य परम उदासीनता और स्वानुभव ये ही दो चिह्न सम्यग्ज्ञानीके है और वही ज्ञानी नियमसे जीवन्मुक्त है।

ज्ञानीका स्वरूप

नी ज्ञानैकपात्रत्वात् पश्यत्यात्मानमात्मवित्।
बद्धस्पृष्टादिभावानामस्वरूपादनास्पदम् ॥२३३॥

ः—ज्ञानी, ज्ञानका ही अद्वितीय पात्र है। वही आत्माको जाननेवाला है, इसलिये अपनी आत्माको देखता है। वही ज्ञानी, कर्मोसे बँधनेका तथा अन्य पदार्थोंसे मिलनेका स्थान नही है। क्योकि कर्मोसे बँधना और मिलना आदि भाव उसके स्वरूप नही है।

और भी

ततः स्वादु यथाध्यक्षं स्वमासादयति स्फुटम्।
अविशिष्टमसंयुक्तं नियतं स्वमनन्यकम् ॥२३४॥

अर्थः—सम्यग्दृष्टी पुरुष जैसा अपने आपको प्रत्यक्ष पाता है उसी प्रकारका स्वाद भी लेता है। अर्थात् वैसा ही अनुभव करता है। वह अपनेको सदा सबसे अमिल, असम्बन्धित और विलक्षण समझता है।

सम्यक्ज्ञानीका स्वात्मावलोकन

अथाबद्धमथा ं शुद्धं सिद्धपदोपमम्।
फटिकसंकासं निःसंगं व्योमवत् सदा॥२३५॥
इन्द्रियोपेर्ि नन्तज्ञानदृग्वीर्यमूर्ति म्।
अक्षातीतसुखानन्तस्वाभाविकगुणान्वितम् ॥२३६॥
पश्यन्निति निजात्मानं ज्ञानी ज्ञानैकमूर्तिमान्।
ादपरं चेच्छेदर्थात्सार्थं कृतार्थवत् ॥२३७॥

अर्थः—ज्ञानी सदा अपनी आत्माको इसप्रकार देखता है कि आत्मा कर्मोंसे नही बँधा है, वह ि ीसे नही मिला है, शुद्ध है सिद्धोकी उपमा धारण करता है, शुद्ध-स्फटिकके समान है, सदा आकाशकी तरह परिग्रह रहित है, अतीन्द्रिय-अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्यकी मूर्ति है और अतीन्द्रिय सुख आदिक अनन्त स्वाभाविक गुणवाला है। इसप्रकार ज्ञानकी ही अद्वितीय मूर्ति-वह ज्ञानी अपने आपको देखता है।

प्रसङ्गवश दूसरे पदार्थकी भले ही इच्छा करे, परन्तु वास्तवमे वह समस्त पदार्थोंसे कृतार्थसा हो चुका है। दूसरे सांसारिक पदार्थोंके विषयमें भी वह इसप्रकार चिन्तवन करता है—

सम्यग्ज्ञानीके विचार

ऐहिकं यत्सुखं नाम सर्वं वैषयिकं स्मृतम् ।
न तत्सुखं सुखाभासं किन्तु दुःखमसंशयम् ॥२३८॥

अर्थः—सम्यग्दृष्टी विचार करता है कि जो सासारिक (इस लोक सम्बन्धी) सुख है वह सब पञ्चेन्द्रिय सम्वन्धी विषयोसे होनेवाला है। वास्तवमें वह सुख नही है, किन्तु सुखका आभासमात्र है, निश्चयसे वह दु ख ही है।

तस्माद्धेयं सुखाभासं दुःखं दुःखफलं यतः ।
हेयं तत्कर्म यद्धेतुस्तस्यानिष्टस्य सर्वतः ॥२३९॥

अर्थः—इसलिये वह सुखाभास छोड़ने योग्य है। वह स्वयं दुःख स्वरूप है और दुःखरूप फलको देने वाला है, उस सदा अनिष्ट करनेवाले वैषयिक सुखका कारण कर्म है, इसलिये उस कर्मका ही नाश करना चाहिये।

तत्सर्वं सर्वतः कर्म पौद्गलिकं तदष्टधा ।
रीत्यात्फलं तस्य सर्वं दुःखं विपच्यतः ॥२४०॥

अर्थः—वह सम्पूर्ण पौद्गलिक कर्म सर्वदा आठ प्रकारका है, उसी कर्मका *उलटा विपाक होनेसे सभी फल दु.खरूप ही होता है।

चतुर्गतिभवावर्ते नित्यं कर्मैकहेतुके ।
न पदस्थो : श्चित् किन्तु कर्मपदस्थितः ॥२४१॥

अर्थः—सदा कर्मके ही निमित्तसे होनेवाले इस चतुर्गति संसाररूप चक्रमें घूमता हुआ कोई भी जीव स्वस्वरूपमें स्थित नही है, किन्तु कर्म स्वरूपमें स्थित है, अर्थात् कर्माधीन है।

स्वस्वरूपाच्च्युतो जीवः स्यादलब्धस्वरूपवान् ।
नानादुःखसमाकीर्णे रे पर्यटन्निति ॥२४२॥

अर्थः—यह जीव अनेक दु.खोंसे भरे हुए ससारमे घूमता हुआ अपने स्वरूपसे गिर गया है। इसने अपना स्वरूप नही पाया है।

---

* कर्ममात्र आत्माके गुणोंका विघातक है इसलिये सभीका विपाक विपरीत ही है।

अर्थः—उपर्युक्त कथनका सारांश यह है कि सम्पूर्ण कर्मोंका उदय एक क्षण मात्रमें वज्रसे होनेवाले आघात (चोट)की तरह आत्माको पीस डालता है। यह कर्म बड़ी कठिनतासे दूर किया जाता है।

व्याकुलः सर्वदेशेषु जीवः कर्मोदयाद्ध्रुवम्।
वह्नियोगाद्यथा वारि तप्तं स्पर्शोपलब्धितः ॥२४७॥

अर्थः—जिसप्रकार अग्निका स्पर्श होनेसे जल तपता है (खलबल खलबल करता है) उसीप्रकार यह जीव भी कर्मोंके उदयसे सम्पूर्ण प्रदेशोमे नियमसे व्याकुल हो रहा है।

साताऽ ोदयादुःखमास्तां स्थूलोपलक्षणात्।
सर्वकर्मोदयाघात इवाघातश्चिदा ः ॥२४८॥

अर्थः—साता वेदनीय और असाता वेदनीयके उदयसे दु.ख होता है यह कथन तो मोटी रीतिसे है। वास्तवमें सम्पूर्ण कर्मोंका ही उदय जीवात्माको उसीप्रकार आघात पहुँचा रहा है जिसप्रकार कि वज्रकी चोट होती है।

सम्यग्दृष्टी भी इससे नहीं बचा है

स्तां ः प्रदेशेषु पलब्धितः।
वातव्याधेर्यथाध्यक्षं पीड्यन्ते ननु सन्धयः ॥२४९॥

अर्थः—सम्यग्दृष्टीके प्रदेशोमें भी उस कर्मका आघात हो रहा है। जिसप्रकार वात व्याधि(वायु रोग)से घुटनो, कमर आदिकी मिली हुई हड्डियाँ दुखती रहती है उसीप्रकार कर्मका आघात भी दु ख पहुँचा रहा है।

कोई कर्म सुखदायी नहीं है

नहि कर्मोदयः कश्चित् जन्तोर्यः स्यात्सुखावहः।
स्य तत्र वैलक्षण्यात् स्वरूपतः ॥२५०॥

अर्थः—कोई भी ऐसा कर्मोदय नही है जो इस जीवको सुख पहुँचानेवाला हो, जीवके विषयमे तो सभी कर्मोका स्वरूप विलक्षण ही है। अर्थात् वहाँ तो सभी कर्म जडता ही करते है। कैसा ही शुभ अथवा अशुभ कर्म क्यों न हो जीवके लिये तो सभी दु खदाई है।

तस्य मन्दोदयात् केचित् जीवाः समनस्काः क्वचित्।
तद्वेगमसहमाना रमन्ते विषयेषु च ॥२५१॥

दृश्यते रतिरेतेषां सुहित मिवे ात् ।
तृष्णाबीजं जलौकानां दुष्टशोणितकर्षणात् ॥२५६॥

अर्थः—इन्द्रियार्थ सेवियोकी विषय–रति देखनेमें भी आती है, वे लोग उन्ही पदार्थोंकी प्राप्तिसे सुहित सा मानने लगते है। जिसप्रकार खराब रक्त (लोहू)के पीनेमें ही जोक (जलजन्तु) हित समझती है और उसीसे प्रेम करती है। उसीप्रकार इन्द्रियार्थ सेवियोकी अवस्था समझनी चाहिये। यह उनका प्रेम तृष्णाका बीज है अर्थात् उस रीतिसे तृष्णाकी वृद्धि ही होती जाती है।

देवेन्द्र, नरेन्द्रोंको भी सुख नहीं है

शक्रचक्रधरादीनां केवलं पुण्यशालिनाम् ।
तृष्णाबीजं रतिस्तेषां सुखावाप्तिः कुतस्तनी ॥२५७॥

अर्थः—केवल पुण्यको धारण करनेवाले जो इन्द्र और चक्रवर्ती आदिक बड़े पुरुष हैं उनके भी तृष्णाका बीजभूत विषय–लालसा है, इसलिये उनको भी सुखकी प्राप्ति कहां रक्खी है।

भावार्थः—ससारमें सर्वोपरि पुण्यशाली इन्द्र और चक्रवर्ती आदिक है वे भी इस विषय–रतिसे दु खी है, इसलिये सच्चे सुखका स्वाद वे भी नही ले सकते।

ग्रन्थान्तर

* जेसिं विसये सुरदि तेसिं दुःखं च जाण स वं ।
जदि तं णत्थि सहावं वावारो णत्थि विसयत्थं ॥२॥

अर्थः—जिन पुरुषोकी विषयोमे तीव्र लालसा है, उन्हे स्वाभाविक दु खी समझना चाहिये। क्योकि बिना उस दुख–स्वभावके विषयसेवनमे उनका व्यापार ही नही हो सकता।

भावार्थः—पहले पीडा उत्पन्न होती है, उसीका प्रतीकार विषयसेवन है। परन्तु विषयसेवन स्वय पीडाका उत्पादक है। इसलिये विषय सेवीकी दु खधारा सदा प्रकटित ही रहती है।

साराश

सर्वं तात्पर्यमत्रैतद्दुःखं यत्सुखसंज्ञकम् ।
दुः यानात्मधर्मत्वान्नाभिलाषः सुदृष्टिनाम् ॥२५८॥

---

* यह क्षेपक गाथा है।

अर्थः—उपर्युक्त कथनका समग्र सारांश यह निकला कि जिसको संसारमें सुख सज्ञा है वह दुःख ही है और दुःख आत्माका धर्म नहीं है। इसीलिये सम्यग्दृष्टी पुरुषको विषयोंमे अभिलाषा नहीं होती।

सम्यग्दृष्टिकी विरागता

वैषयिकसुखे न स्याद्रागभावः सुदृष्टिनाम् ।
रागस्याज्ञानभावत्वात् अस्ति मिथ्यादृशः स्फुटम् ॥२५९॥

अर्थः—सम्यग्दृष्टियोंका विषयजन्य सुखमे रागभाव नहीं है, क्योंकि राग अज्ञानभाव है, और अज्ञानमय भाव सम्यग्दृष्टिके होते नहीं, यह बात पहले ही कही जा चुकी है इसलिये वह रागभाव मिथ्यादृष्टिके ही नियमसे होता है।

सम्यग्दृष्टिको अभिलाषा नहीं है

सम्यग्दृष्टेस्तु सम्यक्त्वं स्यादवस्थान्तरं चितः ।
सामान्यजनवत्तस्मान्नाभिलाषोऽस्य कर्मणि ॥२६०॥

अर्थः—सम्यग्दृष्टिकी आत्मामे सम्यग्दर्शन गुण प्रकट हो चुका है, इससे उसकी आत्मा अवस्यान्तर रूपमे आ चुकी है। इसीलिये सामान्य मनुष्योंकी तरह सम्यग्दृष्टिको क्रियाओंमे अभिलाषा नहीं होती है।

सांसारिक भोगोंमें सम्यग्दृष्टिकी उपेक्षा है

उपेक्षा सर्वभोगेषु सद्दृष्टेर्दृष्टरोगवत् ।
अवश्यं तदवस्थायास्तथाभावो निसर्गजः ॥२६१॥

अर्थः—सम्यग्दृष्टिको प्रत्यक्षमे देखे हुए रोगकी तरह सम्पूर्ण भोगोंमें उपेक्षा (वैराग्य) हो चुकी है और उस अवस्थामे ऐसा होना अवश्यंभावी तथा स्वाभाविक है।

भावार्थः—सम्यग्दर्शन गुणसे होनेवाले स्वानुभूति रूप सच्चे सुखास्वादके सामने सम्यग्दृष्टिको विषयसुखमे रोगकी तरह उपेक्षा होना स्वाभाविक ही है।

हेतुवाद

अस्तु रूढिर्यथा ज्ञानी हेयं ज्ञात्वाऽथ मुञ्चति ।
अत्रास्त्यावस्थिकः कश्चित् परिणामः सहेतुकः ॥२६२॥

अर्थः—ज्ञानी पुरुष सांसारिक पदार्थोंको हेय (त्याज्य) समझकर छोड़ देता है। यह बात प्रसिद्ध तो है ही परन्तु इस विषयमे अवस्थाजन्य कोई परिणाम हेतु भी है उसे ही बतलाते हैं—

अनुमान

सिद्धमस्ताभिलाषत्वं कस्यचित्सर्वतश्चितः ।
देशतोप्यस्मदादीनां रागभावस्य दर्शनात् ।।२६३।।

अर्थः—जब हम लोगोके भी एक देश (किन्ही अशोमे) राग भावका त्याग दिखता है तो किसी जीवात्माके सर्वथा त्याग भी सिद्ध होता है ।

सम्यग्दृष्टिकी अभिलाषायें शान्त हो चुकी हैं

तद्यथा न मदीयं स्यादन्यदीयमिदं ततः ।
परप्रकरणे कश्चित्तृप्यन्नपि न तृप्यति ।।२६४।।

अर्थ—हम लोगोके भी एक देश रूपसे अभिलाषाये नही होती हैं, इसी बातको बतलाते है—

हम लोग अपने सम्बन्धियोसे प्रेम करते है दूसरोंसे नही करते । जब हम यह जान लेते है कि यह हमारी वस्तु नही है यह तो दूसरोकी है तब झट दूसरोंकी वस्तुओके विषयमे सन्तोष धारण कर लेते है । फिर वहाँ पर अभिलाषा नही होती परन्तु अपनी वस्तुओमे सन्तोष नही होता वहाँ तो अभिलाषा लगी ही रहती है । इससे सिद्ध होता है कि दूसरे पदार्थोंके विषयमे हमारी भी अभिलाषायें शान्त हैं ।

भावार्थः—जिसप्रकार हम अपनी वस्तुको अपनी समझ कर प्रेम करते है, उसप्रकार सम्यग्दृष्टि अपनीको भी अपनी नही समझता, क्योकि वास्तवमे जिसको हमने अपनी वस्तु समझ रक्खा है वह भी तो दूसरी ही है । इसलिये उसकी अभिलाषा उस अपनी मानी हुई वस्तुमे भी (जैसे कि हमको होती है) नही होती । इसीसे कहा जाता है कि उसकी सम्पूर्ण अभिलाषाये शान्त हो चुकी हैं ।

दृष्टान्त

यथा कश्चित्परायत्तः कुर्वाणोऽनुचितां क्रियाम् ।
कर्ता तस्याः क्रियायाश्च न स्यादस्ताभिलाषवान् ।।२६५।।

अर्थः—जिसप्रकार कोई पराधीन पुरुष पराधीनता वश किसी अनुचित क्रिया (कार्य)को करता है तो भी उसका करनेवाला वह नही समझा जाता है । क्योकि उमने अपनी अभिलाषासे उस कार्यको नही किया है किन्तु पर प्रेरणासे किया है ।

भावार्थः—इसीप्रकार सम्यग्दृष्टि किसी कार्य (वैषयिक)को करता भी है, परन्तु उसकी अन्तरग अभिलाषा उस कार्यमे नही होती है । कर्मके (चारित्र मोहनीय)

तीव्रोदयसे ही वह अनुचित कार्यमे प्रवृत्त होता है । मिथ्यादृष्टि उसी कार्यमे रतिपूर्वक लगता है इसलिये वह पापबन्धका भागी होता है । उसमे भी कारण मिथ्यात्व पटलसे होनेवाले उसके अज्ञानमय भाव (मूर्च्छित–परिणाम) ही हैं ।

शङ्काकार

स्वदते ननु सद्दृष्टिरिन्द्रियार्थकदम्बकम् ।
तत्रेष्टं रोचते तस्मै कथमस्ताभिलापवान ॥२६६॥

अर्थः—शकाकार कहता है कि सम्यग्दृष्टी भी इन्द्रियजन्य विपयोका सेवन करता है । वहां पर जो उसे इष्ट प्रतीत होता है उसीमे वह रुचि भी करता है । फिर उसकी अभिलाषायें शान्त हो चुकी है, ऐसा किसप्रकार कह सकते हैं ?

उत्तर

सत्यमेतादृशो यावज्जघन्यं पदमाश्रितः ।
चारित्रावरणं कर्म जघन्यपदकारणम् ॥२६७॥

अर्थः—आचार्य कहते है कि यह बात ठीक है कि जबतक सम्यग्दृष्टी जघन्य श्रेणी (नीचे दरजे)मे है, तबतक वह पदार्थोंमे इष्टानिष्ट बुद्धि करता है तथा उनसे रुचि भी करता है । उस जघन्य श्रेणीका कारण भी चारित्र मोहनीय कर्म है ।

भावार्थः—अन्तरात्माके तीन भेद शास्त्रकारोने बतलाये हैं–जो महाव्रतको धारण करनेवाले मुनि है वे तो उत्कृष्ट अन्तरात्मा हैं, देशव्रतको धारण करनेवाले पञ्चम गुणस्थान वर्ती जो श्रावक है वे मध्यम–अन्तरात्मा है, और जो व्रत विहीन (अव्रती) केवल सम्यग्दर्शन धारण करनेवाले सम्यग्दृष्टी पुरुष हैं वे जघन्य–अन्तरात्मा हैं ।

इस जघन्यतामे कारण चारित्र मोहनीयका प्रबल उदय है । उसीकी प्रबलतासे प्रेरित होकर वे विषयोमे रुचि करते है और त्रस, स्थावर हिंसाके भी त्यागी नही हैं । इतना अवश्य है कि वे विषयोकी नि सारताको अच्छी तरह समझे हुए है इसीलिये उनमे उनकी मिथ्यादृष्टियोकी तरह गाढता और हितरूपा बुद्धि नही होती है परन्तु सब कुछ ज्ञान रहने पर भी अव्रत सम्यग्दृष्टी पुरुष त्याग नही कर सकते । त्यागरूपा उनकी बुद्धि तभी हो सकती है जब कि चारित्र मोहनीयका उदय कुछ मन्द हो और वह मन्दता भी तभी आ सकती है जब कि अप्रत्याख्यानावरण कषायका उपशम होकर प्रत्याख्यानावरण कषायका उदय हो । बिना अप्रत्याख्यानावरण कषायके उपशम हुए नियमसे नही कहा जा सकता है, जहाँ नियमसे त्याग है उसीका नाम देशव्रत है । इसलिये पचम गुणस्थानवर्तीको ही एक देश त्यागी कह सकते हैं ।

सम्यग्दृष्टि पुरुष सभी पदार्थोंमें आसक्त रहने पर भी एक सम्यग्दर्शन गुणके कारण ही सदा स्तुत्य और निर्मल है। उसीका बाह्यरूप—जिनोक्त पदार्थोंमें उसका अटल विश्वास है। *

चारित्रमोहनीय ही रतिका कारण है

तदर्थेषु रतो जीवश्चारित्रावरणोदयात्।
तद्विना सर्वतः शुद्धो वीतरागोस्त्यतीन्द्रियः ॥२६८॥

अर्थः—इष्ट पदार्थोमे यह जीव चारित्रमोहनीयके उदयसे ही रत होता है, उस चारित्र मोहनीयके बिना सर्वदा शुद्ध है, वीतराग है और अतीन्द्रिय है।

भावार्थः—चारित्रमोहनीयके दूर होनेसे पहले ही पदार्थोंमें राग भाव है, इन्द्रिय जन्य पदार्थोंकी लालसा है, और उससे होनेवाली मलिनता भी है। सम्यग्दृष्टी इसी चारित्रमोहनीयसे बाध्य होकर विषयोमे फँस जाता है।

भोगोंमें प्रवृत्तिका कारण चारित्रमोहनीय है

दृङ्मोहस्य क्षतेस्तस्य नूनं भोगाननिच्छितः।
हेतुसद्भवतोऽवश्यमुपभोगक्रिया बलात् ॥२६९॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टीको दर्शनमोहनीय कर्मके नाश होनेसे भोगोकी इच्छा नियमसे नही होती वह भोगोको नही चाहता, परन्तु हेतुकी सत्तासे अवश्य ही प्रेरित होकर उसे उपभोग क्रिया करनी पड़ती है। हेतु, वही चारित्रमोहनीय है।

फिर भी सम्यग्दृष्टी वीतरागी है

नासिद्धं तद्विरागत्वं क्रियामात्रस्य दर्शनात्।
जगतोनिच्छितोप्यस्ति दारिद्र्यं मरणादि च ॥२७०॥

अर्थः—यद्यपि सम्यग्दृष्टि उपभोग क्रिया करता है अर्थात् भोग, उपभोगका सेवन करता है, तथापि वह वीतराग है। क्योकि उसके भोगोपभोगकी क्रिया मात्र देखी

---

* अव्रत सम्यग्दृष्टिका स्वरूप गोम्मटसारमें भी इसीप्रकार है—

गाथा—णो इंदियेसु विरदो णो जीवे थावरे तसे वापि।
जो सद्दहदि जिणुत्तसम्माइट्ठी अविरदो सो ॥३॥

अर्थः—जो इन्द्रियोंके विषयोंसे भी विरक्त नहीं है। और स्थावर अथवा त्रस जीवोंकी हिंसासे भी विरक्त नहीं है परन्तु जिनेन्द्र भगवानके कहे हुए पदार्थोंमें श्रद्धान करता है वही अविरत (चतुर्थ गुणस्थान वर्ती) सम्यग्दृष्टि है।

जाती है, चाहना नही है, और चाहना नही होनेपर भी उसे ऐसा करना पडता है। संसारमें कोई नही चाहता कि मेरे पास दरिद्रता आजाय, अथवा मेरी मृत्यु हो जाय। ऐसा न चाहनेपर भी पापके उदयसे दारिद्रय आता ही है और आयुकी क्षीणतासे मृत्यु होती ही है। उसीप्रकार चारित्रमोहनीयके उदयसे सम्यग्दृष्टिको सासारिक वासनाओको इच्छा न होनेपर भी उन्हे राग बुद्धिके लिये बाध्य होना पडता है।*

दृष्टान्त

रुगापीडितो जनः कश्चित्कुर्वाणो रुक्प्रतिक्रियाम्।
तदात्वे रुक्पदं नेच्छेत् का कथा रुक्पुनर्भवे ॥२७१॥

अर्थः—कोई आदमी जिसको कि रोग सता रहा है रोगका प्रतीकार (नाश) करता है। रोगका प्रतीकार करने पर भी वह रोगी रहना नही चाहता, तो क्या वह कभी चाहेगा कि मेरे फिरसे रोग हो जाय।

भावार्थः—जिस आदमीको दाद हो गया हो वह उस दादका इलाज करता है। इलाज करनेसे उसका दाद चला जाता है, तो क्या दादके चले जानेसे वह ऐसा भी कभी चाहेगा कि मेरे फिरसे दाद हो जावे? कभी नही।

दार्ष्टान्त

कर्मणा पीडितो ज्ञानी कुर्वाणः कर्मजां क्रियाम्।
नेच्छेत् कर्मपदं किञ्चित् साभिलाषः कुतो नयात् ॥२७२॥

अर्थः—इसीप्रकार सम्यग्ज्ञानी भी चारित्रमोहनीय कर्मसे पीडित होकर उस कर्मके उदयसे होनेवाली क्रियाको करता है। परन्तु उस क्रियाको करता हुआ भी वह उस

---

* सूरिकल्प आशाधरजीने भी सागारधर्मामृतमें कहा है—

भूरेखादिसदृक्कषायवशगो यो विश्वदृश्वाज्ञया, हेयं वैषयिकं सुखं निजमुपादेयं त्विति श्रद्दधत्।
चौरो मारयितुं धृतस्तलवरेणेवात्मनिन्दादिमान् शर्माक्षं भजते रुजत्यपि परं नोत्तप्यते सोऽप्यघैः ॥१॥

अर्थात्:—जैसे कोतवाल द्वारा पकडा हुआ चोर जानता है कि काला मुँह करना, गधेपर चढना आदि निन्द्य काम है, तथापि कोतवालकी आज्ञानुसार उसे सब काम करने पड़ते हैं। इसीप्रकार सम्यग्दृष्टी पुरुष जानता है कि त्रस स्थावर जीवोंको दुःख पहुँचाना, इन्द्रियोंके सुख सेवन करना निन्द्य और अयोग्य कार्य है तथापि अप्रत्याख्यानावरणादि चारित्रमोहनीय कर्मके उदयसे उसे ये सब काम करने पड़ते हैं। द्रव्यहिंसा भावहिंसा भी करनी पडती है परन्तु सम्यग्दर्शनके प्रगट हो जानेसे वह पापोंसे अत्यन्त क्लेशित नहीं होता है।

स्थानको (उसी क्रियाको) पसन्द नही करता है। तो फिर उसके अभिलाषा (चाहना) है, ऐसा किस नयसे कहा जा सकता है ?

अनिच्छा पूर्वक भी क्रिया है

नासिद्धोऽनिच्छितस्तस्य तस्याऽऽमयात्मनः ।
वेदनायाः प्रतीकारो न स्याद्रोगादिहेतुकः ॥२७३॥

अर्थः—सम्यग्दृष्टीके इच्छाके बिना भी क्रिया होती है यह बात असिद्ध नही है। जो रोगी है वह वेदनाका प्रतीकार करता है, परन्तु वह उसका प्रतीकार करना रोगादिक होनेका कारण नही है।

भावार्थः—जिसप्रकार रोगके दूर करनेका उद्योग रोगका कारण कभी नही हो सकता, उसीप्रकार सम्यग्दृष्टीकी बिना इच्छाके होनेवाली क्रिया अभिलाषाको पैदा नहीं कर सकती।

सम्यग्दृष्टी भोगी नहीं है

सम्यग्दृष्टिरसौ भोगान् सेवमानोप्यसेवकः ।
नीरागस्य न रागाय कर्माऽकामकृतं यतः ॥२७४॥

अर्थः—यह सम्यग्दृष्टि भोगोका सेवन भी करता है, तो भी उनका सेवक नही समझा जाता क्योकि राग विहीन पुरुषका इच्छाके विना किया हुआ कर्म उसके रागके लिये नही कहा जा सकता।

सम्यग्दृष्टीकी चेतना

अस्ति तस्यापि सद्दृष्टेः कस्यचित्कर्मचेतना ।
अपि कर्मफले सा स्यादर्थतो ज्ञानचेतना ॥२७५॥

अर्थः—किसी किसी सम्यग्दृष्टीके कर्मचेतना और कर्मफल चेतना भी होती है, परन्तु वास्तवमे वह ज्ञान चेतना ही है। (१) *

---

* सम्यग्दृष्टिके पहले ज्ञान चेतना ही बतलाई है, परन्तु यहाँपर उसके कर्मचेतना और कर्मफल चेतना भी बतलाई है। आगे भी कर्म और कर्मफलचेतना सम्यग्दृष्टीके बतलाई है। मालूम होता है कि उसके चारित्रमोहनीयकी अपेक्षासे ये दो चेतनायें कही गई हैं। वास्तवमें तो उसके आकांक्षा न होनेसे ज्ञानचेतना ही है। सम्यग्दृष्टीके मुख्यतासे ज्ञानचेतना ही कही गई है और बाकीकी दोनों चेतनाओंका अधिकारी मिथ्यादृष्टि कहा गया है।

ज्ञानचेतना क्यों है

चेतनायाः फलं बन्धस्तत्फले वाऽथ कर्मणि ।
रागाभावान्न बन्धोस्य तस्मात्सा ज्ञानचेतना ॥२७६॥

अर्थः—चाहे कर्मचेतना हो अथवा कर्मफलचेतना हो, दोनोका ही फल बन्ध है अर्थात् दोनो ही चेतनाये बन्ध करनेवाली है। सम्यग्दृष्टीके रागका (अज्ञानभावका) अभाव हो चुका है, इसलिये उसके बन्ध नही होता, इसीलिये वास्तवमे उसके ज्ञानचेतना ही है।

भावार्थः—कोई यह शका कर सकते है कि बन्ध तो दशवे गुणस्थान तक होता है क्योकि वहाँ भी सूक्ष्म लोभका उदय है, फिर सम्यग्दृष्टीके लिये रागके अभावसे बन्धका अभाव क्यो बतलाया गया है ?

उत्तरः—यद्यपि सम्यग्दृष्टीके राग होनेसे बन्ध होता है, परन्तु जिन मोहित अज्ञान परिणामोसे मिथ्यादृष्टीके बन्ध होता है वैसा सम्यग्दृष्टीके नही होता। सम्यग्दृष्टीका राग, मिथ्यात्वमिश्रित नही है इसीलिये उसके उसका अभाव बतलाया गया है।

ग्राह्य और अग्राह्य

अस्ति ज्ञानं यथा सौख्यमैन्द्रियं चाप्यतीन्द्रियम् ।
आद्यं द्वयमनादेयं समादेयं परं द्वयम् ॥२७७॥

अर्थः—जिसप्रकार इन्द्रियजन्य सुख और अतीन्द्रिय सुख होता है, उसीप्रकार इन्द्रियजन्य ज्ञान और अतीन्द्रिय ज्ञान भी होता है। इन दोनो ही प्रकारोमे आदिके दो अर्थात् इन्द्रियजन्य सुख और ज्ञान ग्रहण करने योग्य नही है और पीछेके दो अर्थात् अतीन्द्रिय सुख और अतीन्द्रिय ज्ञान अच्छी तरह ग्रहण करने योग्य हैं। इन्द्रियजन्य सुखके विषयमे तो पहले कह चुके है, अब इन्द्रियजन्य ज्ञानमे दोष बतलाते है—

इन्द्रियज ज्ञान

नूनं यत्परतो ज्ञानं प्रत्यर्थं परिणामि यत् ।
व्याकुलं मोहसंपृक्तमर्थाद्दुःखमनर्थवत् ॥२७८॥

(इन्द्रिय और मन)की सहायतासे होता है वह एक एक
है। इसीलिये वह निश्चयसे व्याकुल है, मोहसे मिला
करनेवाला है।

भावार्थः—इन्द्रियजन्य ज्ञान द्वारा पदार्थका ग्रहण पूरी तौरसे नही होता है किन्तु एक एक पदार्थका, सो भी स्थूलतासे पदार्थके एक देशांशका होता है। बाकी अंश और पदार्थान्तरोके जाननेके लिये वह सदा व्याकुल (चञ्चल) रहता है। साथमें वह मोहनीय कर्मके साथ मिला हुआ है इसलिये पदार्थका यथार्थ स्वरूप नही जान सकता, इसलिये वह अनर्थकारी है। वास्तवमे वह दु ख देनेवाला ही है इससे दुःख स्वरूप है। उस ज्ञानसे आत्मा सन्तुष्ट (सुखी) नही होता।

दुःख रूप क्यों है ?

सिद्धं दुःखत्वमस्योच्चैर्व्याकुलत्वोपलब्धितः ।
ज्ञातशेषार्थसद्भावे तद्बुभुत्सादिदर्शनात् ॥२७९॥

अर्थः—जो पदार्थ ज्ञानका विषय नही होता है अथवा एक ही पदार्थका जो अंश नही जाना जाता है उसी सबके जाननेके लिये वह ज्ञान उत्कण्ठित, तथा अधीर रहता है, इसलिये वह व्याकुलता पूर्ण है। व्याकुलता होनेसे ही वह ज्ञान (इन्द्रियज) दुःखरूप है।

आस्तां शेषार्थजिज्ञासोरज्ञानाद् व्याकुलं मनः ।
उपयोगि सदर्थेषु ज्ञानं वाप्यसुखावहम् ॥२८०॥

अर्थः—शेष पदार्थोके जाननेकी इच्छा रखनेवाला मन (इन्द्रियाँ भी) अज्ञानतासे व्याकुल है, यह तो है ही, परन्तु जिन यथार्थ पदार्थोमे वह उपयुक्त (लगा हुआ) है, उनके विषयमें भी वह दुःखप्रद ही है। किसप्रकार ? सो ही बतलाते हैं—

प्रमत्तं मोहयुक्तत्वान्निकृष्टं हेतुगौरवात् ।
व्युच्छिन्नं क्रमवर्तित्वात् कृच्छ्रं चेहाद्युपक्रमात् ॥२८१॥

अर्थः—इन्द्रिय और मनसे होनेवाला ज्ञान, मोह सहित है इसलिये प्रमादी है, विना हेतु वगैरहके होता नही इसलिये हेतु गौरव होनेसे निकृष्ट है, क्रम क्रमसे होता है इसलिये बीच बीचमे रुक जाता है, और पहले दर्शन होता है, फिर अवग्रह होता है, फिर ईहा फिर अवाय, फिर धारणा, इसतरह बहुतसे ज्ञान होनेपर तब कही पूरा ज्ञान हो पाता है इसलिये कठिन साध्य है।

और भी दोष

परोक्षं तत्परायत्तादाक्ष्यमक्षसमुद्भवात् ।
सदोषं संशयादीनां दोषाणां तत्र संभवात् ॥२८२॥

अर्थः—वह पराधीन होता है इसलिये परोक्ष है, इन्द्रियोंसे होता है इसलिये

इन्द्रियजन्य (एक देश) ज्ञान कहलाता है फिर भी इसमें संशय विपर्ययादिक अनेक दोष आते हैं इसलिये वह ज्ञान सदोष है।

और भी दोष

विरुद्धं बन्धहेतुत्वाद्बन्धकार्याच्च कर्मजम्।
अश्रेयोऽनात्मधर्मत्वात् कालुष्यादशुचिः स्वतः ॥२८३॥

अर्थः—इन्द्रियज ज्ञान बन्धका कारण है इसलिये वह विरुद्ध है, वह बन्धका कार्य भी है इसलिये वह ज्ञान आत्मीय नहीं कहलाता, किन्तु कर्मसे होनेवाला है, वह आत्माका धर्म नहीं है इसलिये आत्माको हानिकारक है और वह मलिन है इसलिये वह स्वयं अपवित्र है।

और भी दोष

मूर्छितं यदपस्मारवेगवद्वर्धमानतः।
क्षणं वा हीयमानत्वात् क्षणं यावददर्शनात् ॥२८४॥

अर्थः—वह ज्ञान मृगीरोगकी तरह कभी बढ़ जाता है और कभी घट जाता है, कभी दीखता है कभी नहीं दीखता इसलिये वह मूर्छित है।

और भी दोष

अत्राणं प्रत्यनीकस्य क्षणं शान्तस्य कर्मणः।
जीवदवस्थातोऽवश्यमेष्यतः स्वरसंस्थितेः ॥२८५॥

अर्थः—जो कर्म आत्माका शत्रु है, और जो क्षणमात्रके लिये शान्त भी हो जाता है, परन्तु अपनी सत्ता रखनेके कारण अवश्य ही अपने रसको देनेवाला है, ऐसे कर्मकी जीती हुई अवस्थासे वह ज्ञान रक्षा नहीं कर सकता।

इन्द्रियज ज्ञानकी अज्ञता

दिङ्मात्रं षट्सु द्रव्येषु मूर्तस्यैवोपलम्भकात्।
तत्र सूक्ष्मेषु नैव स्यादस्ति स्थूलेषु केषुचित् ॥२८६॥

अर्थः—यह इन्द्रियजन्य ज्ञान छह द्रव्योंमें केवल मूर्त (पुद्गल) द्रव्यको ही दिङ् मात्र (थोड़ासा) जानता है। उस पुद्गल द्रव्यमें भी सूक्ष्म पदार्थोंको तो जानता ही नहीं, किन्तु स्थूलोंको जानता है, सो भी सबोंको नहीं, किन्तु किन्हीं किन्हीं पदार्थोंको ही जानता है।

सत्सु ग्राह्येषु तत्रापि नाग्राह्येषु कदाचन ।
तत्रापि विद्यमानेषु नातीतानागतेषु च ॥२८७॥

अर्थः—उन किन्ही किन्ही स्थूल पदार्थोमें भी जो ग्राह्य है अर्थात् इन्द्रियद्वारा ग्रहण करने योग्य हैं उन्हीको जानता है, जो अग्राह्य है उन्हें नही जानता । ग्राह्य पदार्थोमे भी जो सामने मौजूद है उन्हीको जानता है, जो हो चुके है अथवा जो होनेवाले हैं उन्हे वह नही जानता ।

तत्रापि सन्निधानत्वे सन्निकर्षेषु सत्सु च ।
तत्राप्यवग्रहेहादौ ज्ञानस्यास्तिक्यदर्शनात् ॥२८८॥

अर्थः—जो सामने मौजूद पदार्थ है उनमें भी जिन पदार्थोका इन्द्रियोंके साथ सन्निधान (अत्यन्त निकटता) और सन्निकर्ष (संयोग) है उन्हीका ज्ञान होता है, उनमें भी अवग्रह, ईहा आदिकके होनेपर ही ज्ञान होता है अन्यथा नही ।

समस्तेषु न व्यस्तेषु हेतुभूतेषु सत्स्वपि ।
कदाचिज्जायते ज्ञानमुपर्युपरि शुद्धितः ॥२८९॥

—उपर्युक्त कारणोके मिलने पर भी समस्त पदार्थोंका ज्ञान नही होता, किन्तु भिन्न भिन्न पदार्थोका होता है, वह भी तभी होता है जब कि ऊपर ऊपर कुछ शुद्धि बढती जाता है, सो भी सदा नही होता किन्तु कभी कभी होता है ।

ज्ञानोंमें शुद्धिका विचार

तद्यथा मतिज्ञानस्य श्रुतज्ञानस्य वा सतः ।
आलापाः सन्त्यसंख्यातास्तत्रानन्ताश्च शक्तयः ॥२९०॥

अर्थः—ऊपर ऊपर ज्ञानमे शुद्धता किसप्रकार आता है ? इसी वातको बतलाते हैं । मतिज्ञान अथवा श्रुतज्ञानके असख्यात भेद हैं और उन भेदोमें भी अनन्त शक्तियाँ भरी हुई हैं ।

इतने भेदोंका कारण

तेपामावरणान्युच्चैरालापाच्छक्तितोथवा ।
प्रत्येकं सन्ति तावन्ति सन्तानस्यानतिक्रमात् ॥२९१॥

अर्थः—जितने मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके भेद हैं उतने ही उनके आवरण करनेवाले कर्मोंके भेद हैं उन आवरण करनेवाले कर्मोकी भी सन्तान वरावर चलती रहती है ।

भावार्थः—इन्द्रियावरण कर्म और नो इन्द्रियावरण कर्मका क्षयोपशम उपयोगात्मक ज्ञान होनेमे कारण है।

पञ्चेन्द्रिय और मानस कर्मका उदय होना चाहिये

दैवाचद्बन्धमायाति कथञ्चित्कस्यचित्क्वचित्।
अस्ति तस्योदयस्तावन्न स्यात्संक्रमणादि चेत् ॥२९५॥

अर्थः—उपर्युक्त दोनों प्रकारका कर्म (पञ्चेन्द्रिय, मानस) दैव योगसे कही किसीके किसीप्रकार बंधता है और बन्ध होनेपर भी उसका उदय तभी होता है जब कि सक्रमणादिक न हों।

भावार्थः—कर्म बँधनेपर भी यह नियम नही है कि उसका उदय हो ही, क्योकि कर्मोमे फेरफार भी हुआ करते हैं। कोई कर्म भिन्न भिन्न भावोके अनुसार बदलता भी रहता है। एक कर्म दूसरे रूप हो जाता है। जैसे कि अनन्तानुबन्धिकषाय द्वितीयोपशम सम्यक्त्ववालेके बदलकर अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण, संज्वलन, इनमेसे किसी रूप हो जाती है। फिर जो उसका उदय होगा वह इन्ही तीनोमेसे किसी रूप होगा। अनन्तानुबन्धि रूपसे नहीं हो सकता। इसीप्रकार यहाँ बतलाते है कि जिस पुरुषके पञ्चेन्द्रिय कर्म और मानस कर्म बँध भी जाँय, फिर भी वे अपने रूपमें तभी उदय होगे जब कि उनमे किसीप्रकार परिवर्तन न होगा। परिवर्तनका नाम ही सक्रमण है। सकमणके भी अनेक भेद है। कोई पूर्ण प्रकृतिका परिवर्तन करता है, कोई कुछ अशोका। इसीके अनुसार उसके उद्वेलन, सक्रमण, अध.प्रवृत्त, विध्यात आदि नाम भी है। यदि इसका खुलासा जानना हो तो गोम्मटसार कर्मकाण्डको देखिये।

पर्याप्त नाम कर्मका भी उदय होना चाहिये

अथ तस्योदये हेतुरस्ति हेत्वन्तरं यथा।
पर्याप्तं नामेति स्यादवश्यं सहोदयात् ॥२९६॥

अर्थः—आगे उस पचेन्द्रिय और मानस कर्मके उदयमे दूसरा कारण भी बतलाते हैं। उपर्युक्त दोनो कर्मोके साथ पर्याप्त नाम कर्मका भी उदय होना अत्यावश्यक है। बिना पर्याप्तियोके हुए शरीरादिक पूरे भी नही हो पाते, बीचमे ही मृत्यु हो जाती है। इसलिये पर्याप्त कर्मका उदय भी अवश्य होना चाहिये।

इन्द्रिय और मनकी रचना

सति ोदये सिद्धाः स्वतो नोकर्मवर्गणाः।
नो देहेन्द्रियाकारं जायते तन्निमित्ततः ॥२९७॥

अर्थः—पर्याप्त कर्मके उदय होनेपर नोकर्म वर्गणाये भी आने लगती है यह बात स्वत.सिद्ध है उन नोकर्म वर्गणाओके निमित्तसे मन और शरीरमे इन्द्रियोंका आकार वनता है ।

उपयोगमें द्रव्येन्द्रियाँ भी कारण हैं

तेषां परिसमाप्तिश्चेज्जायते दैवयोगतः ।
लब्धेः स्वार्थोपयोगेषु वाह्यं हेतुर्जडेन्द्रियम् ॥२९८॥

अर्थः—उन इन्द्रियादिकोकी रचना की भी दैवयोगसे समाप्ति हो जावे । फिर कही कर्मोंके क्षयोपशम होनेसे स्वपर पदार्थका उपयोग हो । उसमें भी बाह्य हेतु द्रव्येन्द्रियाँ हैं जो जड़ है ।

उपयोगमें अन्यकारणकलाप

अस्ति तत्रापि हेतुर्वा प्रकाशो रविदीपयोः ।
अन्यदेशस्थसंस्कारः पारं पर्यावलोकनम् ॥२९९॥

अर्थः—इतना सव कुछ होने पर भी यदि सूर्य और दीपकका प्रकाश न हो तो भी उपयोगात्मक ज्ञान नही हो सकता है । इसलिये प्रकाशका होना आवश्यक है । और भी–पहले किसी स्थानमे किये हुए ज्ञानके सस्कार भी कारण हैं । फिर भी परम्परासे अवलोकन (प्रत्यक्ष) होता है ।

हेतुकी हीनतामें ज्ञान भी नहीं हो सकता है

एतेषु हेतुभूतेषु सत्सु सद्भावसंभवात् ।
रूपेणैकेन हीनेषु ज्ञानं नार्थोपयोगि तत् ॥३००॥

अर्थः—इन ऊपर कहे हुए पचेन्द्रियकर्म, मानस कर्म, पर्याप्तकर्म, इन्द्रियादिककी रचना, सूर्यादिकका प्रकाश, अन्य देशस्थ सस्कार आदि समग्र हेतुओके होने पर ही वस्तुका ठीक २ भान (ज्ञान–प्रत्यक्ष) होना संभव है । यदि इन कारणोमेसे कोई भी कम हो तो पदार्थका ज्ञान नही हो सकता ।

अस्ति तत्र विशेषोयं विना बाह्येन हेतुना ।
ज्ञानं नार्थोपयोगीति लब्धिज्ञानस्य दर्शनात् ॥३०१॥

अर्थः—यहाँ पर इतना विशेष समझ लेना चाहिये कि क्षयोपशम (लब्धि) ज्ञानके होने पर भी विना वाह्य कारणके मिले पदार्थोंका ज्ञान (उपयोग रूप) नही हो सकता है ।

क्षयोपशमका स्वरूप

देशतः सर्वतो घातिस्पर्धकानामिहोदयात् ।
क्षायोपशमिकावस्था न चेज्ज्ञानं न लब्धिमत् ॥३०२॥

अर्थः—देशघातिस्पर्धकोका उदय होने पर सर्वघातिस्पर्धकोका उदयक्षय (उदयाभावी क्षय) होने पर क्षयोपशम होता है। ऐसी क्षयोपशम-अवस्था यदि न हो तो वह लब्धिरूप ज्ञान भी नही हो सकता।

भावार्थः—सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक आदिकमें क्षयोपशमका खुलासा लक्षण इसप्रकार है—"सर्वघातिस्पर्धकानामुदयक्षयात् तेषामेव सदुपशमात् देशघातिस्पर्धकानामुदयात् क्षायोपशमिक जायते" जो कर्म आत्माके सम्पूर्ण रीतिसे गुणोंको रोकें उन्हें सर्वघातिक कहते हैं, और जो गुणोको एक देशसें घाते उन्हे देशघातिक कहते है। जहाँपर सर्वघाति स्पर्धकों (सर्वघाति परमाणुओं)का उदयाभावी क्षय (जो कर्म उदयमें आकर बिना फल दिये खिर जांय उसे उदयाभावी क्षय कहते है) हो जाता है। तथा उन्ही सर्वघाति स्पर्धकोका सत्तामे उपशम होता है और देशघाति स्पर्धकोंका उदय होता है वहाँ क्षयोपशम कहलाता है। ऐसी अवस्थामें जो आत्मविशुद्धि होती है उसीका नाम लब्धि है। इसीका सक्षिप्त उपर्युक्त श्लोकमे कहा गया है।

प्रकृतार्थ

ततः प्रकृतार्थमेवैतद्दिङ्मात्रं ज्ञ ैन्द्रियम्।
तदर्थार्थस्य सर्वस्य देशमात्रस्य दर्शनात् ॥३०३॥

अर्थः—ऊपर कही हुई समस्त बातोका प्रकरणमे यही प्रयोजन है कि इन्द्रियजन्य ज्ञान दिङ्मात्र होता है। पूरे पदार्थके एक देश मात्रका इन्द्रियोंद्वारा-प्रत्यक्ष होता है।

वह ज्ञान खण्डित है

खण्ि खण स्तेषामेकैकार्थस्य कर्षणात्।
प्रत्येकं नियतार्थस्य व्यस्तमात्रे सति क्रमात् ॥३०४॥

:—उन सम्पूर्ण पदार्थोमेंसे एक एक पदार्थके खण्ड खण्ड (अंशमात्र)को जानता है इसलिये वह इन्द्रियजन्य ज्ञान खण्डित-अधूरा भी है, तथा वह भिन्न भिन्न होता है, किसी नियमित वस्तुको भिन्न भिन्न अवस्थामे क्रमसे जानता है।

वह ज्ञान दुःखविशिष्ट भी है

अ ।मित्यादि दोषाणां सन्निपातास्पदं पदम्।
ऐन्द्रियं ज्ञानमप्यस्ति प्रदेशचलनात्मकम् ॥३०५॥

निष्क्रियस्यात्मनः काचिद्यावदौदयिकी क्रिया ।
अपि देशपरिस्पन्दो नोदयोपाधिना विना ॥३०६॥

अर्थः—इन्द्रियजन्य ज्ञान उपर्युक्त अनेक दोषोंके समावेशका स्थान तो है ही, साथमें वह आत्मप्रदेशोंकी कपता (चलपना)को लिये हुए है। और इस क्रियाविहीन आत्माकी जब तक कोई औदयिकी (कर्मोके उदयसे होने वाली) क्रिया रहती है तभी तक आत्मप्रदेशोका हलन चलन होता है। कर्मोके उदयके बिना हलनचलन नही हो सकता।*

भावार्थः—इन्द्रियजन्य ज्ञान कर्मोदय–उपाधिको लिये हुए है और कर्मोदय–उपाधि दुःखरूप है तथा कर्मबन्धका कारण है इसलिये यह ज्ञान दुःखावह ही है।

कर्मोदय–उपाधि दुःखरूप है

नासिद्धमुदयोपाधे र्दुःखत्वं कर्मणः फलात् ।
कर्मणो यत्फलं दुःखं प्रसिद्धं परमागमात् ॥३०७॥

अर्थः—उदयोपाधि दुःखरूप है, यह बात असिद्ध नही है। क्योकि वह कर्मोके ही फल स्वरूप है। जो कर्मोका फल होता है वह दुःख रूप होता ही है, यह बात परमागमसे प्रसिद्ध है।

आत्मा महा दुखी है

बुद्धिपूर्वकदुःखेषु दृष्टान्ताः सन्ति केचन ।
नाबुद्धिपूर्वके दुःखे ज्ञानमात्रैकगोचरे ॥३०८॥

अर्थः—दुःख दो प्रकारका होता है–एक बुद्धिपूर्वक, दूसरा अबुद्धिपूर्वक। जो दुःख प्रत्यक्षमें ही मालूम होता है वह दुःख बुद्धिपूर्वक कहलाता है। ऐसे दुःखके अनेक दृष्टान्त है। जैसे फोडेकी तकलीफ होना, किसीका किसीको मारना, बीमारी होना आदि, परन्तु अबुद्धि पूर्वक दुःख ज्ञान मात्रके ही गोचर है, उसके दृष्टान्त भी नही मिलते।

भावार्थः—अबुद्धिपूर्वक दुःख ऐसा दुःख नही है जैसा कि प्रत्यक्षमे दीखता है, वह एक प्रकारकी भीतरी गहरी चोट है जिसका विवेचन भी नही किया जा सकता। वह ऐसा ही है जैसे कि किसी रोगीको वेहोशीकी दवा सुंघा कर तकलीफ पहुँचाना।

---

* चौदहवें गुणस्थानको अन्तमें मोक्षस्थानमें जाते हुए कर्म रहित शुद्धात्मामें भी चलनात्मक क्रिया होती है।

बेहोश किये हुए रोगीको तकलीफ तो अवश्य है, परन्तु उसका ज्ञान उसे स्वयं भी नहीं ।। इसीलिये इस अबुद्धिपूर्वक दु खके सभी संसारी जीव दृष्टान्त होनेपर भी व्यक्तताका अभाव होनेसे दृष्टान्ताभाव ही बतलाया है । दोनों दु खोके विषयमें आचार्य नीचे कहते है—

बुद्धिपूर्वक दुःख

अस्त्यात्मनो महादुःखं गाढं बद्धस्य भिः ।
मनः पूर्वं कदाचिद्वै शश्वत्सर्वप्रदेशजम् ॥३०९॥

अर्थः—कर्मोसे गाढ रीतिसे बँधे हुए इस आत्माके सम्पूर्ण प्रदेशोमें होनेवाला मन पूर्वक दु ख कभी होता है । परन्तु कर्मोकी परतन्त्रतासे इस आत्माको महादु ख ससारी अवस्थामे सदा ही रहा करता है ।

बुद्धिपूर्वक दु खको सि करनेकी आवश्यकता नहीं है

अस्ति स्वस्यानुमेयत्वाद् बुद्धिजं दुःखमात्मनः ।
सिद्धत्वात्साधने वर्जनीयो वृथा श्रमः ॥३१०॥

अर्थः—आत्माका, जो दु ख बुद्धिपूर्वक होता है वह तो अपने आप ही अनुमान किया जा सकता है । इसलिये वह सिद्ध ही है, उसके सिद्ध करनेके लिये हेतु देनेकी आवश्यकता नही है क्योकि जो बात सुसिद्ध है उसमे परिश्रम करनेकी कोई आवश्यकता नही है ।

अबुद्धि पूर्वक दु'ख ही साध्य है

साध्यं तन्निहितं दुःखं नाम यावदबुद्धिजम् ।
कार्यानुमानतो हेतुर्वाच्यो वा परमागमात् ॥३११॥

अर्थः—जो छिपा हुआ–अबुद्धिपूर्वक दु ख है वही सिद्ध करने योग्य है । उसकी सिद्धि दो ही प्रकारसे हो सकती है, या तो कार्यको देखकर हेतु कहना चाहिये, अथवा परमागमसे उसकी सिद्धि माननी चाहिये ।

भावार्थः—किसी अप्रत्यक्ष वस्तुके जाननेके लिये दो ही उपाय हैं । या तो उसका कार्य देखकर उसका अनुमान करना, अथवा आगमप्रमाणसे उसे मानना ।

अनुमानमें दृष्टान्त

अस्ति कार्यानुमानाद्वै कारणानुमितिः क्वचित् ।
दर्शनान्नदपूरस्य देवो वृष्टो यथोपरि ॥३१२॥

अर्थः—कहीं पर कार्यको देखकर कारणका अनुमान हो जाता है। जिसप्रकार किसी नाले (छोटी नदी)के बढे हुए प्रवाहको देखकर यह अनुमान कर लिया जाता है कि ऊपरकी ओर मेघ वर्षा है। विना मेघके वरसे नदका प्रवाह नहीं चल सकता। इसीप्रकार कार्यसे उसके कारणका अनुमान कर लिया जाता है।

अबुद्धिपूर्वक दुःख सिद्धिका अनुमान

अस्त्यात्मनो गुणः सौख्यं स्वतःसिद्धमनश्वरम् ।
घातिकर्माभिघातत्वादसद्वाऽदृश्यनां गतम् ॥२१३॥
सुखस्यादर्शनं कार्यलिङ्गं लिङ्गमिवात्र तत् ।
कारणं तद्विपक्षस्य दुःखस्यानुमितिः सतः ॥२१४॥

अर्थः—आत्माका सुख गुण स्वाभाविक है, वह स्वतः सिद्ध है और नित्य है, परन्तु घातिया कर्मोंके घातसे नष्टसा हो गया है अर्थात् अदृश्य हो गया है। वही सुखका अदर्शन (अभाव) कार्य रूप हेतु है। वह हेतु सुखके विपक्षी दुःखका (जो कि आत्मामे मौजूद है) अनुमान कराता है।

भावार्थः—आत्मामें कर्मोंके निमित्तसे सुख गुणका अभाव दीखता है। उस सुख गुणके अभावसे ही अनुमान कर लिया जाता है कि आत्मामें दुःख है। क्योंकि सुखका विपक्षी दुःख है। जब सुख नहीं है तब दुःखकी सत्ताका अनुमान कर लिया जाता है। यदि आत्मामे दुःख न होता तो आत्मीक सुख प्रकट हो जाता। वह नहीं दीखता इसलिये दुःखका सद्भाव सिद्ध होता है बस यही कार्य-कारणभाव है। सुखका अदर्शन कार्य है उससे दुःखरूप कारणका बोध होता है।

उसीका खुलासा वाक्य

सर्वसंसारिजीवानामस्ति दुःखमबुद्धिजम् ।
हेतोर्नैसर्गिकस्यात्र सुखस्याभावदर्शनात् ॥२१५॥

अर्थः—सम्पूर्ण संसारी जीवोंके अबुद्धिपूर्वक दुःख है। क्योंकि सुखका अदर्शनरूप स्वाभाविक हेतु दीखता है।

हेतुकी सिद्धता

नाऽसौ हेतुरसिद्धोऽस्ति सिद्धसंदृष्टिदर्शनात् ।
व्याप्तेः सद्भावतो नूनमन्यथानुपपत्तितः ॥२१६॥

अर्थः—यह उपर्युक्त हेतु असिद्ध नहीं है। इस विषयमे बहुतसे प्रसिद्ध दृष्टान्त

मौजूद हैं। सुखका जहाँ अभाव है वहाँ दुःख अवश्य है ऐसा फलितार्थ निकालनेमें व्यतिरेक व्याप्तिका सद्भाव है। जहांपर दुःख नही है वहाँ सुखका भी अदर्शन नहीं है जैसे कि अनन्तचतुष्टय धारी अर्हन् सर्वज्ञ। अरहन्त देवके दु.ख नही है इसलिये अनन्त सुखकी उनके उद्भूति होगई है। यदि ऐसा कार्य–कारण भाव न माना जावे तो व्याप्ति भी नही बन सकती।

व्याप्तिमें दृष्टान्त

व्याप्तिर्यथा विचेष्टस्य मूर्छितस्येव यचित्।
अदृश्यमपि मद्यादिपानमस्त्यत्र रणम् ॥३१७॥

ः—व्याप्ति इसप्रकार है–जैसे किसी मूर्छितकी तरह चेष्टा विहीन पुरुषको देखकर यह अनुमान कर लिया जाता है कि इसने मदिरापान किया है। यद्यपि मदिरा–पान प्रत्यक्ष नही है तो भी उसका कार्य बेहोशी देखकर उस मदिरापान–कारणका अनुमान कर लिया जाता है। उसीप्रकार प्रकृतमे जानना।

व्याप्तिका फल

अस्ति संसारिजीवस्य नूनं दुःखमबुद्धिजम्।
सुखस्यादर्शनं स्वस्य सर्वतः कथमन्यथा ॥३१८॥

अर्थः—ससारी जींवके निश्चयसे अबुद्धि पूर्वक दु ख है। यदि दु ख नही होता तो उसके (आत्मीक) सुखका सर्वथा अदर्शन कैसे हो जाता।

ततोनुमीयते दुःखमस्ति नूनमबुद्धिजम्।
अवश्यं कर्मबद्धस्य नैरन्तर्योदयादितः ॥३१९॥

अर्थः—इस कर्मसे बँधे हुए आत्माके निरन्तर कर्मोका उदय, उदीरणा आदि होनेसे निश्चय पूर्वक अबुद्धि पूर्वक दु ख है ऐसा अनुमान होता है।

अबुद्धि पूर्वक दुःख अवाच्य नहीं है

नाऽवाच्यता यथोक्तस्य दुःखजातस्य साधनं।
अर्थादबुद्धिमात्रस्य हेतोरौदयिकत्वतः ॥३२०॥

अर्थः—ऊपर जो अबुद्धिसे होनेवाला दु खसमूह बतलाया गया है, उसके सिद्ध करनेमे अवाच्यता नही है अर्थात् ऐसा नही है कि वह किसीप्रकार कहा ही न जा सके। अबुद्धिपूर्वक दुःखका हेतु कर्मोका उदय होना ही है। कर्मोका उदय ही बतलाता है कि इस आत्मामे दु ख है।

शंकाकार

तद्यथा कश्चिदत्राह नास्ति बद्धस्य तत्सुखम् ।
यत्सुखं स्वात्मनस्तत्त्वं मूर्छितं कर्मभिर्बलात् ॥३२१॥
अस्त्यनिष्टार्थसंयोगाच्छारीरं दुःखमात्मनः ।
ऐन्द्रियं बुद्धिजं नाम प्रसिद्धं जगति स्फुटम् ॥३२२॥
मनोदेहेन्द्रियादिभ्यः पृथग् दुःखं न बुद्धिजम् ।
यद्ग्राहकप्रमाणस्य शून्यत्वाद् व्योमपुष्पवत् ॥३२३॥
साध्ये वाऽबुद्धिजे दुःखे साधनं तत्सुखक्षतिः ।
हेत्वाभासः स व्याप्यत्वासिद्धो व्याप्तेरसंभवात् ॥३२४॥

अर्थः—कोई शंकाकार कहता है कि जो सुख आत्मीक तत्त्व है वह सुख कर्मसे बँधे हुए आत्मामे नही है। कर्मोंने बलपूर्वक उसे मूर्च्छित किया है और अनिष्ट पदार्थोंका संयोग होनेसे आत्माको शारीरिक दु ख होता है। तथा इन्द्रियजन्य भी दु ख होता है। बस शारीरिक और ऐन्द्रियिक ये ही बुद्धिपूर्वक दु ख जगतमे प्रसिद्ध हैं। मन, देह, इन्द्रिय इससे भिन्न और कोई बुद्धिपूर्वक दु.ख नही है। इस विषयमें कोई प्रमाण नही है कि और भी दु ख है। जैसे आकाशके पुष्प नही है वैसे ही अन्य दु ख नही हैं। आपने जो अबुद्धिपूर्वक दु ख सिद्ध करनेके लिये सुखाभाव हेतु दिया है, वह यथार्थ हेतु नही है किन्तु हेत्वाभास है। (हेत्वाभास झूठे हेतुको कहते हैं जो साध्यको सिद्ध नही कर सकै) यहांपर व्याप्यत्वासिद्ध नामका हेत्वाभास है। क्योकि सुखाभावकी अबुद्धिपूर्वक दु खके साथ व्याप्ति नही है। साध्य साधनमे व्याप्य व्यापक हुआ करता है। जिस हेतुमे साध्यकी व्याप्यता न होवै उसीका नाम व्याप्यत्वासिद्ध है। ऐसा हेतु साध्यको सिद्ध नही कर सकता है ?

उत्तर

नैवं यत्तद्विपक्षस्य व्याप्तिर्दुःखस्य साधने ।
कर्मणस्तद्विपक्षत्वं सिद्धं न्यायात्कुतोन्यथा ॥३२५॥

अर्थः—शंकाकारका उपर्युक्त कहना ठीक नही है। क्योकि दु खके सिद्ध करनेमे सुखके विपक्षकी व्याप्ति है। जो सुखका विपक्षी है वही दु खका साधक है और सुखका विपक्ष कर्म है। यह बात न्यायसे भलीभाँति सिद्ध है।

विरुद्धधर्मयोरेव वैपक्ष्यं नाऽविरुद्धयोः ।
शीतोष्णधर्मयोर्वैरं न तत्क्षारद्रवत्वयोः ॥३२६॥

अर्थः—जिनका विरोधी धर्म है उन्हीको विपक्षता होती है, जो अविरोधी धर्मवाले है उनकी विपक्षता नही होती । शीत और उष्ण धर्मवालों (जल और अग्नि)का हो वैर है । खारापन और पतलापन, इनका परस्पर कोई वैर नही है । (क्योकि समुद्रमें दोनो चीजे मौजूद है ।)

सुखगुण क्या वस्तु है ।

निराकुलं सुखं जीवशक्तिर्द्रव्योपजीविनी ।
तद्विरुद्धाकुलत्वं वै शक्तिस्तद्घातिकर्मणः ॥३२७॥

अर्थः—आकुलता रहित जीवकी एक शक्तिका नाम सुख है वह सुख नामकी शक्ति द्रव्योपजीवी है । उसीकी विरोधिनी आकुलता है, और वह आकुलता घातिया कर्मोकी शक्ति है ।

भावार्थः—कोई कोई ऐसा भी समझे हुए हैं कि सुख और कोई चीज नही है, घातिया कर्मोके अभावसे होनेवाली जो निराकुलता है वही सुख है किन्तु ऐसा नही है । निराकुलता तो आकुलताके अभावको कहते है । अभाव कोई वस्तु नही है परन्तु सुख गुण आत्माकी एक भाव रूप शक्ति है । वह ऐसी ही है जैसी कि ज्ञानशक्ति, दर्शनशक्ति आदि शक्तियाँ हैं । भावरूप शक्तिका नाम ही द्रव्योपजीविनी शक्ति है और अभावरूप धर्मको प्रतिजीवी गुण कहते हैं । सुख गुणके प्रगट होनेपर आकुलता नही रहती है, परन्तु आकुलताका न होना ही सुख गुण नही है । वह एक स्वतन्त्र गुण है । उस गुणका घातक कोई खास कर्म नही है । किन्तु चारो ही घातिया कर्म मिलकर उसका घात करते है । इसीलिये तेरहवे गुणस्थानके प्रारम्भमे अथवा बारहवें गुणस्थानके अन्तमें जहाँ पर घातिया कर्मोका सर्वथा नाश हो जाता है वही अनन्त सुखगुण अनन्त चतुष्टयधारी श्री अरहन्त देवके प्रगट हो जाता है । इस कथनसे यह बात भी सिद्ध हो जाती है कि जिन जिन गुणस्थानोमे उन घातिया कर्मोका जितना २ क्षय होता जाता है उन उन गुणस्थानोमे उतना उतना ही सुख गुणका अंश प्रकट होता जाता है । अतएव चौथे गुणस्थानमें भी किंचिन्मात्र उस दिव्य–अलौकिक–परमस्वादु–अनुपम सुखकी झलक मिल जाती है ।

घातिकर्मकी शक्ति

असिद्धा न तथा शक्तिः कर्मणः फलदर्शनात् ।
अन्यथाऽऽत्मतया शक्ते र्बाधकं तत्कथम् ॥३२८॥

अर्थः—सुख गुणके अभावमे होनेवाली जो आकुलता है, वह घातिया कर्मोंकी शक्ति है, यह वात असिद्ध नही है, क्योकि कर्मोका फल दीखता हैं । यदि वह कर्म-शक्ति नही है तो आत्माकी शक्तिका बाधक कर्म कैसे होता है ?

साराश

त्सिद्धं ततो दुःखं सर्वदेशप्रकम्पवत् ।
आत्मनः कर्मबद्धस्य यावत्कर्मरसोदयात् ॥३२९॥

अर्थः—इसलिये यह वात न्यायसे सिद्ध हो चुकी है कि कर्मसे बँधे हुए आत्माके जब तक कर्मोंका उदय हो रहा है तव तक उसके सम्पूर्ण प्रदेशोमें कम्प (कँपानेवाला) करनेवाला दु ख है ।

दृष्टान्त

देशतोस्त्यत्र दृष्टान्तो वारिधिर्वायुना हतः ।
व्याकुलोऽव्याकुलः स्वस्थः स्वाधिकारप्रमत्तवान् ॥३३०॥

अर्थः—यहांपर एक देश दृष्टान्त भी है-वायुसे ताडित (प्रेरित) समुद्र व्याकुल होता है । जव वायुसे रहित स्वाधिकारी समुद्र है तव व्याकुलता रहित है, स्वस्थ है ।

यहांपर 'स्वाधिकारप्रमत्तवान्' यह समुद्रका विशेषण तीन प्रकारसे लगाया जा सकता है । जिससमय समुद्रस्वाधिकारमें प्रमादी है उससमय वह व्याकुल है । ऐसा भी अर्थ हो सकता है । दूसरा ऐसा भी अर्थ हो सकता है कि स्वाधिकार अवस्थामे वह अव्याकुल है और प्रमत्त अवस्थामे व्याकुल है । तीसरा-स्वाधिकारमे ही जिससमय लीन है तव वह अव्याकुल है । तात्पर्य सव तरह स्पष्ट है ।

शङ्काकार

न च वाच्यं सुखं शश्वद्विद्यमानमिवास्ति ।
बद्धस्याथाप्यबद्धस्य हेतोस्तच्छक्तिमात्रतः ॥३३१॥

अर्थः—यदि कोई यह कहे कि सुख सदा विद्यमान ही रहता है । चाहे आत्मा कर्मोंसे वँधा हो, चाहे न वँधा हो । क्योकि सुख आत्माकी शक्तिका नाम है । शक्ति रहनेवाला पदार्थ है । इसलिये सुख मौजूदकी तरह ही समझना चाहिये ?

शंकाकारका ऐसा कहना ठीक नहीं है इसमें अनेक दोष आते हैं, वे नीचे दिखाये जाते है–

अत्र दो तारस्य युक्तिः प्रागेव दर्शि ।
यथा स्वस्थस्य जीवस्य व्याकुलत्वं कुतोर्थतः ॥३३२॥

अर्थः—यदि सुख गुण सदा विद्यमान ही माना जावे तो अवश्य दोष आते है। जो दोष आते हैं उनकी युक्ति पहले ही कही जा चुकी है। जो स्वस्थ जीव है उसके वास्तवमें व्याकुलता कहाँ हो सकती है ? और संसारी जीवके व्याकुलता है, इसलिये जाना जाता है कि सुखका अभाव है।

उसीकी दूसरी शङ्का

नचैकतः सुखव्यक्तिरेकतो दुःखमस्ति तत् ।
एक पदे सिद्धमित्यनेकान्तवादिनाम् ॥३३३॥

अर्थः—अनेकान्तवादी (जैन) एक पदार्थमे एक ही स्थानमे दो धर्म मान लेते है, इसलिये एक आत्मामें ही सुख व्यक्ति और उसीमें दु ख व्यक्ति मान लेना चाहिये अर्थात् एक ही आत्मामे एक समयमे सुख और दु ख दोनों मानना चाहिये। ऐसा माननेसे जैनियोका अनेकान्तवाद भी घट जाता है ? सो यह कहना भी असमझका है।

अनेकान्तका स्वरूप

अनेकान्तः प्रमाणं स्यादर्थादेकत्र वस्तुनि ।
गुणपर्याययोर्द्वैताद् गुणमुख्यव्यवस्थया ॥३३४॥

अर्थः—एक वस्तुमें होनेवाला जो अनेकान्त है वह प्रमाण अवश्य है, परन्तु सब जगह नही। जहाँपर गुण, पर्यायके कथनमे एकको मुख्य कर दिया जाता है और दूसरेको उससमय गौण कर दिया जाता है, वही पर अनेकान्त प्रमाण है और वही पर द्वैत घटता है।

अभिव्यक्तिस्तु पर्यायरूपा स्यात्सुखदुःखयोः ।
तदात्वे तन्न तद्द्वैतं द्वैतं चेद्द्रव्यतः क्वचित् ॥३३५॥

अर्थः—परन्तु सुख, दु खकी व्यक्ति (प्रगटता) तो पर्याय स्वरूप है। ऐसी अवस्थामे द्वैत नही घट सकता। द्वैत यदि कही पर होगा तो द्रव्यकी उपेक्षासे ही होगा।

भावार्थः—ऊपर दो प्रकारकी शङ्कायें उठाई गई हैं, उनमे पहली तो यह थी कि गुण सदा ही रहता है ? इसका यह उत्तर दे दिया गया कि यदि सुख सदा ही रहता है

तो जीव व्याकुल क्यों होता है ? सुख गुणकी प्रगटतामें व्याकुलता नही रह सकती। इसलिये सुख सदा प्रगट नही रहता।

दूसरी शका इसप्रकार थी कि—एक आत्मामे सुख और दुःख थोडा २ दोनो ही साथ मानो ? और यही अनेकान्त है ? इसका यह उत्तर है कि एक पदार्थमे दो धर्म एक साथ अवश्य रहते है। परन्तु रहते वे ही हैं जिनमे एकके कथनमे मुख्यता पाई जाती है और दूसरेकेमे गौणता; तथा यह बात वही घट सकती है जहाँ कि एक ही द्रव्यमे गुण और पर्यायोका कथन किया जाता है। सुख दुःख दोनों एक साथ कभी नही रह सकते। क्योकि इनकी प्रगटता पर्यायकी अपेक्षासे है। एक समयमें एक ही पर्याय हो सकती है दो नही। ये दोनो ही एक (सुख) गुणकी पर्याये है। दुःख वैभाविक पर्याय है और सुख स्वाभाविक है। स्वाभाविक और वैभाविक पर्याये क्रमसे ही होती हैं। इसलिये एक समयमे सुख और दुःख बतलाना ठीक नही है।

सारांश

बहु प्रलपनेनालं साध्यं सिद्धं प्रमाणतः।
सिद्धं जैनागमाच्चापि : सिद्धोः यथागमः ॥३३६॥

अर्थः—अब अधिक कहनेसे क्या प्रयोजन! हमारा साध्य "कर्मबद्ध आत्मा दुःखी है" अनुमान प्रमाणसे सिद्ध हो चुका, और जैनागमसे भी आत्मामे दुःखकी सत्ता सिद्ध हो चुकी। तथा आगममे अन्य प्रमाणोकी आवश्यकता नही है, आगम स्वय प्रमाणरूप है।

आगमकथन

एतत्सर्वज्ञवचनमाज्ञामात्रं तदागमः।
यावत्कर्मफलं दुःखं पच्यमानं रसोन्मुखम् ॥३३७॥

अर्थः—सर्वज्ञदेवके वचनोको आज्ञारूप समझना चाहिये, बस उसीका नाम आगम है। सर्वज्ञके ये वचन हैं कि पके हुए कर्मोका उदयावस्थापन्न जो फल है वही दुःख है, अर्थात् जितना भी कर्मफल है वह सभी दुःख है।

दृष्टान्त

अभिज्ञानं यदत्रैतज्जीवाः कार्मणका :।
आ एकाक्षादापञ्चाक्षा अप्यन्ये दुःखिनोमताः ॥३३८॥

अर्थः—जितने भी एकेन्द्रियसे आदि लेकर पचेन्द्रिय तक जीव है वे सब कार्माण

काय वाले हैं अर्थात् सभी कर्मवाले हैं। इसलिये सभी दुःखी माने गये हैं तथा और भी जो (विग्रह गतिमें रहनेवाले) कर्म बद्ध है वे सब दुःखी माने गये हैं।

दुःख कारण

तत्राभिव्यञ्जको भावो वाच्यं दुःखमनीहितम् ।
घातिकर्मोदयाघाताज्जीवदेशवधात्मकम् ॥३३९॥

अर्थः—घातिया कर्मोके उदयके आघातसे आत्माके प्रदेशोंका घात करनेवाला जो कर्म है वही दु खका सूचक है, अर्थात् घाति कर्मका उदय ही दु.खावह है।

अन्यथा न गतिः साध्वी दोषाणां सन्निपाततः ।
संज्ञिनां दुःखमेवैकं दुःखं नाऽसंज्ञिनामिति ॥३४०॥

अर्थः—यदि कर्मोको दुःखका कारण न माना जाय तो दु खोके कारणोका और कोई उपाय ही नही है क्योकि कर्मोको दुःखका कारण न माननेसे अनेक दोष आते हैं, यदि केवल सञ्ज्ञी जीवोके ही दुःख होता है, असंज्ञी जीवोके नही ऐसा कहा जाय ?

और भी

महच्चेत्संज्ञिनां दुःखं स्वल्पं चाऽसंज्ञिनां न वा ।
यतो नीचपदादुच्चैः पदं श्रेयस्तथामतम् ॥३४१॥

अर्थः—अथवा यह कहा जाय कि वहुत भारी दु ख संज्ञियोके ही होता है और थोडा असज्ञियोके होता है ? तो भी यह सब कथन ठीक नही है। क्योकि नीच स्थानसे उच्चस्थान सदा अच्छा माना गया है।

भावार्थः—सञ्ज्ञी और असञ्ज्ञी जीवोमे सञ्ज्ञियोका दर्जा कई गुणा उत्तम है। इसलिये एक प्रकारसे नीचे ही दु ख अधिक होना चाहिये। और प्रत्यक्ष भी देखते हैं कि एकेन्द्रिय जीवोमे ज्ञानकी कितनी हीनता है, उनको अपनी सत्ताका पता भी नही हो पाता। क्या उन्हे अज्ञताजन्य कम दु ख है ? वही उनको अनन्तकालतक भटकानेवाले कर्मबन्धका कारण है।

यदि यह कहा जाय

न च वाच्यं शरीरं च स्पर्शनादीन्द्रियाणि च ।
सन्ति सूक्ष्मेषु जीवेषु तत्फलं दुःखमङ्गिनाम ॥३४२॥

अर्थः—यदि यह कहा जाय कि एकेन्द्रियादिक सूक्ष्म जीवोके भी शरीर और

स्पर्शनादिक इन्द्रियाँ हैं। इसलिये उनको भी शारीरिक और एन्द्रियिक दुःख ही उठाना पडता है ? सो यह कहना भी ठीक नही है। क्योकि—

दोषापत्ति

अव्याप्तिः कार्मणावस्थावस्थितेषु तथा सति ।
देहेन्द्रियादिनोकर्मशून्यस्य तस्य दर्शनात् ॥३४३॥

अर्थः—यदि शारीरिक और इन्द्रियजन्य ही दु ख माना जावे, और कोई दु ख (कर्मजन्य) न माना जावे तो जो जीव विग्रहगतिमे हैं, जहाँ केवल कार्माण अवस्था है; शरीर, इन्द्रियादि (के कारण) नो कर्म नही है, वहाँ दु ख है या नही ?

भावार्थः—विग्रह गतिमें ससारावस्था होनेसे दु.ख तो है परन्तु शरीर, इन्द्रियादिक नही है। जो लोग केवल शारीरिक और ऐन्द्रियिक (मानसिक) दु ख ही मानते है उनके कथनमें अव्याप्ति दोष दिया गया है।

यदि यह कहा जाय

अस्ति चेत्कार्मणो देहस्तत्र कर्मकदम्बकः ।
दुःखं तद्धेतुरित्यस्तु सिद्धं दुःखमनीहितम् ॥३४४॥

अर्थः—यदि यह कहा जाय कि विग्रहगतिमे भी कर्मका समूह रूप कार्माण शरीर है। इसलिये शरीरजन्य दु ख वहाँ भी है ? तो इस कथनसे कर्मजन्य दु ख ही सिद्ध हुआ। इसलिये कर्म ही दु ख देनेवाला है यह बात भलीभाँति सिद्ध हो गई।

वास्तविक सुख कहाँपर है

अपि सिद्धं सुखं नाम यदनाकुललक्षणम् ।
सिद्धत्वादपि नोकर्मविप्रमुक्तौ चिदात्मनः ॥३४५॥

अर्थः—तथा यह बात भी सिद्ध हो चुकी कि सुख वही है जो अनाकुल लक्षणवाला है, और वह निराकुल सुख इस जीवात्माके कर्म और नोकर्मके छूट जानेपर (सिद्धावस्थामे) होता है। (यहांपर नो-कर्म शब्दसे कर्म और नोकर्म दोनोका ग्रहण है।)

शकाकार

ननु देहेन्द्रियाभावः प्रसिद्धः परमात्मनि ।
तदभावे सुखं ज्ञानं सिद्धिमुन्नीयत कथम् ॥३४६॥

अर्थः—शंकाकार कहता है कि परमात्मामे शरीर और इन्द्रियोका अभाव है, यह बात प्रसिद्ध है। परन्तु विना इन्द्रिय और शरीरके सुख और ज्ञान किसप्रकार भलीभाँति सिद्धिको प्राप्त होते हैं ?

ः—शंकाकारका अभिप्राय शारीरिक और ऐन्द्रियिक सुख, ज्ञानसे है। उसकी दृष्टिमें शरीर और इन्द्रियोंके बिना सुख और ज्ञान होते ही नही।

उत्तर

न यद्यतः णं स्यात् साधने ज्ञान सौख्ययोः।
अत्यक्षस्याशरीरस्य हेतोः सिद्धस्य साधनम् ॥३४७॥

ः—शकाकारका उपर्युक्त कहना ठीक नही है क्योकि ज्ञान और सुखके सिद्ध करनेमे इन्द्रिय और शरीर प्रमाण नही है किन्तु प्रसिद्ध अतीन्द्रिय और अशरीर हेतु ही उनकी सिद्धिमे साधन है।

सिद्धि प्रयोग

अस्ति सुखं ज्ञानं सर्वतः यचिद्यथा।
देशतोप्यस्मदादीनां स्वादुमात्रं वत द्वयोः ॥३४८॥

अर्थः—शुद्ध ज्ञान और शुद्ध सुख (आत्मीक)का थोड़ासा स्वाद हमलोगोंमें भी किसी किसीके पाया जाता है, इससे जाना जाता है कि किसीके शुद्ध ज्ञान और सुख सम्पूर्णतासे भी है।

ज्ञान और आनन्द आत्माके गुण हैं

ज्ञानानन्दौ चितो धर्मौ नित्यौ द्रव्योपजीविनौ।
देहेन्द्रियाद्यभावेपि नाभावस्तद्द्वयोरिति ॥३४९॥

अर्थः—ज्ञान और आनन्द (सुख) ये दोनो ही आत्माके धर्म है, वे नित्य है और द्रव्योपजीवी (भावात्मक) गुण हैं। इसलिये शरीर और इन्द्रियोके अभावमे भी उनका अभाव नही हो सकता (प्रत्युत वृद्धि होती है)।

गुणपनेकी सिद्धि

सिद्धं धर्मत्वमानन्दज्ञानयोर्गुणलक्षणात्।
यतस्तत्राप्यवस्थायां किञ्चिद्देहेन्द्रियं विना ॥३५०॥

अर्थः—ज्ञान और आनन्द आत्माके धर्म हैं, यह बात सिद्ध है, क्योकि गुणका लक्षण इनमे मौजूद है, तथा शरीर और इन्द्रियोके बिना भी ये पाये जाते हैं।

भावार्थः—गुणका लक्षण यही है कि अनुवर्तिनो गुणा, जो सदा साथ रहे वे गुण है। ज्ञान और आनन्द दोनों ही शरीर, इन्द्रिय रहित अवस्थामे भी आत्माके साथ पाये जाते है। इसलिये ये आत्माके ही धर्म हैं।

ज्ञानादिका उपादान आत्मा ही है

मतिज्ञानादिवेलायामात्मोपादानकारणम् ।
देहेन्द्रियास्तदर्थाश्च बाह्यं हेतुरहेतुवत् ॥३५१॥

अर्थः—मतिज्ञान आदिके समय जो शरीर, इन्द्रियाँ और उनके विषयभूत–पदार्थ कारण हैं वे केवल बाह्य हेतु हैं, इसलिये अहेतुके ही समान है। ज्ञानादिकमे अन्तरंग–उपादान हेतु तो आत्मा हो है, इसलिये आत्माके हो ज्ञान, सुख धर्म हैं।

आत्मा स्वय ज्ञानादि स्वरूप है

संसारे वा विमुक्तौ वा जीवो ज्ञानादिल :।
स्वयमात्मा भवत्येष ज्ञानं वा सौख्यमेव वा ॥३५२॥

अर्थः—आत्मा चाहे ससारमें हो, चाहे मुक्तिमें हो, कही भी क्यों न हो, सदा ज्ञान, सुख, दर्शन, वीर्य आदि लक्षणोंवाला है। स्वय आत्मा ही ज्ञानरूप हो जाता है और स्वयं ही सुखमय हो जाता है।

स्पर्शादिक केवल निमित्त मात्र हैं

स्पर्शादीन् प्राप्य जीवश्च स्वयं ज्ञानं सुखं च तत् ।
अर्थाः स्पर्शादयस्तत्र किं करिष्यन्ति ते जडाः ॥३५३॥

अर्थः—स्पर्शादि विषयोको प्राप्त होकर यह जीव ही स्वय ज्ञान और सुखमय हो जाता है। उस ज्ञान और सुखके विषयमें ये स्पर्शादिक पदार्थ–जड विचारे क्या कर सकते है।

जड पदार्थ ज्ञानके उत्पादक नहीं हैं

अर्थाः स्पर्शादयः स्वैरं ज्ञानमुत्पादयन्ति चेत् ।
घटादौ ज्ञानशून्ये च तत्किं नोत्पादयन्ति ते ॥३५४॥

अर्थः—यदि स्पर्शादिक अचेतन पदार्थ ही स्वय ज्ञानको पैदा कर देवें तो ज्ञानशून्य घटादिक पदार्थोमे क्यो नही उत्पन्न करते? अर्थात् आत्मामे ही ज्ञान क्यो होता है? *

अथ चेच्चेतने द्रव्ये ज्ञानस्योत्पादकाः क्वचित् ।
चेतनत्वात्स्वयं तस्य किं तत्रोत्पादयन्ति वा ॥३५५॥

---

* बौद्ध सिद्धान्त ज्ञानोत्पत्तिमें पदार्थको ही कारण मानता है, उसीका खण्डन इस श्लोक द्वारा किया गया है। कोई कोई तो जड पदार्थको ही ज्ञानोत्पादक मानते हैं उनका भी खण्डन समझना चाहिये।

अर्थः—यदि यह कहा जावे कि स्पर्शादिक ज्ञानको पैदा करते हैं, परन्तु चेतन द्रव्यमें ही पैदा करते हैं ? तो चेतन द्रव्य तो स्वयं ज्ञान रूप है, वहाँ उन्होने पैदा क्या किया ?

सारांश

ततः सिद्धं शरीरस्य पंचाक्षाणां तदर्थसात् ।
अस्त्यकिंचित्करत्वं तच्चितो ज्ञानं सुखम्प्रति ॥३५६॥

अर्थः—इसलिये यह बात सिद्ध हो गई कि शरीर और पाँचों ही इन्द्रियाँ आत्माके ज्ञान और सुखके प्रति सर्वथा अकिंचित्कर है, अर्थात् कुछ नही कर सकते ।

पुनः शंकाकार

ननु देहेन्द्रियार्थेषु सत्सु ज्ञानं सुखं नृणाम् ।
असत्सु न सुखं ज्ञानं तदकिंचित्करं कथम् ॥३५७॥

अर्थः—शंकाकार कहता है कि मनुष्योके शरीर इन्द्रिय और पदार्थके रहते हुए ही ज्ञान और सुख होता है । विना शरीरादिकके ज्ञान और सुख नही होता । फिर शरीर, इन्द्रिय और पदार्थ, ज्ञान और सुखके प्रति अकिंचित्कर (कुछ भी नही करनेवाले) क्यो है ?

उत्तर

नैवं यतोन्वयापेक्षे व्यंजके हेतुदर्शनात् ।
कार्याभिव्यंजकः कोपि साधनं न विनान्वयम् ॥३५८॥

अर्थः—शकाकारका उपर्युक्त कहना ठीक नही है । क्योकि शरीरादिकको जो ज्ञानादिकके प्रति हेतु बतलाया जाता है वह अन्वयकी अपेक्षा रखनेवाले व्यंजककी अपेक्षासे हैं । कार्यका जतलानेवाला कोई भी साधन विना अन्वयके नही हो सकता ।

भावार्थः—शरीरादिक ज्ञानसुखको जतलाते हैं इसलिये वे ज्ञान सुखके प्रति व्यजक हेतु हैं । परन्तु वे तभी जतला सकते हैं जब कि मूलमे आत्माका अन्वय (सम्बन्ध) हो । विना आत्माके वे शरीरादिक ज्ञान सुखको कही घट पटमे तो जतलावें ? इसलिये शरीरादिक आत्मामे ही ज्ञान सुखको जतला सकते है क्योकि ज्ञान सुख आत्माके ही गुण है । जिसप्रकार दीपक पदार्थोका व्यंजक है परन्तु वह पदार्थोंको तभी जतला सकता है जब कि पदार्थ मौजूद हो, विना पदार्थोके रहते हुए कोई भी दीपक पदार्थोंको नही दिखा सकता । इसलिये कार्यको बतलानेवाला कोई भी व्यजक साधन विना मूलके कुछ नही कर सकता ।

दृष्टान्त

गोऽगुरु गन्धस्य व्यंजकः पावको भवेत् ।
न स्याद्विनाऽगुरुद्रव्यं गन्धस्तत्पाव य सः ॥३५९॥

अर्थः—दृष्टान्तके लिये अग्नि है–अग्नि अगुरु आदि सुगन्धित पदार्थोंकी व्यंजक (विदित करानेवाली) है। परन्तु वह सुगन्धित गन्ध, बिना अगुरु द्रव्यके अग्निकी नही हो सकती। अगुरु द्रव्यके रहते हुए ही अग्नि उसकी सुगन्धिको विदित करा देती है।

दार्ष्टान्त

तथा देहेन्द्रियं चार्थाः सन्त्यभिव्यंज : क्वचित् ।
ज्ञानस्य तथा सौख्यस्य न स्वयं चित्सुखात्म : ॥३६०॥

अर्थः—इसीप्रकार (आत्माके रहते हुए ही) देह, इन्द्रिय और पदार्थ कही ज्ञान और सुखके व्यंजक (विदित करानेवाले) है। परन्तु देहादिक स्वय ज्ञान, सुख स्वरूप नही है। ऐसा तो एक आत्मा ही है।

उपादानके अभावमें व्यंजक कुछ नहीं कर सकता

नाप्युपादानशून्येपि स्यादभिव्यंजकात्सुखम् ।
ज्ञानं वा तत्र सर्वत्र हेतुशून्यानुषङ्गतः ॥३६१॥

अर्थः—उपादान शून्यतामे व्यजक मात्रसे सुख अथवा ज्ञान नही हो सकते। यदि विना उपादानके भी सुख अथवा ज्ञान हो जांय तो सर्वत्र हेतुशून्यताका प्रसङ्ग होगा अर्थात् फिर हेतुके विना भी कार्य होने लगेगा। बिना दीपकके पदार्थोंका प्रकाश हो सकता है क्या ? इसलिये उपादान कारण–आत्माके रहते हुए ही ज्ञान, सुख हो सकते हैं।

निष्कर्ष

ततः सिद्धं गुणो ज्ञानं सौख्यं जीवस्य वा पुनः ।
संसारे वा प्रमुक्तौ वा गुणानामनतिक्रमात् ॥३६२॥

अर्थः—इसलिये यह वात सिद्ध हुई कि ज्ञान और सुख जीवके ही गुण हैं। चाहे वह जीव ससारमे हो, चाहे मुक्तिमे हो, गुणोका उल्लघन कही नही होता।

ज्ञानसुखकी पूर्णता मुक्तिमें है

किंच साधारणं ज्ञानं सुखं संसारपर्यये ।
तन्निरावरणं मुक्तौ ज्ञानं वा सुखमात्मनः ॥३६३॥

अर्थः—संसार पर्यायमें आत्माके साधारण ज्ञान और सुख होते हैं और मुक्ति होने पर उसी आत्माके निरावरण सुख और ज्ञान होते है।

कर्मोंका नाश होनेसे गुण निर्मल होते हैं

र्णां विप्रमुक्तौ तु नूनं नात्मगुणक्षतिः ।
प्रत्युतातीव नैर्मल्यं पङ्कापाये जलादिवत् ॥३६४॥

अर्थः—कर्मोंके नाश होने पर निश्चयसे आत्माके गुणोंकी क्षति (हानि) नही है। उल्टी निर्मलता आती है। जिसप्रकार कीचडके दूर होने पर जल आदिकमे निर्मलता आ जाती है। (कर्म आत्मामे कीचडकी तरह समझने चाहिये)।

के नाश होनेसे विकार भी दूर हो जाता है

अस्ति कर्ममलापाये विकारक्षतिरात्मनः ।
विकारः जो भावः कादाचित्कः सपर्ययः ॥३६५॥

अर्थः—कर्म रूपी मलके नाश होने पर आत्मामे होनेवाले विकारका नाश हो जाता है। क्योंकि विकार कर्मसे होनेवाला परिणाम है। वह सदा नही रहता कदाचित् होता है इसलिये वह गुण नही है पर्याय है।

गुणका नाश कभी नहीं होता

नष्टे चाशुद्धपर्याये मा भूम्द्रान्तिर्गुणव्यये ।
ज्ञानानन्दत्वमस्योच्चैर्नित्यत्वात्परमात्मनि ॥३६६॥

अर्थः—आत्माकी अशुद्ध पर्यायके नाश होने पर उसके नाशका भ्रम नही करना चाहिये क्योंकि ज्ञान और सुख इस आत्माके नित्य गुण हैं, वे परमात्मामें पूर्णतासे रहते है।

दृष्टान्त

दृषदादिमलापाये यथा पावकयोगतः ।
पीतत्वादिगुणाभावो न स्यात्कार्तस्वरोस्ति चेत् ॥३६७॥

अर्थः—यदि वास्तवमे सोना है तो अग्निके निमित्तसे पाषाण (किट्टिकालिमा) आदि मलके दूर होनेपर सोनेके पीतत्वादि गुणोका नाश कभी नही होता।

भावार्थः—सोनेका पीला गुण नित्य है उसका नाश कभी नही होता। परन्तु उस सोनेमे जो मल है वह उसका निजी गुण नही है इसलिये वह अग्नि द्वारा दूर किया

जाता है। इसी ार आत्माके ज्ञान, सुख गुण है। वे नित्य हैं, परन्तु कर्म मल उसके निजी नही हैं उनका नाश हो जाता है।

नैयायिक मतके अनुसार मोक्षका स्वरूप

एकविंशतिदुःखानां मोक्षो निर्मोक्षलक्षणः।
इत्येके तद ीवगुणानां शून्यसाधनात् ॥३६८॥

अर्थः—"एकविंशतिदु खध्वसो मोक्ष" इस गौतमसूत्रके अनुसार नैयायिक लोग कहते हैं कि ज्ञान, सुख, दु ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न आदि इक्कीस दु'खोका नाश होना ही मोक्ष है। यह उनका कहना ठीक नही है कि ऐसे कथनसे जीवके गुणोंकी शून्यता सिद्ध होती है।

भावार्थः—नैयायिक दर्शनवाले मुक्तात्माको ज्ञान, सुखादिकसे रहित जडवत् मानते हैं ऐसा उनका सिद्धान्त सर्वथा मिथ्या है। मोक्ष सुखका स्थान है या आत्माकी ज्ञानादिक निजी सम्पत्तिका अभाव होनेसे महा दु खका स्थान है? जब मोक्षमें सुख गुण ही नष्ट हो जाता है तो फिर ऐसे मोक्षका प्रयत्न क्यो किया जाता है? इससे तो संसार ही अच्छा, जहाँपर दु ख भले ही हो परन्तु निज गुणका नाश तो नही होता। इसलिये नैयायिक सिद्धान्त सर्वथा मिथ्या है। कही आत्माके गुणोका भी नाश होता है? वह वास्तवमे नैयायिक (न्याय जाननेवाला) ही नही है। क्योकि वह स्वय अपने दर्शनमे यह बात मानता है कि "समवाय सम्बन्ध गुण गुणीमे होता है और वह नित्य होता है।" जब वह नित्य है तब मोक्षमें गुण नाश कैसा? क्या नैयायिक दर्शन ऐसे स्थलमे स्वागम बाधित नही होता? इसलिये मोक्षका लक्षण जैनसिद्धान्तानुसार "कर्मोके सर्वथा नाशसे आत्मीक गुणोका प्रकट होना ही मोक्ष है" यही ठीक है।

निजगुणका विकाश दु खका कारण नहीं है

न स्यान्निजगुणव्यक्तिरात्मनो दुःखसाधनम्।
सुखस्य मूलतो नाशादतिदुःखानुषङ्गतः ॥३६९॥

अर्थः—आत्मामे निज गुणोका प्रकट होना दु खका साधन कभी नही हो सकता। जहांपर सुखका जड मूलसे नाश माना जाता है, वहाँ अति दु खका प्रसग अवश्य होगा।

भावार्थः—सुख और दु ख दोनो प्रतिपक्षी है। एक समयमे सुख और दु.खमेसे एक कोई आत्मामे अवश्य रहेगा। जब मोक्षमे सुखका नाश हो जाता है तो दु खका सद्भाव अवश्यंभावी है। ऐसी अवस्थामे नैयायिकको मानी हुई मोक्ष दु खोत्पादक ही होगी।

सारांश

निश्चितं ज्ञान य सुखरूपस्य वा पुनः ।
देहेन्द्रियैर्विनापि स्तो ज्ञानानन्दौ परात्मनः ॥३७०॥

अर्थः—ज्ञान स्वरूप और सुखस्वरूप परमात्मा है उसके शरीर और इन्द्रियोंके बिना भी ज्ञान और सुख है यह बात निश्चित हो चुकी । अथवा निश्चयसे परमात्माके ज्ञान और सुख दोनों है ।

सम्यग्दृष्टिका स्वरूप

इत्येवं तत्त्वोसौ सम्यग्दृष्टिर्निजात ।
वैषयिके सुखे ज्ञाने रागद्वेषौ परित्यजेत् ॥३७१॥

अर्थः—इसप्रकार वस्तु स्वरूपको जाननेवाला यह सम्यग्दृष्टि अपनी आत्माका स्वरूप देखता हुआ विषयोसे होनेवाले सुख और ज्ञानमे राग द्वेष नही करता है ।

भावार्थः—वह वैषयिक सुख और ज्ञानसे उदासीन हो जाता है ।

प्रश्न

ननूल्लेखः किमेतावान् अस्ति किंवा परोप्यतः ।
लक्ष्यते येन सद्दृष्टिर्लक्षणेनाञ्चितः पुमान् ॥३७२॥

अर्थः—क्या सम्यग्दृष्टिके विषयमे इतना ही कथन है, या और भी है ? ऐसा कोई लक्षण है जिससे कि सम्यग्दृष्टि जाना जा सके ?

उत्तर

अपराण्यपि लक्ष्माणि सन्ति सम्यग्दृगात्मनः ।
सम्यक्त्वेनाविनाभूतैर्यैः संलक्ष्यते सुदृक् ॥३७३॥

अर्थः—सम्यग्दृष्टिके और भी बहुतसे लक्षण हैं, जो कि सम्यग्दर्शनके अविनाभावी हैं । उन्हीसे सम्यग्दृष्टि जाना जाता है । (जो लक्षण सम्यग्दर्शनके बिना नही हो सकते वे सम्यग्दर्शनके अविनाभावी हैं ।

सम्यग्दृष्टीका स्वरूप

उक्तमाक्ष्यं सुखं ज्ञानमनादेयं दृगात्मनः ।
नादेयं कर्म च तद्वद् दृष्टोपलब्धितः ॥३७४॥

अर्थः—ऊपर जितना भी इन्द्रियजन्य सुख और ज्ञान बतलाया गया है, सम्यग्दृष्टिके लिये वह सभी हेय (त्याज्य) है तथा उसीप्रकार सम्पूर्ण कर्म भी त्याज्य हैं यह बात प्रत्यक्ष है ।

सम्यग्दर्शनका स्वरूप

सम्यक्त्वं वस्तुतः सूक्ष्मं केवलज्ञानगोचरम् ।
गोचरं स्वावधिस्वान्तपर्ययज्ञानयोर्द्वयोः ॥३७५॥

अर्थः—सम्यग्दर्शन वास्तवमे आत्माका अति सूक्ष्म गुण है वह केवलज्ञानका विषय है। तथा परमावधि, सर्वावधि और मनःपर्यय ज्ञानका भी विषय है अर्थात् इन्ही तीनो ज्ञानोसे जाना जा सकता है।

किन्तु

न गोचरं मतिज्ञानश्रुतज्ञानद्वयोर्मनाक् ।
नापि देशावधेस्तत्र विषयोऽनुपलब्धितः ॥३७६॥

अर्थः—मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका किञ्चित् भी वह विषय नही हैं और न देशावधिका ही विषय है। इनके द्वारा उसका बोध नही होता है।

सम्यक्त्वमें विपरीतता

अस्त्यात्मनो गुणः कश्चित् सम्यक्त्वं निर्विकल्पकम् ।
तद्दृङ्मोहोदयान्मिथ्यास्वादुरूपमनादितः ॥३७७॥

अर्थः—आत्माका एक विलक्षण निर्विकल्पक गुण सम्यक्त्व है। वह सम्यग्दर्शन दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे अनादिकालसे मिथ्या–स्वादुरूप हो रहा है।

भावार्थः—मोहनीय कहते ही उसे है जो मूर्च्छित करदे। जिसप्रकार कडुवी तूंबीमे डाला हुआ मीठा दूध उस तूम्बीके निमित्तसे कडवा हो जाता है, उसीप्रकार दर्शनमोहनीयके निमित्तसे वह सम्यक्त्व भी अपने स्वरूपको छोडकर विपरीत स्वादवाला (मिथ्यात्व) हो जाता है। यह अवस्था उसकी अनादिकालसे हो रही है।

सम्यक्त्वकी प्राप्तिका उपाय

दैवात्कालादिसंलब्धौ प्रत्यासन्ने भवार्णवे ।
भव्यभावविपाकाद्वा जीवः सम्यक्त्वमश्नुते ॥३७८॥

अर्थः—दैवयोगसे (विशेष पुण्योदयसे) कालादि लब्धियोके प्राप्त होनेपर तथा ससारसमुद्र निकट (थोडा) रह जाने पर और भव्य भावका विपाक होनेसे यह जीव सम्यक्त्वको प्राप्त होता है।

भावार्थः—खयुवसम विसोही देसणपाउग्ग करण लद्धीए। चत्तारिवि सामण्णा करण पुण होदि सम्मत्ते"। इस गोम्मटसारकी गाथाके अनुसार सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिके लिये

भव्यत्व गुणकी मलिन पर्यायका नाश हो जाता है। उसकी निर्मल पर्याय सिद्धोंमें सदा रहती है। पर्याय नाशकी अपेक्षासे ही उक्त सूत्र कहा गया है।

प्रयत्नमन्तरेणापि दृङ्मोहोपशमो भवेत्।
अन्तर्मुहूर्तमात्रं च गुणश्रेण्यनतिक्रमात् ॥३७९॥

अर्थः—फिर अन्तर्मुहूर्तमें ही बिना किसी प्रयत्नके दर्शनमोहनीयका उपशम हो जाता है। उस अवस्थामे भी गुणश्रेणीके क्रमका उलङ्घन नही होता।

अस्त्युपशमसम्यक्त्वं दृङ्मोहोपशमाद्यथा।
पुंसोऽवस्थान्तराकारं नाकारं चिद्विकल्पके ॥३८०॥

अर्थः—दर्शनमोहनीय कर्मके उपशम होनेसे उपशम सम्यक्त्व होता है। वह मिथ्यात्व अवस्थासे पुरुषकी दूसरी अवस्थाविशेष है। सम्यग्दर्शन आत्माका निर्विकल्पक गुण है उसीका स्पष्ट कथन नीचे किया जाता है—

सामान्याद्वा विशेषाद्वा सम्यक्त्वं निर्विकल्पकम्।
सत्तारूपं च परिणामि प्रदेशेषु परं चितः ॥३८१॥

अर्थः—सामान्य रीतिसे अथवा विशेष रीतिसे सम्यक्त्व निर्विकल्पक है, सत्वरूप है और आत्माके प्रदेशोमे परिणमन करनेवाला है।

उल्लेख

तत्रोल्लेखस्तमोनाशे तमोऽरेरिव रश्मिभिः।
दिशः प्रसत्तिमासेदुः सर्वतो विमलाशयाः ॥३८२॥

अर्थः—सम्यक्त्व आत्मामे किसप्रकार निर्मलता पैदा करता है, इस विषयमे सूर्यका उल्लेख है कि जिसप्रकार सूर्यकी किरणोसे अन्धकारका नाश होनेपर सब जगह दिशायें निर्मलता धारण करती हुई प्रसन्नताको प्राप्त होती है।

उसीप्रकार

दृङ्मोहोपशमे सम्यग्दृष्टेरुल्लेख एव सः।
शुद्धत्वं सर्वदेशेषु त्रिधा बन्धापहारि यत् ॥३८३॥

अर्थ—दर्शनमोहनीय कर्मके उपशम होनेपर सम्यग्दृष्टिका भी वही उल्लेख है अर्थात् उसका आत्मा निर्मलता धारण करता हुआ प्रसन्नताको प्राप्त हो जाता है। उस आत्माके सम्पूर्ण प्रदेशोमे शुद्धता हो जाती है, और वह सम्यक्त्व तीन प्रकार (भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म)से होनेवाले बन्धका नाश करनेवाला है।

दूसरा उल्लेख

यथा वा मद्यधत्तूरपाकस्यास्तंगतस्य वै ।
उल्लेखो मूर्च्छितो जन्तुरुल्लाघः स्यादमूर्च्छितः ॥३८४॥

अर्थः—जिसप्रकार कोई आदमी मदिरा या धतूरा पी लेता है तो उसे मूर्छा आ जाती है, परन्तु कुछ काल बाद उसका नशा उतर जाता है तब वह मूर्छित आदमी मूर्छा रहित नीरोग हो जाता है।

उसीप्रकार

दृङ्मोहस्योदयान्मूर्छा वैचित्यं वा तथा भ्रमः ।
प्रशान्ते त्वस्य मूर्छाया नाशाज्जीवो निरामयः ॥३८५॥

अर्थः—दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे जीवको मूर्छा रहा करती है, तथा इसका चित्त ठिकाने नही रहता है और हरएक पदार्थमे भ्रम रहता है, परन्तु उस मोहनीयके शान्त (उपशमित) होनेपर मूर्छाका नाश होनेसे यह जीव नीरोग हो जाता है।

सम्यग्दर्शनके लक्षणोंपर विचार

श्रद्धानादिगुणा बाह्यं लक्ष्म सम्यग्दृगात्मनः ।
न सम्यक्त्वं तदेवेति सन्ति ज्ञानस्य पर्ययाः ॥३८६॥

अर्थः—सम्यग्दृष्टिके जो श्रद्धान, आदि गुण बतलाये है वे सब बाह्य लक्षण हैं, क्योकि श्रद्धानादिक सम्यक्त्वरूप नही हैं, किन्तु वे सब ज्ञानकी पर्याय है।

भावार्थः—"तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शन" इस सूत्रमे सम्यग्दर्शनका लक्षण जीवादि तत्त्वोका श्रद्धान बतलाया हैं। परन्तु वास्तवमें ज्ञान भी यही है कि जैसेका तैसा जानना और सम्यक्त्व भी यही हैं कि जैसेका तैसा श्रद्धान करना। इसलिये उपर्युक्त लक्षण ज्ञानरूप ही पडता है। इसीप्रकार समन्तभद्रस्वामीने जो "श्रद्धान परमार्थानामाप्तागम-तपोभृताम्। त्रिमूढ़ापोढमष्टाङ्ग सम्यग्दर्शनमस्मयम्" इस श्लोक द्वारा देव शास्त्र गुरुका यथार्थ श्रद्धान करना सम्यक्त्व बतलाया है वह भी ज्ञान ही की पर्याय है। इसलिये ये सब बाह्य लक्षण हैं।

और भी

अपि चित्सानुभूतिस्तु ज्ञानं ज्ञानस्य पर्ययात् ।
अर्थात् ज्ञानं न सम्यक्त्वमस्ति चेद्बाह्यलक्षणम् ॥३८७॥

अर्थः—और भी समयसारकारने सम्यक्त्वका लक्षण आत्मानुभूतिको बतलाया है।

वह लक्षण ज्ञानरूप ही पड़ता है क्योकि आत्माका अनुभव (प्रत्यक्ष) ज्ञानकी ही पर्याय विशेष है। इसलिये ज्ञानरूप होनेसे यह भी सम्यक्त्वका लक्षण नही हो सकता, यदि माना जाय तो केवली इसे बाह्य लक्षण ही कह सकते है।*

सम्यक्त्वकी दुर्लक्ष्यतामें दृष्टान्त

यथोल्लाघो हि दुर्लक्ष्यो लक्ष्यते स्थूललक्षणैः।
वा मनःकायचेष्टानामुत्साहादिगुणात्मकैः ॥३८८॥

अर्थः—जिसप्रकार किसी रोगीको नीरोगताका जानना बहुत कठिन है, परन्तु मन और शरीरकी चेष्टाओके उत्साहादिक स्थूल लक्षणोसे उसकी नीरोगताका ज्ञान कर लिया जाता है, उसीप्रकार सम्यग्दर्शन एक निर्विकल्पक सूक्ष्म गुण है। तथापि उपर्युक्त बाह्य लक्षणोसे उसका ज्ञान कर लिया जाता है।

शकाकार

नन्वात्मानुभवः साक्षात् सम्यक्त्वं वस्तुतः स्वयम्।
सर्वतः सर्वकालेऽस्य मिथ्यादृष्टेरसंभवात् ॥३८९॥

अर्थः—शकाकार कहता है कि वास्तवमे आत्मानुभव ही साक्षात् सम्यक्त्व है क्योकि आत्मानुभव मिथ्यादृष्टिके कभी कही भी नही हो सकता। मिथ्यादृष्टिके आत्मानुभवका होना असम्भव है इसलिये आत्मानुभव ही स्वयं सम्यक्त्व है?

उत्तर

नैवं यतोऽनभिज्ञोसि सत्सामान्यविशेषयोः।
अप्यनाकारसाकारलिंगयोस्तद्यथोच्यते ॥३९०॥

---

* नोटः—यहाँपर यह कह देना आवश्यक है कि उपर्युक्त सम्यक्त्वके लक्षण भिन्न भिन्न आचार्यों द्वारा भिन्न २ रीतिसे कहे गये हैं। इस विषयमें कोई २ महाशय सन्देह करेंगे कि आचार्योंके कथनमें यह विरोध कैसा? किसका लक्षण ठीक माना जावे और किसका अशुद्ध समझा जावे? तथा पञ्चाध्यायीकारने सभीके लक्षणोंको ज्ञानकी ही पर्याय बतला दिया है फिर सम्यक्त्वका स्वरूप कैसे जाना जा सकता है? ऐसे सन्देह करनेवाले सज्जन आगेका कथन पढते जॉय, उन्हें अपने आप ही मालूम हो जायगा कि न तो किसी आचार्यका कथन मिथ्या है, और न किसीके कथनमें परस्पर विरुद्धता है तथा वास्तवमें भिन्नता भी नहीं है। यह जो आपको विरोधसा दीखता है वह केवल कथन शैली है, अपेक्षाका ध्यान रखनेपर सभी कथन अविरोधी हो जाता है। जितना भी भिन्न २ कथन है वह अपेक्षा कृत भेदको लिये हुए है वह अपेक्षा कौनसी है और सम्यक्त्व कैसे जाना जा सकता है, इन सब बातोंका विवेचन स्वयं आगे चलकर खुल जायगा।

अर्थः—शकाकारसे आचार्य कहते हैं कि तुम्हारा कहना ठीक नही है, तुम सामान्य और विशेषमें कुछ भेद ही नही समझते, और न अनाकार, साकारका ही तुम्हें ज्ञान है इसलिये तुम सुनो हम कहते हैं।

ज्ञानका लक्षण

आकारोऽर्थविकल्पः स्यादर्थः स्वपरगोचरः ।
सोपयोगो विकल्पो वा ज्ञानस्यैतद्धि लक्षणम् ।।३९१।।

अर्थः—आकार कहते हैं अर्थ विकल्पको। अर्थ नाम है स्वपर पदार्थका। विकल्प नाम है उपयोगावस्थाका। यह ज्ञानका लक्षण है।

भावार्थः—आत्मा और इतर पदार्थोंका उपयोगात्मक भेद विज्ञान होना ही आकार कहलाता है। यही आकार ज्ञानका लक्षण है। पदार्थोंके भेदाभेदको लिये हुए निश्चयात्मक बोधको ही आकार कहते हैं अर्थात् पदार्थोंका जानना ही आकार कहलाता है। यह ज्ञानका ही स्वरूप है।

अनाकारता

नाकारः स्यादनाकारो वस्तुतो निर्विकल्पता ।
शेषानन्तगुणानां तल्लक्षणं ज्ञानमन्तरा ।।३९२।।

अर्थः—आकारका स्वरूप ऊपर कह चुके हैं। उस आकारका न होना ही अनाकार कहलाता है। उसीका नाम वास्तवमें निर्विकल्पता है। वह निर्विकल्पता अथवा अनाकारता ज्ञानको छोड़कर बाकी सभी अनन्तगुणोका लक्षण है।

भावार्थः—जिसके द्वारा पदार्थका विचार हो सके, स्वरूप विज्ञान हो सके वह विकल्पात्मक कहलाता है। ऐसा ज्ञान ही है बाकीके सभी गुण न तो कथनमे ही आ सकते हैं, और न स्पष्टतासे स्वरूप ही उनका कहा जा सकता है। इसलिये वे निर्विकल्पक हैं। ज्ञान स्वपरस्वरूप निश्चायक है इसलिये वह विकल्पात्मक है और बाकीके गुण इससे उल्टे है, निर्विकल्प हैं।

शकाकार

नन्वस्ति वास्तवं सर्वं सत्सामान्यं विशेषवत् ।
तत्कि किञ्चिदनाकारं किञ्चित्साकारमेव तत् ।।३९३।।

अर्थः—सत्सामान्य और सत् विशेष दोनो ही वास्तविक हैं तो फिर कोई अनाकार है और कोई साकार है ऐसा क्यो ?

उत्तर

सत्यं सामान्यवज्ज्ञानमर्थाच्चास्ति विशेषवत् ।
यत्सामान्यमन ारं साकारं यद्विशेष ॥३९४॥

अर्थः—यह बात ठीक है कि ज्ञान दोनो ही प्रकारका होता है । सामान्य रीतिसे और विशेष रीतिसे । उन दोनोंमे जो सामान्य है वह अनाकार है और जो विशेष है वह साकार है ।

भावार्थः—सबसे पहले इन्द्रिय और पदार्थका सयोग होनेपर जो वस्तुका सत्तामात्र बोध होता है उसीका नाम दर्शन है । उसमे वस्तुका निर्णय नही हो पाता । दर्शन ज्ञानके पूर्व होता है उसके पीछे जो वस्तुका ज्ञान होता है कि यह अमुक वस्तु है इसीका नाम अवग्रहात्मक ज्ञान है । फिर उत्तरोत्तर विशेष बोध होता है उसको क्रमसे ईहा, अवाय, धारणा कहते है । जिसप्रकार दर्पणका स्वभाव है कि उसके भीतर पदार्थका प्रतिविम्ब पडनेसे वह दर्पण पदार्थाकार हो जाता है उसीप्रकार ज्ञानका स्वभाव है कि वह भी जिस पदार्थको विषय करता है उसी पदार्थके आकार हो जाता है । पदार्थाकार होते ही उस वस्तुका बोध कहलाता है । इसलिये ज्ञान साकार है और दर्शन निराकार है । दूसरी बात यह भी है कि ज्ञानमें वस्तुके विशेषण, विशेष्य सम्बन्धका निर्णय होता है इसलिये वह साकार है और इतर गुण निराकार है । तथा ज्ञान अपने स्वरूपका भी ज्ञान कराता है इसलिये साकार है, इतर गुण अपना भी स्वरूप नही प्रगट कर सकते इसलिये निराकार है ।

यहाँपर दर्शन (यह दर्शन सम्यग्दर्शनसे सर्वथा भिन्न है)का एक दृष्टान्त मात्र दे दिया है । वास्तवमे ज्ञानको छोडकर सभी गुण अनाकार है ।

ज्ञानको छोडकर सभी गुण निराकार हैं

ज्ञानाद्विना गुणाः सर्वे प्रोक्ताः सल्लक्षणाङ्किताः ।
सामान्याद्वा विशेषाद्वा सत्यं नाकारमात्रकाः ॥३९५॥

अर्थः—ज्ञानको छोडकर बाकीके सभी गुण सन्मात्र हैं । चाहे वे सामान्य गुण हो, चाहे विशेष गुण हो सभी आकार रहित हैं अर्थात् निर्विकल्पक हैं ।

भावार्थः—ज्ञानके सिवा सभी गुण अपनी सत्ता मात्र रखते हैं, ज्ञान ही एक ऐसा है जो अपनी सत्तामे अपना और दूसरोका बोध कराता है इसलिये यही साकार है ।

अनाकारताका

ततो वस्तुमशक्यत्वात् निर्विकल्पस्य वस्तुनः ।
तदु ` ' समालेख्य ज्ञानद्वारा निरूप्यते ॥३९६॥

अर्थः—इसलिये जो निर्विकल्पक वस्तु है, उसका कथन ही नहीं हो सकता है वह वचनके अगोचर है। इसलिये उसका उल्लेख ज्ञानद्वारा किया जाता है।

ज्ञानका स्वरूप

स्वापूर्वार्थद्वयोरेव ग्राहकं ज्ञानमेकशः ।
नात्र ज्ञानमपूर्वार्थो ज्ञानं ज्ञानं परः परः ॥३९७॥

अर्थः—निज और अनिश्चित पदार्थ, दोनोके ही स्वरूपका ग्राहक ज्ञान है, वह दोनोंका ही एक समयमें निश्चय कराता है, परन्तु अनिश्चित पदार्थका निश्चय कराते समय ज्ञान स्वय उस पदार्थरूप नही हो जाता है। ज्ञान ज्ञान ही रहता है और पर पदार्थ पर ही रहता है।

भावार्थः—जिसप्रकार दीपक अपना स्वरूप भी स्वय दिखलाता है और साथ ही इतर घटपटादि पदार्थोको भी दिखलाता है। उसीप्रकार ज्ञान भी अपने स्वरूपका भी बोध कराता है साथ ही पर पदार्थोका भी बोध कराता है। परन्तु पर पदार्थका बोध कराते समय वह ज्ञान स्वय पर पदार्थ रूप नही है वह पदार्थाकार होते हुए भी अपने ही स्वरूपमें है। पदार्थाकार होना ज्ञानका निज स्वरूप है।

स्वार्थ, परार्थमें भेद

स्वार्थो वै ज्ञानमात्रस्य ज्ञानमेकं गुणश्चितः ।
परार्थस्स्वार्थसम्बन्धी गुणाः शेषे सुखादयः ॥३९८॥

अर्थः—ज्ञान–स्वार्थ परार्थ दोनोका निश्चय कराता है, यहाँपर ज्ञानका स्वार्थ तो क्या है, और परार्थ क्या है ? इसे ही बतलाते है—अपने स्वरूप जो पदार्थ है वही स्वार्थ है। अपने स्वरूप पदार्थ ज्ञानका ज्ञान ही है। आत्माका ज्ञानरूप जो गुण है वही ज्ञान गुण, ज्ञानका स्वार्थ है। बाकी सब परार्थ है। पर स्वरूप जो पदार्थ है वह परार्थ है। पर स्वरूप पदार्थ ज्ञानसे पर ही होगा। परन्तु परार्थ भी स्वार्थ–ज्ञानसे सम्बन्ध रखनेवाला है। इसलिये आत्मामे जितने भी सुखादिक अनन्त गुण है सभी ज्ञानके परार्थ है, परन्तु वे सब ज्ञानसे सम्बन्ध अवश्य रखते हैं।

भावार्थः—ज्ञान अपने स्वरूपका निश्चायक है और इतर जितने भी आत्मीक गुण

है उनका भी निश्चायक है। इसलिये ज्ञान, स्वार्थ, परार्थ दोनोंका निश्चायक है। इतना विशेष है कि ज्ञान घटपटादि पर पदार्थोका भी निश्चायक है परन्तु वह घटपटादिसे सर्वथा भिन्न है। किन्तु सुखादि गुणोसे सर्वथा भिन्न नही है। सुखादिकके साथ ज्ञानका तादात्म्य सम्बन्ध है तो भी ज्ञान गुण भिन्न है और अन्य अनन्त गुण भिन्न है।

गुण सभी जुदे २ हैं

तद्यथा सुखदुःखादिभावो जीवगुणः स्वयं।
ज्ञानं तद्वेदकं नूनं नार्थाज्ज्ञानं सुखादिमत् ॥३९९॥

अर्थः—सुख दु खादि भाव, जीवके ही गुण है, ज्ञान उन सबका जाननेवाला है। परन्तु वह सुखादि रूप स्वयं नही है। दु ख गुणकी विभाव पर्याय है।

भावार्थः—अनन्त गुणोका तादात्म्य होते हुए भी भिन्न २ कार्योंकी अपेक्षासे सभी गुण भिन्न २ है, परन्तु इतर गुणोसे ज्ञान गुण विशेष है। और गुण निर्विकल्पक (स्व-पराऽवेदक) है और ज्ञान गुण सविकल्पक (स्व-परवेदक) है।

सम्यग्दर्शन वचनके अगोचर है

सम्यक्त्वं वस्तुतः सूक्ष्ममस्ति वाचामगोचरम्।
तस्माद्वक्तुं च श्रोतुं च नाधिकारी विधिक्रमात् ॥४००॥

अर्थः—सम्यग्दर्शन वास्तवमे आत्माका सूक्ष्म गुण है, वह वचनोके गोचर नही है अर्थात् वचनो द्वारा हम उसे नही कह सकते। इसलिये उसके कहने सुननेके लिये विधिक्रमसे कोई अधिकारी नही हो सकता।

फिर सम्यक्त्व कैसे जाना जाय ?

प्रसिद्धं ज्ञानमेवैकं साधनादिविधौ चितः।
स्वानुभूत्येकहेतुश्च तस्मात्तत्परमं पदम् ॥४०१॥

अर्थः—बस आत्माका एक ज्ञान गुण ही प्रसिद्ध है जो कि हरएक पदार्थकी सिद्धि कराता है। सम्यग्दर्शनके जाननेके लिये स्वानुभूति ही एक हेतु है इसलिये वही सर्वोत्कृष्ट वस्तु है।

स्वानुभूतिका स्वरूप

तत्राप्यात्मानुभूतिः सा विशिष्टं ज्ञानमात्मनः।
सम्यक्त्वेनाविनाभूतमन्वयाद्व्यतिरेकतः ॥४०२॥

अर्थः—वह आत्मानुभूति आत्माका ज्ञानविशेष है, और वह ज्ञानविशेष, सम्यग्दर्शनके साथ अन्वय और व्यतिरेक दोनोसे अविनाभाव रखता है।

भावार्थः—जो जिसके होनेपर होता है उसे अन्वय कहते है और जो जिसके नही होनेपर नही होता है उसे व्यतिरेक कहते है। सम्यग्दर्शनके प्रगट होनेपर ही आत्मामें शुद्ध अनुभव (स्वानुभूति) होता है, बिना सम्यग्दर्शनके शुद्धानुभव नही होता। इसलिये स्वानुभूति (शुद्ध)का सम्यग्दर्शनके साथ सर्वथा अविनाभाव (सहभाव) है।

सम्यक्त्वके कहनेकी योग्यता

ततोऽस्ति योग्यता वक्तुं व्याप्तेः सद्भावतस्तयोः।
सम्यक्त्वं स्वानुभूतिः स्यात्साचेच्छुद्धनयात्मिका ॥४०३॥

अर्थः—सम्यक्त्व और स्वानुभूतिकी जब साथ २ व्याप्ति (सहभावीपना) है तो फिर सम्यग्दर्शन भी रूपान्तरसे कहने योग्य हो जाता है। यह कहा जा सकता है कि स्वानुभूति ही सम्यक्त्व है, परन्तु वह स्वानुभूति शुद्ध नय स्वरूप हो तो।

भावार्थः—जब आत्मामें शुद्ध स्वानुभूति हो जाती है तब उसके द्वारा उसके अविनाभावी सम्यग्दर्शनकी उदुभूतिका बोध हो जाता है। इसीलिये शुद्ध स्वानुभूतिको ही सम्यक्त्व कह दिया गया है।

व्याप्ति भेद

किञ्चास्ति विषमव्याप्तिः सम्यक्त्वानुभवद्वयोः।
नोपयोगे समव्याप्तिरस्ति लब्धिविधौ तु सा ॥४०४॥

अर्थः—विशेष इतना है कि सम्यग्दर्शन और स्वानुभव इन दोनोंमे विषम व्याप्ति है क्योकि उपयोगावस्थामे समव्याप्ति नही हो सकती। परन्तु लब्धि रूप ज्ञानके साथ तो सम्यक्त्वकी समव्याप्ति है।

भावार्थ—जो व्याप्ति दोनो तरफसे होती है उसे समव्याप्ति कहते है। जैसे जहाँ जहाँ अचेतनपना है वहाँ वहाँ जडपना है। और जहाँ जहाँ जडपना है वहाँ वहाँ अचेतनपना है। तथा जो व्याप्ति एक तरफसे ही सम्बन्ध रखती है वह विषमव्याप्ति कहलाती है। जैसे—जहाँ जहाँ धूआ होता है वहाँ वहाँ अग्नि होती है, और जहाँ जहाँ अग्नि होती है वहाँ वहाँ धूआ होता भी है, नही भी होता। जलते हुए कोयलोमे अग्नि तो है परन्तु धूआ नही है। इसलिये धूआकी व्याप्ति तो अग्निके साथ है अर्थात् धूआ तो अग्निके विना नही रहता। परन्तु अग्निकी धूएके साथ व्याप्ति नही है। ऐसी व्याप्ति इकतरफा व्याप्ति (विषम) कहलाती है।

प्रकृतमे स्वानुभूतिकी दो अवस्थाये है एक तो क्षयोपशम ज्ञान (लब्धि) रूप अवस्था दूसरी उपयोगात्मक ज्ञानरूप अवस्था। उपयोगात्मक ज्ञान कभी कभी होता है। प्रत्येक समय उपयोग नही होता है परन्तु क्षयोपशम रूप ज्ञान सदा रहता है। इसलिये क्षयोपशमरूप स्वानुभवकी तो सम्यक्त्वके साथ समव्याप्ति है। सम्यक्त्वके होनेपर क्षयोपशमरूप स्वानुभव होता है, और क्षयोपशमरूपस्वानुभवके होनेपर सम्यक्त्व होता है। सम्यक्त्वके होनेपर उपयोगात्मक स्वानुभव हो भी जाय और नही भी हो, नियम नही। हाँ उपयोगात्मक स्वानुभवके होते हुए अवश्य ही सम्यग्दर्शनकी प्रकटता है इसलिये यह विषम व्याप्ति है।

इसीका खुलासा

तद्यथा स्वानुभूतौ वा तत्काले वा तदात्मनि।
अस्त्यवश्यं हि सम्यक्त्वं यस्मात्सा न विनापि तत् ॥४०५॥

अर्थः—जिस आत्मामे जिस कालमे स्वानुभूति है, उस आत्मामे उससमय अवश्य ही सम्यक्त्व है क्योंकि विना सम्यक्त्वके स्वानुभूति हो नही सकती।

यदि वा सति सम्यक्त्वे स स्याद्वा नोपयोगवान्।
शुद्धस्यानुभवस्तत्र लब्धिरूपोस्ति वस्तुतः ॥४०६॥

अर्थः—अथवा सम्यग्दर्शनके होनेपर शुद्धात्माका उपयोगात्मक अनुभव हो भी, और नही भी हो। परन्तु सम्यक्त्वके होनेपर स्वानुभवाऽऽवरण कर्म (मतिज्ञानावरण)का क्षयोपशम रूप (लब्धि) ज्ञान अवश्य है।

लब्धि रूप ज्ञानका कारण

हेतुस्तत्रापि सम्यक्त्वोत्पत्तिकालेस्त्यवश्यतः।
तज्ज्ञानावरणस्योच्चैरस्त्यवस्थान्तरं स्वतः ॥४०७॥

अर्थः—सम्यक्त्वके होनेपर लब्धि रूप स्वानुभूति अवश्य हो जाती है ऐसा होनेमे कारण भी यही है कि जिससमय सम्यक्त्वकी उत्पत्ति होती है, उसीसमय स्वानुभूत्यावरण कर्म (मतिज्ञानावरण विशेष)की अवस्था पलट जाती है अर्थात् क्षयोपशम हो जाता है।

छद्मस्थके उपयोग सदा नहीं रहता किन्तु लब्धि रहित है

यस्माज्ज्ञानमनित्यं स्याच्छद्मस्थस्योपयोगवत्।
नित्यं ज्ञानमछद्मस्थे छद्मस्थस्य च लब्धिमत् ॥४०८॥

अर्थः—छद्मस्थ (अल्पज्ञ) पुरुषका उपयोग एकसा नही रहता, कभी किसी पदार्थ

विषयक होता है और कभी किसी पदार्थ विषयक होता है, तथा कभी कभी निद्रादि अवस्थाओमें अनुपयोगी ज्ञान भी रहता है। इसलिये छद्मस्थोंका उपयोगात्मक ज्ञान अनित्य होता है। परन्तु सर्वज्ञका उपयोगात्मक ज्ञान सदा नित्य रहता है। छद्मस्थोंका क्षयोपशम (लब्धि) रूप ज्ञान नित्य रहता है।

सारांश

नित्यं सामान्यमात्रत्वात् सम्यक्त्वं निर्विशेषतः।
तत्सिद्धा विषमव्याप्तिः सम्यक्त्वानुभवद्वयोः ॥४०९॥

अर्थः—सम्यग्दर्शन भी सामान्यरीतिसे नित्य ही है इसलिये सम्यक्त्व और अनुभव दोनोमे विषम व्याप्ति है।

भावार्थः—सम्यक्त्व नित्य है इसका आशय यही है कि उपयोगकी तरह वह बराबर बदलता नही है तथा लब्धिरूप अनुभव भी नित्य है। इसलिये सम्यक्त्व और लब्धि रूप अनुभवकी तो सम व्याप्ति है। परन्तु सम्यक्त्व और उपयोगात्मक-अनुभवकी विषम ही व्याप्ति है क्योंकि उपयोगात्मक ज्ञान सदा नही रहता है।

प्रतिज्ञा

अपि सन्ति गुणाः सम्यक् श्रद्धानादि विकल्पकाः।
उद्देशो लक्षणं तेषां तत्परीक्षाधुनोच्यते ॥४१०॥

अर्थः—स्वानुभूतिके साथ साथ होनेवाले सम्यक्‌श्रद्धान आदि और भी बहुतसे गुण है। ग्रन्थकार कहते है कि, अब उनका उद्देश्य, लक्षण, परीक्षा बतलाते है।

उद्देश्य

तत्रोद्देशो यथा नाम श्रद्धारुचिप्रतीतयः।
चरणं च यथाम्नायमर्थात्तत्वार्थगोचरम् ॥४११॥

अर्थः—आम्नाय (शास्त्र-पद्धति)के अनुसार अर्थात् जीवादि तत्त्वोके विषयमे श्रद्धा करना, रुचि करना, प्रतीति करना, आचरण करना, यह सब कथन उद्देश्य कहलाता है।

लक्षण

तत्त्वार्थाभिमुखी बुद्धिः श्रद्धा सात्म्यं रुचिस्तथा।
प्रतीतिस्तु तथेति स्यात्स्वीकारश्चरणं क्रिया ॥४१२॥

अर्थः—तत्त्वार्थ (जीवादि तत्त्व)के सन्मुख बुद्धिका होना अर्थात् तत्त्वार्थके जाननेके लिये उद्यत बुद्धिका होना श्रद्धा कहलाती है। और तत्त्वार्थमे आत्मीक भावका होना

रुचि कहलाती है। "वह उसी प्रकार है" ऐसा स्वीकार करना प्रतीति कहलाती है और उसके अनुकूल क्रिया करना चरण–आचरण कहलाता है।

भावार्थः—श्रद्धा, रुचि, प्रतीति और आचरण (चारित्र) ये चारो ही क्रमसे होते हैं। "तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शनम्" इस सूत्रमे जो श्रद्धानका लक्षण है, वह इस श्लोकमे कही हुई श्रद्धासे भिन्न है। परन्तु वास्तवमे अपेक्षाकृत ही भेद है। तत्त्वार्थ श्रद्धान और प्रतीति, दोनो एक ही वात है। प्रतीतिमे तत्त्वार्थकी स्वीकारता है और श्रद्धान भी इसीका नाम है कि वस्तुको जान कर उसे उसी रूपसे स्वीकार करना। श्रद्धानकी श्रद्धा पूर्व पर्याय है। यही अपेक्षाकृत भेद है।

श्रद्धादिके कहनेका प्रयोजन

अर्थादाद्यत्रिकं ज्ञानं ज्ञानस्यैवात्र पर्ययात् ।
चरणं वाक्कायचेतोभिर्व्यापारः शुभकर्मसु ॥४१३॥

अर्थः—श्रद्धा, रुचि, प्रतीति, ये तीनो ही ज्ञान स्वरूप हैं क्योकि तीनो ही ज्ञानकी पर्याय हैं। तथा आचरण–चारित्र–मन, वचन, कायका शुभ कार्योंमे होनेवाला व्यापार है।

श्रद्धादिक सम्यग्दर्शनके विना भी हो सकते हैं

व्यस्ताश्चैते समस्ता वा सद्दृष्टेर्लक्षणं न वा ।
सपक्षे वा विपक्षे वा सन्ति यद्वा न सन्ति वा ॥४१४॥

अर्थः—श्रद्धा, रुचि आदि चारो ही सम्यग्दृष्टिके लक्षण हो भी सकते है और नही भी हो सकते। यदि ये सम्यग्दृष्टिके लक्षण हो तो भिन्न भिन्न अवस्थामे भी हो सकते हैं, और समुदाय अवस्थामे भी हो सकते हैं। चाहे ये सम्यग्दृष्टिके सपक्षमे हो चाहे विपक्षमे हो, अर्थात् सम्यग्दर्शनके साथ साथ हो अथवा मिथ्यादर्शनके साथ साथ हो कुछ नियम नही है। अथवा श्रद्धादिक सम्यग्दृष्टिके हो या न भी हो, ऐसा भी कुछ नियम नही है।

भावार्थः—श्रद्धादिक सम्यग्दृष्टिके भी हो सकते हैं और मिथ्यादृष्टिके भी हो सकते है। भिन्न भिन्न भी हो सकते है और समस्त भी हो सकते है। सम्यग्दर्शनके होनेपर हो भी जावे और न भी हो, ऐसा कुछ भी नियम नही है। सम्यग्दर्शनके साथ श्रद्धा सम्यग्दर्शनका लक्षण एव पर्याय है, मिथ्यादर्शनकी श्रद्धा विपरीत श्रद्धा है।

सम्यग्दर्शनके बिना श्रद्धादिक गुण नहीं हैं

स्वानुभूतिंसनाथाश्चेत् सन्ति श्रद्धादयो गुणाः ।
स्वानुभूतिं विनाऽऽभासा नार्थाच्छ्रद्धादयो गुणाः ॥४१५॥

अर्थः—यदि श्रद्धादिक गुण स्वानुभूतिके साथ हो तो वे गुण (सम्यग्दर्शनके लक्षण) समझे जाते है और बिना स्वानुभूतिके गुणाभास समझे जाते है । अर्थात् स्वानुभूतिके अभावमे श्रद्धा आदिक गुण नही समझे जाते ।

साराश

तत्स्याच्छ्रद्धादयः सर्वे सम्यक्त्वं स्वानुभूतिमत् ।
न सम्यक्त्वं तदाभासा मिथ्याश्रद्धादिवत् स्वतः ॥४१६॥

अर्थः—इसलिये ऊपर कहनेका यही साराश है कि श्रद्धा आदिक चारो ही यदि स्वानुभूतिके साथ हों तो वे ही श्रद्धा आदिक सम्यग्दर्शन समझे जाते है और यदि श्रद्धा आदि मिथ्यारूप हो–मिथ्या श्रद्धा आदि हो तो सम्यक्त्व नही समझे जाते किन्तु श्रद्धाभास और रुच्याभास आदि समझे जाते है ।

भावार्थः—स्वानुभूति सम्यक्त्वका अविनाभाविगुण है । जिसप्रकार अविनाभावी होनेसे स्वानुभूतिको ही सम्यग्दर्शन कहते है, उसीप्रकार स्वानुभूतिके साथ यदि श्रद्धा आदिक हो तो उन्हे भी सम्यग्दर्शन कहना चाहिये परन्तु यदि श्रद्धा आदिक मिथ्यात्वके साथ हो तो उन्हे सम्यग्दर्शन नही कहना चाहिये किन्तु श्रद्धाभास रुच्याभास एवं सम्यक्त्वाभास समझना चाहिये ।

सामान्य श्रद्धादिक भी सम्यक्त्वके गुण नहीं हैं

सम्यङ्मिथ्याविशेषाभ्यां विना श्रद्धादिमात्रकाः ।
सपक्षवद्विपक्षेपि वृत्तित्वाद्व्यभिचारिणः ॥४१७॥

अर्थः—जो श्रद्धा आदि न तो सम्यक् विशेषण रखते हों, और न मिथ्या विशेषण ही रखते हो तो वे सपक्षकी तरह विपक्षमे भी रह सकते हैं, इसलिये व्यभिचारी है ।

भावार्थः—सामान्य श्रद्धा आदिकको न तो सम्यग्दर्शन सहित ही कह सकते हैं और न मिथ्यादर्शन सहित हो कह सकते है । ऐसी सन्दिग्ध अवस्थामे वे सम्यक् मिथ्या विशेषण रहित सामान्य श्रद्धादिक भी सदोषी है ।

इसीका स्पष्ट कथन

अर्थाच्छ्रद्धादयः सम्यग्दृष्टिः श्रद्धादयो यतः ।
मिथ्या श्रद्धादयो मिथ्या नार्थाच्छ्रद्धादयो यतः ॥४१८॥

अर्थः—अर्थात् श्रद्धादिक यदि सम्यक् (यथार्थ) हो तब तो वे श्रद्धादिक कहलाते है परन्तु यदि श्रद्धादिक मिथ्या (अयथार्थ) हो तब वे श्रद्धादिक नही कहे जाते किन्तु मिथ्या समझे जाते हैं।

भावार्थः—श्रद्धादिक कहनेसे सम्यक् श्रद्धा आदिका ही बोध होता है। यदि सम्यक् न हो तो उन्हे श्रद्धादिक न कहकर मिथ्या श्रद्धादि कहना चाहिये।

शंकाकार

ननु तत्त्वरुचिः श्रद्धा श्रद्धामात्रैकलक्षणात् ।
सम्यङ् मिथ्याविशेषाभ्यां सा द्विधा तत्कुतोऽर्थतः ॥४१९॥

अर्थः—शकाकार कहता है कि तत्वरुचिका नाम ही श्रद्धा है क्योकि श्रद्धाका लक्षण श्रद्धामात्र ही है। फिर वह श्रद्धा, सम्यक् श्रद्धा और मिथ्या श्रद्धा ऐसे दो भेद वाली वास्तवमे कैसे हो जाती है ?

उत्तर

नैवं यतः समव्याप्तिः श्रद्धा स्वानुभवद्वयोः ।
नूनं नानुपलब्धेऽर्थे श्रद्धा खरविषाणवत् ॥४२०॥

अर्थः—शकाकारका उक्त कथन ठीक नही है, क्योकि श्रद्धा और स्वानुभूति, इन दोनोमे समव्याप्ति है। अर्थात् दोनो ही साथ होनेवाली है इसलिये अनुपलब्ध पदार्थमे गधेके सीगकी तरह श्रद्धा निश्चयमे नही हो सकती।

विना स्वार्थानुभूतिं तु या श्रद्धा श्रुतमात्रतः ।
तत्त्वार्थानुगताप्यर्थाच्छ्रद्धा नानुपलब्धितः ॥४२१॥

अर्थः—विना स्वार्थानुभवके जो श्रद्धा केवल सुननेसे अथवा शास्त्रज्ञानसे ही है वह तत्त्वार्थके अनुकूल होने पर भी पदार्थकी उपलब्धि न होनेमे श्रद्धा नही कहलाती।

भावार्थः—विना स्वार्थानुभूतिके होनेवाली श्रद्धा, वास्तवमे श्रद्धा नही है और न उसे सम्यग्दर्शन ही कह सकते क्योकि उसमे आत्मतत्त्व विषय नही पडता है।

लब्धिः स्यादविशेषाद्वा सदसतोरुन्मत्तवत् ।
नोपलब्धिरिहार्थात्सा तच्छेषानुपलब्धिवत् ॥४२२॥

अर्थः—उन्मत्त पुरुषकी तरह सत् पदार्थ और असत् पदार्थ (यथार्थ अयथार्थ)में सामान्य रीतिसे होनेवाली लब्धि वास्तवमें उपलब्धि (प्राप्ति) नही है। किन्तु अनुपलब्धिकी तरह (ठीक पदार्थको विषय न करनेसे) वह भी अनुपलब्धि ही है।

निष्कर्ष

ततोऽस्ति यौगिकी रूढिः श्रद्धा सम्यक्त्वल　म्।
अर्थादप्यविरुद्धं स्यात्सूक्तं स्वात्मानुभूतिवत् ॥४२३॥

अर्थः—इसलिये यौगिक रीतिसे भी श्रद्धा सम्यक्त्वका लक्षण है और रूढिसे भी सम्यक्त्वका लक्षण है। पहलेका यह कथन कि जो स्वानुभूति सहित है वही श्रद्धा कहलाती है, सर्वथा ठीक और अविरोधी है।

सम्यग्दृष्टिके और भी गुण

गुणाश्चान्ये प्रसिद्धा ये सद्दृष्टेः प्रशमादयः।
बहिर्दृष्ट्या यथास्वं ते सन्ति सम्यक्त्वलक्षणाः ॥४२४॥

अर्थः—और भी प्रशमादिक जो सम्यग्दृष्टिके प्रसिद्ध गुण हैं, वे सब बाह्य दृष्टिसे ही सम्यक्त्वके लक्षण है। यदि वे सम्यग्दर्शनके अविनाभावी है तो लक्षण है, अन्यथा नही।

सम्यग्दृष्टिके गुणोंके नाम

तत्राद्यः प्रशमो नाम संवेगश्च गुणक्रमात्।
अनुकम्पा तथास्तिक्यं वक्ष्ये　क्षणं यथा ॥४२५॥

अर्थः—सम्यग्दृष्टिका पहला गुण प्रशम है दूसरा सवेग है, तीसरा अनुकम्पा है और चौथा आस्तिक्य है। इन चारोका क्रमसे लक्षण कहते है।

प्रशमका लक्षण

प्रशमो विषयेषूच्चैर्भावक्रोधादिकेषु च।
लोकासंख्यातमात्रेषु स्वरूपाच्छिथिलं मनः ॥४२६॥

अर्थः—पचेन्द्रिय सम्बन्धी विषयोमे और असख्यात लोक प्रमाण क्रोधादिक भावोमे स्वभावसे ही मनकी शिथिलताका होना प्रशम (शान्ति) कहलाता है।

भावार्थः—विषय क्रोधादिकमे मनकी प्रवृत्तिका न होना ही प्रशम है।

अथवा 　न धर्मियोमे अनुराग करना अथवा पाँचों परमेष्ठियोमे प्रेम करना भी संवेग कहलाता है।

धर्म और धर्मका फल

धर्मः सम्यक्त्वमात्रात्मा शुद्धस्यानुभवोऽ　 ।
तत्फलं सुखमत्यक्षमक्षयं क्षायिकं च यत् ॥४३२॥

:—सम्यक्त्वस्वरूप–आत्मा ही धर्म कहलाता है अथवा शुद्धात्माका अनुभव होना ही धर्म है और अतीन्द्रिय, अविनाशी क्षायिक सुख ही धर्मका फल कहलाता है।

समान धर्मियोंमें अनुराग

इतरत्र पुना 　रागस्तद्गुणेष्वनुरागतः ।
नातद्गुणेऽनुरागोपि तत्फलस्याप्यलिप्सया ॥४३३॥

अर्थः—समान धर्मियोमे जो प्रेम बतलाया है वह केवल उनके गुणोमे अनुराग-बुद्धिसे होना चाहिये। जिनमे गुण नही है, उनमे फलकी इच्छा रखते हुए भी अनुराग नही होना चाहिये।

अनुरागका शब्दार्थ

अत्रानुरागशब्देन नाभिलाषो निरुच्यते ।
किन्तु शेषमधर्माद्वा निवृत्तिस्तत्फलादपि ॥४३४॥

अर्थः—यहां पर अनुराग शब्दसे अभिलाषा अर्थ नही लेना चाहिये किन्तु दूसरा ही अर्थ लेना चाहिये अर्थात् गुणप्रेम अनुराग शब्दका अर्थ है अथवा अधर्म और अधर्मके फलसे निवृत्ति होना भी अनुराग शब्दका अर्थ है।

और भी

अथानुरागशब्दस्य विधिर्वाच्यो यदार्थतः ।
प्राप्तिः स्यादुपलब्धिर्वा शब्दाश्चैकार्थवाचकाः ॥४३५॥

अर्थः—जिससमय अनुराग शब्दका विधिरूप अर्थ करना हो, तव प्राप्ति, उपलब्धि ये सव शब्द एक ही अर्थके वाचक होते हैं।

भावार्थः—विधिरूप अर्थ करने पर अनुरागका अर्थ, गुणोकी प्राप्ति और गुणोकी उपलब्धि समझना चाहिये।

आशङ्का

नचाऽशङ्क्यं निषिद्धः स्यादभिलाषो भोगेष्वलम् ।
शुद्धोपलब्धिमात्रेपि हि यो भोगाभिलाषवान् ॥४३६॥

अर्थः—ऐसी आशका नही करना चाहिये कि अभिलापाका निपेध केवल भोगोके विषयमे ही कहा गया है। शुद्धोपलब्धि होने पर भी जो भोगोमे अभिलाषा रखता हो उसकी अभिलाषाका भी निषेध किया गया है।

अभिलाषामात्र निषिद्ध है

अर्थात्सर्वोभिलाषः स्यादज्ञानं दृग्विपर्ययात्।
न्यायादलब्धतत्त्वार्थो लब्धुं कामो न लब्धिमान् ॥४३७॥

अर्थः—सभी अभिलाषाये अज्ञानरूप (बुरी) है क्योकि सभी मिथ्यात्वसे होती हैं। न्यायसे यह बात सिद्ध है कि जिसने तत्त्वार्थको नही जाना है उसे चाहनेकी इच्छा होने पर भी पदार्थ नही मिलता है।

और भी

मिथ्या सर्वोभिलाषः स्यान्मिथ्याकर्मोदयात्परम्।
स्वार्थसार्थक्रियासिद्धौ नालं प्रत्यक्षतो यतः ॥४३८॥

अर्थः—सम्पूर्ण अभिलाषायें मिथ्या है। क्योंकि सभी मिथ्यात्वकर्मके उदयसे होनेवाली हैं। तथा कोई भी अभिलाषा अपने अभीष्ट क्रियाकी सिद्धि करानेमे समर्थ नही है क्योकि यह बात प्रत्यक्ष है।

अभिलाषामें अभीष्टकी सिद्धिका अभाव

क्वचित्तस्यापि सद्भावे नेष्टसिद्धिरहेतुतः।
अभिलाषस्याप्यसद्भावे स्वेष्टसिद्धिश्च हेतुतः ॥४३९॥

अर्थः—कही पर अभिलाषाके होने पर भी बिना कारण इष्ट सिद्धि नहीं होती है। और कही पर अभिलाषाके न होने पर भी, कारण मिलने पर अपने अभीष्टकी सिद्धि हो जाती है।

दृष्टान्त

यशःश्रीसुतमित्रादि सर्वं कामयते जगत्।
नास्य लाभोऽभिलाषेपि विना पुण्योदयात्सतः ॥४४०॥

अर्थः—यश, लक्ष्मी, पुत्र, मित्र आदिकको सभी जगत् चाहता है परन्तु उसकी अभिलाषा होने पर भी बिना पुण्योदयके कोई वस्तु नही मिल सकती।

और भी

जरामृत्युदरिद्रादि नहि कामयते जगत्।
तत्संयोगो वलादस्ति सतस्तत्राऽशुभोदयात् ॥४४१॥

अर्थः—बुढापा, मृत्यु, दरिद्रता आदिको कोई भी आदमी नहीं चाहता है परन्तु विना चाहने पर भी अशुभ कर्मके उदयसे बुढापा आदिका संयोग अवश्य हो ही जाता है।

विधि और निषेध

संवेगो विधिरूपः स्यान्निषेधश्च निषेधनात् ।
स्याद्विवक्षावशाद्द्वैतं नार्थादर्थान्तरं तयोः ॥४४२॥

अर्थः—सवेग कही विधिरूप भी होता है और निषेध करनेसे निषेधरूप भी होता है। जैसी विवक्षा (वक्ताके कहनेकी इच्छा) होती है, वैसा ही विधि या निषेधरूप अर्थ ले लिया जाता है। विधि और निषेध, दोनोमें भेद नही है, दोनोका प्रयोजन एक ही है।

सवेगका लक्षण

त्यागः सर्वाभिलाषस्य निर्वेदो लक्षणात्तथा ।
स संवेगोथवा धर्मः साभिलाषो न धर्मवान् ॥४४३॥

अर्थः—सम्पूर्ण अभिलाषाओका त्याग करना अथवा वैराग्य (संसारसे) धारण करना सवेग है और उसीका नाम धर्म है। क्योकि जिसके अभिलाषा पाई जाती है वह धर्मधारी कभी नही हो सकता।

किन्तु

नापि धर्मः क्रियामात्रं मिथ्यादृष्टेरिहार्थतः ।
नित्यं रागादिसद्भावात् प्रत्युताऽधर्म एव सः ॥४४४॥

अर्थः—क्रियामात्रको धर्म नही कहते है। मिथ्यादृष्टि पुरुषके सदा रागादिभावोंका सद्भाव होनेसे उसकी क्रियाको वास्तवमे अधर्म ही कहना चाहिये।

रागी और वैरागी

नित्यं रागी कुदृष्टिः स्यान्न स्यात्क्वचिदरागवान् ।
अस्तरागोऽस्ति सद्दृष्टिर्नित्यं वा स्यान्न रागवान् ॥४४५॥

अर्थः—मिथ्यादृष्टि पुरुष सदा रागी है, वह कही भी राग रहित नही होता परन्तु सम्यग्दृष्टिका राग नष्ट हो जाता है। वह रागी नही है, किन्तु वैरागी है।

अनुकम्पाका लक्षण

अनुकम्पा क्रिया ज्ञेया सर्वसत्त्वेष्वनुग्रहः ।
मैत्रीभावोऽथ माध्यस्थं नैःशल्यं वैरवर्जनात् ॥४४६॥

अर्थः—सम्पूर्ण प्राणियोंमें उपकार बुद्धि रखना अनुकम्पा (दया) कहलाती है अथवा सम्पूर्ण जीवोमे मैत्री भाव रखना भी अनुकम्पा है। अथवा द्वेषबुद्धिको छोडकर मध्यमवृत्ति धारण करना भी अनुकम्पा है। अथवा शत्रुता छोड देनेसे सम्पूर्ण जीवोमे शल्य रहित (निष्कषाय) हो जाना भी अनुकम्पा है।

अनुकम्पाके होनेका कारण

दृङ्मोहानुदयस्तत्र हेतुर्वाच्योऽस्ति केवलम्।
मिथ्याज्ञानं विना न स्याद्वैरभावः क्वचिद्यतः ॥४४७॥

अर्थः—सम्पूर्ण जीवोमे दयारूप परिणाम होनेमे कारण केवल दर्शनमोहनीय कर्मके उदयका न होना ही है। क्योकि मिथ्या ज्ञानको छोड़कर कही भी वैरभाव नही हो सकता है।

भावार्थः—ज्ञान, दर्शनका अविनाभावी है। जैसा दर्शन होता है, वैसा ही ज्ञान हो जाता है। दर्शनमे सम्यक् विशेषण लगनेसे ज्ञान भी सम्यग्ज्ञान हो जाता है, और दर्शनमे मिथ्या विशेषण लगनेसे ज्ञान भी मिथ्या ज्ञान हो जाता है। दर्शनमोहनीय, सम्यग्दर्शनको नष्ट कर मिथ्यादर्शन बना देता है। उससमय ज्ञान भी उल्टा ही विषय करने लगता है। जिससमय आत्मामे मिथ्या ज्ञान होता है, उसीसमय जीवोमे वैरभाव होने लगता है, ऐसा वैरभाव मिथ्यादृष्टिमे ही पाया जाता है।

मिथ्या ज्ञान

मिथ्या यत्परतः स्वस्य स्वस्माद्वा परजन्मिनाम्।
इच्छेत्तत्सुखदुःखादि मृत्युर्वा जीवितं मनाक् ॥४४८॥

अर्थः—दूसरे जीवोमे सुखदु खादिक अथवा जीना मरना देखकर, उनसे अपनेमे उन बातोकी चाहना करना अथवा अपनेमे इन बातोको होती हुई देखकर, अपनेसे पर पुरुषोके लिये इच्छा करना, यह सब मिथ्या है।

भावार्थः—इस श्लोकका ऐसा भी आशय है कि जब दूसरोसे अपनेमें और अपनेसे दूसरोमे सुख दु खादि होनेकी इच्छा करता है तब अपनेमें दु खादिकके होने पर, उनके होनेमे परको कारण समझता है, इसलिये उससे वैरभाव करने लगता है। इसी कारण शत्रु मित्रकी कल्पना भी अन्य जीवोमे करने लगता है परन्तु यह इसकी अज्ञता है। ससारमे कोई किसीका शत्रु मित्र नही है। यदि वास्तवमे कोई जीवका शत्रु है तो कर्म है, मित्र है तो धर्म है। अन्य सब कल्पना मात्र है।

मिथ्यादृष्टिके विचार

अस्ति यस्यैतदज्ञानं मिथ्यादृष्टिः स शल्यवान् ।
अज्ञानाद्धन्तुकामोपि क्षमो हन्तुं न चाऽपरम् ॥४४९॥

अर्थः—जिस पुरुषके ऊपर कहा हुआ अज्ञान है, वही मिथ्यादृष्टि है और वही शल्यवाला है। अज्ञानसे वह दूसरेको मारना चाहता है, परन्तु वह उसे मारनेमें समर्थ नही है।

अनुकम्पाके भेद

समता सर्वभूतेषु यानुकम्पा परत्र ।
अर्थतः स्वानुकम्पा स्याच्छल्यवच्छल्य वर्जनात् ॥४५०॥

अर्थः—अनुकम्पा दो प्रकारकी है। एक पराऽनुकम्पा, दूसरी स्वानुकम्पा। समग्र जीवोमे समताभाव धारण करना परमे अनुकम्पा कहलाती है और काँटेकी तरह चुभनेवाली शल्यका त्याग कर देना स्वाऽनुकपा कहलाती है। वास्तवमें स्वानुकपा ही प्रधान है। परानुकपा भी स्वानुकपा है।

प्रधानतामें कारण

रागाद्यशुद्धभावानां सद्भावे बन्ध एव हि ।
न बन्धस्तदसद्भावे तद्विधेया कृपाऽऽत्मनि ॥४५१॥

अर्थः—रागादिक अशुद्ध भावोके रहते हुए बन्ध ही निश्चयसे होता है और उनके नही होने पर बन्ध नही होता। इसलिये (जिससे वैर भावका कारण बन्ध ही न होवे) ऐसी कृपा आत्मामे अवश्य करनी चाहिये।

आस्तिक्यका लक्षण

आस्तिक्यं तत्त्वसद्भावे स्वतः सिद्धे विनिश्चितिः ।
धर्मे हेतौ च धर्मस्य फले चाऽऽत्मादि धर्मवत् ॥४५२॥

अर्थः—स्वत.सिद्ध (अपने आप सिद्ध) तत्वोके सद्भावमे, धर्ममे, धर्मके कारणमे, धर्मके फलमे, निश्चयबुद्धि विश्वासबुद्धि रखना, इसीका नाम आस्तिक्य है। जिसप्रकार आत्मा आदि पदार्थोके धर्म हैं उसीप्रकार उनमे यथार्थ विश्वस्तबुद्धि रखना ही आस्तिक्य है।

जीवमें आस्तिक्य

अस्त्यात्मा जीवसंज्ञो यः स्वतः सिद्धोऽप्यमूर्तिमान् ।
चेतनः स्यादजीवस्तु यावानप्यस्त्यचेतनः ॥४५३॥

ः—जिसकी जीव सज्ञा है वही आत्मा है, आत्मा स्वत.सिद्ध है अमूर्त है और चेतन है तथा जितना भी अजीव है वह सब अचेतन है ।

आत्मा ही कर्त्ता, भोक्ता और मोक्षाधिकारी है

अस्त्यात्माऽनादितो बद्धः कर्मभिः कार्मणात्मकैः ।
कर्त्ता भोक्ता च तेषां हि तत्क्षयान्मोक्षभाग्भवेत् ॥४५४॥

अर्थः—कार्माणवर्गणासे बने हुए कर्मोंसे यह आत्मा अनादिकालसे बँधा हुआ है और उन्ही कर्मोका कर्ता है तथा उन्हीका भोक्ता है और उन्ही कर्मोके क्षय होनेसे मोक्षका अधिकारी हो जाता है ।

अस्ति पुण्यं च पापं च तद्धेतुस्तत्फलं च वै ।
आस्रवाद्यास्तथा सन्ति तस्य संसारिणोऽनिशम् ॥४५५॥

ः—उस ससारी जीवके उन कर्मोके निमित्तसे निरन्तर पुण्य और पाप तथा उनका फल होता रहता है । उसीप्रकार आस्रव, बन्ध, भी होते है ।

अप्येवं पर्ययादेशाद्बन्धो मोक्षश्च तत्फलम् ।
अथ शुद्धनयादेशाच्छुद्धः सर्वोपि सर्वदा ॥४५६॥

अर्थः—यह आत्मा पर्यायदृष्टिसे बँधा हुआ है और उसी पर्यादृष्टिसे मुक्त भी होता है, तथा उनके फलोका भोक्ता भी है, परन्तु शुद्ध द्रव्यार्थिक दृष्टिसे सभी आत्माएँ सदा शुद्ध हैं अर्थात् न बन्ध है और न मोक्ष है ।

जीवका स्वरूप

ायं जीवसंज्ञो यः स्वसंवेद्यश्चिदात्मकः ।
सोहमन्ये तु रागाद्या हेयाः पौद्गलिका अमी ॥४५७॥

अर्थः—जो यह जीवसंज्ञाधारी आत्मा है वह स्वसवेद्य (अपने आपको आप ही जाननेवाला) है, ज्ञानवान है और वही "सोह" है अर्थात् उसी ज्ञानधारी जीवात्मामे "वह मैं हूँ" ऐसी बुद्धि होती है । बाकी जितने भी रागादिक पुद्गल हैं वे सभी त्यागने योग्य है ।

सारांश

इत्याद्यनादिजीवादि वस्तुजातं यतोऽखिलम् ।
निश्चयव्यवहाराभ्यां आस्तिक्यं तत्तथामतिः ॥४५८॥

अर्थः—इसप्रकार अनादि कालसे चला आया जितना भी जीवादिक वस्तु समूह है, सभी निश्चय और व्यवहारसे भिन्न भिन्न स्वरूपको लिये हुए है। उसमें वैसी ही बुद्धि रखना जैसा कि वह है, इसीका नाम आस्तिक्य है।

सम्यक् और मिथ्या आस्तिक्य

सम्यक्त्वेनाविनाभूतस्वानुभूत्यैकलक्षणम् ।
आस्तिक्यं नाम सम्यक्त्वं मिथ्यास्तिक्यं ततोऽन्यथा ॥४५९॥

अर्थः—सम्यग्दर्शनकी अविनाभाविनी स्वानुभूतिके साथ होनेवाला जो आस्तिक्य है वही सम्यक् आस्तिक्य है अथवा सम्यक्त्व है। उससे विपरीत (स्वानुभूतिके अभावमें होनेवाला) जो आस्तिक्य है वह मिथ्या–आस्तिक्य है अथवा मिथ्यात्व है।

शङ्काकार

ननु वै केवलज्ञानमेकं प्रत्यक्षमर्थतः ।
न प्रत्यक्षं कदाचिच्च्छेषज्ञानचतुष्टयम् ॥४६०॥
यदि वा देशतोऽध्यक्षमाक्ष्यं स्वात्मसुखादिवत् ।
स्वसंवेदनप्रत्यक्षमास्तिक्यं तत्कुतोर्थतः ॥४६१॥

अर्थः—शंकाकार कहता है कि वास्तवमे एक केवलज्ञान ही प्रत्यक्ष है बाकीके चारो ही ज्ञान प्रत्यक्ष नही है। वे सदा परोक्ष ही रहते है ? अथवा इन्द्रियजन्य ज्ञान भी यदि एक देश प्रत्यक्ष है, जिसप्रकार कि सुखका मानसिक प्रत्यक्ष होता है। तो वास्तवमे आस्तिक्य स्वसवेदन प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है ?

उत्तर

सत्यमाद्यद्वयं ज्ञानं परोक्षं परसंविदि ।
प्रत्यक्षं स्वानुभूतौ तु दृङ्मोहोपशमादितः ॥४६२॥

अर्थः—यह बात ठीक है कि आदिके दोनो ज्ञान (मति–श्रुत) परोक्ष है परन्तु वे पर–पदार्थका ज्ञान करनेमे ही परोक्ष हैं, स्वात्मानुभव करनेमे वे भी प्रत्यक्ष हैं। क्योंकि स्वात्मानुभव दर्शनमोहनीय कर्मके उपशम, क्षय, क्षयोपशमसे होता है। दर्शनमोहनीय कर्म ही स्वानुभूतिके प्रत्यक्ष होनेमे बाधक है और उसका अभाव ही साधक है।

स्वानुभव रूप आस्तिक्य परम गुण है

स्वात्मानुभूतिमात्रं स्यादास्तिक्यं परमो गुणः ।
भवेन्मा वा परद्रव्ये ज्ञानमात्रं परत्वतः ॥४६३॥

अर्थः—स्वात्मानुभव स्वरूप जो आस्तिक्य है वही परम गुण है । वह आस्तिक्य पर द्रव्यमें हो, चाहे न हो । पर पदार्थ, पर है, इसलिये उसका प्रत्यक्ष न होकर केवल, ज्ञानमात्र ही होता है ।

अपि तत्र परोक्षत्वे जीवादौ परवस्तुनि ।
गाढं प्रतीतिरस्याऽस्ति यथा सम्यग्दृगात्मनः ॥४६४॥

अर्थः—यद्यापि स्वानुभव–आस्तिक्यवाले पुरुषके जीवादिक पर पदार्थ परोक्ष हैं । तथापि उसके उन पदार्थोंमें गाढ प्रतीति है । जिसप्रकार–सम्यग्दृष्टिकी अपनी आत्मामें गाढ़ प्रतीति है, उसीप्रकार अन्य परोक्ष पदार्थोंमे भी गाढ प्रतीति है ।

परन्तु

न तथास्ति प्रतीतिर्वा चास्ति मिथ्यादृशः स्फुटम् ।
दृङ्मोहस्योदयात्तत्र भ्रान्तेर्दृङ्मोहतोऽनिशम् ॥४६५॥

अर्थः—परन्तु वैसी प्रतीति मिथ्यादृष्टिके कभी नही होती । क्योंकि उसके दर्शनमोहनीयका उदय है । दर्शनमोहनीयके निमित्तसे निरन्तर मिथ्यादृष्टिको पदार्थोंमे भ्रम बुद्धि रहा करती है ।

निष्कर्ष

ततः सिद्धमिदं सम्यक् युक्तिस्वानुभवागमात् ।
सम्यक्त्वेनाऽविनाभूतमस्त्यास्तिक्यं गुणो महान् ॥४६६॥

अर्थः—इसलिये यह बात–युक्ति, स्वानुभव और आगमसे भलीभाँति सिद्ध हो चुकी कि सम्यग्दर्शनके साथ होनेवाला जो आस्तिक्य है वही महान् गुण है ।

ग्रन्थान्तरमे सम्यक्त्वके आठ गुण भी बतलाये है । वे नीचे लिखे जाते है—

ग्रन्थान्तर

*संवेओ णिव्वेओ णिंदणगरुहा य उवसमो भत्ती ।
वच्छल्लं अणुकंपा अट्ठगुणा हुंति सम्मत्ते ॥४६७॥

* यह गाथा पञ्चाध्यायीमें क्षेपक रूपसे आई है ।

अर्थः—संवेग, निर्वेग, निन्दा, गर्हा, उपशम, भक्ति, वात्सल्य, अनुकम्पा ये आठ गुण सम्यक्त्व होनेपर होते हैं।

ये उपलक्षण हैं

उक्तगाथार्थसूत्रेपि प्रशमादिचतुष्टयम् ।
नातिरिक्तं यतोस्त्यत्र लक्षणस्योपलक्षणम् ॥४६७॥

अर्थः—उपर कहे हुए गाथा–सूत्रमे भी प्रशम, सवेगादिक चारो ही आ गये हैं। ये सभी पञ्चाध्यायीमे कहे हुए प्रशमादिक चारोसे भिन्न नही हैं। किन्तु कोई लक्षण रूपसे कहे गये हैं, और कोई उपलक्षण (लक्षणका लक्षण) रूपसे कहे गये हैं अर्थात् ग्रन्थान्तरमे और इस कथनमे कोई भेद नही है। दोनो एक ही बातको कहनेवाले है।

उपलक्षणका लक्षण

अस्त्युपलक्षणं यत्तल्लक्षणस्यापि लक्षणम् ।
तत्तथाऽस्यादिलक्ष्यस्य लक्षणं चोत्तरस्य तत् ॥४६८॥

अर्थः—लक्षणके लक्षणको उपलक्षण कहते है अर्थात् किसी वस्तुका एक लक्षण कहा जाय, फिर उस लक्षणका लक्षण कहा जाय, इसीका नाम (जो दुबारा कहा गया है) उपलक्षण है। जो पहले लक्ष्य (जिसका लक्षण किया जाय उसे लक्ष्य कहते हैं)का लक्षण है वही आगे वालेका उपलक्षण है।

प्रकृतमें

यथा सम्यक्त्वभावस्य संवेगो लक्षणं गुणः ।
सचोऽपलक्ष्यते भक्त्या वात्सल्येनाऽथवार्हताम् ॥४६९॥

अर्थः—जिसप्रकार सम्यग्दर्शनका संवेग गुण लक्षण है, वही सवेगगुण अरहन्तोकी भक्ति अथवा वात्सल्यका उपलक्षण हो जाता है।

भक्ति और वात्सल्यका स्वरूप

तत्र भक्तिरनौद्धत्यं वाग्वपुश्चेतसां शमात् ।
वात्सल्यं तद्गुणोत्कर्षहेतवे सोद्यतं मनः ॥४७०॥

अर्थः—मन, वचन, कायकी शान्तिसे उद्धत्ताका नही होना ही भक्ति है। अर्थात् किसीके प्रति मन, वचन, काय द्वारा किसी प्रकारकी उद्धत्ता प्रगट नही करना ही उसीकी भक्ति है और किसीके गुणोत्कर्षकी प्राप्तिके लिये मनमे उल्लास होना ही उसके प्रति वात्सल्य कहलाता है।

भक्तिर्वा नाम वात्सल्यं न स्यात्संवेगमन्तरा ।
स संवेगो दृशो लक्ष्म द्वावेतावुपलक्षणम् ॥४७१॥

ै—भक्ति अथवा वात्सल्य सवेगके बिना नही हो सकते, वह सवेग सम्यग्दर्शनका लक्षण है और ये दोनो (भक्ति वात्सल्य) उप लक्षण है ।

प्रशम

दृङ्मोहस्योदयाभावात् प्रसिद्धः प्रशमो गुणः ।
तत्राभिव्यञ्जकं बाह्यान्निन्दनं चापि गर्हणम् ॥४७२॥

अर्थः—दर्शनमोहनीय कर्मके उदयका अभाव होनेसे प्रशम गुण होता है यह प्रसिद्ध है। उसी प्रशम गुणका बाह्य-व्यञ्जक (बतानेवाला) निंदन है, और उसीका गर्हण है अर्थात् निन्दन और गर्हणसे प्रशम गुण जाना जाता है ।

निन्दन

निन्दनं तत्र दुर्वाररागादौ दुष्टकर्मणि ।
पश्चात्तापकरो बन्धो नाऽपेक्ष्यो नाप्युपेक्षितः ॥४७३॥

अर्थः—कठिनतासे दूर करने योग्य जो रागादि दुष्ट कर्म है उनके विषयमे ि- विचार करना कि इनके होनेपर पश्चात्तापकारी बन्ध होता है । वह न तो अपेक्षणं और न उपेक्षणीय है अर्थात् रागादिको बन्धका कारण स र उनके ि रागबुद्धिको दूर कर उन्हे हटानेका प्रयत्न करना चाहिये इसीः निन्दन है

गर्हण

गर्हणं तत्परित्यागः पञ्चगुर्वात्मसाक्षि :
निष्प्रमादतया नूनं शक्तितः कर्महानये

अर्थः—पञ्चगुरुओकी साक्षीसे कर्मोका नाश करनेके लि क प्रमाद होकर उस रागका त्याग करना—गर्हण कहलाता है ।

अर्थादेतद्द्वयं सूक्तं सम्यक्त्वस्योपलक्षणम्
प्रशमस्य कषायाणामनुद्रेकाऽविशेषतः ॥४

अर्थः—कषायोके अनुद —नेवाले प्रशम गुण—लक्षण उसके ये दोनो उपलक्षण हैं । ो (निन्दन—गर्हण) का कहा जा चुका है

ग्रन्थकारकी लघुता

शेषमुक्तं यथाम्नायात् ज्ञातव्यं परमागमात् ।
आगमाब्धेः परं पारं मादृग्गन्तुं क्षमः कथम् ॥४७६॥

अर्थः—बाकीका जो कथन है, वह निर्दिष्ट पद्धतिके अनुसार अर्थात् परम्परासे आये हुए परमागम (शास्त्र)से जानना चाहिये । आगम रूपी समुद्रका पार बहुत लम्बा है, इसलिये उसके पार जानेके लिये हम सरीखे कैसे तैयार हो सकते है ?

शकाकार

ननु तद्दर्शनस्यैतल्लक्ष्यस्यस्यादशेषतः ।
किमथास्त्यपरं किञ्चिल्लक्षणं तद्वदाद्यनः ॥४७७॥

अर्थः—शंकाकार कहता है कि सम्यग्दर्शनका सम्पूर्ण लक्षण इतना ही है कि और भी कोई लक्षग है ? यदि है तो आज हमसे कहिये ?

उत्तर

सम्यग्दर्शनमष्टाङ्गमस्ति सिद्धं जगत्त्रये ।
लक्षणं च गुणश्चाङ्गं शब्दाश्चैकार्थवादकाः ॥४७८॥

अर्थः—सम्यग्दर्शनके सब जगह आठ अङ्ग प्रसिद्ध हैं । तथा लक्षण, गुण, अङ्ग ये सभी शब्द एक अर्थके ही कहने वाले है ।

आठों अङ्गोंके नाम

निःशङ्कितं यथा नाम निष्कांक्षितमतः परम् ।
विचिकित्सावर्जं चापि तथा दृष्टेरमूढता ॥४७९॥
उपबृंहणनामा च सुस्थितीकरणं तथा ।
वात्सल्यं च यथाम्नायाद् गुणोप्यस्ति प्रभावना ॥४८०॥

अर्थः—नि.शङ्कित, नि काक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपबृ हण, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये आठ अङ्ग क्रमसे परम्परा–आगत है ।

नि शङ्कित गुणका लक्षण

शङ्का भीः साध्वसं भीतिर्भयमेकाभिधा अमी ।
तस्य निष्क्रान्तितो जातो भावो निःशङ्कितोर्थतः ॥४८१॥

अर्थः—शंका, भी, साध्वस, भीति, भय ये सभी शब्द एक अर्थके वाचक है । उस

शंका अथवा भयसे रहित जो आत्माका परिणाम है, वही वास्तवमें निःशंकित भाव कहलाता है।

निःशंकित भाव

अर्थवशादत्र सूत्रे शङ्का न स्यान्मनीषिणाम् ।
सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः स्युस्तदास्तिक्यगोचराः ॥४८२॥

अर्थः—जैन सिद्धान्तमें (किसी सूत्रमें) प्रयोजन वश बुद्धिमानोको शका नही करना चाहिये। जो पदार्थ सूक्ष्म है, जो अन्तरवाले है, अर्थात् जो वीचमें अनेक व्यवधान होनेसे दृष्टिगत नही है और जो कालकी अपेक्षा बहुत दूर है, वे सब नि शङ्करीतिसे आस्तिक्य गोचर (दृढ-बुद्धिगत) होने चाहिये।

र्थः—जो जो पदार्थ हमारे सामने नही है, उन पदार्थोंमे अपनी अल्पज्ञताके कारण हम शका करने लगते है और इसीलिये सर्वज्ञकथित-आगममे अश्रद्धा कर बैठते हैं। परन्तु ऐसा करना नितान्त भूल है। ऐसा करनेसे हम स्वय आत्माको ठगते हैं तथा दूसरोंको हानि पहुँचाते हैं। यह क्या नासमझी नही है कि जो पदार्थ हमारे दृष्टिगत नही हैं, अथवा जो हमारी बुद्धिसे बाहर है वे हैं ही नही। यदि विशेष बुद्धिमान हैं तो हमे निर्णय करनेका प्रयत्न करना चाहिये अन्यथा आज्ञा प्रमाण ही ग्रहण करना चाहिये। यथा—

सूक्ष्मं जिनोदित तत्त्वं हेतुभिर्नैव हन्यते।
आज्ञा सिद्ध च तद्ग्राह्यं नान्यथावादिनो जिना ॥

अर्थः—जिनेन्द्र भगवान्से कहा हुआ पदार्थ सूक्ष्म है उस तत्वका हेतुओं द्वारा खण्डन नही हो सकता, इसलिये आज्ञा प्रमाण ही उसे ग्रहण करना चाहिये। जिनेन्द्र देव (सर्वज्ञ वीतरागी) अन्यथावादी नही हैं। उपर्युक्त कथनानुसार दृढप्रतीति करना ही सम्यग्दर्शनका चिह्न है।

सूक्ष्म पदार्थ

तत्र धर्मादयः सूक्ष्माः सूक्ष्माः कालाणवोऽणवः ।
अस्ति सूक्ष्मत्त्वमेतेषां लिङ्गस्याक्षैरदर्शनात् ॥४८३॥

अर्थः—धर्म द्रव्य, आदिक पदार्थ सूक्ष्म हैं, कालाणु भी सूक्ष्म है और पुद्गल-परमाणु भी सूक्ष्म हैं। इनका हेतु [जतलानेवाला कोई चिह्न (हेतु)] इन्द्रियोसे नही दीखता इसलिये ये सूक्ष्म हैं।

अन्तरित और दूरार्थ

अन्तरिता यथा द्वीपसरिन्नाथनगाधिपाः ।
दूरार्था भाविनोतीता रामरावणचक्रिणः ॥४८४॥

अर्थः—द्वीप, समुद्र, पर्वत आदि पदार्थ अन्तरित है क्योकि इनके वीचमे वहुतसी चीजें आगई है इसलिये ये दीख नही सकते। तथा राम, रावण, चक्रवर्ती (वलभद्र अर्धचक्री चक्री) जो हो गये हैं और जो होनेवाले है वे दूरार्थ (दूरवर्ती पदार्थ) कहलाते है।

मिथ्यादृष्टि सदा सदिग्ध ही रहता है

न स्यान्मिथ्यादृशो ज्ञानमेतेषां क्वाप्यसंशयम् ।
संशयस्यादिहेतोर्वै दृङ्मोहस्योदयात्सतः ॥४८५॥

अर्थः—इन सूक्ष्म, अतरित और दूरवर्ती पदार्थोका सशय रहित ज्ञान मिथ्यादृष्टिको कभी नही हो सकता। क्योकि सशयका मूल कारण दर्शनमोहनीयका उदय है और वह उसके मौजूद है।

आशङ्का

नचाशङ्क्यं परोक्षास्ते सद्दृष्टेर्गोचराः कुतः ।
तैः सह सन्निकर्षस्य साक्षकस्याप्यसंभवात् ॥४८६॥

अर्थः—वे परोक्ष पदार्थ सम्यग्दृष्टिके विषय कैसे हो सकते है ? क्योकि उनके साथ इन्द्रियोका सम्बन्ध ही असभव है ? ऐसी आशका नही करना चाहिये।

क्योंकि

अस्ति तत्रापि सम्यक्त्वमाहात्म्यं दृश्यते महत् ।
यदस्य जगतो ज्ञानमस्त्यास्तिक्यपुरस्सरम् ॥४८७॥

अर्थः—परोक्ष पदार्थोके वोध करनेमे भी सम्यग्दर्शनका वडा भारी माहात्म्य है। सम्यग्दृष्टिको इस जगत्का ज्ञान आस्तिक्य-वुद्धि पूर्वक हो जाता है।

स्वभाव

नासंभवमिदं यस्मात् स्वभावोऽतर्कगोचरः ।
अतिवागतिशयः सर्वो योगिनां योगशक्तिवत् ॥४८८॥

अर्थः—सम्यग्दृष्टि आस्तिक्य वुद्धिपूर्वक जगतभरका ज्ञान कर लेता है, यह वात असभव नही है। क्योकि सम्यग्दर्शनका स्वभाव ही ऐसा है। स्वभावमे तर्कणा हो नहीं सकती, योगियोकी योगशक्तिकी तरह यह सब अतिशय वचनोसे वाहर है।

भावार्थः—जिसप्रकार अग्निकी उष्णतामें तर्कणा करना "अग्नि गरम क्यो है" व्यर्थ है, क्योंकि अग्निका स्वभाव ही ऐसा है। किसीके स्वभावमे क्या तर्क वितर्क की जाय, यह एक स्वाभाविक बात है। इसीप्रकार सम्यग्दर्शनका स्वभाव ही ऐसा है कि उसकी बुद्धिमें यथार्थ पदार्थ, आस्तिक्य पुरस्सर ही स्थान पा जाते है। जिसप्रकार योगियोंकी योगशक्तिका दूसरोको पता नही चलता कि उसका कहाँ तक माहात्म्य है, उसीप्रकार सम्यग्दर्शनका माहात्म्य भी मिथ्यादृष्टिकी समझमे नही आ सकता।

सम्यग्दृष्टिका अनुभव

अस्ति चात्मपरिच्छेदि ज्ञानं सम्यग्दृगात्मनः।
स्वसंवेदनप्रत्यक्षं शुद्धं सिद्धास्पदोपमम् ॥४८९॥

अर्थः—आत्माका अनुभव करानेवाला ज्ञान सम्यग्दृष्टिको है। सम्यग्दृष्टिका स्वसवेदन प्रत्यक्ष शुद्ध है और सिद्धोकी उपमावाला है।

अनुभवकी योग्यता

यत्रानुभूयमानेपि सर्वैराबालमात्मनि।
मिथ्याकर्मविपाकाद्वै नानुभूतिः शरीरिणाम् ॥४९०॥

अर्थः—बालकसे लेकर सभीको उस शुद्धात्माका अनुभव हो सकता है। परन्तु मिथ्या कर्मके उदयसे जीवोको अनुभव नही होता है।

भावार्थः—शुद्धात्मवेदन शक्ति सभी आत्माओमे अनुभूयमान (अनुभव होने योग्य) है। परन्तु मिथ्यात्वके उदयसे जीवोमे उसका अनुभव नही होता। क्योकि मिथ्यात्वका उदय उसका बाधक है।

शक्तिकी अपेक्षा भेद नहीं है

सम्यग्दृष्टेः कुदृष्टेश्च स्वादुभेदोस्ति वस्तुनि।
न तत्र वास्तवो भेदो वस्तुसीम्नोऽनतिक्रमात् ॥४९१॥

अर्थः—सम्यग्दृष्टी और मिथ्यादृष्टीको वस्तुमे स्वादुभेद होता है परन्तु दोनोमे वास्तविक भेद कुछ नही है। क्योकि आत्माये दोनोकी समान है। वस्तु सीमाका उल्लघन कभी नही होता।

भावार्थः—सम्यग्दृष्टी वस्तुका स्वरूप जानता है। परन्तु मिथ्यादृष्टि उस वस्तुको जानकर मिथ्यादर्शनके उदयसे उसमे इष्ट–अनिष्ट बुद्धि रखता है। इतना ही नही किन्तु मिथ्यात्व वश वस्तुका उल्टा ही बोध करता है। इसप्रकार सम्यग्दृष्टी और मिथ्यादृष्टीके

वस्तु स्वादमे भेद हैं। परन्तु वास्तवमें उन दोनोंमे कोई भेद नही। दोनोंकी आत्माये समान है और दोनो ही अनन्त गुणोको धारण करनेवाले हैं। केवल पर-निमित्तसे भेद हो गया है।

अत्र तात्पर्यमेवैतत्तत्त्वैकत्वेपि यो भ्रमः।
शङ्कायाः सोऽपराधोऽस्ति सातु मिथ्योपजीविनी ॥४९२॥

अर्थः—यहांपर तात्पर्य इतना ही है कि तत्त्व (सम्यग्दृष्टी और मिथ्यादृष्टी) दोनोकी आत्माओके समान होनेपर तथा विषयभूत पदार्थके भी एक होनेपर जो मिथ्यादृष्टीको भ्रम होता है वह शंकाका अपराध है, और वह शंका मिथ्यात्वसे होनेवाली है।

शकाकार

ननु शङ्काकृतो दोषो यो मिथ्यानुभवो नृणाम्।
सा शङ्कापि कुतो न्यायादस्ति मिथ्योपजीविनी ॥४९३॥

अर्थः—शकाकार कहता है कि जो मनुष्योको मिथ्या अनुभव होता है वह शंकासे होनेवाला दोष है। वह शंका भी किस न्यायसे मिथ्यात्वसे होनेवाली है ?

उत्तर

अत्रोत्तरं कुदृष्टिर्यः स सप्तभिर्भयैर्युतः।
नापि स्पृष्टः सुदृष्टिर्यः स सप्तभिर्भयैर्मनाक् ॥४९४॥

अर्थः—उपर्युक्त शकाका उत्तर यह है कि जो मिथ्यादृष्टी है उसीको ही सात प्रकारके भय हुआ करते है। जो सम्यग्दृष्टी है उसे कोई भी भय थोडासा भी नही छू पाता।

भावार्थः—मिथ्यादृष्टीको ही भय लगे रहते है। इसलिये उसे ही भयोंके निमित्तसे शका पैदा होती है। इसलिये मिथ्यात्त्वसे हा शका होती है यह बात सिद्ध हुई।

भय कब होता है

परत्रात्मानुभूतेर्वै विना भीतिः कुतस्तनी।
भीतिः पर्यायमूढानां नात्मतत्त्वैकचेतसाम् ॥४९५॥

अर्थः—पर पदार्थोमे आत्माका अनुभव होनेसे भय होता है विना पर पदार्थमे आपा समझे भय किसी प्रकार नही हो सकता इसलिये जो वैभाविक पर्यायमे ही मूढ हो रहे हैं उन्हींको भय लगता है। जिन्होने आत्मतत्त्वको अच्छी तरह समझ लिया है उन्हे कभी भय नही लगता।

र्थः—कर्मके निमित्तसे होनेवाली शारीरादिक पर्यायोंको ही जिन्होंने आत्म तत्त्व समझ लिया है, उन्हे ही मरने, जीने आदिके अनेक भय होते हैं, परन्तु जो आत्मतत्त्वकी यथार्थताको जानते है उन्हे पर–शरीरादिकमे बाधा होनेपर भी उससे भय नहीं होता ।

ततो भीत्यानुमेयोस्ति मिथ्याभावो जिनागमात् ।
सा च भीतिरवश्यं स्याद्धेतुः स्वानुभवक्षतेः ।।४९६।।

अर्थः—इसलिये भय होनेसे ही मिथ्या--भावका अनुमान किया जाता है । वह भय आत्मानुभवके क्षयका कारण है । यह बात जिनागमसे प्रसिद्ध है ।

भावार्थः—बिना स्वात्मानुभवके क्षय हुए भय होता नही । इसलिये भयसे स्वात्मानुभूतिके नाशका अनुमान कर लिया जाता है । जिनके स्वानुभव है उन्हे भय नही लगता ।

निष्कर्ष

अस्ति सिद्धं परायत्तो भीतः स्वानुभवच्युतः ।
स्वस्थस्य स्वाधिकारित्वान्नूनं भीतेर त् ।।४९७।।

अर्थः—इसलिये यह बात सिद्ध हुई कि जो भय सहित है और पराधीन है, वह आत्मानुभवसे गिरा हुआ है । परन्तु जो स्वस्थ है वह आत्मानुभवशील है, उसको भीति (भय)का होना असभव ही है ।

भावार्थः—इस कथनसे यह नही समझ लेना चाहिये कि सम्यग्दृष्टीको भय लगता ही नही । क्या सम्यग्दृष्टी शेरसे नही डरेगा? क्या सर्पसे नही डरेगा ? अवश्य डरेगा । परन्तु जिन भीतियोके कारण मिथ्यादृष्टी सदा व्याकुल रहता है, उनसे सम्यग्दृष्टी सर्वथा दूर है । उन भीतियोके नाम आगे आयेंगे ।

शंकाकार

ननु सन्ति चतस्रोपि संज्ञास्तस्यास्य कस्यचित् ।
अर्वाक् च तत्परिच्छेदस्थानादस्तित्वसंभवात् ।।४९८।।

:—शकाकार कहता है कि किसी किसी सम्यग्दृष्टिके भी चारो (आहार, भय, मैथुन, परिग्रह) ही सज्ञाये होती है । जहां पर उन संज्ञाओकी समाप्ति लाई गई है उससे पहले २ उनका अस्तित्व होना सभव ही है ?

पुनः शङ्काकार

तत्कथं न निर्भीकः सर्वतो दृष्टिवानपि ।
अप्यनिष्टार्थसंयोगादस्त्यध्यक्षं प्रयत्नवान् ।।४९९।।

अर्थः—शंकाकार कहता है कि जब सम्यग्दृष्टिके चारों ॰ ायें पाई जाती हैं तो फिर वह सम्यग्दर्शनका धारी होने पर भी सर्वदा निर्भीक किसप्रकार कहा जा सकता और अनिष्ट पदार्थोंका संयोग होने पर वह उनसे बचनेके लिये प्रयत्न भी करता । वह बात प्रत्यक्ष देखते ही है ?

उत्तर

सत्यं भीकोपि निर्भी स्त्वामित्वा तः ।
रूपि द्रव्यं यथा चक्षुः पश्यदपि न पश्यति ।।५००।।

अर्थः—यह बात ठीक है कि सम्यग्दृष्टिके चारों सज्ञायें है और वह भयभीत भी है । परन्तु वह उन सज्ञाओंका अपनेको स्वामी नही समझता है, किन्तु उन्हें कर्मजन्य उपाधि समझता है । जिसप्रकार द्रव्यचक्षु (द्रव्येन्द्रिय) रूपी द्रव्यको देखता हुआ भी वास्तवमे नही देखता है ।

भावार्थः—जिसप्रकार मिथ्यादृष्टि चारों सज्ञाओंमें तल्लीन होकर अपनेको उनका स्वामी समझता है, अर्थात् आहारादिको अपना ही समझता है उसप्रकार सम्यग्दृष्टि नही समझता, किन्तु उन्हें कर्मका फल समझता है । लोकमें द्रव्यचक्षु पुद्गलको देखनेवाला दीखता है परन्तु वास्तवमे देखनेवाली भावेन्द्रिय है ।

कर्मका प्रकोप

सन्ति संसारिजीवानां कर्मांशाश्चोदयागताः ।
मुह्यन् रज्यन् द्विषंस्तत्र तत्फलेनोपयुज्यते ।।५०१।।

अर्थः—ससारी जीवोके कर्म-परमाणु उदयमे आते रहते हैं । उनके फलमें यह जीव मोह करता है, राग करता है, द्वेष करता है और तल्लीन हो जाता है ।

एतेन हेतुना ज्ञानी निःशङ्को न्यायदर्शनात् ।
देशतोप्यत्र मूर्च्छायाः शङ्काहेतोरसंभवात् ।।५०२।।

अर्थः—इसी कारण सम्यग्ज्ञानी नि.शक है । यह बात न्यायसे सिद्ध है । सम्यग्ज्ञानीमें एक देश भी मूर्छा (ममता-अपनापन) नही है इसलिये शंकाका कारण ही वहाँ असम्भव है ।

स्वात्मसंचेतनं तस्य कीदृगस्तीति चिन्त्यते ।
येन कर्मापि कुर्वाणः णा नोपयुज्यते ।।५०३।।

अर्थः—उस सम्यग्ज्ञानीकी स्वात्मचेतना (स्वात्मविचार–ज्ञानचेतना) कैसी विचित्र है, अब उसीका विचार किया जाता है। उसी चेतनाके कारण वह कर्म (कार्य) करता भी है, तो भी उससे तल्लीन नही होता।

सात भयोंके नाम

तत्र भीतिरिह त्र लोके वै वेदनाभयम् ।
चतुर्थी भीतिरत्राणं स्यादगुप्ति तु पञ्चमी ।।५०४।।
भीतिः स्याद्वा तथा मृत्युर्भीतिराकस्मिकं ततः ।
क्रमादुद्देशिताश्चेति सप्तैताः भीतयः स्मृताः ।।५०५।।

अर्थः—पहला–इस लोकका भय, दूसरा–परलोकका भय, तीसरा–वेदना भय, चौथा–अरक्षा भय, पाँचवाँ–अगुप्ति भय, छठवाँ–मरण भय और सातवाँ–आकस्मिक भय। ये क्रमसे सात–भीति बतलाई है।

इस लोककी भीति–

तत्रेह लोकतो भीतिः क्रन्दितं चात्र जन्मनि ।
इष्टार्थस्य व्ययो माभून्माभून्मेऽनिष्टसंगमः ।।५०६।।

अर्थः—उन सातों भीतियोमे "मेरे इष्ट-पदार्थका तो नाश न हो और मुझे अनिष्ट पदार्थका समागम भी न हो ऐसा इस जन्ममे विलाप करना" इस लोक सम्बन्धी पहिली भीति है।

और भी

स्थास्यतीदं धनं नोवा दैवान्माभूद्दरिद्रता ।
इत्याद्याधिश्चिता दग्धुं ज्वलितेवाऽदृगात्मनः ।।५०७।।

अर्थः—यह धन ठहरेगा या नही, दैवयोगसे दरिद्रता कभी नही हो। इत्यादि व्याधिचिता मिथ्यादृष्टिको जलानेके लिये जलती ही रहती है।

निष्कर्ष

अर्थादज्ञानिनो भीतिर्भीतिर्न ज्ञानिनः क्वचित् ।
ोऽस्ति हेतुतः शेषाद्विशेषश्चा ोर्महान् ।।५०८।।

अर्थः—अर्थात् अज्ञानी पुरुषको ही भय लगता है। ज्ञानी पुरुषको थोड़ा भी भय नही लगता। पारिशेषानुमानसे (फलवतात्) यह बात सिद्ध होती है कि ज्ञानी और अज्ञानीमें बड़ा भारी अन्तर है। इसका कारण वही मोहनीय कर्म है।

अज्ञानीके विचार

अज्ञानी नोकर्म मति च यत्।
मनुते सर्वमेवैतन्मोहादद्वैतवादवत् ॥५०९॥

अर्थः—अज्ञानी जीव, द्रव्यकर्म, नोकर्म और भावकर्म सभीको मोहसे अद्वैतवादकी तरह-अर्थात् आत्मासे अभिन्न ही समझता है।

और भी

विश्वाद्भिन्नोपि विश्वं स्वं कुर्वन्नात्मानमात्महा।
भूत्वा विश्वमयो लोके भयं नोज्झति जातुचित् ॥५१०॥

अर्थः—आत्माका नाश करनेवाला-अज्ञानी जीव यद्यपि जगसे भिन्न है, तो भी जगत्को अपना ही बनाता है और विश्वमय बनकर लोकमें कभी भी भयको नही छोड़ता, वह सदा भयभीत ही वना रहता है।

साराश

तात्पर्यं सर्वतोऽनित्ये कर्मणः पाकसंभवात्।
नित्यबुद्धया शरीरादौ भ्रान्तो भीतिमुपैति सः ॥५११॥

अर्थः—उपर्युक्त-कथनका साराश इतना ही है कि अज्ञानी पुरुष कर्मके उदय वश सर्वथा अनित्य शरीर-आदि पदार्थोमे नित्यबुद्धि रखकर भ्रम करता हुआ भय करने लगता है।

ज्ञानीके विचार

सम्यग्दृष्टिः सदैकत्वं स्वं समासादयन्निव।
यावत्कर्मातिरिक्तत्वाच्छुद्धमत्येति चिन्मयम् ॥५१२॥

अर्थः—सम्यग्दृष्टी पुरुष सदा अपनेको अकेला ही समझता है और जितना भी कर्मका विकार है, उसमे अपनी आत्माको भिन्न, शुद्ध और चैतन्यस्वरूप समझता है।

और भी

शरीरं सुखदुःखादि पुत्रपौत्रादिकं तथा।
अनित्यं कर्मकार्यत्वादस्वरूपमवैति यः ॥५१३॥

अर्थः—सम्यग्दृष्टी समझता है कि शरीर, सुख, दु ख आदिक पदार्थ और पुत्र, पौत्र आदिक पदार्थ अनित्य है, ये सब कर्मके निमित्तसे हुए है, और इसीलिये ये आत्म स्वरूप नही है।

और भी

लोकोऽयं मे हि चिल्लोको नूनं नित्योस्ति सोऽर्थतः।
नाऽपरोऽलौकिको लोकस्ततो भीतिः कुतोऽस्ति मे ॥५१४॥

:—वह समझता है कि लोक यह है ? मेरा तो निश्चयसे आत्मा ही लोक है और वह मेरा आत्मा–लोक वास्तवमे नित्य है। तथा मेरा कोई और अलौकिक लोक नही है इसलिये मुझे किससे भय हो सकता है ?

निष्कर्ष

स्वात्मसंचेतनादेवं ज्ञानी ज्ञ तानतः।
इह लोकभयान्मुक्तो स्तत्कर्मबन्धनात् ॥५१५॥

अर्थः—ज्ञानमे ही तल्लीन होनेसे ज्ञान चेतना द्वारा ही सम्यग्ज्ञानी इस लोक सम्बन्धी भयसे रहित है और इसीलिये वह कर्म बन्धनसे भी रहित है।

परलोकका भय

परलोकः परत्रात्मा भाविजन्मान्तरांशभाक्।
ततः कम्प इव त्रासो भीतिः परलोकतोऽस्ति सा ॥५१६॥

अर्थः—आगामी जन्मान्तरको प्राप्त होनेवाले–परभव सम्बन्धी आत्माका नाम ही परलोक है। उस परलोकसे–कँपानेवाला दु.ख होता है और वही परलोक–भीति कहलाती है।

परलोक भय

भद्रं चेज्जन्म स्वर्लोके माभून्मे जन्म दुर्गतौ।
इत्याद्याकुलितं चेतः साध्वसं पारलौकिकम् ॥५१७॥

अर्थः—यदि स्वर्ग–लोकमे जन्म हो तो अच्छा है, बुरी गतिमे मेरा जन्म न हो। इत्यादि रीतिसे जो चित्तकी व्याकुलता है उसीका नाम पारलौकिक भय है।

परलोक भयका स्वामी

मिथ्यादृष्टेस्तदेवास्ति मिथ्याभावैककारणात्।
तद्विपक्षस्य सद्दृष्टेर्नास्ति त्र्यत्ययात् ॥५१८॥

अर्थः—मिथ्यादृष्टीके मिथ्या भावोंसे परलोक सम्बन्धी भय होता रहता है, परन्तु सम्यग्दृष्टिके ऐसा भय नही होता क्योकि उसके मिथ्यात्व कर्मका उदय नही है। कारणके अभावमे कार्य भी नही हो सकता।

मिथ्यादृष्टि

बहिर्दृष्टिरनात्मज्ञो मिथ्यामात्रैकभूमिकः।
स्वं समासादयत्यज्ञः कर्म कर्मफलात्मकम् ॥५१९॥

अर्थः—मिथ्यादृष्टी अपने आत्माको नही पहचानता है क्योकि मिथ्यात्व ही उसका एक क्षेत्र है। वह मूर्ख, कर्म और कर्मके फल स्वरूप ही अपनेको समझता है।

ततो नित्यं भयाक्रान्तो वर्तते भ्रान्तिमानिव।
मनुते मृगतृष्णायामम्भोभारं जनः कुधीः ॥५२०॥

अर्थः—इसलिये वह सदा भयभीत रहता है सदा भ्रान्तसा रहता है और वह कुबुद्धि मिथ्यादृष्टी पुरुष मृगतृष्णामे (सफेद रेतीली जमीनमे) ही जल समझता है।

सम्यग्दृष्टि

अन्तरात्मा तु निर्भीकः पदं निर्भयमाश्रितः।
भीतिहेतोरिहावश्यं भ्रान्तेरत्राप्यसंभवात् ॥५२१॥

अर्थः—अन्तरात्मा (सम्यग्दृष्टी) तो सदा निर्भय रहता है, क्योकि वह निर्भय स्थान (आत्मतत्त्व) पर पहुँच चुका है। इसीलिये भयका कारण—भ्रान्ति भी उसके असभव है अर्थात् सम्यग्दृष्टीको भ्रमबुद्धि भी नही होती।

मिथ्यादृष्टि

मिथ्याभ्रान्तिर्यदन्यत्र दर्शनं चान्यवस्तुनः।
यथा रज्जौ तमोहेतोः सर्पाध्यासाद्द्रवत्यधीः ॥५२२॥

अर्थः—जो मिथ्या—भ्रम होता है और जो अयथार्थ (अन्य वस्तुका) श्रद्धान होता है वह मिथ्यादृष्टीके ही होता है। जिसप्रकार अन्धकारके कारण रस्सीमें सर्पका निश्चय होनेसे डर लग जाता है उसीप्रकार मिथ्यादृष्टी सदा मोहान्धकारके कारण डरता ही रहता है।

मिथ्यादृष्टि

स्वसंवेदनप्रत्यक्षं ज्योतिर्यो वेत्त्यनन्यसात्।
स बिभेति कुतो न्यायादन्यथाऽभवनादिह ॥५२३॥

अर्थः—जो स्वसवेदन प्रत्यक्ष रूप ज्योतिको अपनेसे अभिन्न समझता है, वह (सम्यग्दृष्टी) किस न्यायसे डरेगा। उसे निश्चय है कि अन्यथा कुछ नही हो सकता, अर्थात् वह आत्माको सदा अविनश्वर समझता है इसलिये किसीसे नही डरता।

वेदना-भय

वेदनाऽऽगन्तुका वाधा मलानां कोपतस्तनौ ।
भीतिः प्रागेव कम्पः स्यान्मोहाद्वा परिदेवनम् ।।५२४।।

अर्थः—शरीरमे वात, पित्त, कफ, इन तीन मलोका कोप होनेसे आनेवाली जो बाधा है, उसीका नाम वेदना है। उस आनेवाली वेदनासे पहले ही कप होने लगता है वही वेदना-भय है अथवा मोहबुद्धिसे विलापका होना भी वेदना भय है।

उल्लाघोहं भविष्यामि माभून्मे वेदना क्वचित् ।
मूर्च्छैव वेदनाभीतिश्चिन्तनं वा मुहुर्मुहुः ।।५२५।।

अर्थः—मैं नीरोग हो जाऊँ, मुझे वेदना कभी भी नही हो इसप्रकार बार बार चिंतवन करना ही वेदना-भय है, अथवा मूर्च्छा (मोह बुद्धि) ही वेदना भय है।

वेदना भयका स्वामी

अस्ति नूनं कुदृष्टेः सा दृष्टिदोषैकहेतुतः ।
नीरोगस्यात्मनोऽज्ञानान्न स्यात्सा ज्ञानिनः क्वचित् ।।५२६।।

अर्थः—वह वेदना भय मिथ्यादर्शनके कारण नियमसे मिथ्यादृष्टीके ही होता है। अज्ञानसे होनेवाला वह वेदना-भय सदा निरोगी ज्ञानीके कभी नही होता।

सम्यग्दृष्टिके विचार

पुद्गलाद्भिन्नचिद्धाम्नो न मे व्याधिः कुतो भयम् ।
व्याधिः सर्वा शरीरस्य नाऽमूर्तस्येति चिन्तनम् ।।५२७।।

अर्थः—मेरा ज्ञानमय-आतमा ही स्थान है और वह पुद्गलसे सर्वथा भिन्न है। इसलिये मुझे कोई व्याधि (रोग) नही हो सकती। फिर मुझे भय किसका ? जितनी व्याधियाँ है सभी शरीरको ही होती है, अमूर्त-आत्माको एक भी व्याधि नही हो सकती। इसप्रकार सम्यग्दृष्टि सदा चिन्तवन करता रहता है।

और भी

यथा प्रज्वलितो वह्निः कुटीरं दहति स्फुटम् ।
न दहति तदाकारमाकाशमिति दर्शनात् ।।५२८।।

अर्थः—जैसे-बहुत जोरसे जलती हुई अग्नि मकानको जला देती है, परन्तु मकानके आकारमे आया हुआ जो आकाश है उसे नही जला सकती, यह बात प्रत्यक्ष-सिद्ध है।

भावार्थः—जिसप्रकार आकाश अमूर्त पदार्थ है वह किसी प्रकार जल नही सकता, उसीप्रकार आत्मा भी अमूर्त पदार्थ है उसका भी नाश नही हो सकता। यह सम्यग्दृष्टीका विचार है।

और भी

स्पर्शनादीन्द्रियार्थेषु प्रत्युत्पन्नेषु भाविषु।
नादरो यस्य सोस्त्यर्थान्निर्भीको वेदनाभयात् ॥५२९॥

अर्थः—वर्तमानमे प्राप्त जो स्पर्शनादि इन्द्रियोके विषय हैं अथवा जो आगामी मिलनेवाले है, उनमे जिसका आदर नही है, वही (सम्यग्दृष्टी) वास्तवमें वेदना-भयसे निडर है।

व्याधिस्थानेषु तेषूच्चैर्नाऽसिद्धोऽनादरो मनाक्।
बाधाहेतोः स्वतस्तेषामामयस्याविशेषतः ॥५३०॥

अर्थः—इन्द्रियोके विषय, व्याधियोके मुख्य स्थान है क्योकि वे बाधाके कारण हैं। इसलिये उनमे रोगसे कोई विशेषता नही है अर्थात् आत्माको दु ख देनेवाले रोग इन्द्रियोके विषय है।

अत्राण (अरक्षण) भय

अत्राणं क्षणिकैकान्ते पक्षे चित्तक्षणादिवत्।
नाशात्प्रागंशनाशस्य त्रातुमक्षमताऽऽत्मनः ॥५३१॥

अर्थः—सर्वथा क्षणिक माननेवाला बौद्ध दर्शन है वह चित्तका क्षणमात्रमे नाश मानता है। चित्त पदसे आत्मा समझना चाहिये। जिसप्रकार वह आत्माको क्षण नाशी मानता है उसीप्रकार अन्यान्य सभी पदार्थोको भी क्षण-विनाशी मानता है। साथमे चित्तसन्तति मानता है। आत्मा नाशवाला है परन्तु उसकी सन्तान बराबर चलती रहती है। ऐसा बौद्ध सिद्धान्त है परन्तु जैन सिद्धान्त ऐसा सर्वथा नही मानता वह पर्यायकी अपेक्षा आत्मा तथा इतर पदार्थोंका नाश मानता है किन्तु द्रव्यकी अपेक्षासे सभीको नित्य मानता है। परन्तु मिथ्यादृष्टी इससे उलटा ही समझता है। जिससमय मनुष्य पर्यायका नाश तो नही हुआ है, परन्तु धीरे २ आयु कम हो रही है ऐसी अवस्थामें वह

(मिथ्यादृष्टी) उसकी रक्षा तो कर नही सकता, परन्तु नाशका भय उसे बराबर लगा रहता है । उसीका नाम अत्राण–भय (अरक्षा–भय) है ।

मिथ्यादृष्टिका विचार

भीतिः प्रागंशनाशात्स्यादंशिनाशभ्रमोन्वयात् ।
मिथ्यामात्रैकहेतुत्वान्नूनं मिथ्यादृशोऽस्ति सा ।।५३२।।

अर्थः—मिथ्यादृष्टी समझता है कि धीरे २ आत्माकी पर्यायोका नाश होनेसे सभव है कि कभी सम्पूर्ण आत्माका ही नाश हो जाय । क्योकि सन्तानके नाशसे सन्तानीके नाशका भी डर है । इसप्रकारका भय मिथ्यादृष्टीको पहलेसे ही हुआ करता है । इसमे कारण केवल मिथ्यात्वकर्मका उदय ही है ऐसा भय नियमसे मिथ्यादृष्टीको ही होता है सम्यग्दृष्टीको कभी नही होता ।

भावार्थः—सम्यग्दृष्टीने आत्माका स्वरूप अच्छी तरह समझ लिया है, इतना ही नही किन्तु स्वात्मसंवेदन जनित सुखका भी वह स्वाद ले चुका है इसलिये उसे ऐसी मिथ्या भ्रान्ति कि आत्मा भी कभी नष्ट हो जायगा कभी नही हो सकती ।

शरणं पर्ययस्यास्तंगतस्यापि सदन्वयात् ।
तमनिच्छन्निवाज्ञः स त्रस्तोस्त्यत्राणसाध्वसात् ।।५३३।।

अर्थः—वास्तवमें पर्यायका नाश होनेपर भी आत्मसत्ताकी शृ खला सदा रहेगी और वह आत्मसत्ता ही शरण है परन्तु मूर्ख–मिथ्यादृष्टि इस बातको नही मानता हुआ अत्राण भय (आत्माकी रक्षा कैसे हो इस भयसे) सदा दु खी रहता है ।

सम्यग्दृष्टि

सद्दृष्टिस्तु चिदंशैः स्वैः क्षणं नष्टे चिदात्मनि ।
पश्यन्नष्टमिवात्मानं निर्भयोऽत्राणभीतितः ।।५३४।।

अर्थः—सम्यग्दृष्टि तो आत्माको पर्यायकी अपेक्षासे नाश मानता हुआ भी अत्राण भयसे सदा निडर रहता है । वह आत्माको नाश होती हुई सी देखता है तथापि वह निडर है ।

सिद्धान्त कथन

द्रव्यतः क्षेत्रतश्चापि कालादपि च भावतः ।
नाऽत्राणमंशतोप्यत्र कुतस्तद्धि महात्मनः ।।५३५।।

अर्थः—इस आत्माका अथवा इस ससारमे किसी भी पदार्थका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी अपेक्षासे अशमात्र भी अरक्षण (नाश) नही होता है तो फिर महान् पदार्थ आत्मा–महात्माका नाश कैसे हो सकता है ?

अगुप्ति भय

दृङ्मोहस्योदयाद्बुद्धिः यस्यचैकान्तवादिनी ।
तस्यैवागुप्ति भीतिः स्यान्नूनं नान्यस्य जातुचित् ।।५३६।।

अर्थः—दर्शनमोहनीयके उदयसे जिसकी बुद्धि एकान्तकी तरफ झुक गई है उसीके अगुप्ति–भय होता है। जिसके दर्शनमोहनीयका उदय नही है उसके कभी भी ऐसी बुद्धि नही होती।

मिथ्यादृष्टि

असज्जन्म सतोनाशं मन्यमानस्य देहिनः ।
कोव शस्ततो मुक्तिमिच्छतोऽगुप्तिसाध्वसात् ।।५३७।।

अर्थः—जो मनुष्य असत् पदार्थकी उत्पत्ति मानता है और सत् पदार्थका नाश मानता है तथा फिर अगुप्ति–भयसे छूटना चाहता है वह ऐसा माननेवाला अगुप्ति भयसे कहाँ छुटकारा पा सकता है ?

सम्यग्दृष्टि

सम्यग्दृष्टिस्तु स्वरूपं गुप्तं वै वस्तुनो विदन् ।
निर्भयोऽगुप्तितो भीतेः भीतिहेतोरसंभवात् ।।५३८।।

अर्थः—सम्यग्दृष्टि तो वस्तुके स्वरूपको निश्चयरीतिसे रक्षित ही मानता है भयका कारण दर्शनमोहनीय उसके नही है इसलिये वह अगुप्ति–भीतिसे निर्भय रहता है।

मृत्यु भय

मृत्युः प्राणात्ययः प्राणाः कायवागिन्द्रियं मनः ।
निःश्वासोच्छ्वासमायुश्च दशैते वाक्यविस्तरात् ।।५३९।।

अर्थः—प्राणोका नाश होना ही मृत्यु है। काय, वचन, पाँच इन्द्रिय, मन, नि श्वासोच्छ्वास और आयु ये दश प्राण है। ये दश प्राण विस्तार रूप है। यदि इन्हीको सक्षेपमे कहा जाय तो बल (काय, वचन, मन) इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास और आयु, ऐसे चार प्राण हैं।

तद्भीतिर्जीवितं भूयान्मा भून्मे मरणं क्वचित् ।
कदा लेभे न वा दैवात् इत्याधिः स्वे तनुव्यये ॥५४०॥

अर्थः—मृत्यु-भय इसप्रकार होता रहता है कि मै जीता रहूँ, मैं कभी नही मरूँ, अथवा दैवयोगसे कभी मर न जाऊँ, इत्यादि पीडा अपने शरीरके नष्ट होनेके भयसे होती रहती है ।

मृत्यु भयका स्वामी

नूनं तद्भीः कुदृष्टीनां नित्यं तत्त्वमनिच्छताम् ।
अन्तस्तत्त्वैकवृत्तीनां तद्भीतिर्ज्ञानिनां कुतः ॥५४१॥

अर्थः—निश्चयसे मृत्यु भय तत्त्वको नही पहचाननेवाले मिथ्यादृष्टियोको ही सदा बना रहता है। जिन्होने आत्माके स्वरूपमें ही अपनी वृत्तियोको लगा रक्खा है ऐसे सम्यग्ज्ञानियोंको मृत्यु भय कहाँसे हो सकता है ?

सम्यग्दृष्टिको मृत्यु भय क्यों नहीं ?

जीवस्य चेतना प्राणाः नूनं सात्मोपजीविनी ।
नार्थान्मृत्युरतस्तद्भीः कुतः स्यादिति पश्यतः ॥५४२॥

अर्थः—जीवके चेतना ही प्राण हैं। वह चेतना निश्चयसे आत्मोपजीविनी (आत्माका उपजीवी गुण) है । ऐसा देखनेवाला मृत्यु होना ही नहीं समझता, फिर मृत्यु-भय उसे कहाँसे हो सकता है ?

आकस्मिक-भय

स्मा तमित्युच्चेराकस्मि यं स्मृतम् ।
तद्यथा विद्युदादीनां पातात्पातोऽसुधारिणाम् ॥५४३॥

अर्थः—जो भय अकस्मात् (अचानक) हो जाता है उसे आकस्मिक भय कहते हैं। वह बिजली आदिके गिरनेसे प्राणियोका नाश होना आदि रूपसे होता है ।

भीतिर्भूयाद्यथा सौस्थ्यं माभूद्दौस्थ्यं कदापि मे ।
इत्येवं मानसी चिन्ता पर्याकुलितचेतसा ॥५४४॥

अर्थः—आकस्मिक भय इसप्रकार होता है कि सदा मै स्वस्थ बना रहूँ, मुझे अस्वस्थता कभी न हो । इसप्रकार आकुल चित्तवाला मानसिक चिन्तासे पीडित रहता है ।

इसका स्वामी

अर्थादाकस्मिकभ्रान्तिरस्ति मिथ्यात्वशालिनः ।
कुतो मोक्षोऽस्य तद्भीतेर्निर्भीकैकपदच्युतेः ॥५४५॥

अर्थः—आकस्मिक भय मिथ्यादृष्टीको ही होता है क्योकि वह निर्भीक स्थानसे गिरा हुआ है और सदा भयभीत रहता है। फिर भला उसे मोक्ष (छुटकारा) उस भयसे कहाँसे हो सकता है।

निर्भीकैकपदो जीवो स्यादनन्तोऽप्यनादिसात् ।
नास्ति चाकस्मिकं तत्र कुतस्तद्भीस्तमिच्छतः ॥५४६॥

अर्थः—जीव सदा निर्भीक स्थानवाला है, अनन्त है, और अनादि भी है। उस निर्भीकस्थानको चाहनेवाले जीवको आकस्मिक भय कभी नही होता ? क्योकि अनादि अनन्त जीवमें आकस्मिक घटना हो ही क्या सकती है ?

नि काङ्क्षित अङ्ग

कांक्षा भोगाभिलाषः स्यात्कृतेऽमुष्य क्रियासु वा ।
कर्मणि तत्फले सात्म्यमन्यदृष्टिप्रशंसनम् ॥५४७॥

अर्थः—जो काम किये जाते है उनसे पर लोकके लिये भोगोकी चाहना करना इसीका नाम काक्षा है। अथवा कर्म और कर्मके फलमे आत्मीय-भाव रखना अथवा मिथ्यादृष्टियोकी प्रशंसा करना आदि सब कांक्षा कहलाती है।

काक्षाका चिह्न

हृषीकारुचितेषूच्चैरुद्वेगो विषयेषु यः ।
स स्याद्भोगाभिलाषस्य लिंगं स्वेष्टार्थरञ्जनात् ॥५४८॥

अर्थः—जो इन्द्रियोको रुचिकर विषय नही है, उनमे बहुत दु ख करना, बस यही भोगोकी अभिलाषाका चिह्न है। क्योकि इन्द्रियोके अरुचिकर विषयोमे दु ख प्रकट करनेसे अपने अभीष्ट पदार्थोंमे राग अवश्य होगा।

रागद्वेष दोनों सापेक्ष हैं

तद्यथा न रतिः पक्षे विपक्षेप्यरतिं विना ।
नारतिर्वा स्वपक्षेपि तद्विपक्षे रतिं विना ॥५४९॥

अर्थः—विपक्षमे विना द्वेष हुए स्व-पक्षमे राग नही होता है और विपक्षमे विना राग हुए स्वपक्षमे द्वेष नही होता है।

भावार्थः—राग और द्वेष, दोनो ही सापेक्ष है। एक वस्तुमें जब राग है तो दूसरीमें द्वेष अवश्य होगा अथवा दूसरीमें जब राग है तब पहलीमे द्वेष अवश्य होगा। रागद्वेष दोनों ही सहभावी है। इसीप्रकार इन्द्रियोके किसी विषयमे द्वेष करनेसे किसीमे राग अवश्य होगा।

सहयोगिताका दृष्टान्त

शीतद्वेषी यथा कश्चित् उष्णस्पर्शं समीहते।
नेच्छेदनुष्णसंस्पर्शमुष्णस्पर्शाभिलाषुकः ॥५५०॥

अर्थः—जैसे कोई शीतसे द्वेष करनेवाला है तो वह उष्णस्पर्शको चाहता है। जो उष्णस्पर्शकी अभिलाषा रखता है वह शीतस्पर्शको नही चाहता।

काक्षाका स्वामी

यस्यास्ति कांक्षितो भावो नूनं मिथ्यादृगस्ति सः।
यस्य नास्ति स सद्दृष्टिर्युक्तिस्वानुभवागमात् ॥५५१॥

ः—जिसके काक्षित (भोगाभिलाषा) भाव है वह नियमसे मिथ्यादृष्टी है। जिसके वह भाव नही है वह सम्यग्दृष्टी है। यह बात स्वानुभव, युक्ति और आगम तीनोंसे सिद्ध है।

मिथ्यादृष्टिकी भावना

आस्तामिष्टार्थसंयोगोऽमुत्रभोगाभिलाषतः।
स्वार्थसार्थैकसंसिद्धि र्न स्यान्नामैहिकात्परम् ॥५५२॥

अर्थः—परलोकमे भोगोकी अभिलाषासे इष्ट पदार्थोका सयोग मिले यह भावना तो मिथ्यादृष्टिके लगी ही रहती है परन्तु वह यह भी समझता है कि अपने समग्र अभीष्टोंकी सिद्धि इस लोकके सिवा कही नही है अर्थात् जो कुछ सुख सामग्री है वह यही (सासारिक) है, इससे बढकर और कही नही है।

निःसारं प्रस्फुरत्येष मिथ्याकर्मैकपाकतः।
जन्तोरुन्मत्तवच्चापि वार्धेर्वातोत्तरङ्गवत् ॥५५३॥

अर्थः—मिथ्यादृष्टीको ऐसी ऐसी (जो कुछ है सो इसी ससारमे है) निस्सार भावनाये मिथ्या कर्मके उदयसे आया करती है। वे ऐसी ही है जैसे किसी उन्मत्त (पागल) आदमीको हुआ करती है। वायुसे हिलोरा हुआ समुद्र जिसप्रकार तरगोसे उछलने लगता है, उसीप्रकार मिथ्यात्वके उदयसे मिथ्यादृष्टी अज्ञानभावोसे उछलने लगता है।

शङ्काकार

ननु कार्यमनुद्दिश्य न मन्दोपि प्रवर्तते ।
भोगाकांक्षां विना ज्ञानी तत्कथं व्रतमाचरेत् ।।५५४।।

अर्थः—शकाकार कहता है कि बिना किसी कार्यको लक्ष्य किये मन्द पुरुष भी किसी काममे नही लगता है तो फिर विशेष ज्ञानी—सम्यग्ज्ञानी बिना भोगोंकी चाहनाके कैसे व्रतोको धारण करता है ?

फिर भी शकाकार

नासिद्धं बन्धमात्रत्वं क्रियायाः फलमद्वयम् ।
शुभमात्रं शुभायाः स्यादशुभायाश्चाऽशुभावहम् ।।५५५।।
नचाऽऽशङ्क्यं क्रियाप्येषा स्यादबन्धफला क्वचित् ।
दर्शनातिशयाद्धेतोः सरागेपि विरागवत् ।।५५६।।
यतः सिद्धं प्रमाणाद्वै नूनं बन्धफला क्रिया ।
अर्वाक् क्षीणकषायेभ्योऽवश्यं तद्धेतुसंभवात् ।।५५७।।
सरागे वीतरागे वा नूनमौदयिकी क्रिया ।
अस्ति बन्धफलाऽवश्यं मोहस्यान्यतमोदयात् ।।५५८।।
न वाच्यं स्यादात्मदृष्टिः कश्चित् प्रज्ञापराधतः ।
अपि बन्धफलां कुर्यात्तामबन्धफलां विदन् ।।५५९।।
यतः प्रज्ञाविनाभूतमस्ति सम्यग्विशेषणम् ।
तस्याश्चाऽभावतो नूनं कुतस्त्या दिव्यता दृशः ।।५६०।।

अर्थः—शकाकार कहता है कि जितनी भी क्रियाये की जाती है सबोका एक बन्ध होना ही फल है। यह बात भलीभाँति सिद्ध है। यदि वह शुभ क्रिया है तो उसका फल शुभरूप होगा और यदि वह अशुभ है तो उसका फल भी अशुभ ही होगा। परन्तु कोई सी क्रिया क्यो न हो वह बन्ध अवश्य करेगी। ऐसी आशका नही करना चाहिये कि यह क्रिया कही पर बन्ध न करे। जिसप्रकार वीतरागी पुरुषमे क्रिया बन्धरूप फलको नही पैदा करती है, उसीप्रकार सम्यग्दर्शनके अतिशयके कारण सरागोमे भी बन्धफला क्रिया नही होगी ? ऐसी आशका नही करना चाहिये। क्योकि यह बात प्रमाण सिद्ध है कि सभी क्रियाये बन्धरूप फलको पैदा करनेवाली है। क्षीणकषाय (बारहवां गुणस्थान)से पहले २ अवश्य ही बन्धका कारण सम्भव है।

चाहे सरागी हो चाहे वीतरागी (क्षीणकषायसे पहले) हो दोनोमे ही औदयिकी (उदयसे होनेवाली) क्रिया होती है और वह क्रिया अवश्य ही वन्धरूप फलको पैदा करनेवाली है, क्योकि मोहनीय प्रकृतियोमेसे किसी एकका उदय मौजूद है इसलिये बुद्धिके दोषसे किसीको स्वानुभूतिवाला मत कहो और मत वन्ध–जनक क्रिया करनेवालेकी त्रियाको अबन्ध फला क्रिया वतलाओ। क्योकि वुद्धिका अविनाभावी सम्यक् विशेषण है। उस सम्यक् विशेषणवाली बुद्धि (सम्यग्ज्ञान)का अभाव होनेसे दर्शनको दिव्यता–उत्कृष्टता (सम्यग्दर्शनता) कैसे आ सकती है ?

उत्तर

नैवं यतः सुसिद्धं प्रागस्ति चानिच्छतः क्रिया।
शुभायाश्चाऽशुभायाश्च कोऽवशेषो विशेषभाक् ॥५६१॥

अर्थः—शकाकारका उपर्युक्त शका व्यर्थ है, क्योकि पहले यह बात अच्छी तरह सिद्ध हो चुकी है कि बिना इच्छाके भी क्रिया होती है। फिर शुभ क्रिया और अशुभ क्रियाकी क्या विशेषता बाकी रह गई ?

भावार्थः—जिस पुरुषको किसी वस्तुकी चाहना नही है उसके भी क्रिया होती है। तो ऐसी क्रिया शुभ–अशुभ क्रिया नही कहला सकती। क्योकि जो शुभ परिणामोसे की जाय वह शुभ क्रिया कहलाती है और जो अशुभ–परिणामोसे की जाय वह अशुभ क्रिया कहलाती है। जहाँ पर क्रिया करनेकी इच्छा ही नही है वहाँ शुभ अथवा अशुभ परिणाम ही नही बन सकते।

शकाकार

नन्वनिष्टार्थसंयोगरूपा साऽनिच्छतः क्रिया।
विशिष्टेष्टार्थसंयोगरूपा साऽनिच्छतः कथम् ॥५६२॥

अर्थः—शकाकार कहता है कि जो क्रिया अनिष्ट पदार्थोंकी सयोगरूपा है वह तो नही चाहनेवालेके ही हो जाती है। परन्तु विशेष विशेष इष्ट पदार्थोके सयोग करानेवाली जो क्रिया है वह नही चाहनेवाले पुरुषके कैसे हो सकती है ?

पुनः शकाकार

सत्क्रिया व्रतरूपा स्यादर्थान्नानिच्छतः स्फुटम्।
तस्याऽस्वतन्त्रसिद्धत्वात् सिद्धं कर्तृत्वमर्थसात् ॥५६३॥

अर्थः—व्रत-स्वरूप जो श्रेष्ठ क्रिया है वह बिना व्रत चाहने वालेके कैसे हो सकती है ? अर्थात् नहीं हो सकती। व्रत रूपा क्रिया इच्छानुसार की जाती है वह स्वतन्त्र नहीं है इसलिये व्रत करनेवाला व्रत क्रियाका कर्ता है यह बात सिद्ध हुई।

भावार्थः—श्रेष्ठ क्रियायें बिना इच्छा किये नही हो सकतीं ऐसा शङ्काकारका अभिप्राय है।

उत्तर

यतोस्त्यनिष्टार्थः सर्वः कर्मोदयात्मकः।
मान्नाकांक्षते ज्ञानी यावत् कर्म च तत्फलम् ॥५६४॥

अर्थः—उपर्युक्त कहना ठीक नही है। क्योकि जितना भी कुछ कर्मके उदय-रूप है सब अनिष्ट-अर्थ है। इसलिये जितना भी कर्म और उसका फल है उसे ज्ञानी पुरुष नहीं चाहता है।

दृष्टिदोष

यत्पुनः कश्चिदिष्टार्थोऽनिष्टार्थः कश्चिदर्थसात्।
तत्सर्वं दृष्टिदोषत्वात् पीतशंखावलोकवत् ॥५६५॥

अर्थः—और जो प्रयोजन वश कोई पदार्थ इष्ट मान लिया जाता है अथवा कोई पदार्थ अनिष्ट मान लिया जाता है वह सब मानना दृष्टि (दर्शन) दोषसे है। जिसप्रकार दृष्टि (नेत्र) दोषसे सफेद शख भी पीला ही दीखता है उसीप्रकार मोह बुद्धिसे कर्मोदय प्राप्त पदार्थोमे यह मोही जीव इष्टानिष्ट बुद्धि करता है। वास्तवमे कर्मोदयसे होनेवाला सभी अनिष्ट ही है।

सम्यग्दृष्टिकी दृष्टि

दृङ्मोहस्यात्यये दृष्टिः साक्षात् सूक्ष्मार्थदर्शिनी।
तस्याऽनिष्टेऽस्त्यनिष्टार्थबुद्धिः कर्मफलात्मके ॥५६६॥

अर्थः—दर्शनमोहनीय कर्मके नाश हो जाने पर साक्षात् सूक्ष्मपदार्थोंको देखनेवाली दृष्टि (दर्शन) हो जाती है। फिर सम्यग्दृष्टिकी, कर्मके फल स्वरूप अनिष्ट पदार्थोंमे अनिष्ट पदार्थ रूपा ही बुद्धि होती है।

भावार्थः—सम्यग्दृष्टि कर्मके उदयमात्रको ही अनिष्ट समझता है। कर्मोदयसे प्राप्त सभी पदार्थ उसकी दृष्टिमे अनिष्ट रूप ही भासते हैं।

कर्म और कर्मका अनिष्ट क्यों है ?

।ऽसिद्धमनिष्टत्वं कर्मणस्तत्फलस्य च ।
सर्वतो दुःखहेतुत्वाद्युक्तिस्वानुभवागमात् ॥५६७॥

ः—कर्म और कर्मका फल अनिष्ट है, यह बात असिद्ध नही है क्योंकि जितना भी कर्म और कर्मका फल है सभी सर्वदा दुःखका ही कारण है। यह बात युक्ति, स्वानुभव और आगमसे प्रसिद्ध है।

सभी क्रियायें अनिष्ट ही हैं

अनिष्ट स्वात् स्यादनिष्टार्था व्रतक्रिया ।
दुष्टकार्यानुरूपस्य हेतोर्दृष्टोपदेशवत् ॥५६८॥

ः—जितनी भी व्रत–क्रिया अनिष्ट फल देनेवाली है सब अनिष्टार्थ हैं क्योकि अनि फलवाली हैं। जिसप्रकार दुष्ट पुरुषका उपदेश दुष्ट–कार्यको पैदा करता है, उसीप्रकार यह भी दुष्ट–कार्यको उत्पन्न करनेवाली है।

व्रत क्रिया स्वतन्त्र नहीं है

अथाऽसिद्धं तन्त्रत्वं क्रियायाः कर्मणः त् ।
ते कर्मोदयाद्धेतोस्तस्याश्चाऽसं ो ः ॥५६९॥

अर्थः—क्रिया स्वतन्त्र होती है, सो वास्तवमें ठीक नही है। क्रिया कर्मके फलसे होती है अथवा कर्मका फल है। इसलिये क्रियाको स्वतन्त्र बतलाना असिद्ध है क्योकि कर्मोदयरूप हेतुके बिना क्रियाका होना ही असभव है।

क्रिया–औदयिकी है

यावदक्षीणमोहस्य क्षीणमोहस्य चाऽऽत्मनः ।
यावत्यस्ति क्रिया नाम तावत्यौदयिकी स्मृता ॥५७०॥

अर्थः—जिस आत्माका मोह क्षीण हो गया है अथवा जिसका क्षीण नही हुआ है, दोनों ही की जितनो भी क्रिया हैं सभी औदयिकी अर्थात् कर्मके उदयसे होनेवाली हैं।

पौ शो न यथा पुंसः र्मोदितं प्रति ।
न परं पौरुषापेक्षो दैवापेक्षो हि पौरुषः ॥५७१॥

अर्थः—पुरुषका पुरुषार्थ कर्मोदयके प्रति भरसक उपयुक्त नही होता, और पुरुषार्थ केवल पुरुषार्थसे भी नही होता किन्तु दैव (कर्म)से होता है।

भाव :—पुरुषार्थ कर्मसे होता है इसलिये क्रिया औदयिकी है। अर्थात् यदि कर्मोदय तीव्र होता है तो पुरुषार्थ व्यर्थ ठहरता है।

निष्कर्ष

सिद्धो निष्कांक्षितो ज्ञानी कुर्वाणोप्युदितां क्रियाम् ।
निष्कामतः कृतं कर्म न रागाय विरागिणाम् ॥५७२॥

:—यह बात सिद्ध हुई कि सम्यग्ज्ञानी उदयरूपा क्रियाको करता हुआ भी निःकांक्षित है अर्थात् आकाक्षा रहित है। विरागियोंका बिना इच्छाके किया हुआ कर्म रागके लिये नही होता है।

आशङ्का

नाशंक्यं चास्ति निःकांक्षः सामान्योपि जनः क्वचित् ।
हेतोः कुतश्चिदन्यत्र दर्शनातिशयादपि ॥५७३॥

अर्थः—सम्यग्दर्शनके अतिशय रूप हेतुको छोड़कर कहीं दूसरी जगह सामान्य जन भी कांक्षा रहित हो जाता है ? ऐसी आशंका नही करना चाहिये।

क्योंकि

यतो निष्कांक्षता नास्ति न्यायात्सद्दर्शनं विना ।
नानिच्छास्त्यक्षजे सौख्ये तदत्यक्षमनिच्छतः ॥५७४॥

अर्थः—क्योकि बिना सम्यग्दर्शनके हुए निष्कांक्षता हो ही नहीं सकती है, यह न्याय सिद्ध है क्योंकि जो अतीन्द्रिय सुखको नही चाहता है उसकी इन्द्रियजन्य सुखमें अनिच्छा भी नही होती है।

मिथ्यादृष्टि

तदत्यक्षसुखं मोहान्मिथ्यादृष्टिः स नेच्छति ।
दृङ्मोहस्य तथा :शक्तेः सद्भावतोऽनिशम् ॥५७५॥

अर्थः—उस अतीन्द्रिय सुखको मोहनीय कर्मके उदयसे मिथ्यादृष्टि नही चाहता है क्योंकि शक्तिका सद्भाव होनेसे दर्शन मोहनीयका निरन्तर पाक ही वैसा होता रहता है।

उक्तो निष्कांक्षितो भावो गुणः सद्दर्श य वै ।
सस्तु का नः क्षतिः प्राक्चेत्परीक्षा क्षमता मता ॥५७६॥

अर्थः—निष्काक्षित भाव कहा जा चुका, यह सम्यग्दृष्टिका ही गुण है ऐसा कहनेमें हमारी कोई हानि नही है यह परीक्षा सिद्ध बात है।

ः—परीक्षक स्वयं निश्चय कर सकता है कि निष्कांक्षित भाव बिना सम्यग्दर्शनके नहीं हो सकता इसलिये यह सम्यग्दृष्टिका ही गुण है।

निर्विचिकित्सा

अथ निर्विचिकित्साख्यो गुणः संलक्ष्यते स यः।
सद्दर्शनगुणस्योच्चैर्गुणो युक्तिवशादपि ॥५७७॥

अर्थः—अब निर्विचिकित्सा नामक गुण कहा जाता है। जो कि युक्ति द्वारा भी सम्यग्दृष्टिका ही एक उन्नत गुण समझा गया है।

विचिकित्सा

आतमन्यात्मगुणोत्कर्षबुद्धया त्मप्रशंसनात्।
परत्राप्यपकर्षेषु बुद्धिर्विचिकित्सा स्मृता ॥५७८॥

ः—अपनेमे अधिक गुण समझकर अपनी प्रशसा करना और दूसरोको हीनता सिद्ध करनेकी बुद्धि रखना विचिकित्सा मानी गई है।

निर्विचिकित्सा

निष्क्रान्तो विचिकित्सायाः प्रोक्तो निर्विचिकित्सकः।
गुणः सद्दर्शनस्योच्चैर्वक्ष्ये तल्लक्षणं यथा ॥५७९॥

अर्थः—उपर्युक्त कही हुई विचिकित्सासे रहित जो भाव है वही निर्विचिकित्सा गुण कहा गया है। वह सम्यग्दृष्टिका उन्नत गुण है, उसका लक्षण कहा जाता है—

दुर्दैवाद्दुःखिते पुंसि तीव्राऽसाताघृणास्पदे।
यन्नादयापरं चेतः स्मृतो निर्विचिकित ः ॥५८०॥

ः—जो पुरुष खोटे कर्मके उदयसे दुखी हो रहा है, और तीव्र असातावेदनीयक जो निन्द्यस्थान बन रहा है ऐसे पुरुषके विषयमे चित्तमे अदयाबुद्धि नही होना वही निर्विचिकित्सा गुण कहा गया है।

विचार-परम्परा

नैतत्तन्मनस्यज्ञानमस्म्यहं सम्पदां पदम्।
वस्मत्समो दीनो वराको विपदां पदम् ॥५८१॥

अर्थः—इसप्रकारका मनमे अज्ञान नही होना चाहिये कि मैं सम्पत्तियोंका घर हूँ र यह विचारा दीन विपत्तियोका घर है, यह मेरे समान नही हो सकता।

प्रत्युत ज्ञानमेवैतत्तत्र कर्मवि ज्ञाः ।
प्राणिनः सदृशाः सर्वे त्रसस्थावरयोनयः ॥५८२॥

अर्थः—उपर्युक्त अज्ञान न होकर ऐसा ज्ञान होना चाहिये कि कर्मके उदयसे सभी त्रस, स्थावर योनिवाले प्राणी समान हैं ।

दृष्टान्त

यथा द्वावर्भकौ जातौ शूद्रिकायास्तथोदरात् ।
शूद्राव न्तितस्तौ द्वौ कृतो भेदो भ्रमात्मना ॥५८३॥

अर्थः—जिसप्रकार शूद्रीके गर्भसे दो बालक पैदा हुए । वास्तवमें वे दोनों ही निर्भ्रान्तिरीतिसे शूद्र है, परन्तु भ्रमात्मा उनमे भेद समझने लगता है ।

भावार्थः—ऐसी कथा प्रसिद्ध है कि शूद्रीके दो बालक हुए थे । उन्होने भिन्न २ कार्य करना शुरू किया था । एकने उच्च वर्णोंका कार्य प्रारम्भ किया था और दूसरेने शूद्रका ही कार्य प्रारम्भ किया था । बहुतसे मनुष्य भ्रमसे उन्हें भिन्न २ समझने लगे थे । परन्तु वास्तवमे वे दोनो ही एक मां से पैदा हुए थे । इसीप्रकार कर्मकृत भेदसे जीवोमें कुछ भ्रमशील भेद ही समझने लगते हैं । परन्तु वास्तवमें सभी आत्मायें समान हैं ।

जले जम्बालवज्जीवे यावत्कर्माशुचि स्फुटम् ।
अहंता चाऽविशेषाद्वा नूनं कर्ममलीमसः ॥५८४॥

अर्थः—जलमे काईकी तरह इस जीवमे जबतक अपवित्र कर्मका सम्बन्ध है, तबतक इस कर्म–मलीन आत्माके सामान्य रीतिसे अह बुद्धि लगी हुई है । अर्थात् इतर पदार्थोंमें इसने आपा मान रक्खा है ।

निष्कर्ष

अस्ति सद्दर्शनस्यासौ गुणो निर्विचिकित्सकः ।
यतोऽवश्यं स तत्रास्ति मादन्यत्र न क्वचित् ॥५८५॥

अर्थः—यह निर्विचिकित्सा–गुण सम्यग्दृष्टिका ही गुण है । क्योकि सम्यग्दृष्टिमे वह अवश्य है । सम्यग्दृष्टिसे अतिरिक्त कही नही पाया जाता है ।

कर्मपर्यायमात्रेषु रागिणः स कुतो गुणः ।
सद्विशेषेऽपि सम्मोहाद्द्वयोरैक्योपलब्धितः ॥५८६॥

अर्थः—जड़ और चैतन्यमे परस्पर विशेषता होनेपर भी मोहसे दोनोको एक

समझनेवाला–कर्मको पर्यायमात्रमें जो रागी हो रहा है, उसके वह निर्विचिकित्सा गुण कहांसे हो सकता है ?

इत्युक्तो युक्तिपूर्वोसौ गुणः सद्दर्शनस्य यः ।
नाविवक्षो हि दोषाय विवक्षो न गुणाप्तये ।।५८७।।

अर्थः—इसप्रकार युक्तिपूर्वक निर्विचिकित्सा गुण सम्यग्दृष्टिका कहा गया है । यदि यह गुण न कहा जाय तो कोई दोष नहीं हो सकता, और कहनेपर कोई विशेष लाभ नहीं है ।

भावार्थः—यह एक सामान्य कथन है । निर्विचिकित्सा गुणके कहने और न कहने पर कोई गुण दोष नहीं होता, इसका यही आशय है कि सम्यग्दर्शनके साथ यह गुण होता है ।

अमूढ़दृष्टि

अस्ति चामूढ़दृष्टिः सा सम्यग्दर्शनशालिनी ।
ययालंकृतवपुष्येतद्भाति सद्दर्शनं नरि ।।५८८।।

अर्थः—अमूढदृष्टि गुण भी सम्यग्दर्शन सहित ही होता है । अमूढ़दृष्टि गुणसे विभूषित आत्मामे यह सम्यग्दर्शन शोभायमान होता है ।

अमूढदृष्टिका लक्षण

अतत्त्वे तत्त्वश्रद्धानं मूढदृष्टिः स्वलक्षणात् ।
नास्ति सा यस्य जीवस्य विख्यातः सोस्त्यमूढदृक् ।।५८९।।

अर्थः—अतत्त्वमे तत्त्व–श्रद्धान करना, मूढदृष्टि कहलाती है । मूढ जो दृष्टि वह मूढदृष्टि, ऐसा मूढदृष्टि शब्दसे ही स्पष्टार्थ है । जिस जीवके ऐसी मूढ–दृष्टि नही है वह अमूढदृष्टि प्रसिद्ध है ।

अस्त्यसद्धेतुदृष्टान्तैर्मिथ्याऽर्थः साधितोऽपरैः ।
नाप्यलं तत्र मोहाय दङ्मोहस्योदयक्षतेः ।।५९०।।

अर्थः—दूसरे मतवालोसे मिथ्या हेतु और दृष्टान्तो द्वारा मिथ्या (विपरीत) पदार्थ सिद्ध किया है । वह मिथ्या पदार्थ, मोहनीय कर्मके क्षय होनेसे सम्यग्दृष्टिमे मोह (विपरोतता) पैदा करनेके लिये समर्थ नही है ।

सूक्ष्मान्तरितदूरार्थे दर्शितेऽपि कुदृष्टिभिः ।
नाल्पश्रुतः स मुह्येत किं पुनश्चेद्बहुश्रुतः ।।५९१।।

अर्थः—सूक्ष्म, अन्तरित तथा दूरवर्ती पदार्थोंको मिथ्यादृष्टि पुरुष यदि विपरीत रीतिसे दिखाने लगें तो जो थोड़े शास्त्रका जाननेवाला है वह भी मोहित नहीं होता है। यदि बहुत शास्त्रोंका पाठी हो तो फिर क्या है ? अर्थात् बहुश्रुत किसी प्रकार धोखेमें नही आ सकता है।

अर्थाभा ऽपि तत्रोच्चैः सम्यग्दृष्टेर्न मूढ़ता।
सूक्ष्मानन्तरितोपात्तमिथ्यार्थस्य कुतो भ्रमः ॥५९२॥

अर्थः—जहां कही अर्थ–आभास भी हो वहा भी सम्यग्दृष्टि मूढ नही होता है। तो फिर सूक्ष्म अन्तरित और दूरार्थ मिथ्या बतलाये हुए पदार्थोंमें सम्यग्दृष्टिको कैसे भ्रम हो सकता है ?

सम्यग्दृष्टिके विचार

तद्यथा लौकिकी रूढ़िरस्ति विकल्पसात्।
निःसारैराश्रिता पुम्भिरथाऽनिष्टफलप्रदा ॥५९३॥

अर्थः—लौकिकी रूढ़ि नाना विकल्पोसे होती है अर्थात् अनेक मिथ्या विचारोसे की जाती है। निस्सार पुरुष उसे करते रहते हैं। लोकरूढि सदा अनिष्ट फलको ही देती है।

अफलाऽनिष्टफला हेतुशून्या योगापहारिणी।
दुस्त्याज्या लौकिकी रूढ़िः कैश्चिद्दुष्कर्मपाकतः ॥५९४॥

अर्थः—लोकमे प्रचलित रूढि फल शून्य है, अथवा अनिष्ट फल वाली है, हेतु शून्य है और योग का नाश करने वाली है। खोटे कर्मके उदयसे कोई २ पुरुष इस लोकरूढिको छोड भी नही सकते है।

देवमूढ़ता

अदेवे देवबुद्धिः स्यादधर्मे धर्मधीरिह।
अगुरौ गुरुबुद्धिर्या ख्याता देवादिमूढ़ता ॥५९५॥

अर्थः—अदेवमे देवबुद्धिका होना, अधर्ममे धर्मबुद्धिका होना, अगुरुमें गुरुबुद्धिका होना ही देवमूढता कही गई है।

लोकमूढ़ता

कुदेवाराधनं कुर्यादैहिकश्रेयसे कुधीः।
मृषालोकोपचारत्वादश्रेया लोकमूढ़ता ॥५९६॥

अर्थः—मिथ्यादृष्टि सांसारिक सुखके लिये कुदेवोंका आराधन–पूजन करता है। ऐसा करना मिथ्या लोकाचार है, इसीका नाम लोकमूढ़ता है, लोकमूढ़ता महा–अहितकर है।

अरि श्रद्धानमेकेषां लोकमूढव दिह ।
धनधान्यप्रदा नूनं सम्यगाराधिताऽम्बि ॥५९७॥

अर्थः—लोकमूढतावश किन्ही २ पुरुषोंको ऐसा श्रद्धान हो रहा है कि भले प्रकार आराधना की हुई अम्बिका देवी (चण्डी–मुण्डी आदि) निश्चयसे धन धान्य–सम्पत्तियोंको देवेगी।

अपरेऽपि यथाकामं देवमिच्छन्ति दुर्धियः ।
सदोषानपि निर्दोषानिव प्रज्ञाऽपराधतः ॥५९८॥

ः—और भी बहुतसे मिथ्या–बुद्धिवाले पुरुष इच्छानुसार देवोंको मानते हैं। वे बुद्धिके दोष (ानता)से सदोषियोंको भी निर्दोषीकी तरह मान बैठते है।

नोक्तस्तेषां स ेशः प्रसङ्गादपि सङ्गतः ।
लब्धवर्णो न कुर्याद्वै निःसारं ग्रन्थविस्तरम् ॥५९९॥

अर्थः—उन मिथ्या–विचारवालोका विशेष उद्देश्य (अधिक वर्णन) प्रसङ्गवश भी विस्तारभयसे नही कहा है क्योकि जिसको बहुतसे शब्द मिल भी जावे वह भी व्यर्थ ग्रन्थ–विस्तारको नही करेगा, अर्थात् कुदेवके स्वरूपके कहनेकी कोई आवश्यकता नही है।

अधर्म

अधर्मस्तु कुदेवानां यावानाराधनोद्यमः ।
तैः ीतेषु धर्मेषु चेष्टा व यचेतसाम् ॥६००॥

अर्थः—कुदेवोकी आराधना करनेका जितना भी उद्यम है, तथा उनके द्वारा कहे हुए धर्मोमे मन, वचन, काय का जो व्यापार है वह सभी अधर्म कहलाता है।

कुगुरु और सुगुरु

कुगुरुः कुत्सिताचारः सशल्यः सपरिग्रहः ।
सम्यक्त्वेन व्रतेनापि युक्तः स्यात्सद्गुरुर्यतः ॥६०१॥

अर्थः—जिसका निन्द्य (मलीन) आचरण है, जिसके माया, मिथ्या, निदान–

शल्य लगी हुई हैं, और जो परिग्रह सहित है वह कुगुरु है, तथा जो सम्यग्दर्शन और व्रत सहित है वह सद्गुरु है।

अत्रोद्देशोऽपि न श्रेयान् ँतोतीव विस्तरात् ।
आदेयो विधिरत्रोक्तो नादेयोनुक्त एव सः ॥६०२॥

अर्थः—कुधर्म और कुगुरुके विषयमे भी अधिक लिखना लाभकारी नही है। क्योंकि इनका पूरा स्वरूप लिखनेसे अत्यन्त ग्रन्थ–विस्तार होने का डर है। इसलिये इस ग्रन्थमे जो विधि कही गई है, वही ग्रहण करने योग्य है, और जो यहाँ नही कही गई है वह त्यागने योग्य समझना चहिये।

र्थः—जो विधि उपादेय है, उसीका यहाँ वर्णन किया गया है और जो अनुपादेय है उसका यहाँ वर्णन भी नही किया गया है।

सच्चे देवका स्वरूप

दोषो रागादिमद्भावः स्यादावरणकर्म तत् ।
तयोरभावोऽस्ति निःशेषो यत्रासौ देव उच्यते ॥६०३॥

अर्थः—रागादिक वैकारिक भाव और ज्ञानावरणादिक कर्म, दोष कहलाते हैं। उनका जिस आत्मामे सम्पूर्णतासे अभाव हो चुका है, वही देव कहा जाता है।

अनन्तचतुष्टय

अस्त्यत्र केवलं ज्ञानं क्षायिकं दर्शनं सुखम् ।
वीर्यं चेति सुविख्यातं स्यादनन्तचतुष्टयम् ॥६०४॥

अर्थः—उस देवमे केवलज्ञान, क्षायिक दर्शन, क्षायिक सुख और क्षायिकवीर्य यह प्रसिद्ध अनन्त चतुष्टय प्रकट हो जाता है।

देवके भेद

एको देवः स सामान्याद् द्विधावस्था विशेषतः ।
संख्येया नाम सन्दर्भाद् गुणेभ्यः स्यादनन्तधा ॥६०५॥

अर्थः—सामान्य रीतिसे देव एक प्रकार है, अवस्था विशेषसे दो प्रकार है, विशेष रचना (कथन) की अपेक्षासे सख्यात प्रकार है, और गुणोकी अपेक्षासे अनन्त प्रकार है।

अरहन्त और सिद्ध

एको यथा सद्द्रव्यार्थात्सिद्धेः शुद्धात्मलब्धितः ।
अर्हन्निति च सिद्धश्च पर्यायार्थाद्द्विधा मतः ॥६०६॥

अर्थः—सत् द्रव्यार्थ नयकी अपेक्षासे एक प्रकार ही देव है क्योंकि शुद्धात्माकी उपलब्धि (प्राप्ति) एक ही प्रकार है। पर्यायार्थिकनयसे अरहन्त और सिद्ध, ऐसे देवके दो भेद है।

अरहन्त और सिद्धका स्वरूप

दिव्यौदारिकदेहस्थो धौतघातिचतुष्टयः ।
ज्ञानदृग्वीर्यसौख्याढ्यः सोऽर्हन् धर्मोपदेशकः ॥६०७॥
मूर्तिमद्देहनिर्मुक्तो मुक्तो लोकाग्रसंस्थितः ।
ज्ञाना गुणोपेतो निष्कर्मा सिद्धसंज्ञकः ॥६०८॥
अर्हन्निति जगत्पूज्यो जिनः कर्मारिश ात् ।
महादेवोधिदेवत्वाच्छङ्करोपि सुखावहात् ॥६०९॥
विष्णुर्ज्ञानेन सर्वार्थविस्तृत्त्वात्कथञ्चन ।
ज्ञरूपत्वाद्धरिर्दुःखापनोदनात् ॥६१०॥
इत्याद्यने ाभापि नानेकोऽस्ति स्वलक्षणात् ।
यतोऽनन्तगुणात्मैकद्रव्यं स्यात्सिद्धसाधनात् ॥६११॥
चतुर्विंशतिरित्यादि यावदन्तमनन्तता ।
तद्बहुत्वं न दोषाय देवत्वैकविधत्त्वतः ॥६१२॥

अर्थः—जो दिव्य-औदारिक शरीरमे स्थित है, घाति कर्म चतुष्टयको धो चुका है, ज्ञान, दर्शन, वीर्य और सुखसे परिपूर्ण है और धर्मका उपदेश देनेवाला है, वह अरहन्त देव है।

जो मूर्तिमान् शरीरसे मुक्त हो चुका है, सम्पूर्ण कर्मोसे छूट चुका है, लोकके अग्रभाग (सिद्धालय)मे स्थित है, ज्ञानादिक आठ गुण सहित है और कर्ममलकलङ्कसे रहित है वह सिद्ध देव है।

वह देव जगत्पूज्य है इसलिये अरहन्त कहलाता है, कर्म रूपी शत्रुको जीतनेवाला है इसलिये जिन कहलाता है, सम्पूर्ण देवोका स्वामी है इसलिये महादेव कहलाता है, सुख देनेवाला है, इसलिये शकर कहलाता है, ज्ञानद्वारा सम्पूर्ण पदार्थोंमे फैला हुआ है

इसलिये कथञ्चित् विष्णु (व्यापक) कहलाता है, आत्माको पहचाननेवाला है इसलिये ब्रह्मा कहलाता है, और दुःखको दूर करनेवाला है इसलिये हरि कहलाता है। इत्यादि रीतिसे वह देव अनेक नामोवाला है। तथापि अपने देवत्व लक्षणकी अपेक्षासे वह एक ही है। अनेक नही है। क्योकि अनन्तगुणात्मक एक ही (समान) आत्मद्रव्य प्रसिद्ध है।

और भी चौबीस तीर्थंकर आदि अनेक भेद है तथा गुणोकी अपेक्षा अनन्त भेद है। ये सब भेद (बहुपना) किसी प्रकार दोषोत्पादक नही है क्योकि सभी देवभेदोमें देवत्वगुण एक प्रकार ही है।

दृष्टान्त

प्रदीपानामनेकत्वं न प्रदीपत्वहानये ।
यतोऽत्रैकविधत्वं स्यान्न स्यान्नानाप्रकारता ।।६१३।।

अर्थः—जिसप्रकार दीपकोकी अनेक सख्या भी दीपत्व बुद्धिको दूर नही कर सकती है ? उसीप्रकार देवोकी अनेक सख्या भी देवत्व बुद्धिको दूर नही कर सकती है। क्योंकि सभी दीपोमे और सभी देवोमे दीपत्व गुण और देवत्व गुण एकसा ही है। वास्तवमे अनेक प्रकारता नही है अर्थात् वास्तवमे भेद नही है।

न चाशंक्यं यथासंख्यं नामतोऽस्यास्त्यनंतधा ।
न्यायादेकं गुणं चैकं प्रत्येकं नाम चैककम् ।।६१४।।

अर्थः—क्रमसे उसके अनन्त नाम है ऐसी भी आशका नही करना चाहिये क्योंकि वास्तवमे एक गुणकी अपेक्षा एक नाम कहा जाता है।

नयतः सर्वतो मुख्यसंख्या तस्यैव संभवात् ।
अधिकस्य ततो वाच्यं व्यवहारस्य दर्शनात् ।।६१५।।

अर्थः—सबसे अधिक सख्या गुणकी अपेक्षासे ही हो सकती है। परन्तु यह सब कथन नयकी अपेक्षासे है। इसलिये जैसा जैसा अधिक व्यवहार दीखता जाय उसी उसी तरहसे नाम लेना चाहिये।

वृद्धैः प्रोक्तमतःसूत्रे तत्त्वं वागतिशायि यत् ।
द्वादशाङ्गाङ्गबाह्यं वा श्रुतं स्थूलार्थगोचरम् ।।६१६।।

अर्थः—इसीलिये वृद्ध (ज्ञानवृद्ध–आचार्य) पुरुषोने सूत्रद्वारा तत्त्वको वचनके अगम्य बतलाया है। जो द्वादशाङ्ग अथवा अगबाह्य श्रुतज्ञान है, वह केवल स्थूल–पदार्थको विषय करनेवाला है।

सिद्धोंके आठ गुण

कृत्स्नकर्मक्षयाज्ज्ञानं क्षायिकं दर्शनं पुनः ।
अत्यक्षं सुखमात्मोत्थं वीर्यंचेति चतुष्टयम् ॥६१७॥
सम्यक्त्वं चैव सूक्ष्मत्वमव्याबाधगुणः स्वतः ।
अस्त्यगुरुलघुत्वं च सिद्धेचाष्टगुणाः स्मृताः ॥६१८॥

अर्थः—सम्पूर्ण कर्मोंके क्षय होनेसे क्षायिक ज्ञान, क्षायिक दर्शन, अतीन्द्रिय सुख, आत्मासे उत्पन्न वीर्य, इसप्रकार चतुष्टय तो यह, और सम्यक्त्व, सूक्ष्मत्व, अव्याबाधगुण, तथा अगुरुलघुत्त्व, ये आठ गुण सिद्धदेवके है ।

इत्याद्यनन्तधर्माढ्यो कर्माष्टकविवर्जितः ।
मुक्तोऽष्टादशभिर्दोषैर्देवः सेव्यो न चेतरः ॥६१९॥

अर्थः—इत्यादि अनन्त धर्मोको धारण करनेवाला आठो कर्मोसे रहित अठारह दोषोसे रहित, देव पूजने योग्य है । जिसमे उपर्युक्त गुण नही पाये जाते वह नही पूजने योग्य है ।

अर्थाद्गुरुः स एवास्ति श्रेयो मार्गोपदेशकः ।
आप्तश्चैव स्वतः साक्षान्नेता मोक्षस्य वर्त्मनः ॥६२०॥

अर्थः—अर्थात् वही देव सच्चा गुरु है, वही मोक्ष मार्गका उपदेश देनेवाला है वही आप्त है, और वही मोक्ष मार्गका साक्षात् नेता (प्राप्त करानेवाला) है ।

गुरुका स्वरूप

तेभ्योर्वागपि छद्मस्थरूपास्तद्रूपधारिणः ।
गुरवःस्युर्गुरोर्न्यायान्नान्योऽवस्था विशेषभाक् ॥६२१॥

अर्थः—उन गुरुओसे नीचे भी जो अल्पज्ञ है, परन्तु उसी वेशको लिये हुए है, वे भी गुरु है । गुरुका लक्षण उनमे भी वैसा ही है, और कोई अवस्थाविशेषवाला नही है ।

अस्त्यवस्थाविशेषोत्र युक्तिस्वानुभवागमात् ।
शेषः संसारिजीवेभ्यस्तेषामेवातिशायनात् ॥६२२॥

अर्थः—गुरुओमे ससारीजीवोसे कोई अवस्था–विशेष है यह बात युक्ति अनुभव और आगमसे प्रसिद्ध है । उनमे ससारियोसे विशेष अतिशय है ।

अर्थः—यह बात ठीक है कि अभी ज्ञानावरण आदि तीन घातिया कर्म छद्मस्थ गुरुओमें मौजूद है। किन्तु इतनी विशेषता है कि ज्ञानावरण आदि कहे हुए तीनों कर्मोंका बन्ध, सत्त्व, उदय और क्षय, मोहनीय कर्मके साथ अविनाभावी है।

खुलासा

तद्यथा वध्यमानेऽस्मिंस्तद्बन्धो मोहबन्धसात्।
तत्सत्त्वे सत्त्वमेतस्य पाके पाकः क्षये क्षयः ॥६३३॥

अर्थः—मोहनीय कर्मके बन्ध होने पर ही उसीके आधीन ज्ञानावरणादि बन्धयोग्य प्रकृतियोंका बन्ध होता है, मोहनीय कर्मके सत्त्व रहने पर ही ज्ञानावरणादि कर्मोका सत्त्व रहता है, मोहनीय कर्मके पकने पर ही ज्ञानावरणादि पकते हैं और मोहनीय कर्मके क्षय होने पर ही ज्ञानावरणादि नष्ट हो जाते है।

आशङ्का

नोह्यं छद्मस्थावस्थायामर्वागेवास्तु तत्क्षयः।
अंशान्मोहक्षयस्यांशात्सर्वतः सर्वतः क्षयः ॥६३४॥

अर्थः—छद्मस्थ अवस्थामे, मोहनीय कर्मका ज्ञानावरणादिसे पहले ही क्षय हो जाता है, ऐसी आशका भी नही करना चाहिये क्योकि अशरूपसे मोहनीयका क्षय होनेसे ज्ञानावरणादिका अश रूपसे क्षय हो जाता है, और मोहनीयका सर्वथा क्षय होनेसे ज्ञानावरणादिका भी सर्वथा क्षय हो जाता है।

नासिद्धं निर्जरातत्त्वं सद्दृष्टेः कृत्स्नकर्मणाम्।
आदृङ्मोहोदयाभावात्तच्चासंख्यगुणं क्रमात् ॥६३५॥

अर्थः—सम्यग्दृष्टिके सम्पूर्ण कर्मोकी निर्जरा होना असिद्ध नही है किन्तु दर्शन मोहनीय कर्मका उदयाभाव होनेसे वह क्रमसे असख्यात गुणी २ होती चली जाती है।

निष्कर्ष

ततः कर्मत्रयं प्रोक्तमस्ति यद्यपि साम्प्रतम्।
रागद्वेषविमोहानामभावाद्गुरुता मता ॥६३६॥

अर्थः—इसलिये छद्मस्थ गुरुओमे यद्यपि अभी ज्ञानावरण, दर्शनावरण और मौजूद है तथापि राग, द्वेष, मोहका अभाव होनेसे गुरुपना माना ही

अर्थः—यह बात ठीक है कि अभी ज्ञानावरण आदि तीन घातिया कर्म छद्मस्थ गुरुओंमे मौजूद है। किन्तु इतनी विशेषता है कि ज्ञानावरण आदि कहे हुए तीनों कर्मोंका बन्ध, सत्त्व, उदय और क्षय, मोहनीय कर्मके साथ अविनाभावी है।

खुलासा

तद्यथा बध्यमानेऽस्मिंस्तद्बन्धो मोहबन्धसात्।
तत्सत्त्वे सत्त्वमेतस्य पाके प : क्षये क्षयः ॥६३३॥

अर्थः—मोहनीय कर्मके बन्ध होने पर ही उसीके आधीन ज्ञानावरणादि बन्धयोग्य प्रकृतियोका बन्ध होता है, मोहनीय कर्मके सत्त्व रहने पर ही ज्ञानावरणादि कर्मोका सत्त्व रहता है, मोहनीय कर्मके पकने पर ही ज्ञानावरणादि पकते है और मोहनीय कर्मके क्षय होने पर ही ज्ञानावरणादि नष्ट हो जाते है।

आशङ्का

नोह्यं छद्मस्थावस्थायामर्वागेवास्तु तत्क्षयः।
अंशान्मोहक्षयस्यांशात्सर्वतः सर्वतः क्षयः ॥६३४॥

अर्थः—छद्मस्थ अवस्थामे, मोहनीय कर्मका ज्ञानावरणादिसे पहले ही क्षय हो जाता है, ऐसी आशका भी नही करना चाहिये क्योकि अशरूपसे मोहनीयका क्षय होनेसे ज्ञानावरणादिका अश रूपसे क्षय हो जाता है, और मोहनोयका सर्वथा क्षय होनेसे ज्ञानावरणादिका भी सर्वथा क्षय हो जाता है।

नासिद्धं निर्जरातत्त्वं सद्दृष्टेः कृत्स्नकर्मणाम्।
आदृङ्मोहोदयाभावाच्चासंख्यगुणं क्रमात् ॥६३५॥

अर्थः—सम्यग्दृष्टिके सम्पूर्ण कर्मोकी निर्जरा होना असिद्ध नही है किन्तु दर्शन मोहनीय कर्मका उदयाभाव होनेसे वह क्रमसे असख्यात गुणी २ होती चली जाती है।

निष्कर्ष

ततः कर्मत्रयं प्रोक्तमस्ति यद्यपि साम्प्रतम्।
रागद्वेषविमोहानामभावाद्गुरुता मता ॥६३६॥

अर्थः—इसलिये छद्मस्थ गुरुओमे यद्यपि अभी ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायकर्म मौजूद है तथापि राग, द्वेष, मोहका अभाव होनेसे गुरुपना माना ही जाता है।

सबके समान है, पाँच प्रकारका महाव्रत भी समान है, तेरह प्रकारका चारित्र भी समान है, समता भी समान है, अट्ठाईस मूलगुण और चौरासी लाख उत्तरगुण भी समान ही है, चारित्र भी समान है, परीषह और उपसर्गोका सहन करना भी समान है, आहारादिक विधि भी सभीकी समान है, चर्या विधि भी समान है, स्थान आसन आदि भी समान है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र जो आत्मिक गुण तथा रत्नत्रय स्वरूप मोक्षमार्ग है वह भी अन्तरंग और बाहर में समान ही है, और भी ध्याता, ध्यान, ध्येय, ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय, चार आराधनाये (सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप) क्रोधादि कषायोका जीतना आदि सभी बाते एकसी हैं। इस विषयमे अधिक क्या कहा जाय, इतना ही कहना बस होगा कि वही विशेष रह जाता है जो कि विशेषतासे दूर हो चुका है। अर्थात् न्यायानुसार तीनोमें सर्वथा समानता है, कोई विशेषता नही है। अब तीनोका भिन्न भिन्न स्वरूप कहते है—

आचार्यका स्वरूप

आचार्योऽनादितो रूढ़ेर्योगादपि निरुच्यते।
पञ्चाचारं परेभ्यः स आचरयति संयमी ॥६४५॥

अर्थः—आचार्य सज्ञा अनादिकालसे नियत है। पच परमेष्ठियोकी सत्ता अनादिकालीन है। यौगिक दृष्टिसे भी आचार्य उसे कहते है जो कि दूसरो (मुनियो)को पाँच प्रकारका आचार ग्रहण करावे अर्थात् जो दीक्षा देवे वही आचार्य है।

और भी

अपि छिन्ने व्रते साधोः पुनः सन्धानमिच्छतः।
तत्समादेशदानेन प्रायश्चित्तं प्रयच्छति ॥६४६॥

अर्थः—और जिस किसी साधुका व्रत भग हो जाय, और व्रत भग होनेपर वह साधु फिरसे उसको प्राप्त करना चाहे तो आचार्य उस व्रतको फिरसे धारण कराते हुए उस साधुको प्रायश्चित देते हैं, अर्थात् दीक्षाके अतिरिक्त प्रायश्चित देना भी आचार्योका कर्तव्य है।

आदेश और उपदेशमें भेद

आदेशोपदेशेभ्यः स्याद्विशेषः स भेद भाक्।
आददे गुरुणा दत्तं नोपदेशेष्वयं विधिः ॥६४७॥

अर्थः—उपदेशोसे आदेशमे यही विशेष भेद है कि उपदेशमे जो बात कही

सबके समान है, पाँच प्रकारका महाव्रत भी समान है, तेरह प्रकारका चारित्र भी समान है, समता भी समान है, अट्ठाईस मूलगुण और चौरासी लाख उत्तरगुण भी समान ही हैं, चारित्र भी समान है, परीषह और उपसर्गोंका सहन करना भी समान है, आहारादिक विधि भी सभीकी समान है, चर्या विधि भी समान है, स्थान आसन आदि भी समान है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र जो आत्मिक गुण तथा रत्नत्रय स्वरूप मोक्षमार्ग है वह भी अन्तरग और बाहर में समान ही है, और भी ध्याता, ध्यान, ध्येय, ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय, चार आराधनायें (सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप) क्रोधादि कषायोका जीतना आदि सभी बाते एकसी है। इस विषयमें अधिक क्या कहा जाय, इतना ही कहना बस होगा कि वही विशेष रह जाता है जो कि विशेषतासे दूर हो चुका है। अर्थात् न्यायानुसार तीनोमे सर्वथा समानता है, कोई विशेषता नही है। अब तीनोका भिन्न भिन्न स्वरूप कहते है—

आचार्यका स्वरूप

आचार्योऽनादितो रूढेर्योगादपि निरुच्यते ।
पञ्चाचारं परेभ्यः स आचरयति संयमी ॥६४५॥

अर्थः—आचार्य सज्ञा अनादिकालसे नियत है। पंच परमेष्ठियोकी सत्ता अनादिकालीन है। यौगिक दृष्टिसे भी आचार्य उसे कहते है जो कि दूसरो (मुनियो)को पाँच प्रकारका आचार ग्रहण करावे अर्थात् जो दीक्षा देवे वही आचार्य है।

और भी

अपि छिन्ने व्रते साधोः पुनः सन्धानमिच्छतः ।
तत्समावेशदानेन प्रायश्चित्तं प्रयच्छति ॥६४६॥

अर्थः—और जिस किसी साधुका व्रत भग हो जाय, और व्रत भंग होनेपर वह साधु फिरसे उसको प्राप्त करना चाहे तो आचार्य उस व्रतको फिरसे धारण कराते हुए उस साधुको प्रायश्चित देते है, अर्थात् दीक्षाके अतिरिक्त प्रायश्चित देना भी आचार्योंका कर्तव्य है।

आदेश और उपदेशमें भेद

आदेशोपदेशेभ्यः स्याद्विशेषः स भेद भाक् ।
आददे गुरुणा दत्तं नोपदेशेष्वयं विधिः ॥६४७॥

अर्थः—उपदेशोसे आदेशमे यही विशेष भेद है कि उपदेशमे जो बात कही

संवके समान है, पाँच प्रकारका महाव्रत भी समान है, तेरह प्रकारका चारित्र भी समान है, समता भी समान है, अट्ठाईस मूलगुण और चौरासी लाख उत्तरगुण भी समान ही है, चारित्र भी समान है, परीषह और उपसर्गोका सहन करना भी समान है, आहारादिक विधि भी सभीकी समान है, चर्या विधि भी समान है, स्थान आसन आदि भी समान है । सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र जो आत्मिक गुण तथा रत्नत्रय स्वरूप मोक्षमार्ग है वह भी अन्तरंग और वाहर मे समान ही है, और भी ध्याता, ध्यान, ध्येय, ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय, चार आराधनाये (सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप) क्रोधादि कषायोका जीतना आदि सभी वाते एकसी हैं । इस विपयमे अधिक क्या कहा जाय, इतना ही कहना वस होगा कि वही विशेष रह जाता है जो कि विशेषतासे दूर हो चुका है । अर्थात् न्यायानुसार तीनोमे सर्वथा समानता है, कोई विशेषता नही है । अव तीनोका भिन्न भिन्न स्वरूप कहते है—

आचार्यका स्वरूप

आचार्योऽनादितो रूढेर्योगादपि निरुच्यते ।
पञ्चाचारं परेभ्यः स आचरयति संयमी ॥६४५॥

अर्थः—आचार्य संज्ञा अनादिकालसे नियत है । पंच परमेष्ठियोकी सत्ता अनादिकालीन है । यौगिक दृष्टिसे भी आचार्य उसे कहते है जो कि दूसरो (मुनियो)को पांच प्रकारका आचार ग्रहण करावे अर्थात् जो दीक्षा देवे वही आचार्य है ।

और भी

अपि छिन्ने व्रते साधोः पुनः सन्धानमिच्छतः ।
तत्समादेशदानेन प्रायश्चित्तं प्रयच्छति ॥६४६॥

अर्थः—और जिस किसी साधुका व्रत भंग हो जाय, और व्रत भंग होनेपर वह साधु फिरसे उसको प्राप्त करना चाहे तो आचार्य उस व्रतको फिरसे धारण कराते हुए उस साधुको प्रायश्चित देते हैं, अर्थात् दीक्षाके अतिरिक्त प्रायश्चित देना भी आचार्योका कर्तव्य है ।

आदेश और उपदेशमें भेद

आदेशोपदेशेभ्यः स्याद्विशेपः स भेद भाक् ।
आददं गुरुणा दत्तं नोपदेशेष्वयं विधिः ॥६४७॥

अर्थः—उपदेशोसे आदेशमे यही विशेप भेद है कि उपदेशमे जो वात कही

सबके समान है, पाँच प्रकारका महाव्रत भी समान है, तेरह प्रकारका चारित्र भी समान है, समता भी समान है, अट्ठाईस मूलगुण और चौरासी लाख उत्तरगुण भी समान ही है, चारित्र भी समान है, परीषह और उपसर्गोका सहन करना भी समान है, आहारादिक विधि भी सभीकी समान है, चर्या विधि भी समान है, स्थान आसन आदि भी समान है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र जो आत्मिक गुण तथा रत्नत्रय स्वरूप मोक्षमार्ग है वह भी अन्तरग और बाहर मे समान ही है, और भी ध्याता, ध्यान, ध्येय, ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय, चार आराधनाये (सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप) क्रोधादि कषायोका जीतना आदि सभी बाते एकसी है। इस विषयमें अधिक क्या कहा जाय, इतना ही कहना वस होगा कि वही विशेष रह जाता है जो कि विशेषतासे दूर हो चुका है। अर्थात् न्यायानुसार तीनोमें सर्वथा समानता है, कोई विशेषता नही है। अब तीनोका भिन्न भिन्न स्वरूप कहते है—

आचार्यका स्वरूप

आचार्योऽनादितो रूढेर्योगादपि निरुच्यते।
पञ्चाचारं परेभ्यः स आचरयति संयमी ॥६४५॥

अर्थः—आचार्य सज्ञा अनादिकालसे नियत है। पच परमेष्ठियोकी सत्ता अनादिकालीन है। यौगिक दृष्टिसे भी आचार्य उसे कहते है जो कि दूसरो (मुनियो)को पांच प्रकारका आचार ग्रहण करावे अर्थात् जो दीक्षा देवे वही आचार्य है।

और भी

अपि छिन्ने व्रते साधोः पुनः सन्धानमिच्छतः।
तत्समादेशदानेन प्रायश्चित्तं प्रयच्छति ॥६४६॥

अर्थः—और जिस किसी साधुका व्रत भग हो जाय, और व्रत भग होनेपर वह साधु फिरसे उसको प्राप्त करना चाहे तो आचार्य उस व्रतको फिरसे धारण कराते हुए उस साधुको प्रायश्चित देते हैं, अर्थात् दीक्षाके अतिरिक्त प्रायश्चित देना भी आचार्योंका कर्तव्य है।

आदेश और उपदेशमें भेद

आदेशोपदेशेभ्यः स्याद्विशेषः स भेद भाक्।
आददे गुरुणा दत्तं नोपदेशेष्वयं विधिः ॥६४७॥

अर्थः—उपदेशोसे आदेशमे यही विशेष भेद है कि उपदेशमे जो बात कही

अर्थः—मुनिव्रत धारण करनेवाले आचार्योको और गृहस्थव्रत धारण करनेवाले गृहस्थाचार्योंको बधाश्रित आदेश व उपदेश (जिस आदेश तथा उपदेशसे जीवोंका बध होता हो) नही करना चाहिये।

ऐसी आशका भी नहीं करना चाहिये

नचाशंक्यं प्रसिद्धं यन्मुनिभिर्व्रतधारिभिः ।
मूर्तिमच्छक्तिसर्वस्वं हस्तरेखेव दर्शितम् ॥६५१॥

अर्थः—ऐसी भी आशङ्का नही करना चाहिये कि मुनिगण व्रतधारण करनेवाले हैं और उन्होने मूर्तिमान पदार्थोंकी सम्पूर्ण शक्तियोको हस्तरेखाके समान जान लिया है।

भावार्थः—व्रतधारी मुनि मूर्त पदार्थोंकी समस्त शक्तियोका परिज्ञान स्वय रखते है उन्हे सम्पूर्ण जीवोके स्थान, शरीरादिका परिज्ञान है, वे सदा त्रस स्थावर जीवोकी रक्षामें सावधान स्वय रहते हैं इसलिये उनके प्रति बधकारी आदेश व उपदेशका निषेध कथन ही निरर्थक है, ऐसी आशका भी नही करना चाहिये।

क्योंकि

नूनं प्रोक्तोपदेशोपि न रागाय विरागिणाम् ।
रागिणामेव रागाय ततोवश्यं निषेधितः ॥६५२॥

अर्थः—यह बात ठीक है कि जो वीतरागी है उनके प्रति बधकारी उपदेश भी रागका कारण नही हो सकता है, वह रागियोके लिये ही रागका कारण हो सकता है। इसलिये अर्थात् रागियोके लिये ही उसका निषेध किया गया है।

भावार्थः—उपदेश सदा उन्नत करनेके लिये दिया जाता है, मुनियोका राग घट गया है, वे निवृत्ति मार्गके अनुगामी हो चुके है इसलिये उन्हे सदा विशुद्धमार्गका ही उपदेश देना ठीक है, निवृत्तिमार्गमय उपदेश ही देना चाहिये। परन्तु बधाश्रित उपदेश व आदेशका निषेध गृहस्थोके लिये दूसरे प्रकारसे है। गृहस्थोमे अशुभ प्रवृत्ति भी पाई जाती है इसलिये उस अशुभ प्रवृत्तिका निषेध कर शुभ प्रवृत्तिका उनके लिये आदेश व उपदेश दिया जाता है। गृहस्थ एकदम शुद्ध मार्गमे नही जा सकते हैं अतः उनके लिये पहले शुभ मार्गपर लानेके लिये शुभ मार्गका आदेश तथा उपदेश देना ही ठीक है इसी बातको नीचेके श्लोकसे स्पष्ट करते है—

गृहस्थोंके लिये दानपूजनका विधान

न निषिद्धः स आदेशो नोपदेशो निषेधितः ।
नूनं सत्पात्रदानेषु पूजायामर्हतामपि ॥६५३॥

केवल धार्मिक सम्वन्ध है, रागाश वहाँ भी नही है। इसलिये आचार्यका असयमी पुरुषोके साथ सम्वन्ध और रागादिक जो कहा गया है वह अयुक्त है।

अन्य दर्शन

संघसम्पोषकः सूरिः प्रोक्तः कैश्चिन्मतेरिह ।
धर्मादेशोपदेशाभ्यां नोपकारोऽपरोऽस्त्यतः ॥६५६॥

अर्थः—कोई दर्शनवाले आचार्यका स्वरूप ऐसा भी कहते है कि जो सघका पालन–पोषण करता है वह आचार्य है। ग्रन्थकार कहते हे कि यह भी कहना अयुक्त है। धर्मका आदेश और धर्मका उपदेश देना ही आचार्यका उपकार है। इसको छोडकर मुनियोका पालनपोपन करना आदिक आचार्योंका उपकार नही है।

भावार्थः—मुनियोका पालनपोपण करना आचार्यका कर्तव्य वतलाना दोनोका ही स्वरूप विगाडना है। पहले तो मुनिगण ही पालनपोपण किसीसे नही चाहते है और न उन्हे अपने पोषणका कभी विचार ही होता है। उनका मुख्य कर्तव्य ध्यानस्थ होना है। केवल शरीरकी परिस्थिति ठीक रखनेके लिये वे आहारार्थ नगरमे जाते है वहाँ नवधाभक्ति पूर्वक किसी श्रावकने उनका पडगाहन किया तो वत्तीस अन्तरायोको टालकर आहार उसके यहाँ ले लेते है, यदि किसीने पड्गाहन नही किया तो वे खेद नही करते है, सीधे वनको चले जाते है, यद्यपि मुनियोकी वृत्ति भिक्षा है तथापि वह वृत्ति याचना नही कही जा सकती है। उन्हे आहारमे सर्वथा राग नही है परन्तु विना आहारके शरीर अधिक दिन तक तप करनेमे सहायक नही हो सकता है इसीलिये आहारके लिये उन्हे वाध्य होना पडता है। जिस पुरुषको किसी वस्तुकी आवश्यकता होती है वही याचक वनता है। मुनियोने आवश्यकताओको दूर करनेके लिये ही तो अखिल राज्य सम्पत्तिका त्याग कर यह निरीहवृत्ति–सिंहवृत्ति अङ्गीकार की है, फिर भी उन्हें याचक समझना नितान्त भूल है। श्रावक भी अपने आत्महितके लिये मुनियोको आहार देता है न कि मुनियोको पोष्य समझकर आहार देता है। इसलिये मुनियोको स्वय अपने पोषणकी इच्छा नही है और न आवश्यकता ही है फिर आचार्य उनका पोषण करते है यह कैसे कहा जा सकता है। दूसरे–आचार्यका मुनियोके साथ केवल धार्मिक सम्बन्ध है–मुनियोको दीक्षा देना, उन्हे निज व्रतमे शिथिल देखकर सावधान करना, अथवा धर्मसे च्युत होनेपर उन्हे प्रायश्चित देकर पु[illegible]दवस्थ करना, धर्मका उन्हे उपदेश देना, तथा धर्मका आदेश देना, तपश्चर्यामें उ[illegible] [illegible]ना,

केवल धार्मिक सम्बन्ध है, रागांश वहाँ भी नही है। इसलिये आचार्यका असंयमी पुरुषोके साथ सम्बन्ध और रागादिक जो कहा गया है वह अयुक्त है।

अन्य दर्शन

संघसम्पोषकः सूरिः प्रोक्तः कैश्चिन्मतेरिह।
धर्मादेशोपदेशाभ्यां नोपकारोऽपरोऽस्त्यतः ॥६५६॥

अर्थः—कोई दर्शनवाले आचार्यका स्वरूप ऐसा भी कहते है कि जो संघका पालन–पोषण करता है वह आचार्य है। ग्रन्थकार कहते है कि यह भी कहना अयुक्त है। धर्मका आदेश और धर्मका उपदेश देना ही आचार्यका उपकार है। इसको छोडकर मुनियोका पालनपोषन करना आदिक आचार्योका उपकार नही है।

भावार्थः—मुनियोका पालनपोषण करना आचार्यका कर्तव्य बतलाना दोनोका ही स्वरूप बिगाडना है। पहले तो मुनिगण ही पालनपोषण किसीसे नही चाहते है और न उन्हे अपने पोषणका कभी विचार ही होता है। उनका मुख्य कर्तव्य ध्यानस्थ होना है। केवल शरीरकी परिस्थिति ठीक रखनेके लिये वे आहारार्थ नगरमे जाते है वहाँ नवधाभक्ति पूर्वक किसी श्रावकने उनका पडगाहन किया तो बत्तीस अन्तरायोको टालकर आहार उसके यहाँ ले लेते है, यदि किसीने पड़गाहन नही किया तो वे खेद नही करते हैं, सीधे वनको चले जाते है, यद्यपि मुनियोकी वृत्ति भिक्षा है तथापि वह वृत्ति याचना नही कही जा सकती है। उन्हे आहारमें सर्वथा राग नही है परन्तु विना आहारके शरीर अधिक दिन तक तप करनेमे सहायक नही हो सकता है इसीलिये आहारके लिये उन्हे बाध्य होना पडता है। जिस पुरुषको किसी वस्तुकी आवश्यकता होती है वही याचक बनता है। मुनियोंने आवश्यकताओको दूर करनेके लिये ही तो अखिल राज्य सम्पत्तिका त्याग कर यह निरीहवृत्ति–सिंहवृत्ति अङ्गीकार की है, फिर भी उन्हें याचक समझना नितान्त भूल है। श्रावक भी अपने आत्महितके लिये मुनियोंको आहार देता है न कि मुनियोको पोष्य समझकर आहार देता है। इसलिये मुनियोको स्वय अपने पोषणकी इच्छा नही है और न आवश्यकता ही है फिर आचार्य उनका पोषण करते है यह कैसे कहा जा सकता है। दूसरे–आचार्यका मुनियोके साथ केवल धार्मिक सम्बन्ध है–मुनियोको दीक्षा देना, उन्हे निज व्रतमे शिथिल देखकर सावधान करना, अथवा धर्मसे च्युत होनेपर उन्हे प्रायश्चित देकर पुनः तदवस्थ करना, धर्मका उन्हे उपदेश देना, तथा धर्मका आदेश देना, तपश्चर्यामे उन्हे सदा दृढ बनाना,

उपाध्यायत्वमित्यत्र श्रुताभ्यासो हि कारणम् ।
यदध्येति स्वयं चापि शिष्यानध्यापयेद्गुरुः ॥६६१॥

शेषस्तत्र व्रतादीनां सर्वसाधारणो विधिः ।
कुर्याद्धर्मोपदेशं स नाऽऽदेशं सूरिवत्क्वचित् ॥६६२॥

तेषामेवाश्रमं लिंगं सूरीणां संयमं तपः ।
आश्रयेच्छुद्धचारित्रं पञ्चाचारं स शुद्धधीः ॥६६३॥

मूलोत्तरगुणानेव यथोक्तानाचरेच्चिरम् ।
परीषहोपसर्गाणां विजयी स भवेद्वशी ॥६६४॥

अत्रातिविस्तरेणालं नूनमन्तर्बहिर्मुनेः ।
शुद्धवेशधरो धीमान् निर्ग्रन्थः स गुणाग्रणी ॥६६५॥

अर्थः—प्रत्येक प्रश्नका समाधान करनेवाला, वाद करनेवाला, स्याद्वादके रहस्यका जानकार, वचन बोलनेमे चतुर, वचन ब्रह्मका सर्वज्ञ, सिद्धान्त शास्त्रका परगामी, वृत्ति और प्रधान सूत्रोंका विद्वान्, उन वृत्ति और सूत्रोको शब्द तथा अर्थके द्वारा सिद्ध करनेवाला, अर्थमें मधुरता लानेवाला, बोलनेवाले व्याख्याताओके मार्गमें अग्रगामी इत्यादि गुणोका धारी उपाध्याय होता है। उपाध्याय होनेमे मुख्यकारण शास्त्रोका अभ्यास है, जो गुरु स्वयं उन शास्त्रोंका अध्ययन करता है तथा जो शिष्योको अध्ययन कराता (पढाता) है वही उपध्याय कहलाता है। उपाध्यायमे पढने पढानेके सिवा बाकी व्रतादिकोका पालन आदि विधि मुनियोके समान साधारण है। उपाध्याय धर्मका उपदेश करता सकता है, परन्तु आचार्यके समान धर्मका आदेश (आज्ञा) कभी नहीं कर सकता। बाकी आचार्योके ही सहवासमे वह रहता है, उसीप्रकार निर्ग्रन्थ अवस्था रखता है, आचार्यके समान ही सयम, तप, शुद्ध, चारित्र, और पांच आचारो (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यकचारित्र, तप, वीर्य)को वह शुद्धवुद्धि उपाध्याय पालता है। मुनियोके जो अट्ठाईस मूलगुण और चौरासी लाख उत्तर गुण बतलाये गये है उन्हे भी वह पालता है, परीषह तथा उपसर्गोको भी वह जितेन्द्रिय उपाध्याय जीतता है। यहांपर बहुत विस्तार न कर सक्षेपमे इतना ही कहना पर्याप्त है कि निश्चयसे उपाध्याय मुनिके समान ही अन्तरङ्ग और बाह्यमे शुद्ध रूपका धारण करनेवाला है, बुद्धिमान् है, निष्परिग्रह नग्न दिगम्बर है, और गुणोमे सर्व श्रेष्ट है।

अन्तरङ्ग और बाह्य वृत्तियाँ बिल्कुल शान्त हो चुकी हैं वह तरंगरहित समुद्रके समान मुनि कहलाता है। वह मुनि न तो सर्वथा आदेश ही करता है और न उपदेश ही करता है, आदेश और उपदेश वह स्वर्ग और मोक्षमार्गके विषयमें भी नही करता है विपक्षकी तो बात ही क्या है, अर्थात् विपक्ष ससारके विषयमें तो वह बिल्कुल ही नही बोलता है। ऐसा मुनि वैराग्यकी उत्कृष्ट कोटि तक पहुँच जाता है। अथवा मुनिका स्वरूप ही यह है कि वह वैराग्यकी चरमसीमा तक पहुँच जाता है। और वह मुनि अधिक प्रभावशाली, दिगम्बर दिशारूपी वस्त्रोका धारण करनेवाला, बालकके समान निर्विकार रूपका धारी, दयामे सदा तत्पर, निष्परिग्रह नग्न, अन्तरग तथा बहिरंग मोहरूपी ग्रन्थियो (गाठो)को खोलनेवाला, सदाकालीन नियमोको पालनेवाला, तपकी किरणोके द्वारा श्रेणीके क्रमसे कर्मोकी निर्जरा करनेवाला, तपस्वी, परीषह तथा उपसर्गादिकोसे अजेय, कामदेवका जीतनेवाला, एषणाशुद्धिसे परम शुद्ध, चारित्रमे सदा तत्पर इत्यादि अनेक प्रकारके अनेक उत्तम गुणोंको धारण करनेवाला होता है। ऐसा ही साधु कल्याणके लिये नमस्कार करने योग्य है। और कोई विद्वानोमे श्रेष्ठ भी हो तो भी नमस्कार करने योग्य नही है।

भावार्थ—मुनिके लिये ध्यानकी प्रधानता बतलाई गई है, इसीलिये मुनिको आदेश और उपदेश देनेका निषेध किया गया है। आदेश तो सिवा आचार्यके और कोई दे ही नही सकता है परन्तु मुनिके लिये जो उपदेश देनेका भी निषेध किया गया है वह केवल ध्यानकी मुख्यतासे प्रतीत होता है। सामान्य रीतिसे मुनि मोक्षादिके विषयमें उपदेश कर ही सकता है। यहाँपर पदस्थके कर्तव्यका विचार है इसलिये साधुके कर्तव्यमें ध्यानमे तल्लीनता ही कही गई है। उपदेश क्रिया साधु पदके लिये वर्जित है। क्योकि वह मुख्यतया उपाध्यायका काम है।

एवं मुनित्रयी ख्याता महती महतामपि।
तथापि तद्विशेषोऽस्ति क्रमाचरतमात्मकः ॥६७५॥

अर्थः—महान् पुरुषोमे सबसे श्रेष्ठ यह मुनित्रयी (आचार्य, उपाध्याय, साधु) प्रसिद्ध है। तथापि उसमे क्रमसे तरतम रूपसे विशेषता भी है।

भावार्थः—सामान्य रीतिसे आचार्य, उपाध्याय और साधु तीनो ही मूलगुण, उत्तरगुणोके धारक समान है तथापि विशेष कार्योंकी अपेक्षासे उन तीनोमे विशेषता भी है।

अस्तु यद्वा न शैथिल्यं तत्र हेतुवशादिह ।
तथाप्येतावताचार्यः सिद्धो नात्मन्यतत्परः ॥६८२॥

तत्रावश्यं विशुद्धयंशस्तेषां मन्दोदयादिति ।
संक्लेशांशोथवा तीव्रोदयान्नायं विधिः स्मृतः ॥६८३॥

किन्तु दैवाद्विशुद्धयंशः संक्लेशांशोथवा क्वचित् ।
तद्विशुद्धेर्विशुद्धयंशः संक्लेशांशोदयः पुनः ॥६८४॥

तेषां तीव्रोदयात्तावदेतावानत्र बाधकः ।
सर्वतश्चेत्प्रकोपाय नापराधोपरोस्त्यतः ॥६८५॥

तेनात्रैतावता नूनं शुद्धस्यानुभवच्युतिः ।
कर्त्तुं न शक्यते यस्मादत्रास्त्यन्यः प्रयोजकः ॥६८६॥

अर्थः—आचार्य परमेष्ठीके अनन्तानुबन्धि, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषायका तो अनुदय ही है, केवल सज्वलन कषायका उनके उदय है। संज्वलन कषाय देशघाती है। उसके स्पर्धक सर्वघाती नही है। उस एकदेश घात करनेवाली संज्वलन कषायका विपाक यदि तीव्र हो तो चारित्रकी क्षति है, यदि उसका विपाक मन्द हो तो चारित्रकी कोई क्षति नही है। सज्वलन कषायकी तीव्रता चारित्रकी क्षतिका कारण है और उसकी मदता चारित्रकी क्षतिका कारण नही है। इसका कारण यह है कि सज्वलन कषायकी तीव्रतासे आतमामे संक्लेश होता है और संक्लेश चारित्रके क्षयका कारण है। संज्वलन कपायकी मन्दतासे आत्मा विशुद्ध होता है। और विशुद्धि चारित्रके क्षयका कारण नही है किन्तु उसकी वृद्धिका कारण है। यह सक्लेश और विशुद्धि उसी प्रकारसे कम बढ होती रहती है जिस प्रकारसे कि सज्वलन कषायके विपाकमे तीव्रता और मंदताके अशोमे तरतमता होती रहती है। यह तरतमता अनेक भेदोमें विभाजित की जाती है। यह चारित्रकी क्षति और अक्षतिका कारण कहा गया है परन्तु आचार्यके किसी कारणवश शिथिलता नही आती है, और यदि उनके सज्वलन कषायकी तीव्रतासे थोड़े अंशोमें चारित्रकी क्षति भी हो जाय तो भी आचार्य स्वात्मामें अतत्पर (असावधान) नही सिद्ध हो सकते है। किन्तु अपने आत्मामे सदा तत्पर ही है। संज्वलन कषायके मन्द होनेसे आचार्यके विशुद्धिके अश वढ जाते है अथवा उक्त कषायके तीव्रोदयसे संक्लेशके अंश बढ जाते है, यह समग्र विधान शुद्धात्माके अनुभवमें कुछ कार्यकारी नही है, चाहे दैववश उनके विशुद्धिके अश वढ जांय चाहे संक्लेशके अश बढ जांय परन्तु आचार्यके

अर्थः—चारित्रमोहनीयका उदय कुछ करता ही न हो ऐसा भी नहीं है। यद्यपि वह दर्शन मोहनीयके कार्यके लिये असमर्थ है तथापि अपने कार्यके लिये अवश्य समर्थ है।

चारित्र मोहनीयका कार्य

कार्यं चारित्रमोहस्य चारित्राच्च्युतिरात्मनः।
नात्मदृष्टेस्तु दृष्टित्वान्न्यायादितरदृष्टिवत् ॥६९०॥

अर्थः—आत्माके चारित्र गुणकी क्षति करना ही चारित्रमोहनीयका कार्य है। चारित्र मोहनीयका कार्य आत्माके दर्शन गुणकी क्षति करना नही हो सकता है। क्योंकि सम्यग्दर्शन गुण जुदा ही है इसलिये उसका घातक भी जुदा ही कर्म है। जिसप्रकार दूसरेके दर्शनमे दूसरा बाधा नही पहुँचा सकता है उसी प्रकार सम्यग्दर्शन गुणमे चारित्र मोहनीय बाधा नही पहुँचा सकता है। उसका काम केवल चारित्र गुणको घात करनेका है।

दृष्टान्त

यथा चक्षुः　न्नं वै कस्यचिद्दैवयोगतः।
इतरत्राक्षतायेपि　ध्यक्षान्न तत्क्षतिः ॥६९१॥

अर्थः—जिसप्रकार किसीका चक्षु रोग रहित है और दैवयोगसे दूसरे किसीके चक्षुमें किसी प्रकारकी पीडा है तो उस पीडासे निर्मल चक्षुवालेकी कोई हानि नही हो सकती है यह बात प्रत्यक्ष सिद्ध है।

कषायोंका कार्य

कषायाणामनुद्रेकश्चारित्रं तावदेव हि।
नानुद्रेकः कषायाणां चारित्राच्च्युतिरात्मनः ॥६९२॥

अर्थः—जबतक कषायोंका अनुदय रहता है तभी तक चारित्र है। जब कषायोका उदय हो जाता है तभी आत्माके चारित्र गुणकी क्षति हो जाती है।

साराश

ततस्तेषामनुद्रेकः स्यादुद्रेकोऽथवा स्वतः।
नात्मदृष्टेः क्षतिर्नूनं दृङ्मोहस्योदयादृते ॥६९३॥

अर्थः—इसलिये कषायोका अनुदय हो अथवा उदय हो शुद्धात्मानुभवकी किसी प्रकार क्षति नही हो सकती है जबतक कि दर्शन मोहनीयका उदय न हो।

यथा

कश्चित्सूरिः कदाचिद्वै विशुद्धिं परमां गतः ।
मध्यमां वा जघन्यां वा विशुद्धिं पुनराश्रयेत् ॥६९९॥

अर्थः—कोई आचार्य कभी उत्कृष्ट विशुद्धिको प्राप्त हो जाता है, फिर वही कभी मध्यम अथवा जघन्य विशुद्धिको प्राप्त हो जाता है ।

इसमें हेतु

हेतुस्तत्रोदिता नाना भावांशैः स्पर्धकाः क्षणम् ।
धर्मादेशोपदेशादिहेतुर्नात्र वहिः क्वचित् ॥७००॥

अर्थः—ऊपर कही हुई विशुद्धि कभी उत्कृष्टतासे मध्यम अथवा जघन्य क्यों हो जाती है ? इसका कारण यही है कि वहाँ पर अनेक प्रकार भावोमे तरतमता करनेवाले कषायके स्पर्धक प्रतिक्षण उदित होते रहते है, विशुद्धिकी तरतमतामें धर्मका उपदेश तथा धर्मका आदेश–बाह्य कारण–हेतु नही कहा जा सकता है ।

भावार्थः—आचार्य जो धर्मका उपदेश और आदेश करते है वह उनकी विशुद्धिमें हीनताका कारण नही है । क्योकि उसके करनेमे आचार्यके थोड़ा भी प्रमाद नही है, विशुद्धिमे हीनताका कारण केवल सज्वलन कषायके स्पर्धकोका उदय है जो लोग यह समझते है कि मुनियोका शासन करनेमे आचार्यके चारित्रमे अवश्य शिथिलता आ जाती है, ऐसा समझना केवल भूल भरा है । आचार्योका शासन सकषाय नही है, किन्तु निष्कषाय धार्मिक शासन है इसलिये वह कभी दोषोत्पादक नही कहा जा सकता है ।

परिप ानया योज्याः पाठकाः साधवश्च ये ।
न विशेषो यतस्तेषां न्यायाच्छेषोऽविशेषभाक् ॥७०१॥

अर्थः—इसी ऊपर कही हुई परिपाटी (पद्धति–क्रम)से उपाध्याय और साधुओकी व्यवस्थाका परिज्ञान करना चाहिये । क्योकि उनमे भी आचार्यसे कोई विशेषता नही रह जाती है । तीनो ही समान है ।

वाह्य कारण पर विचार

नोह्यं धर्मोपदेशादि कर्म तत्कारणं वहिः ।
हेतोरभ्यन्तरस्यापि वाह्यं हेतुर्वहिः क्वचित् ॥७०२॥

अर्थः—यदि कोई यह कहै कि आचार्यकी विशेषतामे वाह्य क्रियाये–धर्मका उपदेश तथा आदेश भी कारण है, क्योकि अभ्यन्तर हेतुका भी कहीं पर वाह्य कर्म

वन्धवाला नही कहा जाता है, उसी प्रकार जो इच्छा सांसारिक वासनाओंके लिये की जाती है वास्तवमें वही इच्छा कहलाती है, जो धार्मिक कार्योंमें मनकी वृत्ति लगाई जाती है उसे इच्छा, शब्दसे भले ही कहा जाय परन्तु वास्तवमें वह इच्छा नही है क्योकि इच्छा वहीं कही जाती है जहांपर किसी वस्तुकी चाहना होती है, आचार्यके धर्मदेशादि कार्योंमे किसी वस्तुकी चाहना नही है। वह सदा निस्पृह आत्मध्यानमें मुनिवत् लीन हैं।

शंकाकार

ननु नेहा विना कर्म कर्म नेहां विना क्वचित् ।
तस्मान्नानीहितं कर्म स्यादक्षार्थस्तु वा न वा ॥७०६॥

अर्थः—विना क्रियाके इच्छा नही हो सकती है और विना इच्छाके क्रिया नहीं हो सकती है यह सर्वत्र नियम है। इसलिये बिना इच्छाके कोई क्रिया नहीं हो सकती है, चाहे वह इन्द्रिय सम्बन्धी विषय हो अथवा नही हो।

भावार्थः—चाहे ससारके विषयमे क्रिया हो चाहे धर्मके विषयमें हो, कैसी भी क्रिया हो, बिना इच्छाके कोई क्रिया नही हो सकती है, इसलिये आचार्यकी धर्मोपदेशादिक क्रियाये भी इच्छापूर्वक ही है, इसलिये आचार्य भी इच्छा सहित ही हैं न कि इच्छा रहित ?

अतएव

ततः सिद्धमनायासात्तत्पदत्वं तयोरिह ।
नूनं बाह्योपयोगस्य नावकाशोस्ति यत्र तत् ।।७१२।।

अर्थः—इसलिये आचार्य और उपाध्यायको साधुपना अनायास (बिना किसी विशेषताके) ही सिद्ध है । वहाँपर बाह्य उपयोगका अवकाश नही है ।

नपुनश्चरणं तत्र छेदोपस्थापनादिवत् ।
प्रागादायक्षणं पश्चात् सूरिः साधुपदं श्रयेत् ।।७१३।।

अर्थः—ऐसा भी नही है कि आचार्य पहले छेदोपस्थापना आदि चारित्रको धारण करके पीछे साधुपदको धारण करता है ।

भावार्थः—यदि कोई ऐसी आशंका करे कि आचार्य शासन क्रियाके पीछे प्रायश्चित लेता है फिर साधुपदको पाता है, यह आशका ठीक नही है क्योकि यह बात पहले अच्छी तरह कही जा चुकी है कि आचार्यकी क्रियाये दोषाधायक नही है जिससे कि वह छेदोपस्थापना चारित्रको पहिले ग्रहणकर पीछे साधुपदको प्राप्त करे किन्तु उसका अन्तरग साधुके ही समान है, साधुकीसी ही सम्पूर्ण क्रियाये है केवल बाह्य क्रियाओंमें भेद है वह भेद बुद्धिका कारण नही है ।

ग्रन्थकारका आशय

उक्तं दिङ्मात्रमत्रापि ङ्गाद्गुरुल म् ।
शेषं विशेषतो वक्ष्ये तत्स्वरूपं जिनागमात् ।।७१४।।

अर्थः—प्रसङ्ग पाकर यहाँपर गुरुका लक्षण दिङ्मात्र कहा गया है, बाकीका उनका विशेष स्वरूप जिनेन्द्रकथित आगमके अनुसार कहेगे ।

यौगिक रीतिसे धर्मका स्वरूप

धर्मो नीचैः पदादुच्चैः पदे धरति धार्मिकम् ।
तत्राजवञ्जवो नीचैः पदमुच्चैस्तदत्ययः ।।७१५।।

अर्थः—जो धर्मात्मा पुरुषको नीच स्थानसे उठाकर उच्चस्थानमें धारण करे उसे धर्म कहते है । ससार नीचस्थान है और उसका नाश होना 'मोक्ष' उच्चस्थान है ।×

धर्म

सधर्मः सम्यग्दृग्ज्ञप्तिचारित्रत्रितयात ः ।
तत्र सद्दर्शनं मूलं हेतुर मेतयोः ।।७१६।।

× सद्दृष्टि वृत्तानि धर्म-धर्मेश्वरा विदुः यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धतिः ।
रत्न चार ।

अर्थः—उन्ही हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और सम्पूर्ण परिग्रहका सर्वथा (मन वचन काय कृत कारित अनुमोदनापूर्वक) त्याग करना महाव्रत कहलाता है। यह महाव्रत गृहस्थोसे नही किया जा सकता है, किन्तु पूज्य मुनियोंका यह चिह्न (स्वरूप) है। अर्थात् अर्हन्तपदका चिह्न है मुनि अर्हन्तके लघु नन्दन है।

गृहस्थ और मुनियोंमें भेद

मूलोत्तरगुणाः सन्ति देशतो वेश्मवर्त्तिनाम् ।
तथाऽनगारिणां न स्युः सर्वतः स्युः परेप्यतः ॥७२२॥

अर्थः—मूलगुण और उत्तरगुणोको गृहस्थ एकदेशरूपसे पालन करते है, मुनि वैसा नही करते है किन्तु वे उनको सम्पूर्णतासे पालन करते है। मुनियोंके उत्तरगुणोंका पालन भी होता है।

गृहस्थोंके मूलगुण

तत्र मूलगुणाश्चाष्टौ गृहिणां व्रतधारिणाम् ।
क्वचित्व्रतिनां साक्षात् सर्वसाधारणा इमे ॥७२३॥

अर्थः—व्रत धारण करनेवाले गृहस्थियोके आठ मूलगुण कहे गये हैं। ये आठ मूलगुण अव्रतियोके भी पाये जाते है, ये मूलगुण सबोके साधारण रीतिसे पाये जाते हैं।

भावार्थः—सबसे जघन्य पाक्षिक श्रावक होता है उसके भी इन अष्ट मूलगुणोंका होना आवश्यक है, विना इनके पालन किये श्रावक सज्ञा ही नही कही जा सकती, इसलिये इनका सर्वसाधारण गुण कहा गया है। इतना विशेष समझ लेना चाहिये कि व्रतीश्रावकोंके निरतिचार मूलगुण होते है और अव्रतीके सातिचार होते है। इसी आशयसे व्रती अव्रतोका भेद किया गया है। इसीका स्पष्ट विवेचन नीचे किया जाता है—

अष्ट मूलगुणोंका प्रवाह

निसर्गाद्वा कुलाम्नायादायातास्ते गुणाः स्फुटम् ।
तद्विना न व्रतं यावत्सम्यक्त्वं च तथाङ्गिनाम् ॥७२४॥

अर्थः—ये अष्ट मूल या तो कुल परम्परासे ही पलते चले आते हैं, या स्वभावसे ही नियमसे पलते चले आते है। बिना अष्टमूल गुणोके पालन किये कोई व्रत नही हो सकता है और न जीवोके सम्यग्दर्शन ही हो सकता है। भावार्थः—व्रतोका पालन करनेके लिये तो नियम मर्यादा आदिका प्रारंभ किया जाता है। परन्तु अष्ट मूलगुणोको पालन करनेके कई प्रकार देखे जाते है। किन्ही २ के यहाँ तो स्वभावसे ही मासादिकका सेवन नहीं

जो व्रतोका पालन करते है तथा शुभ क्रियाओंको चाहते है उन गृहस्थोको तो अवश्य ही —सप्तव्यसनका त्याग करना चाहिये। भावार्थः—यहाँपर सप्तव्यसनके आवश्यक त्यागका उपदेश उस श्रावकके लिये दिया गया है जो व्रतोको पालता है, नियम पूर्वक त्याग व्रती श्रावक ही कर सकता है, अव्रती नियमपूर्वक इनका त्याग नही कर सकता है, परन्तु अष्टमूल गुणोका धारण अव्रती श्रावकके लिये भी आवश्यक कहा गया है।

अतीचारोंके त्यागका उपदेश

त्यजेद्दोषांस्तु तत्रोक्तान् सूत्रोतीचारसंज्ञकान्।
अन्यथा मद्यमांसादीन् श्रावकः कः समाचरेत् ॥७२८॥

अर्थः—व्रतोके पालनेमे जो अतीचार * नामक दोष सूत्रोमे कहे गये है उन्हे भी छोड़ना चाहिये। मद्य मासादिकोका तो कौन श्रावक सेवन करेगा? अर्थात् मद्यादिक तो प्रथमसे ही सर्वथा त्याज्य है।

दान देनेका उपदेश

दानं चतुर्विधं देयं पात्रबुद्ध्याऽथ श्रद्धया।
जघन्यमध्यमोत्कृष्टपात्रेभ्यः श्रावकोत्तमैः ॥७२९॥

अर्थः—उत्तम श्रावकोको जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट पात्रोके लिये पात्रबुद्धि तथा श्रद्धापूर्वक चार प्रकारका दान देना चाहिये।

भावार्थः—छठे गुणस्थानवर्ती मुनि उत्तम पात्र कहे जाते है, एक देशव्रतके धारक पञ्चम गुणस्थानवर्ती श्रावक मध्यम पात्र कहे जाते हैं, और व्रतरहित चतुर्थगुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि पुरुष जघन्य पात्र कहे जाते है। जैसा पात्र होता है उसीप्रकारका दानके फलमे भेद हो जाता है। जिसप्रकार क्षेत्रकी विशेषतासे वनस्पतिके फलोमें विशेषता देखी जाती है उसीप्रकार पात्रकी विशेषतासे दानके फलमे विशेषता होती है। जिसप्रकार पात्रकी विशेषतासे दानके फलमें विशेषता होती है उसीप्रकार दाताकी श्रद्धा, पात्रबुद्धि,

÷ द्यूतमाससुरावेश्याखेटचौर्यपराङ्गनाः महापापानि सप्तैतद्व्यसनानि त्यजेद्बुधः।

अर्थात् जूआ खेलना, मास खाना, मदिरा पीना, वेश्याके यहाँ जाना, शिकार खेलना, चोरी करना, परस्त्रीके यहाँ जाना इन सात व्यसनोंको बुद्धिमान छोड़ दे।

* "अतीचारोंशभञ्जनम्" किसी व्रतके एक अशमें दोष लगनेको अतीचार कहते हैं।

(सागारधर्मामृत।)

होता है, अर्थात् कोई कोई मासादिकके सेवनसे स्वभावसे ही घृणा प्रगट करते हैं और किन्ही किन्हीके यहाँ कुलपरम्परासे मासादिकका ग्रहण नही किया जाता है, ऐसे घरानोमे अष्ट मूलगुणोका नियम बड़ी सुगमतासे कराया जा सकता है, परन्तु जिनके यहाँ कुलाम्नाय अथवा स्वभावसे मांसादिकका त्याग नही है उनको सम्यक्त्व प्राप्तिके पहले मासादिकके छोड़नेके लिये विशेष प्रयत्न करना पड़ता है परन्तु यह बात जैनेतर पुरुषोमे ही पाई जाती है, जैन कहलानेवाले पुरुषोंके तो नियमसे स्वभाव और कुलाम्नायसे अष्ट मूल गुणोंका पालन होता ही चला आता है । उनके पालनेके लिये उन्हे किसी प्रकारका यत्न नही करना पडता है, बिना अष्ट मूल गुणोके पालन किये पाक्षिक जैन भी नही कहा जा सकता है । और न उसके सम्यक्त्व तथा व्रत ही हो सकता है ।

अष्ट मूल गुणोंका पालन जैन मात्रके लिये आवश्यक है

एता । विनाप्येष श्रा ो नास्ति नामतः ।
किं पुनः पाक्षिको गूढो नैष्ठिकः सा ोथवा ॥७२५॥

अर्थः—इतना किये बिना अर्थात् अष्ट मूल गुण धारण किये बिना नाम मात्र भी श्रावक नही कहा जाता है, फिर पाक्षिक, गूढ, नैष्ठिक, अथवा साधककी तो बात ही क्या है ?

अष्टमूल गुण

मद्यमांसमधुत्यागी त्यक्तोदुम्बर पञ्चकः ।
नामतः श्रावकः क्षान्तो नान्यथापि तथा गृही ॥७२६॥

अर्थः—मदिरा, मांस, मधु (शहद्)का त्याग करनेवाला तथा पाँच उदुम्बर फलोका त्याग करनेवाला नाम मात्रका श्रावक कहा जाता है, वही क्षमा धर्मका पालक है अन्यथा वह श्रावक नही कहा जा सकता है । भावार्थः—जो केवल श्रावक सज्ञाको धारण करता है उसे भी तीन मकार और पांच फलोका त्यागी होना चाहिये, जो इनका भी त्यागी नही है उसे जैन ही नही कहना चाहिये । इन्ही आठोंके त्यागको अष्ट मूल गुण कहते हैं ।

सप्तव्यसनके त्यागका उपदेश

यथाशक्ति विधातव्यं गृहस्थैर्व्यसनोज्झनम् ।
अवश्यं तद्व्रतस्थैस्तैरिच्छद्भिः श्रेयसीं क्रियाम् ॥७२७॥

अर्थः—गृहस्थो (अव्रती)को यथाशक्ति सप्तव्यसनका त्याग करना चाहिये और

जो व्रतोका पालन करते है तथा शुभ क्रियाओको चाहते है उन गृहस्थोको तो अवश्य ही —सप्तव्यसनका त्याग करना चाहिये। भावार्थः—यहांपर सप्तव्यसनके आवश्यक त्यागका उपदेश उस श्रावकके लिये दिया गया है जो व्रतोको पालता है, नियम पूर्वक त्याग व्रती श्रावक ही कर सकता है, अव्रती नियमपूर्वक इनका त्याग नही कर सकता है, परन्तु अष्टमूल गुणोका धारण अव्रती श्रावकके लिये भी आवश्यक कहा गया है।

अतीचारोंके त्यागका उपदेश

त्यजेद्दोषोंस्तु तत्रोक्तान् सूत्रोतीचारसंज्ञकान्।
अन्यथा मद्यमांसादीन् श्रावकः कः समाचरेत् ।।७२८।।

अर्थः—व्रतोके पालनेमे जो अतीचार * नामक दोष सूत्रोमें कहे गये है उन्हे भी छोड़ना चाहिये। मद्य मासादिकोका तो कौन श्रावक सेवन करेगा ? अर्थात् मद्यादिक तो प्रथमसे ही सर्वथा त्याज्य है।

दान देनेका उपदेश

दानं चतुर्विधं देयं पात्रबुद्ध्याऽथ श्रद्धया।
जघन्यमध्यमोत्कृष्टपात्रेभ्यः श्रावकोत्तमैः ।।७२९।।

अर्थः—उत्तम श्रावकोको जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट पात्रोके लिये पात्रबुद्धि तथा श्रद्धापूर्वक चार प्रकारका दान देना चाहिये।

भावार्थः—छठे गुणस्थानवर्ती मुनि उत्तम पात्र कहे जाते है, एक देशव्रतके धारक पञ्चम गुणस्थानवर्ती श्रावक मध्यम पात्र कहे जाते हैं, और व्रतरहित चतुर्थगुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि पुरुष जघन्य पात्र कहे जाते है। जैसा पात्र होता है उसीप्रकारका दानके फलमे भेद हो जाता है। जिसप्रकार क्षेत्रकी विशेषतासे वनस्पतिके फलोमे विशेषता देखी जाती है उसीप्रकार पात्रकी विशेषतासे दानके फलमे विशेषता होती है। जिसप्रकार पात्रकी विशेषतासे दानके फलमें विशेषता होती है उसीप्रकार दाताकी श्रद्धा, पात्रबुद्धि,

— द्यूतमाससुरावेश्याखेटचौर्यपराङ्गनाः महापापानि सप्तैतद्व्यसनानि त्यजेद्बुध.।

अर्थात् जूआ खेलना, मास खाना, मदिरा पीना, वेश्याके यहाँ जाना, शिकार खेलना, चोरी करना, परस्त्रीके यहाँ जाना इन सात व्यसनोंको बुद्धिमान छोड़ दे।

* "अतीचारोंशभञ्जनम्" किसी व्रतके एक अशमें दोष लगनेको अतीचार कहते हैं।
(सागारधर्मामृत।)

होता है, अर्थात् कोई कोई मासादिकके सेवनसे स्वभावसे ही घृणा प्रगट करते है और किन्ही किन्हीके यहाँ कुलपरम्परासे मासादिकका ग्रहण नही किया जाता है, ऐसे घरानोमे अष्ट मूलगुणोका नियम बडी सुगमतासे कराया जा सकता है, परन्तु जिनके यहाँ कुलाम्नाय अथवा स्वभावसे मांसादिकका त्याग नही है उनको सम्यक्त्व प्राप्तिके पहले मांसादिकके छोड़नेके लिये विशेष प्रयत्न करना पडता है परन्तु यह बात जैनेतर पुरुषोमे ही पाई जाती है, जैन कहलानेवाले पुरुषोके तो नियमसे स्वभाव और कुलाम्नायसे अष्ट मूल गुणोंका पालन होता ही चला आता है। उनके पालनेके लिये उन्हे किसी प्रकारका यत्न नही करना पडता है, बिना अष्ट मूल गुणोके पालन किये पाक्षिक जैन भी नही कहा जा सकता है। और न उसके सम्यक्त्व तथा व्रत ही हो सकता है।

अष्ट मूल गुणोंका पालन जैन मात्रके लिये आवश्यक है

एतावता विनाप्येष श्रावको नास्ति नामतः ।
किं पुनः पाक्षिको गूढो नैष्ठिकः साधकोथवा ॥७२५॥

अर्थः—इतना किये बिना अर्थात् अष्ट मूल गुण धारण किये बिना नाम मात्र भी श्रावक नही कहा जाता है, फिर पाक्षिक, गूढ, नैष्ठिक, अथवा साधककी तो बात ही क्या है ?

अष्टमूल गुण

मद्यमांसमधुत्यागी त्यक्तोदुम्बर पञ्चकः ।
नामतः श्रावकः क्षान्तो नान्यथापि तथा गृही ॥७२६॥

अर्थः—मदिरा, मास, मधु (शहद्)का त्याग करनेवाला तथा पाँच उदुम्बर फलोका त्याग करनेवाला नाम मात्रका श्रावक कहा जाता है, वही क्षमा धर्मका पालक है अन्यथा वह श्रावक नही कहा जा सकता है। भावार्थः—जो केवल श्रावक सज्ञाको धारण करता है उसे भी तीन मकार और पाँच फलोका त्यागी होना चाहिये, जो इनका भी त्यागी नही है उसे जैन ही नही कहना चाहिये। इन्ही आठोके त्यागको अष्ट मूल गुण कहते है।

सप्तव्यसनके त्यागका उपदेश

यथाशक्ति विधातव्यं गृहस्थैर्व्यसनोज्झनम् ।
अवश्यं तद्व्रतस्थैस्तैरिच्छद्भिः श्रेयसीं क्रियाम् ॥७२७॥

अर्थः—गृहस्थो (अव्रती)को यथाशक्ति सप्तव्यसनका त्याग करना चाहिये और

जो व्रतोका पालन करते है तथा शुभ क्रियाओंको चाहते है उन गृहस्थोको तो अवश्य ही —सप्तव्यसनका त्याग करना चाहिये। भावार्थः—यहाँपर सप्तव्यसनके आवश्यक त्यागका उपदेश उस श्रावकके लिये दिया गया है जो व्रतोको पालता है, नियम पूर्वक त्याग व्रती श्रावक ही कर सकता है, अव्रती नियमपूर्वक इनका त्याग नही कर सकता है, परन्तु अष्टमूल गुणोका धारण अव्रती श्रावकके लिये भी आवश्यक कहा गया है।

अतीचारोंके त्यागका उपदेश

त्यजेद्दोषांस्तु तत्रोक्तान् सूत्रोतीचारसंज्ञकान्।
अन्यथा मद्यमांसादीन् श्रावकः कः समाचरेत् ॥७२८॥

अर्थः—व्रतोके पालनेमे जो अतीचार * नामक दोष सूत्रोंमे कहे गये है उन्हे भी छोडना चाहिये। मद्य मासादिकोका तो कौन श्रावक सेवन करेगा ? अर्थात् मद्यादिक तो प्रथमसे ही सर्वथा त्याज्य है।

दान देनेका उपदेश

दानं चतुर्विधं देयं पात्रबुद्ध्याऽथ श्रद्धया।
जघन्यमध्यमोत्कृष्टपात्रेभ्यः श्रावकोत्तमैः ॥७२९॥

अर्थः—उत्तम श्रावकोको जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट पात्रोके लिये पात्रबुद्धि तथा श्रद्धापूर्वक चार प्रकारका दान देना चाहिये।

भावार्थः—छठे गुणस्थानवर्ती मुनि उत्तम पात्र कहे जाते है, एक देशव्रतके धारक पञ्चम गुणस्थानवर्ती श्रावक मध्यम पात्र कहे जाते हैं, और व्रतरहित चतुर्थगुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि पुरुष जघन्य पात्र कहे जाते है। जैसा पात्र होता है उसीप्रकारका दानके फलमे भेद हो जाता है। जिसप्रकार क्षेत्रकी विशेषतासे वनस्पतिके फलोमे विशेषता देखी जाती है उसीप्रकार पात्रकी विशेषतासे दानके फलमे विशेषता होती है। जिसप्रकार पात्रकी विशेषतासे दानके फलमे विशेषता होती है उसीप्रकार दाताकी श्रद्धा, पात्रबुद्धि,

— द्यूतमाससुरावेश्याखेटचौर्यपराङ्गनाः महापापानि सप्तैतद्व्यसनानि त्यजेद्बुधः।
अर्थात् जूआ खेलना, मास खाना, मदिरा पीना, वेश्याके यहाँ जाना, शिकार खेलना, चोरी करना, परस्त्रीके यहाँ जाना इन सात व्यसनोंको बुद्धिमान छोड़ दे।

* "अतीचारोंशभञ्जनम्" किसी व्रतके एक अशमें दोष लगनेको अतीचार कहते हैं।
(सागारधर्मामृत।)

भक्ति, निस्पृहता आदि गुणोसे भी दानके फलमें विशेषता होती है। दानका फल भोगभूमि आदि उत्तम सुखस्थान कहे गये है। धनोपार्जनसे रात दिन आरम्भजनित पापबन्ध करनेवाले श्रावकोंको पात्रदान ही पुण्यबन्धका मूल कारण है। इसलिये प्रतिदिन यथाशक्ति चार प्रकारका दान करना चाहिये। यद्यपि वर्तमान समयमें उत्तम पात्रोंका अभावसा हो गया है तथापि उनका सर्वथा अभाव नही है। मुनिके न मिलनेपर उत्तम श्रावक, ब्रह्मचारी, उदासीन, सहधर्मी जनोंको दान देना चाहिये। दान चार प्रकार है– आहारदान, औषधदान, अभयदान और ज्ञानदान। यद्यपि सामान्य दृष्टिसे चारों ही दान विशेष पुण्यके कारण है तथापि इन चारोमे उत्तरोत्तर विशेषता है। आहारदान एकबारकी क्षुधाको निवृत्त करता है; औषधदान अनेक दिनोके लिये शारीरिक रोगोको दूर कर देता है, अभयदान एक जन्म भरके लिये निर्भय बना देता है। और ज्ञानदान सदाके लिये अजर, अमर, क्षुधादि दोषरहित और निर्भय बना देता है। ज्ञानदानका अतुल माहात्म्य है। पहलेके तीनो दान तो शारीरिक बाधाओको ही दूर करते है परन्तु ज्ञान दान आत्माके निज गुणका विकाश करता है। पहलेके तीन दान तो एक भवके लिये अथवा उसमे भी कुछ समयके लिये ही इस जीवके सहायक है परन्तु ज्ञान दान इस जीवका सदाके लिये परम सहायक है। ज्ञान ही एक ऐसा गुण है जो इस जीवात्माको सांसारिक वासनाओसे हटाकर त्याग मार्ग पर ले जाता है इसलिये श्रावकोंको चारों ही दान और विशेषतासे ज्ञान दान यथाशक्ति अवश्य करना चाहिये। शास्त्रोंका वितरण करना, सदुपदेश देना, ये सम्पूर्ण बातें ज्ञान दानमे गर्भित है। आहारदान भी इसलिये मुख्य है कि मुनि मार्ग निराबाध चलता रहे।

कुपात्र और अपात्रको भी दान देनेका उपदेश

कुपात्रायाप्यपात्राय दानं देयं यथोचितम्।
पात्रबुद्ध्या निषिद्धं स्यान्निषिद्धं न कृपाधिया ॥७३०॥

अर्थः—* कुपात्र और अपात्रके लिये भी यथोचित दान देना चाहिये। इतना

---

* उत्कृष्टपात्रमनगारमणुव्रताढ्यं मध्यं व्रतेन रहितं सुदृशं जघन्यम्।
निर्दर्शनं व्रतनिकाययुतं कुपात्रं युग्मोज्झितं नरमपात्रमिदं हि विद्धि॥

अर्थात्—सम्यग्दर्शन सहित महाव्रती दिगम्बर मुनि उत्तम पात्र हैं, अणुव्रती सम्यग्दृष्टि मध्यम पात्र है। व्रत रहित सम्यग्दृष्टि जघन्य पात्र है। ये तीनों ही सत्पात्र गिने जाते हैं। सम्यग्दर्शन रहित व्रती जीव कुपात्र है तथा जो सम्यग्दर्शन और व्रत दोनोंसे रहित है वह अपात्र है।

(सागारधर्मामृत)

विशेष है कि कुपात्र और अपात्रके लिये पात्र बुद्धिसे दान देना निषिद्ध (वर्जित) कहा गया है, परन्तु वह कृपाबुद्धिसे निषिद्ध नही है। भावार्थः—कुपात्र और अपात्रके लिये पात्र बुद्धिसे जो दान दिया जाता है वह मिथ्यात्वमे शामिल किया गया है, क्योंकि पात्र सम्यग्दृष्टि ही हो सकता है। पात्रके लिये जो दान दिया जाता है वह भक्ति पूर्वक दिया जाता है, परन्तु कुपात्र अथवा अपात्रके लिये जो दान दिया जाता है वह भक्ति पूर्वक नही दिया जाता परन्तु करुणा बुद्धिसे दिया जाता है।

दानका सामान्य उपदेश

शेषेभ्यः क्षुत्पिपासादिपीडितेभ्योऽशुभोदयात्।
दीनेभ्यो दयादानादि दातव्यं करुणार्णवैः ॥७३१॥

अर्थः—और भी जो अशुभ कर्मोदयसे क्षुधा, प्यास आदि बाधाओंसे पीड़ित दीन पुरुष है उनके लिये भी करुणा सिन्धुओ (दयालुओ)को करुणा दान आदि करना चाहिये।

जिनेन्द्र पूजनका उपदेश

पूजामप्यर्हतां कुर्याद्यद्वा प्रतिमासु तद्धिया।
स्वरव्यञ्जनानि संस्थाप्य सिद्धानप्यर्चयेत्सुधीः॥७३२॥

अर्थः—सद्बुद्धि गृहस्थको तेरहवे गुणस्थानवर्त्ती, वीतराग, सर्वज्ञ अरहन्त भगवानकी पूजन करना चाहिये अथवा उन अरहन्तोकी प्रतिमाओमे अरहन्तकी बुद्धि रखकर पूजा करना चाहिये तथा स्वर व्यञ्जनोकी स्थापना करके सिद्ध भगवानकी भी पूजा करनी चाहिये।

आचार्य, उपाध्याय, साधुओंकी पूजाका उपदेश

सूर्युपाध्यायसाधूनां पुरस्तत्पादयोःस्तुतिम्।
प्राग्विधायाष्टधा पूजां विदध्यात् स त्रिशुद्धितः॥७३३॥

अर्थः—आचार्य, उपाध्याय और साधुओके चरणोकी पहले स्तुति करके फिर मन, वचन, कायकी शुद्धतासे श्रावकको उन तीनो परमेष्ठियोकी अष्ट द्रव्यसे पूजा करना चाहिये।

सहधर्मी और ब्रह्मचारियोंकी विनय करनेका उपदेश

सम्मानादि यथाशक्ति कर्तव्यं च सधर्मिणाम्।
व्रतिनां चेतरेषाम्वा विशेषाद्ब्रह्मचारिणाम् ॥७३४॥

अर्थः—जो अपने समान धर्मसेवी (अपने समान श्रावक) है उनका यथाशक्ति आदर सत्कार करना चाहिये, तथा जो व्रती श्रावक है अथवा सम्यग्दृष्टि है उनका भी

यथाशक्ति आदर सत्कार करना चाहिये, और विशेष रीतिसे ब्रह्मचारियोंका आदर सत्कार करना चाहिये ।

व्रतयुक्त स्त्रियोंका विनय करनेका उपदेश

नारीभ्योऽपि व्रताढ्याभ्यो न निषिद्धं जिनागमे ।
देयं सम्मानदानादि लोकानामविरुद्धतः ॥७३५॥

अर्थः—व्रतयुक्त जो स्त्रियाँ है, उनका भी लोकसे अविरुद्ध आदर सत्कार करना जैनागममे निषिद्ध नही है । भावार्थः—जिसप्रकार व्रती पुरुष सन्मान दानके योग्य है उसी प्रकार व्रत युक्त स्त्रियाँ भी सन्मान दानके योग्य है, क्योकि पूज्यताका कारण चारित्र है वह दोनोमे समान है । इतना विशेष है कि स्त्रियोका सन्मान आदि लोकसे अविरुद्ध करना चाहिये इसका आशय यह है कि लोकमे जितना सन्मान उन्हें प्राप्त है उसीके अनुसार देना चाहिये ।

जिनचैत्यगृह बनानेका उपदेश

जिनचैत्यगृहादीनां निर्माणे सावधानता ।
यथा सम्पद्विधेयास्ति दूष्या नाऽवद्यलेशतः ॥७३६॥

अर्थः—श्रावकोको जिन मन्दिर बनवानेमे सदा सावधान रहना चाहिये, अपनी सम्पत्तिके परिमाणके अनुसार जिन मन्दिरोंकी रचना अवश्य कराना चाहिये । जिन चैत्य गृह (मन्दिर) बनवानेमें थोडासा आरम्भजनित पाप लगता है इसलिये मन्दिर बनवानेमे दोप हो ऐसा नही है ।

भावार्थः—यह वात अच्छी तरह निर्णीत है कि जैसा द्रव्य क्षेत्र काल भावका प्रभाव होता है पुरुपोकी आत्माओमे भी वैसा ही प्रभाव पडता है । जिससमय किसी दुष्ट पुरुपका समागम हो जाता है उसके निमित्तसे प्रतिसमय परिणाम खराव ही रहते हैं, और जिससमय किसी सज्जनका समागम होता है उससमय मनुष्यके परिणाम उसके निमित्तसे उज्ज्वल होते चले जाते है, यह प्रभाव द्रव्यका ही समझना चाहिये । इसी प्रकार कालका प्रभाव आत्मा पर पडता है । रात्रिमे मनुष्यके परिणाम दूसरे प्रकारके हो जाते हैं और प्रात काल होते ही वदल कर उत्तम हो जाते है । जो वासनाएँ रात्रिमे अपना प्रभाव डालती हैं वे अनायास ही प्रात काल दूर हो जाती है, यह कालका प्रभाव समझना चाहिये । इसी प्रकार क्षेत्रका प्रभाव पूर्णतासे आत्मापर डालता है—जो परिणाम घरमे होते हैं, वे परिणाम किसी साधुनिकेतनमे जानेसे नही रहते है, जो वातें हमारे हृदयमे

विकार करने वाली उत्पन्न हुआ करती है वे उस निकेतनमे पैदा ही नही होती है उसी प्रकार जो हमारे परिणाम धर्म साधनकी ओर सर्वथा नही लगते है वे मन्दिरमे जाकर स्वय लग जाते है। मन्दिर ही धर्मसाधनका मूल कारण है। मन्दिरमें द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, चारो निमित्तोंकी पूर्ण योग्यता है। वही हम एकान्त पाते है। वही तत्त्वचर्चाका स्वाद हमारे कानोमे प्रविष्ट होता रहता है, और वही पर श्री जिनेन्द्रकी वीतराग छवि हमारे आत्मीक भावोका विकास करती है। आजकल तो जितना धर्म साधन और परिणामोकी निर्मलता जिनेन्द्र स्तवन तथा उनकी पूजनसे होती है वैसी निर्मलता और धर्मसाधन अन्यथा नही हो सकता है। इसका कारण भी यह है कि आजकलके सहनन और मनोवृत्तियोकी चञ्चलता कुछ दूसरे ही प्रकारकी है। अधिक समय तक न तो हम ध्यान ही कर सकते है, और न शुभ परिणाम ही रख सकते है। आत्म चिन्तवन तो बहुत दूर पड जाता है इसलिये हम लोगोके लिये अवलम्बनकी बडी आवश्यकता है, और वह अवलम्बन जिनेन्द्रकी वीतराग मुद्रा है, उस वीतराग प्रतिमाके सामने बहुत देर तक हमारे भाव लगे रहते है बल्कि यो कहना चाहिये कि जितनी देर हम उस प्रतिमाके सामने उपयोग लगाते है उतनी देर तक हमारे परिणाम वहाँसे खिचकर दूसरी ओर लगते ही नही हैं। ध्यानका माहात्म्य यद्यपि बहुत बढा है परन्तु मनोवृत्तियोकी चञ्चलताके सस्कार तुरन्त ही वहाँसे उपयोग हटा देते है, जिनेन्द्र पूजन और जिनेन्द्र स्तवनमे यह बात नही है। जितनी जितनी भक्ति पुण्यमय स्तोत्रो द्वारा हम करते है उतना उतना ही हमारा परिणाम भक्ति रससे उमडने लगता है, वही समय हमारे अतिशय पुण्य बन्धका कारण है। श्रावकके लिये जिनेन्द्र दर्शन, जिनपूजन और जिन चिन्तवन इनसे बढकर विशेप पुण्योत्पादक और कोई वस्तु नही है और यह सामग्री जिन मन्दिरमे ही मिल सकती है। इसलिये जिन मन्दिरोका बनवाना परम आवश्यक है, वर्तमान समयमे कुछ लोग ऐसा कहने लगे है कि "फल भावानुसार होता है इसलिये देवदर्शन करना आवश्यक नही है, घर ही परोक्ष नमस्कार करनेसे पुण्यबन्ध हो सकता है, और भाव न हो तो मन्दिर जाना भी कुछ कार्यकारी नही है" ऐसा कहना उन्ही पुरुपोका समझना चाहिये जो जैन शास्त्रोपर श्रद्धान नही रखते है, और न जैन मतमे बताई हुई क्रियाओको पालते है इतना ही नही किन्तु क्रियाओको रूढि कहकर अपने तीव्र मिथ्यात्वका परिचय देते है। जो जिन दर्शनको प्रतिदिन आवश्यक नही समझते है उन्हे जैन कहना भूल है, "भावसे ही पुण्यबन्ध होता है" यह उनका छल मात्र है, यदि वास्तवमे ही वे भावोको ऐसा बनाते तो जिन दर्शन और जिन मन्दिरकी अनावश्यकता

नही बतलाते । विना बाह्य अवलम्बनके अन्तरगका सुधार कभी नही हो सकता है। जिन मुनियोने आत्माको ही ध्येय बना रक्खा है उन्होने भी अनेक स्तोत्र स्तोत्रोसे जिन भक्तिकी गगा बहा दी है। फिर विचारे आत्मध्येयसे कोशो दूर श्रावको की तो बात ही क्या है आजकल कुछ अश्रद्धानी एव शिथिलाचारी घरमें जिनेन्द्रकी फोटो रखकर उसीके दर्शन कर लेते है यह भी निषिद्ध है, क्योकि फोटो की प्रतिष्ठा नही होती है वह अपूज्य है उसका दर्शन देवदर्शन समझना मिथ्यात्व है। वह तो केवल स्मृति चिह्न है। आचार्य समतभद्र स्वामीने कहा है कि–पूज्यं जिनत्वार्चयतो जनस्य सावद्यलेशो बहु पुण्य राशि अर्थात् जिनेन्द्रकी पूजामे पाप तो लेशमात्र लगता है परतु वहाँ पुण्य बन्ध बहुत लगता है। सरसों बराबर पाप सुमेरु बराबर पुण्य लगता है। श्रावकोके नित्य कर्तव्योमे सबसे पहला कर्तव्य देवपूजन है। इसलिये जिन मन्दिर बनवाकर अनेक भव्य जीवोका उपकार करना श्रावकका प्रथम कर्तव्य है।*

कोई कोई ऐसी शका करते है कि जिनमन्दिर बनवानेमे जल, मिट्टी, ईंट, पत्थर, लकडी आदि पदार्थोके इकट्ठा करनेमे पापबन्ध ही होता है? इसका उत्तर ग्रन्थकारने चौथे चरणमे स्वय दे दिया है, उन्होने कह दिया है कि पापका लेश अवश्य है परन्तु असीम पुण्य बन्धके सामने वह कुछ नहीके बराबर है क्योकि "तत्पापमपि न पाप यत्र महान् धर्मानुबन्ध" अर्थात् वह पाप भी पाप नही है कि जिसमे बडा भारी धर्मानुबन्ध हो इसीलिये आचार्यने पापलेशके होनेसे मन्दिर बनवानेकी विधिको दूषित नही बताया है। मन्दिर बनवानेमे पापका तो लेश मात्र है परन्तु पुण्यबन्ध बहुत होता है इसलिये उपर्युक्त शका निर्मूल है।×

---

* निरालम्बनधर्मस्य स्थितिर्यस्मात्तत' सताम्, मुक्तिप्रासादसोपानमाप्तैरुक्तो जिनालयः।

अर्थ —जिनमन्दिरोमें आधार रहित धर्मकी स्थिति बनी हुई है। इसलिये वे जिनमन्दिर सज्जन पुरुषोको मोक्षरूपी महलपर चढनेके लिये सीढीके समान हैं ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है।

(सागारधर्मामृत)

× यद्यप्यारम्भतो हिसा हिसाया' पापसभव.।
तत्राप्यत्रकृतारम्भो महत्पुण्य समश्नुते॥

अर्थ:—यद्यपि आरम्भ करनेमें हिसा होती है और हिसासे पाप उत्पन्न होता है तथापि जिनमंदिर पाठशाला, स्वाध्यायशाला आदिके बनवानेमें मिट्टी, पत्थर, पानी, लकडी आदिके इकट्ठे करनेसे आरम्भ करनेवाला पुरुष महा पुण्यका अधिकारी होता है।

(सागारधर्मामृत)

प्रतिष्ठा करानेका उपदेश

सिद्धानामर्हताश्चापि यन्त्राणि प्रतिमाः शुभाः ।
चैत्यालयेषु संस्थाप्य प्राक्प्रतिष्ठापयेत् सुधीः ।।७३७।।

अर्थः—सिद्ध यंत्र और अर्हन्तोकी शुभ प्रतिमाओको चैत्यालयोमें स्थापना करके पहले उनकी बुद्धिमान पुरुषको प्रतिष्ठा करानी चाहिये । भावार्थ—मन्त्रशास्त्रोमें शब्द-शक्तिका अपार माहात्म्य बतलाया गया है, जिनप्रतिमाओमे अर्हन्तोकी स्थापना मन्त्रों द्वारा ही की जाती है, उन्ही मन्त्रोकी शक्तिसे वह स्थापना की हुई प्रतिमा पूज्य हो जाती है, मन्त्रशक्तिकी योजनाके लिये ही प्रतिष्ठा कराई जाती है ।

तीर्थादिककी यात्राका उपदेश

अपि तीर्थादियात्रासु विदध्यात्सोद्यतं मनः ।
श्रावकः स च तत्रापि संयमं न विराधयेत् ।।७३८।।

अर्थः—तीर्थवन्दना, आदि यात्राओके लिये सदा उत्साह सहित मनको रखना चाहिये । परन्तु तीर्थादिककी यात्राओमे भी श्रावक सयमकी विराधना न करे, अर्थात् यात्राओमे अनेक विघ्नके कारण मिलनेपर भी वह सयमको सुरक्षित ही रक्खे ।

जिनबिम्बोत्सवमें सम्मिलित होनेका उपदेश

नित्ये नैमित्तिके चैवं जिनबिम्बमहोत्सवे ।
शैथिल्यं नैव कर्तव्यं तत्वज्ञैस्तद्विशेषतः ।।७३९।।

अर्थः—जो नित्य नैमित्तिक जिन बिम्ब महोत्सव होते रहते है उनमे भी श्रावकोको शिथिलता नही करनी चाहिये, तत्त्वके जानकारोको तो विशेषतासे उनमे सम्मिलित होना चाहिये । भावार्थः—जिन बिम्ब महोत्सव तथा धार्मिक सम्मेलनोमे जानेसे धर्मकी प्रभावना तो होती ही है साथमे अनेक विद्वान एव धार्मिक सत्पुरुषोके समागमसे तत्वज्ञान प्राप्तिका भी सुअवसर मिल जाता है इसलिये धार्मिक सम्मेलनोमे अवश्य जाना चाहिये ।

सयम धारण करनेका उपदेश

संयमो द्विविधश्चैव विधेयो गृहमेधिभिः ।
विनापि प्रतिमारूपं व्रतं यद्वा स्वशक्तितः ।।७४०।।

अर्थः—गृहस्थोको दो प्रकारका सयम भी धारण करना चाहिये । या तो अपनी शक्तिके अनुसार प्रतिमारूप व्रतको धारण करना चाहिये अथवा विना प्रतिमाके भी अभ्यस्तरूप व्रतोको धारण करना चाहिये । भावार्थः—जो व्रत नियमपूर्वक

उत्तरोत्तर प्रतिमाओंमें पहले पहले की प्रतिमाओंके साथ पाले जाते है उन्हे प्रतिमारूप व्रत कहते है । और जो व्रत नियमपूर्वक प्रतिमारूपसे नही पाले जाते है, केवल अभ्यास-रूपसे कभी किसी प्रतिमाका अभ्यास किया जाता है और कभी किसी प्रतिमाका अभ्यास किया जाता है उन्हे प्रतिमारूप व्रत नही कहते किन्तु अनियत व्रत कहते है। जो श्रावक प्रतिमारूपसे व्रतोके पालनेमे असमर्थ है वे अनियत व्रतोंसे ही शुभ कर्मबन्ध करते है।

बारह तपोंका उपदेश

तपो द्वादशधा द्वेधा बाह्याभ्यन्तरभेदतः ।
कृत्स्नमन्यतमं वा तत्कार्यंचानतिवीर्यसात् ॥७४१॥

अर्थः—बाह्य और अभ्यन्तरके भेदसे तप बारह प्रकार कहा गया है* छह प्रकार बाह्य और छह प्रकार अभ्यन्तर। इन बारह प्रकारके तपोको सम्पूर्णतासे अथवा इनमेसे किसी एकको अपनी शक्तिके अनुसार करना चाहिये ।

ग्रन्थकारकी महान् प्रतिज्ञा

उक्तं दिङ्मात्रतोप्यत्र प्रसङ्गाद्वा गृहिव्रतम् ।
वक्ष्ये चोपासकाध्यायात्सावकाशात्मविस्तरम् ॥७४२॥

अर्थः—ग्रन्थकार कहते है कि यहाँपर प्रसङ्गवश गृहस्थियोके व्रत दिङ्मात्र हमने कह दिये है। आगे अवकाश पाकर उपासकाध्ययन ग्रन्थोके आधारसे उन्हें विस्तारपूर्वक हम कहेगे । ×

यतियोंके मूलगुण

यतेर्मूलगुणाश्चाष्टाविंशतिर्मूलवत्तरोः ।
नात्राप्यन्यतमेनोना नातिरिक्ताः कदाचन ॥७४३॥

अर्थः—मुनियोके मूलगुण भी अट्ठाईस है। वे ऐसे ही है जैसे कि वृक्षका मूल होता है। विना मूलके जिसप्रकार वृक्ष नही ठहर सकता उसीप्रकार विना अट्ठाईस

---

* अनशन, अवमोदर्य (ऊनोदर), वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, एकान्त शयन, ये छह बाह्य तपके भेद हैं। प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग, ध्यान ये छह भेद अभ्यन्तर तपके हैं। इनका विशेष विवरण सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिकसे जानना चाहिये ।

× ग्रन्थकारने ऐसी बड़ी बड़ी प्रतिज्ञायें कई प्रकरणोंमें की हैं। यदि आज समग्र ग्रन्थसिन्धुको उपलब्ध होता तो न जानें कितने अपूर्व तत्त्वरत्नोंकी प्राप्ति होती।

मूलगुणोंके मुनिव्रत भी नही ठहर सकता। इन अट्ठाईस मूलगुणोंमेंसे मुनियोके न तो एक भी कम होता है और न अधिक ही होता है।

अट्ठाईस मूलगुणोंके पालनेसे ही मुनिव्रत पलता है

सर्वैरेभिः समस्तैश्च सिद्धं यावन्मुनिव्रतम्।
न व्यस्तैर्व्यस्तमात्रं तु यावदंशनयादपि ॥७४४॥

अर्थः—अट्ठाईस मूलगुणोको सम्पूर्ण रीतिसे पालनेसे ही मुनिव्रत सिद्ध होता है। इनमेसे कुछ गुणोको पालनेसे मुनिव्रत नही समझा जाता, किन्तु वह भी अपूर्ण ही रहता है। जितने अशमे मूलगुणोमें न्यूनता रहती है उतने ही अशमे मुनिव्रतमे भी न्यूनता रह जाती है।

ग्रन्थान्तर (अट्ठाईस मूलगुण)

वदसमिदिंदियरोधो लोचो आवस्सयमचेलमन्हाणं।
खिदिसयणमदंतमणं ठिदिभोयणमेयभत्तं च ॥७४५॥

अर्थः—पच (५) महाव्रत, पच (५) समिति, (५) पाँचो इन्द्रियोका निरोध, (१) केशलोच करना, छह (६) आवश्यको (समता, वदना, स्तुति, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय, कायोत्सर्ग)का पालना, (१) वस्त्र धारण नही करना, (१) स्नान नही करना, (१) पृथ्वीपर सोना, (१) दन्तधावन नही करना, (१) खड़े होकर आहार लेना और (१) एकबार भोजन करना ये मुनियोके अट्ठाईस मूल गुण है।

मुनियोंके उत्तर गुण

एते मूलगुणाः प्रोक्ताः यतीनां जैनशासने।
लक्षाणां चतुरशीतिर्गुणाश्चोत्तरसंज्ञकाः ॥७४६॥

अर्थ—ऊपर कहे हुए मुनियोके मूल गुण जैन शासनमे कहे गये है उन्ही मुनियोके उत्तर गुण चौरासी लाख है।

साराश

ततः सागारधर्मो वाऽनगारो वा यथोदितः।
प्राणिसंरक्षण मूलमुभयत्राऽविशेषतः ॥७४७॥

अर्थः—साराश यही है कि जो गृहस्थोका धर्म कहा गया है अथवा जो मुनियोका धर्म कहा गया है उन दोनोमे सामान्य रीतिसे प्राणियोकी रक्षा मूल भूत है, अर्थात्

दोनोंके व्रतोंका उद्देश्य प्राणियोंकी रक्षा करना है। गृहस्थ धर्ममें एक देश रक्षा की जाती है और मुनि धर्ममे सर्वथा की जाती है।

क्रियारूप व्रतों का फल

उक्तमस्ति क्रियारूपं व्यासादव्रतकद कम्।
सर्वसावद्ययोगस्य तदे य निवृत्तये ॥७४८॥

अर्थः—और भी जो क्रियारूप व्रतोंका समूह विस्तारसे कहा गया है वह एक सर्व सावद्ययोग (प्राणि हिंसापरिणाम)की निवृतिके ही लिये है।

व्रतका लक्षण

अर्थाज्जैनोपदेशोयमस्त्यादेशः स एव च।
सर्वसावद्ययोगस्य निवृत्तिर्व्रतमुच्यते ॥७४९॥

अर्थः—अर्थात् यही तो जिनमतका उपदेश है और यही जिनमतका आदेश है कि सर्व सावद्ययोगकी निवृत्तिको व्रत कहते है।

सर्व सावद्ययोग (हिंसा)का स्वरूप

सर्वशब्देन तत्रान्तर्बहिर्वृत्तिर्यदर्थतः।
प्राणच्छेदो हि सावद्यं सैव हिंसा प्रकीर्तिता ॥७५०॥
योगस्तत्रोपयोगो वा बुद्धिपूर्वः स उच्यते।
सूक्ष्मश्चाबुद्धिपूर्वो यः स स्मृतो योग इत्यपि ॥७५१॥

अर्थः—सर्व सावद्य योगका शब्दार्थ करते हुए प्रत्येक शब्दका अर्थ करते है—सर्व शब्दका अर्थ है अन्तरग और वहिरग व्यापार, सावद्य शब्दका अर्थ है प्राणोका छेद करना, इसीका नाम हिंसा है। योग शब्दका अर्थ है उस सर्व सावद्य (हिंसा)के विषयमे उपयोग लगाना, उपयोग दो प्रकारका है, एक बुद्धि पूर्वक, दूसरा सूक्ष्म—अबुद्धि पूर्वक, इसप्रकार योगके दो भेद हो जाते हैं।

भावार्थः—अन्तरग और वहिरग प्राणोका नाश करनेके लिये उपयोगको लगानेका नाम ही सर्व सावद्य योग कहलाता है। अर्थात् हिंसाकी तरफ परिणामोको लगाना, इसीका नाम सर्व सावद्य योग है। अन्तरग सावद्य—भाव प्राणोका नाश करना और बाह्य सावद्य—द्रव्य प्राणोका नाश करना है। बुद्धि पूर्वक हिंसा करनेके लिये उद्यत चित्त होना स्थूल सावद्य योग है और कर्मोदयवश—अज्ञात भावोसे हिंसाके लिये परिणामोका उपयुक्त होना सूक्ष्म सावद्य योग है।

व्रतका स्वरूप

तस्याभावन्निवृत्तिः स्याद् व्रतं चार्थादिति स्मृतिः ।
अंशात्साप्यं स्ततसा सर्वतः सर्वतोपि तत् ॥७५२॥

अर्थः—उस सर्व सावद्ययोगका अभाव होनेका नाम ही सर्व सावद्ययोग निवृत्ति कहलाती है, उसीका नाम व्रत है । यदि सर्व सावद्य योगकी निवृत्ति अंश रूपसे है तो व्रत भी अश रूपसे है, और यदि वह सर्वांश रूपसे (पूर्णतासे) है तो व्रत भी पूर्ण है ।

अन्तर्व्रत और बाह्यव्रत

सर्वतः सिद्धमेवैतद्व्रतं बाह्यं दयाङ्गिषु ।
व्रतमन्तः कषायाणां त्यागः सैवात्मनि कृपा ॥७५३॥

अर्थः—यह बात निर्णीत है कि प्राणियोमें दया करना बाह्य व्रत कहलाता है और कषायोंका त्याग करना अन्तर्व्रत कहलाता है तथा यही अन्तर्व्रत निजात्मा पर दयाभाव कहलाता है ।

भाव हिंसासे हानि

लोकासंख्यातमात्रास्ते यावद्रागादयः स्फुटम् ।
हिंसा स्यात्संविदादीनां धर्माणां हिंसनाच्चितः ॥७५४॥

अर्थः—असख्यात लोक प्रमाण रागादिक वैभाविक भाव जब तक रहते है तब तक आत्माके ज्ञानादिक गुणोंकी हिंसा होनेसे आत्माकी हिंसा होती रहती है । इसलिये ये भाव ही हिंसाके कारण तथा स्वय हिंसारूप है ।

इसीका खुलासा

अर्थाद्रागादयो हिंसा चास्त्यधर्मो व्रतच्युतिः ।
अहिंसा तत्परित्यागो व्रतं धर्मोऽथवा किल ॥७५५॥

अर्थः—अर्थात् रागादिक भाव ही हिंसा है, अधर्म है, व्रतच्युति है, और रागादिकका त्याग ही अहिंसा है, धर्म है अथवा व्रत है ।

परका रक्षण भी स्वात्म रक्षण है

आत्मेतराङ्गिणामङ्गरक्षणं यन्मतं स्मृतम् ।
तत्परं स्वात्मरक्षायाः कृतं नातः परत्र यत् ॥७५६॥

अर्थः—आत्मासे भिन्न दूसरे प्राणियोंके शरीरकी रक्षा जो कही गयी है वह भी केवल अपनी ही रक्षाके लिये है । इससे भिन्न नही है । भावार्थः—परजीवोकी रक्षाके

लिये जो उद्योग किया जाता है वह शुभ परिणामोका कारण है, तथा जो सर्वारंभ रहित निवृत्त परिणाम है वे शुद्धभावोके कारण है । शुभभाव और शुद्धभावोसे अपने आत्माका ही कल्याण होता है इसलिये पर रक्षणको स्वात्मरक्षण ही कहना चाहिये ।

रागादिक ही आत्मघातमें हेतु हैं

सत्सु रागादिभावेषु बन्धः स्यात्कर्मणां बलात् ।
तत्पाकादात्मनो दुःखं तत्सिद्धः स्वात्मनो वधः ॥७५७॥

अर्थः—रागादिक भावोके होनेपर अवश्य ही कर्म बन्ध होता है, और उस कर्म बन्धके पापसे आत्माको दु ख होता है इसलिये रागादिक भावो (परहिंसा परिणाम)से अपने आत्माका घात होता है यह बात सिद्ध हो चुकी ।

उत्कृष्ट व्रत

ततः शुद्धोपयोगो यो मोहकर्मोदयादृते ।
चारित्रापरनामैतद् व्रतं निश्चयतः परम् ॥७५८॥

अर्थः—इसलिये मोहनीय कर्मके उदयसे रहित जो आत्माका शुद्धोपयोग है उसीका दूसरा नाम चारित्र है और वही निश्चयसे उत्कृष्ट व्रत है ।

शुद्ध चारित्र ही निर्जराका कारण है

चारित्रं निर्जराहेतुर्न्यायादप्यस्त्यबाधितम् ।
सर्वस्वार्थक्रियामर्हन् सार्थनामास्ति दीपवत् ॥७५९॥

अर्थः—चारित्र निर्जराका कारण है यह बात न्यायसे अबाधित सिद्ध है । वह चारित्र ही स्वार्थ क्रिया करनेमे समर्थ है । जिसप्रकार दीपक प्रकाशन क्रियासे सार्थनामा (यथार्थ नामवाला) है उसीप्रकार चारित्र भी कर्म नाश क्रियासे सार्थनामा है ।

निश्चयनयसे शुभोपयोग यथार्थ चारित्र नहीं है

रूढेः शुभोपयोगोपि ख्यातश्चारित्रसञ्ज्ञया ।
स्वार्थक्रियामकुर्वाणः सार्थनामा न निश्चयात् ॥७६०॥
किन्तु बन्धस्य हेतुः स्यादर्थात्तत्प्रत्यनीकवत् ।
नासौ वरं वरं यः स नापकारोपकारकृत् ॥७६१॥

अर्थः—रूढिसे शुभोपयोग भी चारित्र कहा जाता है परन्तु शुभोपयोग चारित्र स्वार्थ क्रिया (कर्मोंकी निर्जरा)के करनेमे समर्थ नही है इसलिये निश्चयनयसे वह यथार्थ चारित्र नहो है किन्तु कर्मबन्धका कारण है इसलिये विपरीतके समान है । यह चारित्र

श्रेष्ठ नही कहा जा सकता किन्तु शुद्धोपयोगरूप चारित्र श्रेष्ठ है। यह न तो आत्माका उपकार ही करनेमे समर्थ है और न अपकार ही करनेमे समर्थ है।

भावार्थः—शुभोपयोगसे शुभ कर्मोका बन्ध होता है। यद्यपि शुभ कर्मोका बन्ध विपाक कालमें सासारिक सुखका देनेवाला है तथापि उसे वास्तविक दृष्टिसे सुखका विघातक ही समझना चाहिये, क्योकि कर्मबन्ध जितना भी है सभी आत्माको दु ख देनेवाला है। आत्माका वास्तविक कल्याण उसी चारित्रसे होता है जो आत्मासे कर्मोंको दूर करनेमे समर्थ है। ऐसा चारित्र शुद्धोपयोगरूप ही होता है। शुभोपयोग कर्मबन्धका कारण है इसीलिये उसे यथार्थ चारित्र नही कहा गया है किन्तु आत्माका अहितकर ही कहा गया है। निश्चय दृष्टिसे यह कथन है। व्यवहार दृष्टिसे शुभोपयोग अच्छा ही है और उपकारी भी है। परम्परा मोक्षका कारण है। शुद्धोपयोगका साधक है।

शुभोपयोग विरुद्ध कार्यकारी है

विरुद्धकार्यकारित्वं नास्यामिद्धं विचारसात् ।
बन्धस्यैकान्ततो हेतोः शुद्धादन्यत्रसंभवात् ॥७६२॥

अर्थः—शुभोपयोग रूप चारित्र विरुद्ध कार्यकारी है यह बात असिद्ध नही है। क्योकि शुद्धके सिवा सर्वत्र एकान्त रीतिसे बन्ध होना सम्भव ही है।

ऐसी तर्कणा मत करो

नोह्यं प्रज्ञापराधत्वान्निर्जरा हेतुरंशतः ।
अस्ति नाबंधहेतुर्वा शुभो नाप्यशुभावहः ॥७६३॥

अर्थः—बुद्धिके दोषसे ऐसी भी तर्कणा नही करना चाहिये कि शुभोपयोग–चारित्र अश मात्र निर्जराका भी कारण है। शुभोपयोग और अशुभोपयोग दोनो निर्जराके कारण तो हैं ही नही, किन्तु सवरके भी नही है। भावार्थः—शुभोपयोग शुभ बन्धका कारण है। दोनो कर्म बन्धके ही कारण है।

यथार्थ चारित्र

कर्मादानक्रियारोधः स्वरूपाचरणं च यत् ।
धर्मः शुद्धोपयोगः स्यात् सैष चारित्रसंज्ञकः ॥७६४॥

अर्थः—कर्मके ग्रहण करनेको क्रियाका रुक जाना ही स्वरूपाचरण चारित्र है। वही धर्म है, वही शुद्धोपयोग है, वही चारित्र है।

ग्रन्थान्तर

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो ।
मोहक्कोहविहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो ॥७६५॥

अर्थः—निश्चयसे चारित्र ही धर्म है और धर्म वही है जो उपशमरूप है । तथा मोह क्रोधसे रहित आत्माका परिणाम ही धर्म है । भावार्थः—उपशमसे सवरका ग्रहण करना चाहिये, और मोहक्रोध रहित आत्माके परिणामसे निर्जराका ग्रहण करना चाहिये, अर्थात् सवर और निर्जरारूप धर्म ही चारित्र है ।

शकाकार

ननु सद्दर्शनज्ञानचारित्रैर्मोक्षपद्धतिः ।
समस्तैरेव न व्यस्तैस्तत्किं चारित्र मात्रया ॥७६६॥

अर्थः—शकाकारका कहना है कि सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और चारित्र तीनों मिलकर ही मोक्षमार्ग कहलाता है । फिर केवल चारित्रके कहनेसे क्या प्रयोजन है ?

उत्तर

सत्यं सद्दर्शनं ज्ञानं चारित्रान्तर्गतं मिथः ।
त्रयाणामविनाभावादिदं त्रयमखण्डितम् ॥७६७॥

अर्थः—आचार्य कहते है कि सामान्य दृष्टिसे शका ठीक है कि सामान्य दृष्टिसे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान दोनों ही चारित्रमे गर्भित है । परन्तु तीनोंका अविनाभाव होनेमे तीनो ही अखण्डित है ।

भावार्थः—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनो ही उत्तरोत्तर चिन्तनीय हे तीनोंमेसे पहले पहलेके होनेपर आगे आगेके भजनीय हैं, परन्तु उत्तर उत्तरके होनेपर पहले पहलेका होना अवश्यभावी है, अर्थात् सम्यग्दर्शनके होनेपर सम्यग्ज्ञान भजनीय है और सम्यग्ज्ञानके होनेपर सम्यक्चारित्र भजनीय है । यद्यपि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान दोनों साथ साथ ही होते है । क्योकि जिससमय आत्मामे दर्शनमोहनीय कर्मका उपशम अथवा क्षय अथवा क्षयोपशम होनेपर सम्यग्दर्शन प्रकट होता है उसीसमय मति अज्ञान, श्रुत अज्ञानकी निवृत्ति पूर्वक आत्मामे सुमतिज्ञान सुश्रुतज्ञान प्रकट हो जाते है । सम्यग्दर्शन यद्यपि ज्ञानको उत्पन्न नही करता है क्योंकि ज्ञानको उत्पन्न (प्रकट) करनेवाला तो ज्ञानावरणीय कर्मका क्षयोपशम है । परन्तु ज्ञानमें सम्यक्पना सम्यग्दर्शनके होनेपर ही आता है इसलिये दोनो ही अविनाभावी हैं ।

अविनाभावी होनेपर भी ऊपर जो यह कहा गया है कि सम्यग्दर्शनके होनेपर सम्यग्ज्ञान भजनीय है, उसका आशय यह है कि सम्यग्दर्शनके होनेपर उत्तरोत्तर सम्यग्ज्ञानका क्षयोपशम भजनीय है इसीलिये सम्यग्दर्शनकी पूर्ति सातवे गुणस्थानमे नियमसे हो जाती है, परन्तु ज्ञानकी पूर्ति बारहवें गुणस्थानके अन्तमे तेरहवेके प्रारभमे होती है। इससे सिद्ध होता है कि सम्यग्दर्शनके होनेपर ज्ञान भजनीय है, इसीप्रकार सम्यग्ज्ञानके होनेपर सम्यक्-चारित्र भजनीय है। सम्यग्ज्ञानके होनेपर यह नियम नही है कि चारित्र हो ही हो। चौथे गुणस्थानमे सम्यग्ज्ञान तो हो जाता है। परन्तु सम्यक्चारित्र सयमरूप वहाँ नही है। वह पाँचवे गुणस्थानसे शुरू होता है। हाँ इतना अवश्य है कि जिसप्रकार सम्यग्दर्शनकेसाथ सम्यज्ञान अविनाभावी है उसीप्रकार सम्यग्दर्शनके साथ स्वरूपाचरण चारित्र भी अविना-भावी है। चौथे गुणस्थानमे सम्यग्दर्शनके साथ ही स्वरूपाचरण चारित्र भी आत्मामें प्रकट हो जाता है। इसका कारण भी यही है कि सम्यग्दर्शनके घात करनेवाली सात प्रकृतियाँ है—अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व-प्रकृति। इन सातोमे अन्तके तीन भेद तो दर्शनमोहनीयके है और आदिके चार भेद (अनन्तानुबन्धी) चारित्र मोहनीयके है। अनन्तानुबन्धी कषाय यद्यपि चारित्रमोहनीयका भेद है तथापि उसमे दो प्रकारकी शक्ति है वह सम्यग्दर्शनका भी घात करती है और सम्यक्चारित्रका भी घात करती है। अनन्तानुबन्धीका दूसरे गुणस्थान तक उदय रहता है, इसीलिये चौथे गुणस्थानमे निराबाध सम्यग्दर्शन और स्वरूपाचरण चारित्र प्रकट रहता है, परन्तु जब *प्रथमोपशम सम्यक्त्वमे एक समयसे लेकर छह आवलिकाल बाकी रह जाता है उससमय अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभमेसे किसी एकका उदय होनेपर सम्यक्त्वका नाश हो जाता है और द्वितीय गुणस्थान हो जाता है सम्यग्दर्शनके साथ ही स्वरूपाचरण चारित्र भी प्रकट हो जाता है क्योकि उसका भी साक्षात् घातक अनन्तानुबन्धी है।

---

* आदिम सम्मत्तद्धा समयादो छावलित्ति वा सेसे। अण अण्णदरुदयादो णासियसम्मोत्ति सासणक्खो सो॥ सम्मत्तरयणपव्वयसिहरादोमिच्छभूमिसमभिमुहो। णासिवसम्मत्तो सो सासणणामो मुणेयव्वो॥ अर्थात्—जिससमय अनन्तानुबन्धी कषायके उदयसे जीव सम्यक्त्वसे गिरता है उससमय दूसरे गुणस्थानमें आता है, दूसरा गुणस्थान भी यद्यपि जीवकी वैभाविक अवस्था है तथापि वैभाविक अवस्था मिथ्यात्वके सन्मुखापन्न अवस्था है।

(गोम्मटसार)

उपर्युक्त कथनसे यह बात भी सिद्ध हो जाती है कि जब स्वरूपाचरण चा और सम्यग्ज्ञान दोनो ही सम्यग्दर्शनके साथ होनेवाले है तो तीनो ही अविनाभाव इसीलिये ग्रन्थकारने तीनोको अविनाभावी बतलाए हुए तीनोको अखण्डित कहा है परन्तु सम्यग्दर्शनका अविनाभावी स्वरूपाचरण चारित्र ही है, क्रियारूप चारित्र न है। क्योकि क्रियारूप चारित्र पाँचवे गुणस्थानसे प्रारम्भ होता है। इसीसे पहले यह कहा गया है कि सम्यग्ज्ञानके होनेपर सम्यक्चारित्र भजनीय है। अर्थात् सम्यग्ज्ञान होनेपर सम्यक्चारित्र हो भी अथवा नही भी हो, नियम नही है। यहाँपर एक श उपस्थित होती है वह यह है कि जिसप्रकार सम्यग्दर्शनके साथ सम्यग्ज्ञानका अविनाभा होनेपर ही उत्तरोत्तर वृद्धिकी अपेक्षासे ज्ञान भजनीय है। उसीप्रकार सम्यग्ज्ञान होनेपर सम्यक्चारित्र भजनीय नही होना चाहिये क्योकि सम्यक्चारित्रकी पूर्ति बारहवे गुणस्थानमे ही हो जाती है और सम्यग्ज्ञानकी पूर्ति तेरहवे गुणस्थानके प्रारम्भमे होती है, इसका भी कारण यही है कि चारित्र गुणको घात करनेवाली चारित्र मोहनीय कषाय दशवे गुणस्थानके अन्तमे सर्वथा नष्ट हो जाती है और केवलज्ञानको घात करनेवाला ज्ञानावरणीय कर्म बारहवेके अन्तमे नष्ट होता है। इस कथनसे तो यह बात सिद्ध होती है कि सम्यक्चारित्रके होनेपर सम्यग्ज्ञान भजनीय है और ऊपर कहा गया है कि ज्ञानके होनेपर चारित्र भजनीय है परन्तु इस शकाका उत्तर इसप्रकार है कि यद्यपि स्थूल दृष्टिसे यह शका ठीक प्रतीत होती है परन्तु सूक्ष्मदृष्टिसे विचार करने पर वही कथन सिद्ध होता है जो ऊपर कहा जा चुका है अर्थात् सम्यग्ज्ञानके होनेपर सम्यक्चारित्र ही भजनीय रहता है। इसका खुलासा इसप्रकार है कि यद्यपि चारित्र मोहनीय कर्मके नष्ट होनेपर बारहवे गुणस्थानमे यथाख्यातचारित्र प्रकट हो जाता है तथापि एक दृष्टिसे उसे अभी पूर्ण चारित्र नही कहा जा सकता है, यदि कहा जाय कि चारित्र मोहनीय उसका घातक था जब घातक कर्म ही नष्ट हो गया तो फिर क्यो नही पूर्ण चारित्र कहा जाता है अथवा तब भी पूर्ण चारित्र नही कहा जाता है तो कहना चाहिये कि और भी कोई कर्म चारित्रका घातक होगा जो कि चारित्रकी पूर्णतामे बाधक है ? तर्कणा ठीक है, परन्तु विपक्षमे दूसरी तर्कणाएँ उठाई जा सकती है कि यदि चारित्र मोहनीयके नष्ट होनेपर चारित्र पूर्ण हो जाता है तो तेरहवे गुणस्थानमे ही क्यो नही मोक्ष हो जाती ? क्योकि सम्यग्दर्शनकी पूर्ति सातवे तक हो चुकी और चारित्रकी पूर्ति बारहवेमे हो जाती है तथा ज्ञानकी पूर्ति तेरहवे गुणस्थानमे हो जाती है। जहाँपर रत्नत्रयकी पूर्णता है वहाँ पर ही मोक्षका होना आवश्यक है, अन्यथा

रत्नत्रयमें× समर्थकारणता ही नही आ सकती है। तीनोंकी पूर्तिके उत्तर क्षणमें ही मोक्ष प्राप्तिका होना अवश्यभावी है सो होती नही किन्तु मोक्षप्राप्ति चौदहवें गुणस्थानमें होती है इससे सिद्ध होता है कि अभी तक चारित्रकी पूर्णतामें कुछ अवश्य त्रुटि है, और चारित्र ही मोक्ष प्राप्तिमे साक्षात् कारण कहा गया है। वह त्रुटि भी आनुषङ्गिक है* वह इसप्रकार है–आत्माका चारित्र गुण है योग भी उसीके साथ है। चारित्र गुण निर्जराका हेतु है परन्तु योग मन, वचन, कायरूप अशुद्धावस्थामे कर्मको ग्रहण करनेका हेतु है। दशवे गुणस्थान तक चारित्र योगके साथ होनेसे अपूर्ण बना रहा है, दशवेंके अन्तमें यद्यपि चारित्रमोहनीयके दूर हो जानेसे वह पूर्ण हो चुका है तथापि उसको बाह्य अशुद्ध करनेमें कारणीभूत उसका साथी योग अभी तक अपना कार्य कर रहा है। इसलिये चारित्रके निर्दोष होनेपर भी योगके साहचर्यसे उसे भी आनुषङ्गिक दोषी बनना पड़ता है। यद्यपि कर्मको ग्रहण करनेवाला योग चारित्रमे कुछ मलिनता नही कर सकता है तथापि चारित्र और योग दोनो ही आत्मासे अभिन्न है। अभिन्नतामें जिसप्रकार योगसे आत्मा अशुद्ध समझा जाता है उसीप्रकार चारित्र भी परिपूर्ण नही समझा जाता है। जब योगशक्ति वैभाविक अवस्थासे मुक्त होकर शुद्धावस्थामे आ जाती है तभी चारित्र भी आनुषङ्गिक दोषसे मुक्त हो जाता है। इसीलिये शास्त्रकारोने यथाख्यात चारित्रकी पूर्णता चौदहवे गुणस्थानमे बतलाई है वहीपर परमावगाढ सम्यक्त्व भी बतलाया है। इसलिये चौदहवे गुणस्थानमे ही रत्नत्रयकी पूर्णता होती है और वहीपर मोक्षप्राप्ति होती है। इससे रत्नत्रयमे समर्थ कारणता भी सिद्ध हो जाती है। इतने सब कथनका साराश यही है कि सम्यग्ज्ञानके होनेपर भी सम्यक्चारित्र भजनीय है। सम्यक्चारित्रके होनेपर सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान भजनीय नही है। किन्तु अवश्यभावी है। क्योकि बिना पहले दोनोके हुए सम्यक्चारित्र हो ही नही सकता है। इसीलिये ग्रन्थकारने सम्यक्त्व और ज्ञानको चारित्रके अन्तर्गत बतलाया है। जिसप्रकार चारित्रमे दोनो गर्भित है उसीप्रकार सम्यग्ज्ञानमे सम्यग्दर्शन भी गर्भित है। यद्यपि केवलज्ञान भजनीय है परन्तु परमावगाढ चारित्रकी अपेक्षा वह भजनीय नही है।

× कारण दो प्रकारका होता है-एक समर्थ कारण एक असमर्थ कारण। जिसके होनेपर उत्तर क्षणमें अवश्य ही कार्यकी सिद्धि हो उसे समर्थ कारण कहते हैं। और जिस कारणके होनेपर नियमसे उत्तर क्षणमें कार्य न हो उसे असमर्थ कारण कहते हैं।

* स्वय दोषी न होनेपर भी जो साहचर्यवश दोष आता है उसे आनुषङ्गिक दोष कहते हैं। जैसे कोई पुरुष स्वय तो चोर न हो परन्तु चोरोंके सहवासमें रहे तो वह भी आनुषङ्गिक दोषी ठहराया जाता है।

सम्यग्दर्शनको प्रधानता

किञ्च सद्दर्शनं हेतुः संविच्चारित्रयोर्द्वयोः ।
सम्यग्विशेषणस्योच्चैर्यद्वा प्रत्यग्रजन्मनः ॥७६८॥

अर्थः—सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र, दोनोमें सम्यग्दर्शन कारण है, कारणता भी नवीन जन्म धारण करनेवाले सम्यग् विशेषणकी अपेक्षासे सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्रको प्रकट करनेमे कारण नही है किन्तु ज्ञान और सम्यक्पना लानेमे कारण है । इसीलिये वह तीनोमें प्रधान है ।

इसीका खुलासा

अर्थोयं सति सम्यक्त्वे ज्ञानं चारित्रमत्र यत् ।
भूतपूर्वं भवेत् सम्यक् सूते वाऽभूतपूर्वकम् ॥७६९॥

अर्थः—उपर्युक्त कथनका स्पष्ट अर्थ यह है कि सम्यग्दर्शनके होनेपर ज्ञान चारित्र सम्यक् विशेषणको धारण करते है । अथवा उन दोनोमे नवीन सम्य आता है । भावार्थः—जव सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र (इनके सम्यक्पने)में सम्य कारण है । तो ये दोनो उसके कार्य है । कार्यसे कारणका अनुमान हो ही जाता इसलिये सम्यक् चारित्रके कहनेसे दर्शन और ज्ञानका समावेश उसमे स्वय सिद्ध है कथनसे शकाकारकी यह शका कि जव तीनो ही मोक्ष मार्ग है तो "मुनियोके चारित्रका ही निरूपण क्यो किया जाता है सर्वथा निर्मूल है ।

सम्यग्दर्शनका माहात्म्य

शुद्धोपलब्धिशक्तिर्यो लब्धिर्ज्ञानातिशायिनी ।
सा भवेत्सति सम्यक्त्वे शुद्धो भावोऽथवापि च ॥७७०॥

अर्थः—आत्माकी शुद्धोपलब्धिमे कारणीभूत जो अतिशय ज्ञानात्मक ल (मतिज्ञानावरणीय कर्मका विशेष क्षयोपशम) है वह सम्यग्दर्शनके होनेपर ही होती है अथवा आत्माका शुद्ध भाव–शुद्धात्मानुभूति सम्यग्दर्शन होनेपर ही होती है ।

यत्पुनर्द्रव्यचारित्रं श्रुतं ज्ञानं विनापि दृक् ।
न तज्ज्ञानं न चारित्रमस्ति चेत्कर्मबन्धकृत् ॥७७१॥

अर्थः—और भी जो द्रव्य चारित्र और श्रुतज्ञान है यदि वह सम्यग्दर्शन रहित है तो न तो वह ज्ञान है और न वह चारित्र है, यदि है तो केवल कर्मबन्ध करनेवाला ही है ।

सारांश

तेषामन्यतमोद्देश्यो नास्ति दोषाय चित् ।
मोक्षमार्गैं ध्यस्य साध नां स्मृतेरपि ॥७७२॥

ः—इसलिये उन तीनोंमेंसे किसी एकका कथन भी कही दोषाधायक नही है। मोक्षमार्ग एक साध्य है और ये तीनों ही उसके साधक रूपसे कहे जाते हैं।

बन्ध मोक्ष व्यवस्था

बन्धो मोक्षश्च ज्ञातव्यः समासात्प्रश्नकोविदैः ।
रागांशैर्बन्ध एव स्यान्नोऽरागांशैः कदाचन ॥७७३॥

अर्थः—प्रश्न करनेमे जो अति चतुर है उन्हें बन्ध और मोक्षकी व्यवस्था भी संक्षेपसे जान लेना चाहिये। वह यह कि रागाश–परिणामोंसे बन्ध होता है और बिना रागांश–परिणामोके बन्ध कभी नही हो सकता।

ग्रन्थान्तर

* येनांशेन सुदृष्टि तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन् ति ॥७७४॥

ः—जिस अशसे आत्मा सम्यग्दर्शन विशिष्ट है उस अंशसे उसके कर्मबन्ध नहीं होता और जिस अशसे उसके राग है उस अशसे उसके कर्मबन्ध होता है।

भावार्थः—बन्धका कारण केवल रागाश ही है।

सकोच और प्रतिज्ञा

उक्तो धर्मस्वरूपोपि प्रसङ्गात्सङ्गतोंशतः ।
कविर्लब्धावकाशस्तं विस्तराद्वा करिष्यति ॥७७५॥

अर्थः—प्रसङ्गवश अशरूपसे धर्मका स्वरूप भी कहा गया, अब आचार्य कहते है कि अवकाश पाकर उस धर्मका स्वरूप विस्तार पूर्वक भी कहेगे।

साराश

देवे गुरौ तथा धर्मे दृष्टिस्तत्वार्थदर्शिनी ।
ख्याताप्यमूढदृष्टिः स्यादन्यथा मूढदृष्टिता ॥७७६॥

अर्थः—देव गुरु और धर्ममे श्रद्धान करना अमूढदृष्टि अग कहलाता है, अन्यथा (इसकी विपरीततामे) मूढदृष्टि दोष कहलाता है।

* पुरुपार्थसिद्ध्युपाय।

अमूढदृष्टि सम्यक्त्वका गुण है

सम्यक्त्वस्य गुणोप्येष नालं दोषाय लक्षितः ।
सम्यग्दृष्टिर्यतोवश्यं तथा स्यान्न तथेतरः ॥७७७॥

अर्थः—अमूढदृष्टि सम्यग्दर्शनका गुण है । यह गुण किसी प्रकार दोषोत्पादक नही है किन्तु गुणोत्पादक है । क्योकि सम्यग्दृष्टि नियमसे अमूढदृष्टि अगका पालन करता है । मिथ्यादृष्टि ऐसा नही करता वह उल्टा ही करता है ।

भावार्थः—सम्यग्दृष्टिके लिये अमूढदृष्टि अग अवश्य पालनीय है । यदि सम्यग्दृष्टिकी बुद्धि देवगुरु धर्मके सिवा कुगुरु, कुधर्म, कुदेवकी प्रशसा अथवा उनकी किञ्चिन्मान्यताकी तरफ है तो उसे मिथ्यादृष्टि ही समझना चाहिये । अथवा देव, गुरु, धर्ममें उसकी पूर्ण श्रद्धा नही है तो भी उसे मिथ्यादृष्टि ही समझना चाहिये । इसलिये अमूढदृष्टि सम्यग्दृष्टिका प्रधान गुण समझना चाहिये । शब्दान्तरमे यो कहना चाहिये कि सम्यग्दृष्टि अमूढदृष्टि नियमसे होता ही है (यदि वह मूढदृष्टि है तो सम्यग्दृष्टि नही किन्तु मिथ्यादृष्टि है । क्योकि सम्यग्दृष्टि कुदेव, कुगुरु, कुधर्म और मिथ्या शास्त्रोकी न तो विनय करता है न उन्हे प्रणाम ही करता है ।× विना मिथ्यात्वके उसकी कुदेवादिककी ओर बुद्धि अनुगामी किसी प्रकार नही हो सकती है । इसके सिवा जो लोग सच्चे देव, शास्त्र, गुरुकी यथार्थ विनय नही करते हैं, जिनको उनमे पूर्ण श्रद्धा नही है उन्हे भी मिथ्यादृष्टि ही समझना चाहिये ।* विना मिथ्यात्वकर्मके उदय हुए ऐसी कुमति नही हो सकती है ।

यद्यपि सम्यग्दर्शन गुण अतिसूक्ष्म है उसका विवेचन नही किया जा सकता है । जिस पुरुषकी आत्मामे वह गुण प्रकट होता है उसीको शुद्धात्मानुभवनका अपूर्व स्वाद आता है । वह उस आत्मिक अपूर्व स्वादका वाह्यमे उसीप्रकार विवेचन नही कर सकता है जिसप्रकार कि घीका स्वाद लेनेवालेसे उसका स्वाद पूछने पर वह उसका स्वाद ठीक ठीक प्रगट नही कर सकता । जिसप्रकार घीका स्वाद चखनेसे ही उसकी यथार्थ प्रतीति

× भयाशास्नेहलोभाच्च कुदेवागमलिङ्गिनाम् ।
प्रणाम विनय चैव न कुर्यु शुद्धदृष्टय ॥

अर्थात् भयसे, आशासे, प्रेमसे, लोभसे किसी तरह भी सम्यग्दृष्टि कुदेवादिकको प्रणाम अथवा उनकी विनय नही कर सकता है ।

(रत्नकरण्ड श्रावकाचार)

* आजकल जो प्रथमानुयोग शास्त्रो को कहानियाँ कहते हैं और जो जिनदर्शनको अनावश्यक समझते उनके मिथ्यात्वकर्मका उदय अवश्य है ।

होती है उसीप्रकार उस अलौकिक दिव्य सम्यक्त्वगुणकी प्रकटतामें होनेवाले आत्मिक रसका वह स्वयं पान करता है दूसरेसे नही कह सकता । तथापि व्यवहार सम्यक्त्व जो बतलाया गया है कि सत्यार्थ देव, गुरु, शास्त्रमे पूर्ण श्रद्धा रखना, उस बाह्य सम्यक्त्वमें भी जिनकी बुद्धि विपरीत है उनके मिथ्यात्व कर्मका तीव्र उदय समझना चाहिये। व्यवहार सम्यक्त्वीकी भी सच्चे देव, गुरु शास्त्रमे अटल भक्ति रहती है। उनमे उसकी बुद्धि किञ्चिन्मात्र भी शकित नही होती है।

यह बात भी नही है कि किसी पदार्थमे सम्यग्दृष्टिको शका ही नही उत्पन्न होती है, सम्यग्दृष्टि सर्वज्ञ नही है और जैसे छद्मस्थ है तैसे वह भी छद्मस्थ है। छद्मस्थतामें अनेक शंकाओंका होना स्वाभाविक बात है, इसलिये सम्यग्दृष्टि भी बहुतसी बातोमें शङ्कित रहता है, परन्तु शङ्काये दो प्रकारकी होती है। एक तो–जिस पदार्थमें शङ्का होती है उस पदार्थमे आस्था (श्रद्धा) रूप बुद्धि तो अवश्य रहती है परन्तु ज्ञानकी मदतासे पदार्थका स्वरूप बुद्धिमे न आनेसे शका होती है, सम्यग्दृष्टिको इस प्रकारकी ही शङ्का होती है। वह सर्वज्ञ कथित पदार्थ व्यवस्थाको तो सर्वथा सत्य समझता है, परतु बुद्धिकृत दोषसे उसके समझनेमे असमर्थ है। दूसरी शङ्का कुमतिज्ञानवश होती है। कुमतिज्ञानी अपनी बुद्धिको दोष नही देता है किन्तु सर्वज्ञ कथित आगमको ही दोषी ठहराता है, वह जिस पदार्थमे शङ्का करता है उस पदार्थपर श्रद्धा रूप बुद्धि नही रखता है। ऐसे ही पुरुष आजकल कालदोषसे अधिकतर होते चले जाते है जो स्वयको बुद्धिमान् समझते हुए आचार्योको अपनेसे विशेष ज्ञानवान नही समझते है। ऐसे ही पुरुष जिन दर्शन, जिन पूजन आदि नित्य क्रियाओको रूढि कहकर छोड ही नही देते है किन्तु दूसरोको भी ऐसा अहितकर उपदेश देते है। ऐसे लोगोका यह भी कहना है कि विचार स्वातन्त्र्यको मत रोको, जो कोई जैसा भी विचार (चाहे वह जिन धर्मके सर्वथा विपरीत ही हो) प्रकट करना चाहे करने दो, इन्ही बातोका परिणाम आजकल धर्म शैथिल्य और धर्म विरुद्ध प्रवृत्तियोका आन्दोलन है। ये सम्पूर्ण बाते धर्माचार्य तथा गृहस्थाचार्यके अभाव होनेसे हुई है। धार्मिक अकुश अब नही रहा है इसलिये जिसके मनमे जो बात समाती है उसके प्रकट करनेमे वह जरा भी सकोच नही करता है। यही कारण है कि दिन पर दिन धर्ममे शिथिलता ही आ रही है।*

* इस विषयमें स्वामी आशाधरने बहुत ही खेदजनक उद्गार प्रकट किये हैं—

कलिप्रावृषिमिथ्यादिङ्मेघच्छन्नासु दिक्ष्विह। खद्योतवत्सुदेष्टारो हा ! द्योतन्ते क्वचित्क्वचित्।

अर्थात् इस भरतक्षेत्रमें कलिकाल-पचमकालरूपी वर्षाकालमें मिथ्यादृष्टियोंके उपदेश रूपी मेघोंसे

उपगूहन अङ्गका निरूपण

उपबृंहणनामास्ति गुणः सम्यग्दृगात्मनः ।
लक्षणादात्मशक्तीनामवश्यं बृंहणादिह ।।७७८।।

अर्थः—सम्यग्दृष्टिका उपबृंहण (उपगूहन) नामक भी एक गुण है। उसका यह लक्षण है कि अपनी आत्मिक शक्तियोंको बढाना अथवा उनका विकाश करना। इसीसे उसका अन्वर्थ नाम उपबृहण है।

अथवा

आत्मशुद्धेरदौर्बल्यकरणं चोपबृंहणम् ।
अर्थाद्दृग्ज्ञप्तिचारित्रभावात् संवलितं हि तत् ।।७७९।।

अर्थः—आत्माकी शुद्धिमे मन्दता नही आने देना किन्तु उसे बढाना इसका नाम भी उपबृंहण है, अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र, इन भावोसे विशिष्ट आत्माकी शुद्धिको बढाते रहना उसमे किसी प्रकारकी शिथिलता नही आने देना इसीका नाम उपबृहण है।

उपबृंहण गुणधारीका स्वरूप

जानन्नप्येष निःशेषात्पौरुषं प्रेरयन्निव ।
तथापि यत्नवान्नात्र पौरुषं प्रेरयन्निव ।।७८०।।

अर्थः—उपबृंहण गुणका धारी पुरुष पुरुषार्थ पूर्वक सम्पूर्ण ऐहिक बातोको जानता है परन्तु उन ऐहिक (ससार सबन्धी) बातोके प्राप्त करनेके लिये वह पुरुषार्थ पूर्वक प्रयत्न नही करता है।

नायं शुद्धोपलब्धौ स्याल्लेशतोपि प्रमादवान् ।
निष्प्रमादतयाऽऽत्मानमाददानः समादरात् ।।७८१।।

अर्थः—उपबृहण गुणका धारक आत्माकी शुद्ध-उपलब्धिमे लेशमात्र भी प्रमादी नही है किन्तु प्रमाद रहित आदर पूर्वक अपने आत्माका ग्रहण करता है।

यद्वा शुद्धोपलब्ध्यर्थमभ्यस्येदपि तद्बहिः ।
सत्क्रियां काञ्चिदप्यर्थात्तत्साध्योपयोगिनीम् ।।७८२।।

म दुरुपदेशरूपी मेघ दिशायें ढक रहा है। उसमें यथार्थ तत्त्वोंके उपदेष्टा खद्योत (जुगुनू)के समान कहीं २ पर दिखलाई पड़ते हैं। ग्रन्थकारने इस विषयका दुःख प्रकट करनेके लिए 'हा', शब्दका प्रयोग किया है।
"सागारधर्मामृत"।

अर्थः—अथवा वह शुद्धोपलब्धिके लिये बाह्य किसी सत्क्रियाका भी अभ्यास करता है जो कि उसके साध्यमे उपयोगी पड़ती है ।

बाह्य आचरणमें दृष्टान्त

रसेन्द्रं सेवमानोपि कोपि पथ्यं न वाऽऽचरेत् ।
आत्मनोऽनुल्लाघतामुज्झन्नुज्झन्नुल्लाघतामपि ॥७८३॥

अर्थः—कोई पुरुष रसायनका सेवन भी करे परन्तु पथ्य न करे तो रसायनसे जिसप्रकार वह अपने रोगका नाश करता है उसीप्रकार पथ्यके न करनेसे नीरोगताका भी नाश करता है । भावार्थः—रोगको दूर करनेके लिये उचित औषधिके सेवनके साथ साथ अनुकूल पथ्य करनेकी भी आवश्यकता है । अन्यथा रोग दूर नही हो सकता है । उसीप्रकार सम्यग्दृष्टिको साध्योपयोगी बाह्य सत्क्रियाओके करनेकी भी आवश्यकता है ।

अथवा

यद्वा सिद्धं विनायासात्स्वतस्तत्रोपबृंहणम् ।
ऊर्ध्वमूर्ध्वगुणश्रेण्यां निर्जरायाः सुसंभवात् ॥७८४॥

अर्थः—अथवा सम्यग्दृष्टिके किसी खास यत्नके स्वत ही उपबृंहण गुण सिद्ध है । क्योकि ऊपर ऊपर गुणश्रेणी (परिणामोकी उत्तरोत्तर विशुद्धतामे) रूपसे उसके निर्जराका होना अवश्यभावी है । भावार्थः—सम्यग्दृष्टिके असख्यात गुणो निर्जरा होती रहती है और वह उत्तरोत्तर श्रेणी क्रमसे बढ़ी हुई है ।

अवश्यंभाविनी चात्र निर्जरा कृत्स्नकर्मणाम् ।
प्रतिसूक्ष्मक्षणं यावदसंख्येयगुणक्रमात् ॥७८५॥

अर्थः—उपबृंहण गुणधारीके सम्पूर्ण कर्मोकी निर्जरा अवश्य होगी, क्योकि प्रतिक्षण उसके असख्यात गुणी २ निर्जरा होती ही रहती है ।

कर्मोंके क्षयमें आत्माकी विशुद्धिकी वृद्धि

न्यायादायातमेतद्वै यावतांशेन तत्क्षतिः ।
वृद्धिः शुद्धोपयोगस्य वृद्धेर्वृद्धिः पुनः पुनः ॥७८६॥

अर्थ—यह बात न्याय प्राप्त है कि जितने अशमे कर्मोका क्षय हो जाता है उतने ही अशमे शुद्धोपयोगकी वृद्धि हो जाती है । उधर कर्मोके क्षयकी वृद्धि होती जाती है इधर शुद्धोपयोगकी वृद्धि होती जाती है । यह वृद्धि बराबर बढ़ती चली जाती है ।

यथा यथा विशुद्धेः स्याद् वृद्धिरन्तः प्रकाशिनी ।
तथा तथा हृषीकाणामुपेक्षा विषयेष्वपि ॥७८७॥

अर्थः—जैसी जैसी विशुद्धिकी वृद्धि अन्तरगमें प्रकार डालती है, वैसी वैसी ही आत्माकी इन्द्रियोके विषयोमे उपेक्षा होती जाती है ।

क्रियाकाण्डको बढ़ाना चाहिये

ततो भूम्नि क्रियाकाण्डे नात्मशक्तिं स लोपयेत् ।
किन्तु संवर्धयेन्नूनं प्रयत्नादपि दृष्टिमान् ॥७८८॥

अर्थः—इसलिये बहुतसे क्रियाकाण्डमे अपनी शक्तिको नही छिपाना चाहिये । किन्तु यत्नपूर्वक उसे बढाना चाहिये यह सम्यग्दृष्टिका कर्तव्य है ।

साराश

उपबृंहणनामापि गुणः सद्दर्शनस्य यः ।
गणितो गणनामध्ये गुणानां नागुणाय च ॥७८९॥

अर्थः—जो उपबृंहण (उपगूहन) गुण कहा गया है वह भी सम्यग्दृष्टिका गुण है । सम्यग्दृष्टिके गुणोमे यह भी गुण गिना गया है, यह दोषाधायक नही है ।

स्थितिकरण अगका निरूपण

सुस्थितीकरणं नाम गुणः सम्यग्दृगात्मनः ।
धर्माच्च्युतस्य धर्मे तत् नाऽधर्मेऽधर्मणः क्षतेः ॥७९०॥

अर्थः—स्थितिकरण गुण भी सम्यग्दृष्टिका गुण है । धर्मसे जो पतित हो चुका है अथवा पतित होनेके सन्मुख है उसे फिर धर्ममे स्थित कर देना इसीका नाम स्थितिकरण है । किन्तु अधर्मकी क्षति होनेपर अधर्ममे स्थित करनेको स्थितिकरण नही कहते है ।

अधर्म सेवन धर्मके लिये भी अच्छा नहीं है

न प्रमाणीकृतं वृद्धैर्धर्मायाधर्मसेवनम् ।
भाविधर्माशया केचिन्मन्दाः सावद्यवादिनः ॥७९१॥

अर्थः—धर्मके लिये भी अधर्मका सेवन करना वृद्ध पुरुषोने स्वीकार नही किया है । आगामी कालमे धर्मकी आशासे कोई मूर्ख—अधर्म सेवनका भी उपदेश देते है ।

परम्परेति पक्षस्य नावकाशोऽत्र लेशतः ।
मूर्धादन्यत्र नो मोहाच्छीतार्थं वह्निमाविशेत् ॥७९२॥

अर्थः—'अधर्म सेवनसे परम्परा धर्म होता है, इसप्रकार परम्परा पक्षका लेशमात्र भी यहाँ अवकाश नही है। मूर्खको छोड़कर ऐसा कौन पुरुष है जो मोहसे शीतके लिये वह्निमे प्रवेश करे।

भावार्थः—जैसा कारण होता है उसी प्रकारका कार्य होता है, ठण्डका चाहने वाला उन्ही पदार्थोका सेवन करेगा जो ठण्डको पैदा करनेवाले हो, ठण्डका चाहने वाला उष्ण पदार्थों (अग्नि आदिक)का कभी सेवन नही करेगा। इसीप्रकार धर्मको चाहनेवाला धर्मका ही सेवन करेगा क्योकि धर्म सेवनसे ही धर्मकी प्राप्ति हो सकती है, अधर्म सेवनसे धर्मकी प्राप्ति कदापि नही हो सकती। जो लोग अधर्म सेवनसे धर्म बतलाते हैं वे कीकरके वृक्षसे आम्रकी प्राप्ति बतलाते है, परन्तु यह उनकी भारी भूल है। कीकरके वृक्षसे सिवा काँटोके और कुछ नही मिल सकता है।

नैतद्धर्मस्य प्राग्रूपं प्रागधर्मस्य सेवनम्।
व्याप्तेरपक्षधर्मत्वाद्धेतोर्वा व्यभिचारतः ॥७९३॥

अर्थः—अधर्मका सेवन धर्मका प्राक्रूप भी नही है। क्योकि अधर्मसेवनरूप हेतु विपक्षभूत–अधर्मप्राप्तिमे भी रह जाता है इसलिये व्यभिचारी है इसीसे अधर्मसेवन और धर्मप्राप्तिकी व्याप्ति भी व्यभिचरित है। भावार्थः—मीमासकादि दर्शनकार यागादिमें हिंसारूप अधर्मसेवनसे धर्मप्राप्ति मानते हैं और उसी यागादिका फल स्वर्गप्राप्ति बतलाते हैं। आचार्य कहते है कि ऐसा उनका सिद्धान्त सर्वथा मिथ्या है। क्या हिंसारूप अधर्मके सेवन करनेसे धर्मप्राप्ति हो सकती है? हिंसादि नीच कार्योका स्वर्ग फल कभी नही हो सकता है। हिंसा करनेसे परिणामोमे सक्लेशकी ही वृद्धि होगी उससे पाप वन्ध होगा इसलिये अधर्मसेवनका फल उत्तरोत्तर अधर्मकी वृद्धि है। धर्मका हेतु अधर्म कभी नही हो सकता है।

प्रतिसूक्ष्मक्षणं यावद्धेतोः कर्मोदयात्स्वतः।
धर्मो वा स्यादधर्मो वाप्येष सर्वत्र निश्चयः ॥७९४॥

अर्थः—प्रति समय जब तक कर्मका उदय है तब तक धर्म और अधर्म दोनो ही हो सकते हैं ऐसा सर्वत्र नियम है शुभ वन्धमे धर्म और अशुभ वन्धसे अधर्म होता है।

भावार्थ—जब कर्मोदय मात्रसे भी अधर्म पाप वन्ध होता है तब अधर्मसेवनसे तो अवश्य ही अधर्म होगा, इसलिये यागादि अधर्मसेवनसे धर्मप्राप्तिकी कल्पना करना मीमासकोकी सर्वथा भूल है।

स्थितिकरणके भेद

तत्स्थितीकरणं द्वेधाऽध्यक्षात्स्वापरभेदतः ।
स्वात्मनः स्वात्मतत्त्वेऽर्थात्परत्वे तु परस्य तत् ॥७९५॥

अर्थः—वह स्थितिकरण अपने और परके भेदसे दो प्रकारका है । अर्थात् अपने आत्माके पतित होनेपर अथवा पतित होनेके सन्मुख होनेपर अपने आत्मामे ही पुनः अपने आपको लगा लेना इसे स्व–स्थितिकरण कहते हैं । और दूसरे आत्माके धर्मसे पतित होनेपर पुनः उसे उसी धर्ममे तदवस्थ कर देना इसे पर स्थितिकरण कहते हैं । ये दो भेद प्रत्यक्ष सिद्ध है ।

स्वस्थितिकरणका खुलासा

तत्र मोहोदयोद्रेकाच्च्युतस्यात्मस्थितेश्चितः ।
भूयः संस्थापनं स्वस्य स्थितीकरणमात्मनि ॥७९६॥

अर्थ—मोहोदयके उद्रेकवश अपनी आत्म परिस्थिति (धर्मस्थिति)से पतित अपने आत्माको पुनः आत्म परिस्थितिमे लगा देना इसीका नाम स्वस्थितिकरण है अपनेमे अपना स्थितिकरण है ।

इसीका स्पष्टीकरण

अयं भावः क्वचिद्दैवाद्दर्शनात्स पतत्यधः ।
व्रजत्यूर्ध्वं पुनर्दैवात्सम्यगारुह्य दर्शनम् ॥७९७॥

अर्थः—ऊपर कहे हुए कथनका खुलासा इसप्रकार है–कभी कर्मोदयकी तीव्रतासे वह सम्यग्दृष्टि दर्शनसे नीचे गिरता है । फिर दैववश सम्यग्दर्शनको पाकर ऊपर चढता है ।

अथवा

अथ क्वचिद्यथाहेतुदर्शनादपतन्नपि ।
भावशुद्धिमधोधांशैरूर्ध्वं मूर्ध्वं प्ररोहति ॥७९८॥

अर्थः—अथवा सामग्रीको योग्यतामे कभी दर्शनसे नही भी गिरता है तो भावोंका शुद्धिको नीचे नीचेके अंशोसे ऊपर ऊपरको बढाता है ।

अथवा

क्वचिद्बहिः शुभाचारं स्वीकृतं चापि मुञ्चति ।
न मुञ्चति कदाचिद्वा मुक्त्वा वा पुनराश्रयेत् ॥७९९॥

अर्थः—कभी स्वीकृत किये हुए भी बाह्य–शुभाचारको छोड़ देता है। कभी नहीं भी छोड़ता है। अथवा छोड़कर पुनः ग्रहण करने लगता है।

अथवा

यद्वा वहिः क्रियाचारे यथावस्थं स्थितेपि च।
कदाचिद्दीप्यमानोन्तर्भावैर्भूत्वा च वर्त्तते ॥८००॥

अर्थः—अथवा बाह्य क्रियाचारमे ठीक ठीक स्थित रहनेपर कभी कभी अन्तरङ्ग भावोसे दैदीप्यमान होने लगता है।

नासंभवमिदं यस्माच्चारित्रावरणोदयः।
अस्ति तरतमस्वांशैर्गच्छन्निम्नोन्नतामिह ॥८०१॥

अर्थः—कभी अन्तरङ्गके भाव बढने लगते है कभी घटने लगते है यह बात असभव नही है। क्योकि चारित्र मोहनीय कर्मका उदय अपने अशोसे कभी बढने लगता है और कभी घटने लगता है। भावार्थः—चारित्र मोहनीय जिस रूपसे कम बढ़ होता है उसी रूपसे भावोमे भी हीनाधिकता होती है।

अत्राभि मेवैतत्स्वस्थितीकरणं स्वतः।
न्यायात्कुतश्चिदत्रास्ति हेतुस्तत्रा स्थितिः ॥८०२॥

अर्थः—यहांपर इतना ही अभिप्राय है कि स्वस्थितिकरण स्वय होता है और उसमे आत्माकी स्थिरताका न होना ही कारण है।

दूसरोंका स्थितिकरण

सुस्थितीकरणं नाम परेषां सदनुग्रहात्।
भ्रष्टानां स्वपदात्तत्र स्था तत्पदे पुनः ॥८०३॥

अर्थः—दूसरोपर* सत् अनुग्रह करना ही पर–स्थितीकरण है। वह अनुग्रह यही है कि जो अपने पदसे भ्रष्ट हो चुके हैं उन्हें उसी पदमे फिर स्थापन कर देना।

---

* सत् अनुग्रहसे इतना ही तात्पर्य है कि विना किसी प्रकारकी इच्छा रहते हुए धार्मिक बुद्धिसे परोपकार करना। जो अनुग्रह लोभवश अथवा अन्य प्रतिष्ठा आदिकी चाहना वश किया जाता है, वह अनुग्रह अवश्य है परन्तु उसको सत अनुग्रह नहीं कह सकते। प्रशंसनीय अनुग्रह निस्पृह वृत्तियोंका ही कहा जा सकता है।

स्वोपकार पूर्वक ही परोपकार ठीक है

धर्मादेशोपदेशाभ्यां कर्तव्योऽनुग्रहः परे ।
नात्मव्रतं विहायास्तु तत्परः पररक्षणे ॥८०४॥

अर्थः—धर्मका आदेश और धर्मका उपदेश देकर दूसरों पर अनुग्रह करना चाहिये । परन्तु आत्मीय व्रतमे किसी प्रकारकी बाधा न पहुँचा कर ही दूसरोके रक्षणमे तत्पर रहना उचित है । अन्यथा नही ।

ग्रन्थान्तर

आदहिदं कादव्वं जइ सक्कइ परहिदं च कादव्वं ।
आदहिदपरहिदादो आदहिदं सुट्ठु कादव्वं ॥८०५॥

अर्थः—सबसे प्रथम अपना हित करना चाहिये । यदि अपना हित करते हुए जो पर हित करनेमे समर्थ है उसे परहित भी करना चाहिये । आत्महित और परहित इन दोनोमे आत्महित ही उत्तम है उसे ही प्रथम करना चाहिये ।

भावार्थः—इन दो कारिकाओसे यह बात भलीभाँति सिद्ध हो जाती है कि मनुष्यका सबसे पहला कर्तव्य आत्महित है, बिना आत्म कल्याण किये वास्तवमे आत्म कल्याण हो भी नही सकता है । जहाँ पर सर्वोपरि उच्च ध्येय है वहाँ भी आत्महित ही प्रमुख है । आचार्य यद्यपि मुनियोका पूर्ण हित करते है उन्हे मोक्षमार्ग पर लगाते हैं, तथापि उस अवस्थामें रहकर उनको उच्च ध्येय नही मिल सकता है । जिससमय वे उस उच्च ध्येय मुक्तिको प्राप्त करना चाहते है उससमय उस आचार्य पदका त्याग कर स्वात्म भावन मात्र–साधु पदमे आ जाते है इसलिये यह ठीक है कि आत्महित ही सर्वोपरि है । आत्महित स्वार्थमे शामिल नही किया जा सकता है । जो सासारिक वासनाओकी पूर्तिके लिये प्रयत्न किया जाता है उसे ही स्वार्थ कहा जा सकता है उसका कारण भी यही है कि स्वार्थ उसे ही कह सकते हैं जो प्रमाद विशिष्ट है, आत्महित करनेवाला प्रमाद विशिष्ट नहीं है इसलिये उसे स्वार्थी कहना भूल है । इस कथनसे हम परोपकारका निषेध नही करना चाहते है, परोपकार करना तो महान् पुण्य बन्धका कारण है । परन्तु जो लोग परोपकार करते हुए स्वय भ्रष्ट हो जाते है अथवा आत्महितको जो स्वार्थ बताते हैं वे अवश्य आत्महितसे कोसो दूर है, आचार्योंने परोपकारको भी स्वार्थ साधन ही बतलाया है । यहाँ पर यह शका की जा सकती है कि कही पर परोपकारार्थ स्वयं भ्रष्ट भी होना पड़ता है जैसे कि विष्णुकुमार मुनिने मुनियोकी रक्षाके लिये अपने पदको छोड़ ही दिया ? शका ठीक है । कही पर धर्मको विशेष हानि देखकर ऐसा भी किया

जाता है परन्तु आत्महितको गौण कहीं नही समझा जाता है। विष्णुकुमारने अगत्या ऐसा किया तथापि उन्होने शीघ्र ही प्रायश्चित्त लेकर स्वपदका ग्रहण कर लिया। आजकल तो आत्म कल्याण परोपकारको ही लोगोने समझ रक्खा है, जो देशोद्धारादिक कार्य वर्त्तमानमे दीख रहे हैं वे यद्यपि निःस्वार्थ-परोपकारार्थ है और उस परोपकारका श्रेय भी उन्हे अवश्य मिलेगा। परन्तु ऐसे परोपकारमें स्वोपकार (पारमार्थिक) की गन्ध भी नही है। देशोद्धारादि कार्यकारियोमें स्वधर्म शैथिल्य एवं चारित्र हीनता प्राय: देखी जाती है। यदि उनमे यह बात न हो तो अवश्य ही उनका वह परोपकार पूर्ण स्वोपकारमे सहायक है।

कथनका संकोच

उक्तं दिङ्मात्रतोऽप्यत्र सुस्थितीकरणं गुणः ।
निर्जरायां गुणश्रेणौ प्रसिद्धः सुदृगात्मनः ॥८०६॥

अर्थः—सुस्थितिकरण गुणका स्वरूप थोड़ासा यहांपर कहा गया है। यह गुण सम्यग्दृष्टिके उत्तरोत्तर असंख्यात गुणी निर्जराके लिये प्रसिद्ध है।

वात्सल्य अंगका विवेचन

वात्सल्यं नाम दासत्वं सिद्धार्हद्बिम्ववेश्मसु ।
संघे चतुर्विधे शास्त्रे स्वामिकार्ये सुभृत्यवत् ॥८०७॥

अर्थः—सिद्धपरमेष्ठी, अर्हद्बिम्ब, जिन मन्दिर, चतुर्विध संघ (मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका) और शास्त्रमे, स्वामिकार्यमे योग्य सेवककी तरह दासत्व भाव रखना ही वात्सल्य है।

अर्थादन्यतमस्योच्चैरुद्दिष्टेषु स दृष्टिमान् ।
सत्सु घोरोपसर्गेषु तत्परः स्यात्तदत्यये ॥८०८॥

अर्थः—अर्थात् ऊपर जो सिद्धपरमेष्ठी आदि पूज्य बतलाये है उनमेसे किसी भी एक पर घोर उपसर्ग होनेपर उसके दूर करनेके लिये सम्यग्दृष्टि पुरुषको सदा तत्पर रहना चाहिये।

यद्वा नह्यात्मसामर्थ्यं यावन्मन्त्रासिकोशकम् ।
तावद्द्रष्टुं च श्रोतुं च तद्बाधां सहते न सः ॥८०९॥

अर्थः—अथवा जवतक अपनी सामर्थ्य है और जवतक मन्त्र, असि (तलवारका जोर) और वहुतसा द्रव्य (खज़ाना) है तब तक वह सम्यग्दृष्टि पुरुष उन पर आई हुई किसी प्रकारकी बाधाको न तो देख ही सकता है और न सुन ही सकता है।

भावार्थः—अपने पूज्यतम देवों पर अथवा देवालयों पर अथवा मुनि, आर्यिका, श्रावक श्राविकाओ पर यदि किसीप्रकारकी बाधा आवे तो उस बाधाको जिसप्रकार होसके उसप्रकार उसे दूर कर देना योग्य है। अपनी सामर्थ्यसे, मन्त्र शक्तिसे, द्रव्य बलसे, आज्ञासे, सैन्यबलसे हर तरहसे तुरन्त बाधाको दूर करना चाहिये। यही सम्यग्दृष्टिकी आन्तरङ्गिक भक्तिका उद्गार है। मन्त्रशक्ति भी वहुत बडी शक्ति है, बडे बड़े कार्य मन्त्र शक्तिसे सिद्ध हो जाते है। जो लोग मन्त्रोकी सामर्थ्य नही जानते है वे ही मन्त्रोपर विश्वास नही करते है, परन्तु सर्पादिकोके विषादिका अपहरण प्रत्यक्ष ही दीखता है। जब सामान्य मन्त्रो द्वारा ऐसे ऐसे कार्य देखे जाते है तो महान् आर्ष मन्त्रो द्वारा बहुत बडे कार्य सिद्ध हो सकते है, आजकल न वह श्रद्धा है और न शक्ति है इसीलिये मन्त्रोसे हम लोग कोई कार्य नही कर सकते है।

वात्सल्यके भेद

तद्द्विधाऽथ च वात्सल्यं भेदात्स्वपरगोचरात्।
प्रधानं स्वात्मसम्बन्धि गुणो यावत्परात्मनि ॥८१०॥

अर्थः—अपने और परके भेदसे वात्सल्य अङ्ग भी दो प्रकारका है। आत्म सबंधी वात्सल्य प्रधान है परात्म सम्बन्धी गौण है।

स्वात्म सम्बन्धी वात्सल्य

परीषहोपसर्गाद्यैः पीडितस्यापि कुत्रचित्।
न शैथिल्यं शुभाचारे ज्ञाने ध्याने तदादिमम् ॥८११॥

अर्थः—परीषह और उपसर्गादिसे कभी पीडित होनेपर भी अपने श्रेष्ठ आचारमे, ज्ञानमे, ध्यानमे शिथिलता नही आने देना इसीका नाम स्वात्म वात्सल्य है।

इतरत्प्रागिह ख्यातं गुणो दृष्टिमतः स्फुटम्।
शुद्धज्ञानवलादेव यतो वाधापकर्षणम् ॥८१२॥

अर्थः—दूसरा–परात्मसम्वन्धी वात्सल्य पहले इसी प्रकरणमे कहा जा चुका है। परात्म सम्वन्धी वात्सल्य सम्यग्दृष्टिका निश्चयसे गौण गुण है। क्योकि शुद्ध ज्ञानके वलसे ही वाधा दूर की जा सकती है। इसलिये आत्मीय शुद्धिका प्राप्त करना ही प्रमुख है।

प्रभावना अङ्गका स्वरूप

प्रभावनाङ्गसंज्ञोस्ति गुणः सद्दर्शनस्य वै।
उत्कर्षकरणं नाम लक्षणादपि लक्षितम् ॥८१३॥

अर्थः—सम्यग्दृष्टिका प्रभावना अङ्ग भी प्रसिद्ध गुण है। उसका यही लक्षण है कि हर एक धार्मिक कार्यमें उत्कर्ष–उन्नति करना।

धर्मका ही उत्कर्ष अभीष्ट है

अर्थात्तद्धर्मणः पक्षे नावद्यस्य मनागपि।
धर्मपक्षक्षतिर्यस्मादधर्मोत्कर्षपोषणात् ॥८१४॥

अर्थः—पापरूप अधर्मके पक्षमे किञ्चिन्मात्र भी उत्कर्ष नही वढाना चाहिये। क्योकि अधर्मका उत्कर्ष वढानेसे धर्मके पक्षकी हानि होती है।

प्रभावनाके भेद

पूर्ववत्सोपि द्विविधः स्वान्यात्मभेदतः पुनः।
तत्राद्यो वरमादेयः स्यादादेयः परोप्यतः ॥८१५॥

अर्थः—पहले अंगोकी तरह प्रभावना अंग भी स्वात्मा और परात्माके भेदसे दो प्रकार है। उन दोनोमें पहला सर्वोत्तम है और उपादेय है। इसके पीछे दूसरा भी ग्राह्य है।

उत्कर्ष

उत्कर्षो यद्बलाधिक्यादधिकीकरणं वृषे।
असत्सु प्रत्यनीकेषु नालं दोषाय तत्क्वचित् ॥८१६॥

अर्थः—विपक्षके न होनेपर वल पूर्वक धर्ममें वृद्धि करना, इसीका नाम उत्कर्ष है। प्रभावना अंग दोषोत्पादक कभी नही हो सकता है।

अपनी प्रभावना

मोहारातिक्षतेः शुद्धः शुद्धाच्छुद्धतरस्ततः।
जीवः शुद्धतमः कश्चिदस्तीत्यात्मप्रभावना ॥८१७॥

अर्थः—मोहरूपी शत्रुका नाश हो जानेसे जीव शुद्ध हो जाता है, कोई शुद्धसे भी अधिक शुद्ध हो जाता है और कोई उससे भी अधिक शुद्ध हो जाता है इसप्रकार अपने आत्माका उत्कर्ष वढाना इसीका नाम स्वात्मप्रभावना है।

इस शुद्धिमें पौरुष कारण नहीं है

नेदं स्यात्पौरुषायत्तं किन्तु नूनं स्वभावतः।
ऊर्ध्वमूर्ध्वगुणश्रेणौ यतः सिद्धिर्यथोत्तरम् ॥८१८॥

अर्थः—इसप्रकारका उत्कर्ष करना पौरुषके अधीन नही है किन्तु स्वभावसे ही

अर्थः—सम्यग्दृष्टिका प्रभावना अङ्ग भी प्रसिद्ध गुण है। उसका यही लक्षण है कि हर एक धार्मिक कार्यमें उत्कर्ष—उन्नति करना।

धर्मका ही उत्कर्ष अभीष्ट है

अर्थात्तद्धर्मणः पक्षे नावद्यस्य मनागपि।
धर्मपक्षक्षतिर्यस्मादधर्मोत्कर्षपोषणात् ॥८१४॥

अर्थः—पापरूप अधर्मके पक्षमे किञ्चिन्मात्र भी उत्कर्ष नही बढाना चाहिये। क्योकि अधर्मका उत्कर्ष बढानेसे धर्मके पक्षकी हानि होती है।

प्रभावनाके भेद

पूर्ववत्सोपि द्विविधः स्वान्यात्मभेदतः पुनः।
तत्राद्यो वरमादेयः स्यादादेयः परोप्यतः ॥८१५॥

अर्थः—पहले अगोकी तरह प्रभावना अंग भी स्वातमा और परात्माके भेदसे दो प्रकार है। उन दोनोमे पहला सर्वोत्तम है और उपादेय है। इसके पीछे दूसरा भी ग्राह्य है।

उत्कर्ष

उत्कर्षो यद्बलाधिक्यादधिकीकरणं वृषे।
असत्सु प्रत्यनीकेषु नालं दोषाय तत्क्वचित् ॥८१६॥

अर्थः—विपक्षके न होनेपर वल पूर्वक धर्ममे वृद्धि करना, इसीका नाम उत्कर्ष है। प्रभावना अंग दोषोत्पादक कभी नही हो सकता है।

अपनी प्रभावना

मोहारातिक्षतेः शुद्धः शुद्धाच्छुद्धतरस्ततः।
जीवः शुद्धतमः श्चिदस्तीत्यात्मप्रभावना ॥८१७॥

अर्थः—मोहरूपी शत्रुका नाश हो जानेसे जीव शुद्ध हो जाता है, कोई शुद्धसे भी अधिक शुद्ध हो जाता है और कोई उससे भी अधिक शुद्ध हो जाता है इसप्रकार अपने आत्माका उत्कर्ष बढाना इसीका नाम स्वात्मप्रभावना है।

इस शुद्धिमें पौरुष कारण नहीं है

नेदं स्यात्पौरुषायत्तं किन्तु नूनं स्वभावतः।
ऊर्ध्वमूर्ध्वगुणश्रेणौ यतः सिद्धिर्यथोत्तरम् ॥८१८॥

अर्थः—इसप्रकारका उत्कर्ष करना पौरुषके अधीन नही है किन्तु स्वभावसे ही

होता है। और उत्तरोत्तर श्रेणीके क्रमसे असंख्यात गुणी निर्जरा होनेसे उसकी सिद्धि होती है।

बाह्य प्रभावना

बाह्यः प्रभावनाङ्गोस्ति विद्यामन्त्रादिभिर्बलैः।
तपोदानादिभिर्जैनधर्मोत्कर्षो विधीयताम् ॥८१९॥

अर्थः—विद्याके बलसे, मन्त्रादिके बलसे, तपसे तथा दानादि उत्तम कार्योंसे जैनधर्मका उत्कर्ष (आधिक्य) बढाना चाहिये इसीको बाह्य प्रभावना कहते है।

और भी

परेषामपकर्षाय मिथ्यात्वोत्कर्षशालिनाम्।
चमत्कारकरं किञ्चित्तद्विधेयं महात्मभिः ॥८२०॥

अर्थः—जो लोग मिथ्या क्रियाओके बढानेमे लगे हुए है ऐसे पुरुषोको नीचा दिखानेके लिये अथवा उनकी हीनता प्रकट करनेके लिये महात्माओको कुछ चमत्कार करनेवाले प्रयोग भी करना चाहिये।

उक्तः प्रभावनाङ्गोपि गुणः सद्दर्शनान्वितः।
येन सम्पूर्णतां याति दर्शनस्य गुणाष्टकम् ॥८२१॥

अर्थः—सम्यग्दर्शनसे विशिष्ट प्रभावना अग भी गुण है। उसका कथन हो चुका। इसी प्रभावना अंगके कारण सम्यग्दर्शनके आठ गुण सम्पूर्ण हो जाते हैं, अर्थात् आठवा गुण प्रभावना है।

इत्यादयो गुणाश्चान्ये विद्यन्ते सद्दृगात्मनः।
अलं चिन्तनया तेषामुच्यते यद्विवक्षितम् ॥८२२॥

अर्थः—इन आठ गुणोके सिवा और भी सम्यग्दृष्टिके गुण हैं उनका यहांपर विचार नही किया जाता है। किन्तु जो विवक्षित है वही कहा जाता है।

प्रकृतं तद्यथास्ति स्वं स्वरूपं चेतनात्मनः।
सा त्रिधात्राप्युपादेया सद्दृष्टेर्ज्ञानचेतना ॥८२३॥

अर्थः—प्रकृत यही है कि आत्माका निजस्वरूप चेतना है। वह चेतना तीन प्रकार है—कर्म चेतना, कर्मफल चेतना और ज्ञान चेतना। इन तीनोमें ज्ञान चेतना ही सम्यग्दृष्टिको उपादेय है, बाकी दोनो त्याज्य है।

श्रद्धानादि गुणाश्चैते बाह्योल्लेखच्छलादिह।
अर्थात्सद्दर्शनस्यैकं लक्षणं ज्ञानचेतना ॥८२४॥

अर्थः—श्रद्धान आदिक जो सम्यग्दृष्टिके गुण हैं वे बाह्य कथनके छलसे , अर्थात् सम्यग्दृष्टिका तो केवल एक ज्ञानचेतना ही लक्षण है ।

किन्हीं नासमझ पुरुषोंका कथन

ननु रूढिरिहाप्यस्ति योगाद्वा लोकतोऽथवा ।
तत्सम्यक्त्वं द्विधाप्यर्थनिश्चयाद्व्यवहारतः ॥८२५॥
व्यावहारि सम्यक्त्वं सरागं सविकल्पकम् ।
निश्चयं वीतरागं तु सम्यक्त्वं निर्विकल्पकम् ॥८२६॥
इत्यस्ति वा गोन्मेषः केषाञ्चिन्मोहशालिनाम् ।
तन्मते वीतरागस्य सद्दृष्टेर्ज्ञानचे । ॥८२७॥
तैः सम्यक्त्वं द्विधा कृत्वा स्वामिभेदो द्विधा कृतः ।
एकः कश्चित् सरागोरि वीतरागश्च कश्चन ॥८२८॥
तत्रारि वीतरागस्य कस्यचिज्ज्ञानचेतना ।
सद्दृष्टेर्निर्विकल्पस्य नेतरस्य कदाचन ॥८२९॥
व्यावहारि ेः सविकल्पस्य रागिणः ।
प्रतीतिमात्रमेवास्ति कुतः स्यात् ज्ञानचेतना ॥८३०॥

अर्थः—ऐसी योगरूढि अथवा लोकरूढि है कि वह सम्यग्दर्शन दो प्रकार है एक निश्चय सम्यक्त्व दूसरा व्यवहार सम्यक्त्व । व्यवहार सम्यक्त्व सराग और सविकल्प है, और निश्चय सम्यक्त्व वीतराग तथा निर्विकल्पक है । किन्ही मोहशाली पुरुषोंकी ऐसी वासना है, उनके मतमे वीतराग सम्यग्दृष्टिके ही ज्ञानचेतना होती है । उन लोगोंने सम्यक्त्वके दो भेद करके उसके स्वामीके भी दो भेद किये हैं । उनका कहना है कि एक सराग सम्यक्त्व होता है और एक वीतराग सम्यक्त्व होता है । उन दोनोंमें जो वीतराग–निर्विकल्पक सम्यग्दृष्टि है उसीके ज्ञान चेतना होती है, जो सराग–सविकल्पक व्यावहारिक सम्यग्दृष्टि है उसके ज्ञानचेतना कभी नही होती क्योंकि उसके प्रतीतिमात्र है इसलिये ज्ञान चेतना उसके कहांसे हो सकती है ।

उत्तर

इति प्रज्ञापराधेन ये वदन्ति दुराशयाः ।
तेषां यावच्छ्रुताभ्यासः कायक्लेशाय केवलम् ॥८३१॥

अर्थः—इसप्रकार बुद्धिके दोषसे जो दुष्ट आशयवाले ऐसा कहते हैं उन भी शास्त्राभ्यास है वह केवल शरीरको कष्ट पहुँचानेके लिये है ।

अत्रोच्यते समाधानं मामवेदेन सूरिभिः ।
उच्चैरुत्फाणिते दुग्धे योज्यं जलमनाविलम् ॥८३२॥

अर्थः—यहां पर आचार्य शान्ति पूर्वक समाधान करते है क्योंकि दूधका उफान आने पर स्वच्छ जल उसमे डालना ही ठीक है ।

सतृणाभ्यवहारित्वं करीव कुरुषे कुदृक् ।
तज्जहीहि जहीहि त्वं कुरु प्राज्ञ विवेकिताम् ॥८३३॥

अर्थः—जिसप्रकार हस्ती तृण सहित खा जाता है उसीप्रकार मिथ्यादृष्टि अविवेकपूर्वक बोलता है । आचार्य कहते हैं कि हे प्राज्ञ ! उस अविवेकिताको छोड़ दो और विवेकसे काम लो ।

वन्हेरौष्ण्यमिवात्मज्ञ पृथक्कर्तुं त्वमर्हसि ।
मा विभ्रमस्व दृष्ट्वापि चक्षुषाऽचाक्षुषाशया ॥८३४॥

अर्थः—आचार्य कहते है कि हे आत्मज्ञ! तुम वन्हिसे उष्णताको तरह 'सम्यग्दृष्टिसे ज्ञान चेतना' को अलग करना चाहते हो । परन्तु चक्षुसे किसी पदार्थको देखकर भी अचाक्षुष प्रत्यक्षकी आशासे उस पदार्थमे विभ्रम मत करो ।

भावार्थः—ऊपर शकाकारने सविकल्पक सरागी सम्यग्दृष्टिके ज्ञानचेतनाका अभाव वतलाया है वह वीतराग सम्यग्दृष्टिके ही ज्ञानचेतना वतलाता है । आचार्य कहते हैं कि ऐसा कहना ठीक नही है सराग सम्यग्दृष्टिके भी ज्ञानचेतना होती है । इसलिये सराग सम्यग्दृष्टिसे ज्ञानचेतनाको पृथक् करना ऐसा ही है जैसे कि अग्निसे उसके गुणको दूर करना ।

अब सम्यग्दृष्टिके सराग और सविकल्पक विशेषणोका आशय प्रकट किया जाता है जिससे कि सराग-सविकल्पक सम्यग्दृष्टिके ज्ञान चेतना होनेमे किसी प्रकारका सन्देह न रहे—

विकल्पो योगसंक्रान्तिरर्थाऽज्ज्ञानस्य पर्ययः ।
ज्ञेयाकारः स ज्ञेयार्थात् ज्ञेयार्थान्तरसङ्गतः ॥८३५॥

अर्थः—उपयोगके बदलनेको विकल्प कहते हैं । वह विकल्प ज्ञानकी पर्याय है अर्थात् पदार्थाकार ज्ञानही उस ज्ञेयरूप पदार्थसे हटकर दूसरे पदार्थके आकारको धारण करने लगता है । भवार्थः—आत्माका ज्ञानोपयोग एक पदार्थसे हटकर दूसरी तरफ लगता है इसीका नाम उपयोग सक्रान्ति है । और इसी उपयोगका नाम विकल्प है ।

वह विकल्प क्षयोपशमरूप है

क्षायोपशमिकं तत्स्यादर्थादक्षार्थसम्भवम् ।
क्षायिकात्यक्षज्ञानस्य संक्रान्तेरप्यसंभवात् ॥८३६॥

अर्थः—वह उपयोग संक्रान्ति स्वरूप विकल्प क्षयोपशमात्मक है। अर्थात् इन्द्रिय और पदार्थके सम्बन्धसे होनेवाला ज्ञान है। क्योंकि अतीन्द्रिय–क्षायिक ज्ञानमें सक्रान्तिका होना ही असभव है।

भावार्थः—जब तक ज्ञानमे अल्पज्ञता है तब तक वह सब पदार्थोंको युगपत् नहीं ग्रहण कर सकता है किन्तु क्रम क्रमसे कभी किसी पदार्थको और कभी किसी पदार्थको जानता है। यह अवस्था इन्द्रिय जन्य ज्ञानमे ही होती है। जो ज्ञान क्षायिक है–अतीन्द्रिय है उसमें सम्पूर्ण पदार्थ एक साथ ही प्रतिबिम्बित होते है इसलिये उस ज्ञानमें उपयोगका परिवर्त्तन नही होता है। परन्तु वह ज्ञान भी सविकल्पक है।

कदाचित् कोई कहे कि वह ज्ञान (क्षायिक) कैसे हो सकता है क्योंकि विकल्प नाम उपयोगकी सक्रान्तिका है और क्षायिक ज्ञानमे सक्रान्ति होती नही है, फिर क्षायिक ज्ञान सविकल्पक किसप्रकार हो सकता है? इसका समाधान—

अस्ति क्षायिकज्ञानस्य विकल्पत्वं स्वलक्षणात् ।
नार्थादर्थान्तराकारयोगसंक्रान्तिलक्षणात् ॥८३७॥

अर्थः—क्षायिक ज्ञानमे विकल्पपना अपने लक्षणसे आता है न कि अर्थसे अर्थान्तराकारमे परिणत होनेवाले उपयोगके संक्रमणरूप लक्षणसे। छद्मस्थ ज्ञानमे उपयोगसे दूसरा उपयोग होता है वह क्रमवर्ती ज्ञान है केवलज्ञान क्रमवर्ती नही है।

वह लक्षण इसप्रकार है

तल्लक्षणं स्वापूर्वार्थविशेषग्रहणात्मकम् ।
एकोऽर्थो ग्रहणं तत्स्यादाकारः सविकल्पता ॥८३८॥

अर्थः—क्षायिकज्ञानका लक्षण इसप्रकार है—स्व–आत्मा और अपूर्व पदार्थको विशेष रीतिसे ग्रहण करना। यहाँ पर अर्थ नाम पदार्थका है और ग्रहण नाम आकारका है। स्व और पदार्थके ज्ञानका ज्ञेयाकार होना ही ज्ञानमे सविकल्पता है।

भावार्थः—जो ज्ञान अपने आपको जानता है साथ ही पर पदार्थोको जानता है परन्तु उपयोगसे उपयोगान्तर नही होता है उसीको क्षायिक ज्ञान कहते है। यद्यपि क्षायिक ज्ञानमे भी पदार्थोके परिवर्त्तनकी अपेक्षासे परिवर्त्तन होता रहता है तथापि उसमे

छद्मस्थ ज्ञानकी तरह कभी किसी पदार्थका और कभी किसी पदार्थका ग्रहण नहीं है। क्षायिक ज्ञान सभी पदार्थोंको एक साथ ही जानता है इसीलिये उसमें उपयोग सङ्क्रान्तिरूप लक्षण घटित नहीं होता है परन्तु ज्ञेयाकार होनेसे वह सविकल्प अवश्य है।

ऐसे विकल्पका सराग ज्ञानमें ग्रहण नहीं है

विकल्पः सोऽधिकारेऽस्मिन्नाधिकारी मनागपि।
योगसंक्रान्तिरूपो यो विकल्पोऽधिकृतोऽधुना ॥८३९॥

अर्थः—जो विकल्प क्षायिकज्ञानमें घटित किया गया है वह विकल्प इस अधिकारमें कुछ भी अधिकारी नहीं है। यहांपर तो उपयोगके पलटने रूप विकल्पका ही अधिकार है।

ऐसे विकल्पका अधिकार क्यों है?

ऐन्द्रियं तु पुनर्ज्ञानं न संक्रान्तिमृते क्वचित्।
यतोऽप्यस्य क्षणं यावदर्थादर्थान्तरे गतिः ॥८४०॥

अर्थः—यहांपर इन्द्रियजन्य ज्ञानका अधिकार है और इन्द्रियजन्य ज्ञान विना सङ्क्रान्तिके कभी होता ही नहीं है। क्योंकि उसकी प्रतिक्षण अर्थसे अर्थान्तरमें गति होती रहती है।

भावार्थः—यहांपर विचार यह था कि सराग सम्यक्त्व सविकल्प है उसमें ज्ञानचेतना नहीं होती है किन्तु वीतराग सम्यक्त्वमें ही वह होती है। आचार्य कहते हैं कि उपर्युक्त कहना ठीक नहीं है, सविकल्प सम्यक्त्वमें भी ज्ञानचेतना होती है उसके होनेमें कोई बाधक नहीं है। यदि कहा जाय कि सराग सम्यक्त्व सविकल्प है इसलिये उसमें ज्ञानचेतना नहीं होती है इसके उत्तरमें आचार्यका कहना है कि विकल्प नाम ज्ञानोपयोगके पलटनेका है। ज्ञानोपयोगका पलटना यह उसका स्वभाव है। अर्थात् वह उपयोग कभी निजात्मानुभव ही करता है और कभी वह बाह्य पदार्थोंको भी जानता है। परतु वह ज्ञानचेतनामें किसी प्रकार बाधक नहीं हो सकता है। सराग सम्यग्दृष्टिके ज्ञानोपयोगका पलटन भी क्यों होता है, इसका कारण भी इन्द्रियजन्य बोध है। सराग सम्यग्दृष्टिके इन्द्रियजन्य ज्ञान होता है और इन्द्रियोंसे होनेवाला ज्ञान जिस पदार्थको जाननेकी चेष्टा करता है उसीको जानता है।

इन्द्रियज्ञान क्रमवर्ती है

इदं तु क्रमवर्त्यस्ति न स्यादक्रमवर्ति यत्।
ऐकां व्यक्तिं परित्यज्य पुनर्व्यक्तिं समाश्रयेत् ॥८४१॥

अर्थः—इन्द्रियजन्य ज्ञान नियमसे क्रमवर्ती होता है वह अक्रमवर्ती–सभी पदार्थोंको एक साथ जाननेवाला कभी नही होता। इन्द्रियजन्य ज्ञान एक पदार्थको छोड़कर दूसरे पदार्थको जाननेकी चेष्टा करता है।

इन्द्रियजबोध और क्रमवर्त्तित्वकी समव्याप्ति है

इदं त्वावश्यकी वृत्तिः समव्याप्तेरिवाह्वया।
इयं तत्रैव नान्यत्र तत्रैवेयं नचेतरा ॥८४२॥

अर्थः—समव्याप्तिकी तरह इन्द्रियजन्यबोध और सक्रान्तिकी आवश्यक व्यवस्था है। अर्थात् इन्द्रियजन्य बोध और क्रमवर्तीपना दोनोकी समव्याप्तिके समान ही व्यवस्था है। जहाँ इन्द्रियजन्य बोध है वही क्रमवर्तीपन है, अन्यत्र नही है। जहाँ इन्द्रियजन्य बोध नही है वहाँ क्रमवर्तीपन भी नही है।

ध्यानका स्वरूप

यत्पुनर्ज्ञानमेकत्र नैरन्तर्येण कुत्रचित्।
अस्ति तद्ध्यानमत्रापि क्रमो नाप्यक्रमोर्थतः ॥८४३॥
एकरूपमिवाभाति ज्ञानं ध्यानैकतानतः।
तत्स्यात्पुनः पुनर्वृत्तिरूपं स्यात् क्रमवर्त्ति च ॥८४४॥

अर्थः—जो ज्ञान किसी एक पदार्थमे निरन्तर रहता है उसीको ध्यान कहते है। इस ध्यानरूप ज्ञानमे भी वास्तवमें न तो क्रम ही है और न अक्रम ही है। ध्यानमें एक वृत्ति होनेसे वह ज्ञान एक सरीखा ही विदित होता है। वह बार बार उसी ध्येयकी तरफ लगता है इसलिये वह क्रमवर्ती भी है।

भावार्थः—यद्यपि यहाँ ध्यानका कोई प्रकरण नही है परन्तु प्रसंग　　का स्वरूप कहा गया है। प्रसंगका कारण भी यह है कि यहाँपर इन्द्रियजन्य ज्ञानका विचार है कि वह क्रमवर्ती है, क्षायिकज्ञान क्रमवर्ती नही है। इन्द्रियजन्य ज्ञान भी कही कहीं ध्यानावस्थामें एकाग्रवृत्ति होता है, ध्यानमे ही तल्लीनता होनेसे वह ज्ञान स्थिर एकरूप ही प्रतीत होता है इसलिये ऐसे स्थलमे (ध्यानस्थ ज्ञानमे) क्रमवर्तित्वका विचार नही भी होता है। परन्तु ध्यानस्थ ज्ञान भी फिर फिर उसी पदार्थमे (ध्येयमे) लगता है इसलिये उसे कथञ्चित् क्रमवर्ती भी कह दिया जाता है वास्तवमें वहाँ क्रम और अक्रमका विचार नही है।

यह क्रमवर्तीपन पहलेकामा नहीं है

नात्र हेतुः परं साध्ये क्रमत्वेऽर्थान्तराकृतिः ।
किन्तु तत्रैव चैकार्थे पुनर्वृत्तिरपि क्रमात् ॥८४५॥

अर्थः—इस ध्यानरूप ज्ञानमे जो क्रमवर्तीपना है उसमे अर्थसे अर्थान्तर होना हेतु नही है किन्तु एक पदार्थमे ही क्रमसे पुन पुनर्वृत्ति होती रहती है ।

भावार्थः—जिसप्रकार इन्द्रियजन्य ज्ञानमे अर्थसे अर्थान्तररूप क्रमवृत्ति बतलाई गई है उसप्रकार ध्यानरूप ज्ञानमे क्रमवृत्ति नहीं है किन्तु वहां एक ही पदार्थमे पुन पुनर्वृत्ति है ।

अतिव्याप्ति दोष नहीं है

नोह्यं तत्राप्यति व्याप्तिः क्षायिकात्यक्षसंविदि ।
स्यात्परीणामवत्त्वेपि पुनर्वृत्तेरसंभवात् ॥८४६॥

अर्थः—कदाचित् यह कहा जाय कि इस ऊपर कहे हुए ध्यानरूप ज्ञानकी अतीन्द्रिय क्षायिक ज्ञानमे अतिव्याप्ति* आती है क्योकि क्षायिक ज्ञान भी अर्थसे अर्थान्तरका ग्रहण नही करता है और ध्यानरूप ज्ञान भी अर्थसे अर्थान्तरका ग्रहण नही करता है इसलिये ध्यानरूप ज्ञानका क्षायिक ज्ञानमे लक्षण चला जाता है ? ऐसी आशका ठीक नही है, क्योकि क्षायिक ज्ञान यद्यपि परिणमनशील है तथापि उसमे पुनर्वृत्ति (बार बार ध्येय पदार्थमे उपयोग करना)का होना असम्भव है ।

भावार्थ—यद्यपि सामान्य दृष्टिसे ध्यान और क्षायिकज्ञान दोनो ही क्रम रहित है, अर्थसे अर्थान्तरका ग्रहण दोनोमे ही नही है । तथापि दोनोमे बडा अन्तर है, छद्मस्थोका ध्यान इन्द्रियजन्य ज्ञान है वह यद्यपि एक पदार्थमे ही (एक कालमे) होता है तथापि उसीमे फिर फिर उपयोग लगाना पड़ता है । क्षायिक ज्ञान ऐसा नही है वह अतीन्द्रिय है इसलिये उसमे उपयोगकी पुनर्वृत्ति नही है वह सदा युगपत् अखिल पदार्थोके जाननेमे उपयुक्त रहता है, केवल पदार्थोमे प्रति समय परिवर्त्तन होनेके कारण क्षायिक ज्ञानमे भी परिणमन होता रहता है । परन्तु क्षायिक ज्ञानमें क्रमवर्तीपन और पुनर्वृत्तिपन नही है इसलिये ध्यानका लक्षण इसमे सर्वथा नही जाता है ।

छद्मस्थोंका ज्ञान संक्रमणात्मक है

यावच्छद्मस्थजीवानामस्ति ज्ञानचतुष्टयम् ।
नियतक्रमवर्तित्वात् सर्वं संक्रमणात्मकम् ॥८४७॥

---

* जो लक्षण अपने लक्ष्यमें भी रहे और अलक्ष्यमें भी रहे उसे अतिव्याप्ति दोष कहते हैं।

अर्थः—छद्मस्थ जीवोंके चारों ही ज्ञान (मति, श्रुति, अवधि, मन:पर्यय) नियमसे क्रमवर्ती है इसलिये चारों ही सक्रमणरूप है ।

नालं दोषाय तच्छक्तिः सूक्तसंक्रान्तिलक्षणा ।
हेतोर्वैभाविकत्वेपि शक्तित्वाज्ज्ञानशक्तिवत् ॥८४८॥

अर्थः—सक्रमण होनेसे ज्ञान शक्तिमे कोई दोष नही समझना चाहिये । यद्यपि वैभाविक हेतुसे उसमे विकार हुआ है तथापि वह आत्मीक शक्ति है जिसप्रकार शुद्धज्ञान आत्माकी शक्ति है । इसीप्रकार सक्रमणात्मक ज्ञान भी आत्माकी शक्ति है ।

सारांश

ज्ञानसञ्चेतनायास्तु न स्यात्तद्विघ्नकारणम् ।
तत्पर्यायस्तदेवेति तद्विकल्पो न तद्रिपुः ॥८४९॥

अर्थः—वह सक्रान्ति ज्ञानचेतनामे विघ्न नही कर सकती है क्योकि वह भी ज्ञानकी ही पर्याय है । ज्ञानकी पर्याय ज्ञानरूप ही है । इसलिये विकल्प (सक्रमण ज्ञान) ज्ञान-चेतनाका शत्रु नही है । भावार्थः—पहले यह कहा गया था कि व्यावहारिक सम्यग्दर्शनमें सविकल्पज्ञान रहता है, और उसका कारण कर्मोदय है । कर्मोदय हेतुसे व्यावहारिक सम्यग्दृष्टिका ज्ञान सक्रमणात्मक है । इसलिये उस विकल्पावस्थामे ज्ञानचेतना नही हो सकती । ज्ञानचेतना वीतराग सम्यग्दृष्टिके ही होती है । इसी बातका निराकरण करनेके लिये आचार्य कहते है कि विकल्पज्ञान ज्ञानचेतनामे बाधक नही हो सकता । चारों ही ज्ञान क्षयोपशमात्मक है इसलिये चारो ही सक्रमणात्मक है । सक्रमणात्मक होनेसे ज्ञान-चेतनामे वे किसी प्रकार बाधक नही हो सकते है । क्योकि ज्ञानचेतनाका जो प्रतिपक्षी है वह ज्ञानचेतनामें बाधक होता है । विकल्पात्मकज्ञान ज्ञानकी ही पर्याय है इसलिये वह ज्ञानचेतनाका प्रतिपक्षी किसी प्रकार नही है ।

शकाकार

ननु चेति प्रतिज्ञा स्यादर्थादर्थान्तरे गतिः ।
आत्मनोऽन्यत्र तत्रास्ति ज्ञानसञ्चेतनान्तरम् ॥८५०॥

अर्थः—आपकी यह प्रतिज्ञा है कि सक्रान्तिके रहते हुए अर्थसे अर्थान्तरका ज्ञान होता है, जब ऐसी प्रतिज्ञा है तो क्या आत्मासे भिन्न पदार्थोंमे भी ज्ञान सचेतनान्तर होता है ?

भावार्थः—पहले कहा गया है कि मति, श्रुत, अवधि और मन पर्यय ये चारो ज्ञान

सक्रमणात्मक है, मतिज्ञानमें ज्ञानचेतना भी आ गई इसलिये वह भी संक्रमणात्मक हुई, इसी विषयमे कोई शका करता है कि ज्ञानचेतना शुद्धात्मानुभवको कहते हैं और सक्रान्ति ज्ञान चेतनामे मानते ही हो, तब क्या आत्माको पहले जानकर (आत्मानुभव करके) पीछे उसको छोडकर दूसरे पदार्थोंमे दूसरी ज्ञानचेतना होती है ? यदि होती है तो शुद्धात्माको छोडकर भिन्न पदार्थोंमे भी ज्ञान चेतनाकी वृत्ति रह जानेसे उसको विपक्षवृत्तित्व आ गया, "ज्ञानचोतना शुद्धात्मानुभवरूप ही होती है ज्ञान चेतनात्व हेतुसे" इस अनुमानमे ज्ञान चेतनात्व हेतुको शकाकारने विपक्षवृत्ति बतला कर व्यभिचार दिखलाया है ।

उत्तर

सत्यं हेतोर्विपक्षत्वे वृत्तित्वाद्व्यभिचारिता ।
यतोऽत्रान्यात्मनोऽन्यत्र स्वात्मनि ज्ञानचेतना ॥८५१॥

अर्थः—आचार्य कहते है कि तुम्हारा कहना ठीक है विपक्षवृत्ति होनेसे हेतुको व्यभिचारीपना अवश्य आता है, किन्तु यहाँ पर हेतु विपक्ष वृत्ति नही है, क्योकि अन्य पदार्थोसे भिन्न जो शुद्ध निजात्मा है, उसमे ज्ञान चेतनाकी वृत्ति होनेसे सक्रमण भी बन जाता है और ज्ञान चेतनाको विपक्षवृत्तित्व भी नही आता है ।

भावार्थः—कोई पुरुप पहले भिन्न पदार्थोको जान रहा था, फिर उसने अपने ज्ञानको बाह्य पदार्थोंसे हटाकर अपने शुद्धात्म विपयमे लगा दिया, शुद्धात्मानुभवके समय उसका वह ज्ञान, ज्ञान चेतनास्वरूप है तथा वह बाह्य पदार्थोंसे हटकर शुद्धात्मामे लगनेके कारण सक्रमणात्मक भी है, और उस ज्ञानचेतनारूप ज्ञानकी बाह्य पदार्थोंके विषयमे वृत्ति भी नही है इसलिये व्यभिचार दोष नही है ।

किञ्च सर्वस्य सद्दृष्टेर्नित्यं स्याज्ज्ञानचेतना ।
अव्युच्छिन्नप्रवाहेण यद्वाऽखण्डैकधारया ॥८५२॥

अर्थः—सम्पूर्ण सम्यग्दृष्टियोके सदा ज्ञानचेतना रहती है । वह निरन्तर प्रवाहरूपसे हती है, अथवा अखण्ड एकधारा रूपसे सदा रहती है ।

इसमें कारण

हेतुस्तत्रास्ति सध्रीची सम्यक्त्वेनान्वयादिह ।
ज्ञानसञ्चे तलब्धिर्नित्या स्वावरणव्ययात् ॥८५३॥

अर्थः—निरन्तर ज्ञानचेतनाके रहनेमे भी सहकारी कारण सम्यग्दर्शनके साथ

अन्वयरूपसे रहनेवाली ज्ञानचेतनालब्धि है वह अपने आवरणके दूर होनेसे सम्यग्दर्शनके साथ सदा रहती है। भावार्थः—आत्मामें सम्यग्दर्शनके उत्पन्न होनेके साथ ही मतिज्ञानावरण कर्मका विशेष क्षयोपशम होता है उसी क्षयोपशमका नाम ज्ञान चेतना लब्धि है। यह लब्धि सम्यग्दर्शनके साथ अविनाभाव रूपसे सदा रहती है, और यही लब्धि उपयोगात्मक ज्ञान चेतनामे कारण है।

उपयोगात्मक ज्ञानचेतना सदा नहीं होती है

कादाचित्कास्ति ज्ञानस्य चेतना स्वोपयोगिनी।
नालं लब्धेर्विनाशाय समव्याप्तेरसंभवात् ॥८५४॥

अर्थः—ज्ञानकी निज उपयोगात्मक चेतना कभी कभी होती है। वह लब्धिका विनाश करनेमे समर्थ नही है। इसका कारण भी यही है कि उपयोगरूप ज्ञानचेतनाकी सम व्याप्ति नही है।

भावार्थः—सम्यग्दर्शनका अविनाभावी जो मतिज्ञानावरण कर्मका विशेष क्षयोपशम है उसीको लब्धि कहते है, और उस लब्धिके होनेपर आत्माकी तरफ उन्मुख (रुजू) होकर आत्मानुभवन करना ही उपयोग है। लब्धि और उपयोगमे कार्य कारण भाव है। लब्धिके होनेपर ही उपयोगात्मक ज्ञान होता है, अन्यथा नही। परन्तु यह नियम नहीं है कि लब्धिके होनेपर उपयोगरूप ज्ञान हो ही हो। उपयोगात्मक ज्ञान अनित्य है। लब्धिरूप ज्ञान नित्य है। जिससमय पदार्थके जाननेके लिये आत्मा उद्यत होता है उसीसमय उसके उपयोगात्मक ज्ञान होता है। परन्तु लब्धिरूप ज्ञान बना ही रहता है। इसलिये उपयोग और लब्धि दोनोमे विषमव्याप्ति है। जो व्याप्ति एक तरफसे होती है उसे विषमव्याप्ति कहते है। उपयोगके होनेपर लब्धि अवश्य होती है परन्तु लब्धिके होने पर उपयोगात्मक चेतना हो भी और नही भी हो, नियम नही है। जो व्याप्ति दोनो तरफसे होती है उसे समव्याप्ति कहते है जैसे ज्ञान और आत्मा। जहाँ ज्ञान है वहाँ आत्मा अवश्य है और जहाँ आत्मा है वहाँ ज्ञान अवश्य है। ऐसी उभयथा व्याप्ति लब्धि और उपयोगरूप ज्ञानचेतनामें नही है।

उसीका स्पष्टीकरण

अस्त्यत्र विषमव्याप्तिर्यावल्लब्ध्युपयोगयोः।
लब्धिक्षतेरवश्यं स्यादुपयोगक्षतिर्यतः ॥८५५॥

विशेष

नूनं कर्मफले मग्रश्चेतना वाऽथ कर्मणि ।
स्यात्सर्वतः प्रमाणाद्वै प्रत्यक्षं बलवद्यतः ॥८५८॥

अर्थः—सम्यक्त्वके अभावमे कर्म चेतना व कर्मफल चोतना होती है, और यह बात सर्व प्रमाण सिद्ध है। क्योकि यह बात प्रत्यक्ष सिद्ध है कि मिथ्यादृष्टिके कर्मचेतना व कर्मफल चेतना होती है। जो बात प्रत्यक्ष सिद्ध होती है वह सर्व प्रमाण सिद्ध होती है, क्योकि प्रत्यक्ष सबमे बलवान प्रमाण है।

फलितार्थ

सिद्धमेतावतोक्तेन लब्धिर्या प्रोक्तलक्षणा ।
निरुपयोगरूपत्वान्निर्विकल्पा स्वतोस्ति सा ॥८५९॥

अर्थः—उपर्युक्त कथनका यही साराश है कि जो ज्ञानचेतनावरणकी क्षयोपशमरूप लब्धि है वह शुद्धात्मानुभव रूप उपयोगके अभावमे निर्विकल्पक अवस्थामें रहती है।

भावार्थः—जैसे बाह्य पदार्थके अभावमे अग्निकी दाहक शक्तिका व्यक्त परिणमन (कार्यरूप) कुछ भी दिखाई नही देता, वैसी ही अवस्था शुद्धात्मानुभवके अभावमे लब्धिरूप ज्ञानचेतनाकी समझना चाहिये। ऊपर जो कहा गया है कि सम्यक्त्वके रहते हुए उपयोगात्मक चेतना कभी होती है कभी नही होती किन्तु सम्यक्त्वके रहते हुए लब्धिरूप चेतना सदा बनी रहती हैं उसका साराश यही है कि सम्यक्त्वके सद्भावमें स्वात्मानुभव रूप उपयोगात्मक ज्ञान हो अथवा न हो परन्तु लब्धिरूप ज्ञान अवश्य रहता है, हाँ इतना अवश्य है कि उपयोगके अभावमे वह लब्धिरूप ज्ञान निर्विकल्पक अवस्थामे रहता है, उससमय कार्य परिणत नही है।

केवल स्वानुभूतिके प्रकट हो जानेसे ही सम्यग्ज्ञानी अलौकिक सुखका आस्वादन करता है। आत्मोपयोगी पदार्थोंका श्रद्धान सम्यग्ज्ञानीको ही हो सकता है वह श्रद्धान बड़े २ आविष्कारोंको नहीं हो सकता। आजकल बहुतसे मनुष्य हरएक पदार्थके विश्वासको सम्यग्दर्शन कह देते हैं परन्तु ऐसा उनका कहना लोगोंको केवल भ्रममें डालनेवाला ही है। सिद्धान्त तो यहाँ तक बतलाता है कि बिना स्वानुभूतिके जो जीवादि तत्त्वोंका श्रद्धान है वह भी सम्यक्त्व नहीं है, यही कारण है कि द्रव्यलिङ्गी मुनि संसारमें ही रहते हैं, वे यद्यपि दश अङ्ग तकके पाठी हो जाते हैं उन्हे जीवादि तत्त्वोंका भी श्रद्धान है परन्तु स्वानुभूति लब्धिका उनके अभाव है इसीलिये वे मिथ्यादृष्टि ही हैं उनको यथार्थ सुखका स्वाद नहीं मिलता है। उपर्युक्त कथनका साराश यही है कि जिनके स्वानुभूत्यावरण कर्मका क्षयोपशम हो चुका है वे ही सम्यग्ज्ञानी हैं। हाँ, स्वात्मोपयोगी पदार्थोंका श्रद्धान भी सम्यक्त्वमें कारण है।

उसमे संक्रमणका होना भी आवश्यक है। और ऊपर ज्ञान चेतनामें संक्रमणका निषेध किया गया है, सो क्यो ? इसका उत्तर यह है कि जिस ज्ञान चेतनामें अन्य पदार्थ भी विषय पड़ते है वे उस ज्ञान चेतनाके अस्तित्व कालमे आदिसे अन्ततक बराबर विषय रहते हैं। केवलज्ञानमें आदिसे ही शुद्धात्मा तथा अन्य पदार्थ विषय पड़ते है और अनन्तकाल तक निरन्तर बने रहते है, ऐसा नहीं है कि केवलज्ञानमें उत्पत्ति कालमें केवल शुद्धात्मा ही विषय पड़ता हो, पीछे विषय बढते जाते हो, किन्तु आदिसे ही सर्व विषय उसमे झलकते है, और बराबर झलकते रहते है, इसी अपेक्षासे ज्ञान चेतनामे अन्य पदार्थोंके विषय रहते हुए भी सक्रमणका निषेध किया गया है।

ज्ञानोपयोगकी महिमा

अस्ति ज्ञानोपयोगस्य स्वभावमहिमोदयः।
आत्मपरोभयाकारभावकश्च प्रदीपवत् ॥८६२॥

अर्थः—ज्ञानोपयोगकी यह स्वाभाविक महिमा है कि वह अपना प्रकाशक है, परका प्रकाशक है और स्व-पर दोनोका प्रकाशक है। जिसप्रकार दीपक अपना और दूसरे पदार्थोंका प्रकाशक है उसीप्रकार ज्ञान भी अपना और दूसरे पदार्थोंका प्रकाशक है यह ज्ञानोपयोगकी स्वाभाविक महिमा है।

उसीका खुलासा

निर्विशेषाद्यथात्मानमिव ज्ञेयमवैति च।
तथा मूर्तानमूर्तांश्च धर्मादीनवगच्छति ॥८६३॥

अर्थः—ज्ञान सामान्य रीतिसे जिसप्रकार अपने स्वरूपको जानता है उसीप्रकार ज्ञेय पदार्थोंको भी वह जानता है तथा ज्ञेय पदार्थोंमे मूर्त पदार्थोंको और अमूर्त धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य आदि पदार्थोंको वह जानता है।

स्वपरोपयोग गुणदोषाधायक नहीं है

स्वस्मिन्नेवोपयुक्तो वा नोपयुक्तः स एव हि।
परस्मिन्नुपयुक्तोवा नोपयुक्तः स एव हि ॥८६४॥
स्वस्मिन्नेवोपयुक्तोपि नोत्कर्षाय स वस्तुतः।
उपयुक्तः परत्रापि नापकर्षाय तत्त्वतः ॥८६५॥

अर्थः—पहले यह बात कही जा चुकी थी कि क्षयोपशमात्मक ज्ञानकी दो अवस्थायें होती है—एक लब्धिरूप, दूसरी उपयोगरूप। ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे

दोष

दोषः सम्यग्दृशो हानिः सर्वतोंशांशतोऽथवा ।
संवराग्रेसरायाश्च निर्जरायाः क्षतिर्मनाक् ॥८६८॥
व्यस्तेनाथ समस्तेन तद्द्वयस्योपमूलनम् ।
हानिर्वा पुण्यबन्धस्याहेयस्याप्यपकर्षणात् ॥८६९॥
उत्पत्तिः पापबन्धस्य स्यादुत्कर्षोऽथवास्य च ।
तद्द्वयस्याथवा किञ्चिद्यावदुद्वेलनादिकम् ॥८७०॥

अर्थः—सम्पूर्णतासे सम्यग्दर्शनकी हानिका होना, अथवा कुछ अशोमे उसकी हानिका होना, सवर और निर्जराकी कुछ हानिका होना, इन दोनोमेसे किसी एकका विनाश होना, अथवा दोनोंका ही सर्व देश विनाश होना, अथवा उपादेय–पुण्यबन्धकी हानिका होना, अथवा उसका कम रह जाना, अथवा पापबन्धकी उत्पत्तिका होना, अथवा पापबन्धका उत्कर्ष–बढवारी होना, अथवा पापबन्धकी उत्पत्ति और उसके उत्कर्ष रूपमे कुछ उद्वेलन आदिका होना, ये सब दोष कहलाते है ।

गुण

गुणः सम्यक्त्वसंभूतिरुत्कर्षो वा सतोंऽशकैः ।
निर्जराऽभिनवा यद्वा सवरोऽभिनवो मनाक् ॥८७१॥
उत्कर्षो वाऽनयोरंशैर्द्वयोरन्यतरस्य वा ।
श्रेयोबन्धोऽथवोत्कर्षो यद्वा नह्यपकर्षणम् ॥८७२॥ *

अर्थः—सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिका होना, अथवा उसकी अंशरूपसे वृद्धिका होना, अथवा नवीन निर्जराका होना अथवा कुछ नवीन संवरका होना, अथवा सवर और निर्जरा दोनोकी अशरूपसे वृद्धिका होना, अथवा दोनोमेसे किसी एकका उत्कर्ष होना, पुण्य बन्धका होना, अथवा उसकी बढवारी होना अथवा पुण्य बन्धमे अपकर्ष (हीनता)का न होना ये सव गुण कहलाते है ।

गुण और दोपमें उपयोग कारण नहीं है

गुणदोपद्वयोरेवं नोपयोगोस्ति कारणम् ।
हेतुर्नान्यतरस्यापि योगवाही च नाप्ययम् ॥८७३॥

* मूल पुस्तकमें 'यद्वा स्यादपकर्षणम्" ऐसा पाठ है परन्तु यहॉपर पुण्यबन्धके उत्कर्पको गुण कहा गया है फिर उसके अपकर्प को भी कैसे गुण कहा जा सकता है इसलिये उपर्युक्त सशोधित पुस्तकका पाठ ही अनुकूल पड़ता है । सुज्ञजन और भी विचारें ।

क्योंकि बिना उपयोग (शुद्धोपयोग)के भी दर्शन मोहनीय कर्मके अनुदय होनेपर सम्यक्त्व होता ही है। इसलिये दर्शनमोहाभाव और सम्यक्त्वकी व्याप्ति है, उपयोगके साथ इनकी व्याप्ति नही है।

उपयोगके साथ निर्जरादिककी भी व्याप्ति नहीं है

सम्यक्त्वेनाविनाभूता येपि ते निर्जरादयः ।
समं तेनोपयोगेन न व्याप्तास्ते मनागपि ॥८७७॥

अर्थ—सम्यग्दर्शनके साथ अविनाभावसे रहनेवाले जो निर्जरा, सवर आदिक गुण है वे भी उस उपयोगके साथ व्याप्ति नही रखते है, अर्थात् निर्जरा आदिमें भी उपयोग कारण नही है।

सम्यक्त्व और निर्जरादिकी व्याप्ति

सत्यत्र निर्जरादीनामवश्यम्भावलक्षणम् ।
सद्भावोस्ति नासद्भावो यत्स्याद्वा नोपयोगि तत् ॥८७८॥

अर्थः—सम्यग्दर्शनके होनेपर निर्जरा आदिक अवश्य ही होते है। सम्यग्दर्शनकी उपस्थितिमे निर्जरादिका अभाव नही हो सकता है। परन्तु उससमय ज्ञान उपयोगात्मक हो अथवा न हो कुछ नियम नही है। अर्थात् शुद्धोपयोग हो या न हो निर्जरादिक सम्यक्त्वके अविनाभावी है। उनमे उपयोग कारण नही है।

इसीका स्पष्टीकरण

आत्मन्येवोपयोग्यस्तु ज्ञानं वा स्यात्परात्मनि ।
सत्सु सम्यक्त्वभावेषु सन्ति ते निर्जरादयः ॥८७९॥

अर्थः—ज्ञान चाहे स्वात्मामें ही उपयुक्त हो चाहे वह परात्मा (पर पदार्थ)में भी उपयुक्त हो, सम्यग्दर्शनरूप भावोके होनेपर ही निर्जरादिक होते है।

र्थः—उपर्युक्त छह श्लोकोमें जो कुछ कहा गया है उसका सार यही है कि ज्ञान चाहे निजात्मा (शुद्धात्मानुभव)में उपयुक्त हो चाहे पर पदार्थोंमें भी उपयुक्त हो वह गुण दोषोमे कारण नही है। ऊपरके श्लोकोमे गुणोका कथन किया गया है। निर्जरादि गुणोमे जीवके सम्यग्दर्शनरूप परिणाम ही कारण है स्वात्मोपयोग कारण नही है।

पुण्य और पापवन्धमें कारण

यत्पुनः श्रेयसो वन्धो वन्धश्चाऽश्रेयसोपि वा ।
रागाद्वा द्वेषतो मोहात् स स्यात् स्यान्नोपयोगसात् ॥८८०॥

भाव कहते है। क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व ये सब रागद्वेष मोहरूप औदयिक भाव हैं।

उपयोग क्या पदार्थ है ?

क्षायोपशमिकं ज्ञानमुपयोगः स उच्यते।
एतदावरणस्योच्चैः क्षयाद्वोपशमाद्यतः ॥८८४॥

अर्थः—क्षायोपशमिक ज्ञानको उपयोग कहते हैं। यह उपयोग ज्ञानावरण कर्मके क्षय और उपशमसे होता है।

राग और उपयोग भिन्न भिन्न कारणोंसे होते हैं

अस्ति स्वहेतुको रागो ज्ञानं चास्ति स्वहेतुकम्।
दूरे स्वरूपभेदत्वादेकार्थत्वं कुतोऽनयोः ॥८८५॥

अर्थः—राग अपने कारणसे होता है और ज्ञान अपने कारणसे होता है। राग और ज्ञान दोनोका स्वरूप भिन्न भिन्न है इसलिये दोनोका एक अर्थ कैसे हो सकता है ?

किञ्च ज्ञानं भवदेव भवतीदं न चापरम्।
रागाद्यो भवन्तश्च भवन्त्येते न चिद्यथा ॥८८६॥

अर्थः—जिससमय ज्ञान होता है उससमय ज्ञान ही होता है उससमय रागद्वेष नही होते और जिससमय रागादिक होते है उससमय रागादिक ही होते है उससमय ज्ञान नही होता। भावार्थः—'जिससमय'से यह आशय नही लेना चाहिये कि ज्ञानका समय भिन्न है और रागादिकका भिन्न है। समय दोनोका एक ही है। ज्ञान और रागादिक दोनो ही एक ही समयमे होते है परन्तु ज्ञान अपने स्वरूपसे होता है और रागादिक अपने स्वरूपसे होते है। अथवा ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे ज्ञान होता है और चारित्र मोहनीय तथा दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे रागद्वेष मोह होते है। ज्ञानावरण कर्मकी अधिकतामे ज्ञानका कम विकाश होता है और उसकी हानिमे ज्ञानका अधिक विकाश होता है। इसीप्रकार रागद्वेष और मोहकी हीनता और अधिकता उनके कारणोकी हीनता अधिकतासे होती है।

ज्ञानकी वृद्धिमें रागकी वृद्धि नहीं होती

अभिज्ञानं च तत्रास्ति वर्धमाने चितिस्फुटम्।
रागादीनामभिवृद्धि र्नस्याद् व्याप्तेरसंभवात् ॥८८७॥

अर्थः—उपर्युक्त कथनका खुलासा दृष्टान्त इसप्रकार है कि ज्ञानकी वृद्धि होनेपर

अर्थः—रागादिकोकी ज्ञानावरणके साथ अन्वय व्यतिरेक दोनोसे विषम ही व्याप्ति है। किसी अन्यतर हेतुसे भी इन दोनोकी समव्याप्ति नही है।

व्याप्तेरसिद्धिः साध्यात्र साधनं व्यभिचारिता।
सैकस्मिन्नपि सत्यन्यो न स्यात्स्याद्वा स्वहेतुतः ॥८९३॥

अर्थः—यहाँपर समव्याप्तिकी असिद्धि साध्य है और व्यभिचारीपन हेतु है, अर्थात् यदि रागादिक और ज्ञानावरण कर्म इनकी समव्याप्ति मानी जाय तो व्यभिचाररूप दोष आता है वह इसप्रकार आता है–ज्ञानावरण कर्मके रहनेपर रागादिभाव नही भी होता है। यदि होता भी है तो अपने कारणोसे होता है। भावार्थः—"रागाद्यावरणयोः समव्याप्तेरसिद्धि. व्यभिचारित्वात्" इस अनुमान वाक्यसे रागादि और आवरणमें समव्याप्ति नही बनती है। व्याप्तिसे यहाँपर समव्याप्तिका ही ग्रहण है।

व्याप्ति किसे कहते हैं

व्याप्तित्वं साहचर्यस्य नियमः स यथा मिथः।
सति यत्र यः स्यादेव न स्यादेवासतीह यः ॥८९४॥

अर्थः—साहचर्यके नियमको व्याप्ति कहते है, वह इसप्रकार है–जिसके होनेपर जो होता है और जिसके नही होनेपर जो नही होता है, यह व्याप्तिका नियम परस्परमें होता है।

मा समा रागसद्भावे नूनं बन्धस्य संभवात्।
रागादीनामसद्भावे बन्धस्याऽसंभवादपि ॥८९५॥

अर्थः—यहाँपर समव्याप्ति नही है, रागके सद्भावमे बन्ध नियमसे होता है और रागादिकोके अभावमे बन्ध नही होता है।

विषम व्याप्ति

व्याप्तिः सा विषमा सत्सु संविदावरणादिषु।
अभावाद्रागभावस्य भावाद्वाऽस्य स्वहेतुतः ॥८९६॥

अर्थः—विषम व्याप्ति इसप्रकार है–ज्ञानावरणादि कर्मोके रहनेपर रागभावका अभाव पाया जाता है, अथवा रागादिकका सद्भाव भी पाया जाय तो उसके कारणोसे ही पाया जायगा, ज्ञानावरणादिके निमित्तसे नही।

भावार्थः—समव्याप्ति तो तब होती है जब कि ज्ञानावरणादिके सद्भावमें रागादि भावोका भी अवश्य सद्भाव होता, परन्तु ऐसा नही होता है, उपशान्तकषाय, क्षीण कषाय

गुणस्थानोमे ज्ञानावरणादि कर्म तो है परन्तु वहाँपर रागादिभाव सर्वथा नही है। ग्यारहवें गुणस्थानसे नीचे भी ज्ञानावरणादि कर्मके सद्भावमे ही रागादिभाव नही होते है किन्तु अपने कारणोसे होते है। परन्तु रागादिभावोके सद्भावमें ज्ञानावरणादि कर्मोंका अवश्य ही बन्ध होता है। क्योकि *आयुको छोडकर सातो ही कर्मोका बन्ध ससारी आत्माके प्रतिक्षण हुआ करता है। उस बन्धका कारण आत्माके कषाय भाव ही हैं। जिसप्रकार रागादिके होनेपर ज्ञानावरणादि कर्म होते है उसप्रकार ज्ञानावरणादिके होनेपर रागभाव भी होते तब तो उभयथा समव्याप्ति बन जाती परन्तु दोनों तरफसे व्याप्ति नही है किन्तु एक तरफसे ही है इसलिये यह विषम व्याप्ति है।

उपयोगके साथ कर्मोंकी सर्वथा व्याप्ति नहीं है

अव्याप्तिश्चोपयोगेपि विद्यमानेष्टकर्मणाम्।
बन्धो नान्यतमस्यापि न्धस्तत्राप्यसति ॥८९७॥

अर्थः—उपयोगके साथ द्रव्यकर्मोंकी व्याप्ति नही है। उपयोगके विद्यमान रहनें पर भी अष्ट कर्मोका बन्ध नही होता है, अष्ट कर्मोंमेसे किसी एक कर्मका भी बन्ध नही होता है। और उपयोगके नही होने पर भी आठो कर्मोका बन्ध होता है।

भावार्थः—सिद्धावस्थामे शुद्धोपयोग तो है परन्तु अष्टकर्मोका वहाँ बन्ध नही है और मिथ्यात्व अवस्थामे शुद्धोपयोगका अभाव है परन्तु अष्ट कर्मोंका बन्ध है। इसलिये उपयोग और कर्मोकी व्याप्ति नही है। इसीका खुलासा नीचे किया जाता है।

यद्वा स्वात्मोपयोगीह क्वचिन्नानुपयोगवान्।
व्यतिरेकावकाशोपि नार्थादत्रास्ति वस्तुतः ॥८९८॥

अर्थः—अथवा मिथ्यात्व अवस्थामे अष्टकर्मोका बन्ध रहते हुए भी आत्मा निजात्माका अनुभव नही करता है, और कही पर 'सिद्धावस्था'मे अष्टकर्मोका अभाव होने पर भी निजात्माका अनुभव करता है। इसलिये यहाँपर व्यतिरेकका अवकाश भी नही है। भावार्थः—मिथ्यात्वावस्थामे अष्टकर्मका बन्ध रहने पर भी शुद्धोपयोग नही है

---

* आयुकर्मका बन्ध प्रतिक्षण नहीं होता है किन्तु त्रिभागमें होता है अर्थात् किसी जीवकी आयुमेंसे दो भाग समाप्त हो जाय एक भाग बाकी रह जाय तब दूसरे भवकी आयुका बन्ध होता है। यदि पहले त्रिभागमें परभवकी आयुका बन्ध न हो तो बची हुई आयुके त्रिभागमें होता है इसीप्रकार आठ त्रिभागोंमें आयुके बन्धकी संभावना है, आयुबन्धके आठ ही अपकर्षकाल हैं। यदि आठोंमें न हो तो मरण समयमें तो अवश्य ही परभवकी आयुका बन्ध होता है। आयुके बन्ध सहित आठों कर्मोंका बन्ध होता है।

इसलिये अन्वय नहीं बना, और सिद्धावस्थामें बन्धाभावमें भी उपयोगका अभाव नहीं हुआ इसलिये व्यतिरेक नहीं बना। अतएव उपयोग और कर्मबन्धकी व्याप्ति नहीं है।

सारांश

सर्वतश्चोपसंहारः सिद्धश्चैता त्र वै।
हेतुः स्यान्नोपयोगोयं दृशो वा बन्धमोक्षयोः ॥८९९॥

अर्थः—उपर्युक्त सम्पूर्ण कथनका उपसहार–साराश यही निकला कि उपयोग सम्यग्दर्शनका कारण नही है और न वह वन्ध तथा मोक्षका ही कारण है।

शकाकार

ननु चैवं स एवार्थो यः पूर्वं प्रकृतो यथा।
कस्यचिद्वीतरागस्य सद्दृष्टेर्ज्ञानचेतना ॥९००॥
आत्मनोऽन्यत्र कुत्रापि स्थिते ज्ञाने परात्मसु।
ज्ञानसञ्चेतनायाः स्यात् क्षतिः साधीयसी तदा ॥९०१॥

अर्थः—शंकाकारका कहना है कि वही अर्थ निकला जो पहले प्रकरणमें आया हुआ था, अर्थात् किसी वीतराग सम्यग्दृष्टिके ही ज्ञानचेतना होती है, क्योकि ज्ञानोपयोग जव आत्माको छोडकर अन्य बाह्य पदार्थोमे चला जायगा तो उससमय ज्ञानचेतनाकी क्षति अवश्य ही होगी।

भावार्थः—यहाँपर यह शका की गई है कि जिसप्रकार सम्यग्दर्शनरूप कारणसे अष्ट कर्मोंकी निर्जरा होती है उसीप्रकार ज्ञानचेतना भी अष्ट कर्मोको निर्जरामें कारण है इसी आशयको हृदयमे रखकर दूसरे श्लोकमे यह शंका की गई है कि सम्यक्त्वके रहते हुए भी जब शुद्धात्मासे हटकर उपयोग केवल वाह्य पदार्थोमे चला जाता है तो उससमय उपयोगात्मक ज्ञान चेतनाकी तो क्षति हो ही जाती है, साथमें ज्ञानचेतनाकी क्षति हो जानेसे निर्जरादिकी भी क्षति हो जानी चाहिये ?

उत्तर

सत्यं चापि क्षतेरस्याः क्षतिः साध्यस्य न क्वचित्।
इयानात्मोपयोगस्य तस्यास्तत्राप्यहेतुता ॥९०२॥ *
साध्यं यद्दर्शनाद्धेतोर्निर्जरा चाष्टकर्मणाम्।
स्वतो हेतुवशाच्छक्तेर्न तद्धेतुः स्वचेतना ॥९०३॥

* तत्राप्यहेतुत, यह पाठ मूल पुस्तकमें है। सशोधितमें अहेतुता पाठ है।

अर्थः—आचार्य कहते हैं कि ज्ञान अपने लक्षणसे विकल्पात्मक कहा जाता है, तथा सम्यक्त्वमे जो विकल्पका व्यवहार होता है वह परीक्षासे सिद्ध नही होता ।

भावार्थः—सम्यक्त्वमे जो विकल्पका व्यवहार होता है वह व्योम पुष्पवत् नही है किन्तु उपचरित है इसी बातको नीचे दिखाते हैं—

यत्पुनः कैश्चिदुक्तं स्यात् स्थूललक्ष्योन्मुखैरिह ।
अत्रोपचारहेतुर्यस्तं ब्रुवे किल साम्प्रतम् ॥९०६॥

अर्थः—जिन लोगोने स्थूल दृष्टि रख कर सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शनको सविकल्प बतलाया है उन्होने उपचारसे ही बतलाया है । वास्तवमे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान सविकल्प नही है । उपचारका भी क्या कारण है ? उसे ही अब बतलाते है—

क्षायोपशमिकं ज्ञानं प्रत्यर्थं परिणामि यत् ।
तत्स्वरूपं न ज्ञानस्य किन्तु रागक्रियास्ति वै ॥९०७॥

अर्थः—क्षायोपशमिक ज्ञान जो हर एक पदार्थको क्रम क्रमसे जानता है वह ज्ञानका स्वरूप नही है किन्तु रागक्रिया है, और यही राग उपचारका हेतु है ।

राग क्रिया क्यों है उसे ही बतलाते हैं

प्रत्यर्थं परिणामित्वमर्थानामेतदस्ति यत् ।
अर्थमर्थं परिज्ञानं मुह्यद्रज्यद्द्विषद्यथा ॥९०८॥

अर्थः—पदार्थोंमे प्रत्येक पदार्थका परिणमन होता है, उस परिणमनमें ज्ञान हर-एक पदार्थके प्रति मोह करता है, राग करता है, द्वेष करता है । भावार्थः—पदार्थोंमें इष्टानिष्ट बुद्धि होनेसे किसीमे मोह रूप परिणाम होते है, किसीमे रागरूप परिणाम होते हैं और किसीमे द्वेषरूप परिणाम होते है ।

रागसहित ज्ञान शान्त नहीं है

स्वसंवेदनप्रत्यक्षादस्ति सिद्धमिदं यतः ।
रागाक्तं ज्ञानमक्षान्तं रागिणो न । मुनेः ॥९०९॥

अर्थः—यह बात स्वसवेदन प्रत्यक्षसे सिद्ध है कि राग सहित ज्ञान शान्त नही है । ऐसा शान्ति रहित ज्ञान जैसा रागी पुरुषके होता है वैसा मुनिके नही होता ।

भावार्थः—जो ज्ञान शान्ति रहित होगा वह राग सहित अवश्य होगा इसलिये वह रागी पुरुषके ही हो सकता है रागरहित मुनिके नही ।

अस्ति ज्ञानाविनाभूतो रागो बुद्धिपुरस्सरः ।
अज्ञातेऽर्थे यतो न स्याद् रागभावः खपुष्पवत् ॥९१०॥

अर्थः—बुद्धिपूर्वक राग ज्ञानका अविनाभावी है। क्योंकि अज्ञात (नहीं जाने हुए) पदार्थमे राग भाव उत्पन्न ही नही होता है। जिसप्रकार आकाशका पुष्प कोई पदार्थ नही है तो उसमे बुद्धिपूर्वक राग भी नहीं हो सकता है।

भावार्थ—राग दो प्रकारका होता है एक बुद्धिपूर्वक, दूसरा अबुद्धिपूर्वक। बुद्धिपूर्वक रागका क्षायोपशमिक ज्ञानके साथ अविनाभाव है। जिनके बुद्धिपूर्वक राग होता है उसीके कर्म चेतना होती है परन्तु ऐसा नियम नही है क्योंकि बुद्धिपूर्वक राग चौथे गुणस्थानमे भी है तथा ऊपर भी है परन्तु वहां कर्मचेतना नहीं है किन्तु ज्ञानचेतना है। इतना विशेष है कि बुद्धिपूर्वक राग कर्म बन्धका ही कारण है। जिस जीवके सम्यक्त्व नही है बुद्धिपूर्वक राग है उसके कर्मचेतना होती है। यह कर्म चेतना ही महान् दुःखका कारण है। नरकादि गतियोका बन्ध कर्मचेतनासे ही होता है। अबुद्धिपूर्वक राग कर्मोदयवश अज्ञात पदार्थमे ही होता है। जिन जीवोके अबुद्धि पूर्वक राग है उन्हींके कर्मफल चेतना होती है। असज्ञी पञ्चेन्द्रिय तक कर्मफल चेतना ही होती है।

बुद्धिपूर्वक राग कहां तक होता है

अस्त्युक्तलक्षणो रागश्चारित्रावरणोदयात् ।
अप्रमत्तगुणस्थानादर्वाक् स्यान्नोर्ध्वमस्त्यसौ ॥९११॥

अर्थः—ऊपर कहा हुआ बुद्धिपूर्वक राग चारित्रमोहनीयके उदयसे होता है यह राग अप्रमत्त गुणस्थानसे पहले २ होता है। छठे गुणस्थानसे ऊपर सर्वथा नही होता है।

भावार्थः—छठे गुणस्थानमे सज्वलन कषायका तीव्रोदय है इसीलिये प्रमादरूप परिणामोके कारण वहाँ बुद्धिपूर्वक राग होता है। अप्रमत्त गुणस्थानमे सज्वलनका मन्दोदय है। वहांपर प्रमादरूप परिणाम सर्वथा ही नही होते है। केवल ध्यानावस्था है। जितनी मुनियोकी कर्तव्य क्रिया है वह सब प्रमत्त गुणस्थान तक ही है। हाँ, स्वाध्याय, भोजन आदि क्रियाओमे भी बीच २ मे सातवाँ गुणस्थान हो जाता है। क्योकि छठा और सातवाँ दोनोका ही अन्तर्मुहूर्त्त काल है। इसलिये दोनो ही अन्तर्मुहूर्त्तमे बदल जाते है।

अबुद्धिपूर्वक राग कहाँ तक होता है।

अस्ति चोर्ध्वमसौ सूक्ष्मो रागश्चाबुद्धिपूर्वजः ।
अर्वाक् क्षीणकषायेभ्यः स्याद्विवक्षावशान्नवा ॥९१२॥

अर्थः—प्रमत्त गुणस्थानसे ऊपर सूक्ष्म–अबुद्धि पूर्वक राग है। यह राग क्षीणकषायसे पहले २ होता है। सो भी विवक्षाधीन है। यदि विवक्षा की जाय तो अबुद्धिपूर्वक–सूक्ष्म राग है अन्यथा नही है।

भावार्थः—दशवे गुणस्थानमे सूक्ष्म लोभका उदय रहता है। उससे पहले नवमें गुणस्थानमे बादर कषायका उदय है। परन्तु वह भी सूक्ष्म ही है। दशवे गुणस्थान तक सूक्ष्म रागभाव रहता है इसलिये तो वहाँ तक अबुद्धि पूर्वक रागभावकी विवक्षा की जाती है। परन्तु सातिशय–अप्रमत्त गुणस्थानसे उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणी माँडना शुरू हो जाता है। इसलिये आठवे गुणस्थानसे लेकर दशवे तक कोई मुनि उपशमश्रेणी माँडते है और कोई क्षपकश्रेणी माँडते है। जो उपशमश्रेणी माँडते है उनके औपशमिक भाव है और जो क्षपकश्रेणी माँडते है उनके क्षायिक भाव है। स्थूल दृष्टिसे आठवे नवमे और दशवे इन तीन गुणस्थानोमे औपशमिक अथवा क्षायिक दो प्रकारके ही भाव है परन्तु सूक्ष्मदृष्टिसे विचार करने पर वहाँ पर क्षायोपशमिक भाव भी है। क्योकि चारित्र मोहनीयका वहाँ मन्दोदय भी तो हो रहा है। उस मन्दोदयकी विवक्षा करनेसे ही वहाँ क्षायोपशमिक भाव है अन्यथा नही है। यही विवक्षा वशात्का आशय है।

उपचार किस नयसे किया जाता है

विमृश्यैतत्परं कैश्चिदसद्भूतोपचारतः।
रागवज्ज्ञानमत्रास्ति सम्यक्त्वं तद्वदीरितम् ॥९१३॥

अर्थः—इसी बातको विचार कर किन्ही पुरुषोने असद्भूत उपचार नयसे राग सहित ज्ञानको देखकर सम्यक्त्वको भी वैसा कहा है। भावार्थः—जो मिले हुए भिन्न पदार्थोको अभेदरूप ग्रहण करे उसे असद्भूत व्यवहारनय कहते है जैसे आत्मा और शरीरका मेल होने पर कोई कहे यह शरीर मेरा है। इसीप्रकार राग भिन्न पदार्थ है परन्तु अभेद बुद्धिके कारण ज्ञान और दर्शनको भी किन्हीने सरागी (सविकल्प) कह दिया है वास्तवमे राग दूसरा पदार्थ है, ज्ञानदर्शन दूसरे पदार्थ है, रागका ज्ञान दर्शनके साथ कोई सम्बन्ध नही है इसलिये इनमे सरागता केवल औपचारिक है।

ज्ञान, दर्शन कहाँ तक सविकल्प कहे जाते हैं

हेतोः परं प्रसिद्धैर्यैः स्थूललक्ष्यैरितिस्मृतम्।
* आप्रमत्तं च सम्यक्त्वं ज्ञानं वा सविकल्पकम् ॥९१४॥

---

* मूल पुस्तकमें "अप्रमत्त" ऐसा पाठ है परन्तु 'आप्रमत्त' पाठ ठीक प्रतीत होता है क्योंकि पहले छठे गुणस्थान तक ही बुद्धिपूर्वक राग बतलाया गया है।

अर्थः—स्थूल पदार्थको लक्ष्य रखनेवाले किन्हीं प्रसिद्ध पुरुषोंने बिना रागरूप हेतुके ऐसा कहा है। उनका कहना है कि प्रमत्त गुणस्थान पर्यन्त सम्यक्त्व और ज्ञान दोनों ही सविकल्पक है।

ततस्तूर्ध्वं तु सम्यक्त्वं ज्ञानं वा निर्विकल्पकम्।
शुक्लध्यानं तदेवास्ति तत्रास्ति ज्ञानचेतना ॥९१५॥

अर्थः—प्रमत्त गुणस्थानसे ऊपर सम्यक्त्व और ज्ञान दोनों ही निर्विकल्पक होते हैं। वही शुक्लध्यान कहलाता है, और उसी अवस्थामें ज्ञानचेतना होती है।

प्रमत्तानां विकल्पत्वान्न स्यात्सा शुद्धचेतना।
अस्तीति वासनोन्मेषः केषाञ्चित्स न सन्निह ॥९१६॥

अर्थः—"प्रमत्त जीवोंको विकल्पात्मक होनेसे उनके शुद्ध चेतना नहीं हो सकती है।" किन्हीं किन्हीं पुरुषोंके इसप्रकारकी वासना लगी हुई है, वह ठीक नहीं है।

भावार्थः—जो लोग ऐसा कहते हैं कि प्रमत्त गुणस्थान पर्यन्त बुद्धिपूर्वक राग होता है। इसलिये वहां तक ज्ञान और सम्यक्त्व दोनों ही सविकल्प हैं। सविकल्प अवस्थामें ज्ञानचेतना भी नहीं होती है अर्थात् छठे गुणस्थानसे ऊपर ही ज्ञानचेतना होती है नीचे नहीं। आचार्य कहते हैं कि ऐसा कहनेवाले यथार्थ वस्तुके विचारक नहीं हैं, क्यों नहीं है सो नीचे बतलाते हैं।

यतः पराश्रितो दोषो गुणो वा नाश्रयेत्परम्।
परो वा नाश्रयेद्दोषं गुणाश्चापि पराश्रितम् ॥९१७॥

अर्थः—क्योंकि दूसरेके आश्रयसे होनेवाला गुण दोष दूसरेके आश्रय नहीं हो सकता है। इसीप्रकार दूसरा भी दूसरेके आश्रयसे होनेवाले गुण दोषोंको अपने आश्रित नहीं बना सकता है। भावार्थः—जिस आश्रयसे जो दोष अथवा गुण होता है वह दोष अथवा गुण उसी आश्रयसे हो सकता है, अन्य किसी दूसरे आश्रयसे नहीं हो सकता ऐसा सिद्धान्त स्थिर रहने पर भी जो पराश्रित गुणदोषोंको अन्याश्रित बतलाते हैं वे वास्तवमें बड़ी भूल करते हैं।

राग किस कारणसे होता है ?

पाकाच्चारित्रमोहस्य रागोस्त्यौदयिकः स्फुटम्।
सम्यक्त्वे स कुतोन्यायाज्ज्ञाने वाऽनुदयात्मके ॥९१८॥

अर्थः—चारित्रमोहनीय कर्मका पाक होनेसे राग होता है, राग आत्माका

औदयिक भाव है, अर्थात् कर्मोंके उदयसे होनेवाला है। वह औदयिक भाव अनुदय स्वरूप सम्यक्त्व और ज्ञानमे किसप्रकार हो सकता है ? अर्थात् नही हो सकता।

भावार्थः—राग आत्माका निज परिणाम नही है किन्तु कर्मोंके उदयसे होनेवाली वैभाविक अवस्था है सम्यक्त्व और ज्ञान दोनो ही आत्माके स्वाभाविक गुण हैं। इसलिये उनमे रागभाव हो ही नही सकता है।

ज्ञानचेतनाको भी राग नष्ट नहीं कर सकता है

अनिघ्नन्निह सम्यक्त्वं रागोऽयं बुद्धिपूर्वकः।
नूनं हन्तुं क्षमो न स्याज्ज्ञानसंचेतनामिमाम् ॥९१९॥

अर्थः—बुद्धिपूर्वक राग सम्यक्त्वका घात नही कर सकता है। इसलिये वह सम्यक्त्वके साथ अविनाभावी ज्ञानचेतना (लब्धिरूप)का भी घात नियमसे नही कर सकता है। भावार्थः—राग भाव आत्माके चारित्रगुणका ही विघात करेगा। वह न तो सम्यक्त्वका ही विघात कर सकता है और न सम्यक्त्वके साथ अविनाभावपूर्वक रहनेवाली ज्ञानचेतनाका ही विघात कर सकता है। इन दोनोसे रागका कोई सम्बन्ध ही नही है, इसलिये चौथे गुणस्थानमे भी ज्ञानचेतना होती ही है उसका कोई बाधक नही है। जो लोग वीतराग सम्यक्त्वमे ही ज्ञानचेतना कहते थे उनका सयुक्तिक खण्डन हो चुका।

ऐसी भी तर्कणा न करो

नाप्यूहमिति शक्तिः स्याद्रागस्यैतावतोपि या।
बन्धोत्कर्षोदयांशानां हेतुर्दृङ्मोहकर्मणः ॥९२०॥

अर्थः—रागकी ऐसी भी शक्ति है जो दर्शन मोहनीय कर्मके बन्ध, उत्कर्ष और उदयमे कारण है ऐसी भी तर्कणा न करो।

ऐसा माननेमें दोष

एवं चेत् सम्यगुत्पत्तिर्न स्यात्स्यात् दृगसंभवः।
सत्यां प्रध्वं ामग्र्यां कार्यध्वंसस्य सम्भवात् ॥९२१॥

अर्थः—यदि राग भाव ही दर्शन मोहनीयके बन्ध उत्कर्ष और उदयमें कारण हो तो सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति ही नही हो सकती है। फिर तो सम्यग्दर्शनका होना ही असम्भव हो जायगा। क्योंकि नाशकी सामग्री रहने पर कार्यका नाश होना अवश्यभावी है। भावार्थः—पहले तो शकाकारने सराग अवस्थामे ज्ञानचेतनका निषेध किया था, परन्तु उसका उसे उत्तर दे दिया गया कि रागका और ज्ञानचेतनाका कोई

सम्बन्ध नही है पराश्रित दोष गुण अन्याश्रित नहीं हो सकते है। रागभाव चारित्र गुणका ही विघातक है। वह सम्यग्दर्शन और ज्ञानका विघातक नहीं हो सकता है। कि शकाकारने दूसरी शका उठाई है कि यद्यपि रागभाव सम्यग्दर्शनका विघातक नहीं है सम्यग्दर्शनका विघातक तो दर्शन मोहनीय कर्म है तथापि रागभाव उस दर्शन मोहनीय कर्मका बन्ध करानेमे तथा उसके परमाणुओंको उदयमे लानेमे समर्थ है। आचार्य कहते है कि यदि रागभाव ही दर्शन मोहनीयका बन्ध तथा उदय करानेमे समर्थ है तो आत्मामे सम्यक्त्वकी कभी उत्पत्ति ही नही हो सकती है।

रागभावसे सम्यक्त्वकी हानि नहीं हो सकती है

न स्यात्सम्यक्त्वप्रध्वंसश्चारित्रावरणोदयात् ।
रागेणैतावता तत्र दृङ्मोहेऽनधिकारिणा ॥९२२॥

अर्थः—चारित्रावरण कर्मके उदयसे (रागभावसे) सम्यक्त्वका विघात नही हो सकता है। क्योकि रागभावका दर्शनमोहनीय कर्मके विषयमे कोई अधिकार नही है।

सिद्धान्त कथन

यतश्चास्त्यागमात् सिद्धमेतद्दृङ्मोहकर्मणः ।
नियतं स्वोदयाद्बन्धप्रभृति न परोदयात् ॥९२३॥

अर्थः—क्योकि यह बात आगमसे सिद्ध है कि दर्शन मोहनीय कर्मका बन्ध उत्कर्ष आदि दर्शन मोहनीय कर्मके उदयसे ही नियमसे होता है। किसी अन्य (चारित्र मोहनीय)के उदयसे दर्शनमोहनीयका बन्ध, उत्कर्ष, उदय कुछ नही होता।

भावार्थः—जिस कार्यका जो कारण नियत है उसी कारणसे वह कार्य सिद्ध होता है, यदि कार्यकारण पद्धतिको उठा दिया जाय तो किसी भी कार्यकी सिद्धि नहीं हो सकती है। इसके सिवा सकर, आदि अनेक दूषण भी आते है। क्योकि कारण भेदसे ही कार्य भेद होता है। अन्यथा किसी पदार्थकी ठीक २ व्यवस्था नही हो सकती है। सिद्धान्तकारोने पहले गुणस्थानमे दर्शनमोहनीयका उदय कहा है वही पर उसका स्वोदयमे बन्ध भी होता है। यदि दर्शनमोहनीयका बन्ध अथवा उदय आदि किसी दूसरे कर्मके उदयसे भी, होने लगे तब तो सदा पहला ही गुणस्थान रहेगा। अथवा गुणस्थानोकी शृङ्खला ही टूट जायगी। गुणस्थानोकी अव्यवस्था होने पर ससार मोक्ष अथवा शुद्ध अशुद्ध भावोकी व्यवस्था भी नही रह सकती है, इसलिये दर्शनमोहनीयके उदय होने पर ही उसका बन्ध उत्कर्ष आदि मानना न्यायसगत है।

शंकाकार

ननु चैवमनित्यत्वं सम्यक्त्वाद्यद्वयस्य यत् ।
स्वतः स्वस्योदयाभावे तत्कथं स्यादहेतुतः ॥९२४॥
न प्रतीमो वयं चैतद्दृङ्मोहोपशमः स्वयम् ।
हेतुः स्यात् स्वोदयस्योच्चैरुत्कर्षस्याऽथवा मनाक् ॥९२५॥

अर्थ—शकाकारका कहना है कि यदि अपने उदयमे ही अपना वन्ध उत्कर्ष हो अथवा परोदयमे परका उदय न हो तो आदिके दो सम्यक्त्वोंमे अनित्यता कैसे आ सकती है? क्योकि विना कारण अपना उदय अपने आप तो हो नही सकेगा, और विना दर्शनमोहनीयके उदय हुए आदिके दो सम्यक्त्वोमे अनित्यता आ नही सकती है तथा हम (शकाकार) यह भी विश्वास नही कर सकते है कि स्वयं दर्शन मोहनीयका उपशम ही दर्शनमोहनीयके उदय अथवा उत्कर्षका कारण हो जाता हो ।

भावार्थः—उपशमसम्यक्त्व और क्षयोपशम सम्यक्त्व दोनों ही अनित्य है अर्थात् दोनो ही छूटकर मिथ्यात्व रूपमें आ सकते है । क्षायिक सम्यक्त्व ही एक ऐसा है जो होनेपर फिर छूट नही सकता है । शकाकार पहले दो सम्यक्त्वोके विषयमे ही पूंछता है कि दर्शनमोहनीयका जिससमय उपशम अथवा क्षयोपशम हो रहा है उससमय किस कारणसे दर्शनमोहनीय कर्मका उदय हो जाता है जो कि सम्यक्त्वके नाशका हेतु है । स्वय दर्शनमोहनीय कर्मका उपशम अथवा क्षयोपशम तो उसके उदयमे कारण हो नही सकता है । यदि ऐसा हो तो आत्माके स्वाभाविक भाव ही कर्मबन्धके कारण होने लगेगे । और विना कारण दर्शनमोहनीयका उदय हो नही सकता है इसलिये अगत्या परोदय (राग)से उसका उदय और बन्ध मानना पड़ता है, शकाकारने घुमाव देकर फिर भी वही "सराग अवस्थामे ज्ञानचेतना नही हो सकती है" शका उठाई है ।

उत्तर

नैवं यतोऽनभिज्ञोसि पुद्गलाचिन्त्यशक्तिषु ।
प्रतिकर्म प्रकृत्याद्यैर्नानारूपासु वस्तुतः ॥९२६॥

अर्थः—आचार्य कहते है कि शकाकारने ऊपर जो शका उठाई है वह सर्वथा निर्मूल है । आचार्य शकाकारसे सम्बोधन करते हुए कहते है कि अभी तुम पुद्गलकी अचिन्त्य शक्तियोके विषयमे विलकुल अजान हो, तुम नही समझते हो कि हर एक कर्ममे प्रकृति, प्रदेश, स्थिति, अनुभाग आदि अनेक रूपसे फलदान शक्ति भरी हुई है ।

अस्त्युदयो यथानादेः स्वतश्चोपशमस्तथा ।
उदयः प्रशमो भूयः स्यादर्वागपुनर्भवात् ॥९२७॥

अर्थः—जिसप्रकार अनादि कालसे कर्मोंका उदय हो रहा है उसीप्रकार कर्मोंका उपशम भी स्वय होता है । इसी प्रकार उपशमके पीछे उदय और उदयके पीछे उपशम वार वार होते रहते हैं । यह उदय और उपशमकी शृंखला जब तक मोक्ष नहीं होता है वरावर होती रहती है ।

यदि ऐसा न माना जाय तो दोष

अथ गत्यन्तराद्दोषः स्यादसिद्धत्वसंज्ञकः ।
दोषः स्यादनवस्थात्मा दुर्वारोऽन्योन्यसंश्रयः ॥९२८॥

अर्थः—यदि ऊपर कही हुई व्यवस्था न मानी जाय और दूसरी ही रीति स्वीकार की जाय तो असिद्ध नामक दोष आता है, अनवस्था दोष भी आता है । अन्योन्याश्रय दोष भी आता है जो कि दुर्वार है । ये दोष किसप्रकार आते हैं इस बातका खुलासा नीचे किया जाता है—

राग स्वय होता है या परसे

दृङ्मोहस्योदयो नाम रागायत्तोस्ति चेन्मतम् ।
सोऽपि रागोस्ति स्वायत्तः किं स्यादपररागमात् ॥९२९॥

अर्थः—दर्शन मोहनीयका उदय शकाकारके अनुसार यदि रागाधीन माना जाय तो दूसरी शका उपस्थित होती है कि वह राग भी क्या अपने ही अधीन है अर्थात् अपने आप ही होता है अथवा दूसरे रागके अधीन है ।

राग यदि अपने आप ही होता है

स्वायत्तश्चेच्च चारित्रस्य मोहस्योदयात्स्वतः ।
यथा रागस्तथा चायं स्वायत्तः स्वोदयात्स्वतः ॥९३०॥

अर्थः—यदि चारित्रमोहनीयके उदयसे राग स्वय अपने आप ही होता है तो जिस प्रकार राग स्वय होता है उसीप्रकार यह दर्शन मोहनीयका उदय भी अपने उदयसे स्वय ही अपने आप होता है ।

यदि परस्पर सिद्धि मानी जाय

अथ चेत्तद्द्वयोरेव सिद्धिश्चान्योन्यहेतुतः ।
न्यायादसिद्धदोषः स्याद्दोषादन्योन्यसंश्रयात् ॥९३१॥

अर्थः—अथवा यदि दोनों की ही सिद्धि एक दूसरेसे मानी जाय अर्थात् रागसे दर्शनमोहनीयका उदय माना जाय और दर्शनमोहनीयसे रागोदय माना जाय तो असिद्ध नामका दोष आता है। इसीके अन्तर्गत अन्योन्याश्रय दोष आता है। भावार्थः—परस्पर एककी सिद्धि दूसरेके आधीन माननेसे एककी भी सिद्धि नही हो सकती है। क्योकि जब एक सिद्ध हो जाय तब दूसरा सिद्ध हो, परस्परकी अपेक्षामे एक भी सिद्ध नही होता है।

आगम भी ऐसा नहीं बतलाता है

नागमः कश्चिदस्तीदृग्घेतुर्दृङ् मोहकर्मणः।
* रागस्तस्याथ रागस्य तस्य हेतुर्दृगावृतिः ॥९३२॥

अर्थः—कोई जैनागम भी यह नही बतलाता है कि दर्शनमोहनीय कर्मका हेतु राग है और उस रागका हेतु दर्शनमोहनीय कर्म है।

साराश

तस्मात्सिद्धोस्ति सिद्धान्तो दृङ्मोहस्येतरस्य वा।
उदयोऽनुदयो वाऽथ स्यादनन्यगतिःस्वतः ॥९३३॥

अर्थः—इसलिये यह सिद्धभूत-निश्चित सिद्धान्त है कि दर्शन मोहनीयका अथवा चारित्र मोहनीयका उदय अथवा अनुदय बिना किसी दूसरे हेतुके अपने आप ही होता है।

ऊपर कहे हुए सम्पूर्ण कथनका फलितार्थ

तस्मात्सम्यक्त्वमेकं स्यादर्थात्तल्लक्षणादपि।
तद्यथाऽवश्यकी तत्र विद्यते ज्ञानचेतना ॥९३४॥

अर्थः—इसलिये सम्यक्त्व एक ही है। क्योकि उसका लक्षण भी एक ही है। इसलिये वहाँपर ज्ञानचेतना अवश्य ही है। भावार्थः—ऊपर बहुत दूरसे [illegible] आ रही थी कि सराग सम्यक्त्वमे ज्ञानचेतना नही होती है। वीतराग [illegible] होती है। शकाकारने रागके निमित्तसे सम्यक्त्वके सराग और [illegible] किये थे, आचार्य कहते है कि रागका चारित्रसे सम्बन्ध है [illegible] नही है इसलिये न तो सराग और वीतराग ऐसे सम्यक्त्वके [illegible] चेतनाका अभाव ही है सम्यग्दर्शन एक है। उसका [illegible] सम्यग्दर्शनका अविनाभावी गुण है इसलिये सम्यग्दर्शनके [illegible]

* मूल पुस्तकमें "हेतुस्तस्याथ" पाठ है परन्तु [illegible] है

है । इसलिये चाहे सरागावस्था हो चाहे वीतरागावस्था हो ज्ञानचेतना सम्यक्त्वके साथ अवश्य ही होगी ।

सम्यक्त्वके भेद

मिश्रौपशमिकं नाम क्षायिकं चेति तत्त्रिधा ।
स्थितिबन्धकृतो भेदो न भेदो रसबन्धसात् ॥९३५॥

अर्थः—सम्यक्त्वके मिश्र (क्षायोपशमिक) औपशमिक और क्षायिक ऐसे तीन भेद है इन तीनो भेदोमे स्थिति बन्धकी अपेक्षासे ही भेद है । रसबन्ध (अनुभाग बन्ध) की अपेक्षासे कोई भेद नही है ।

भावार्थः—सम्यक्त्वको घात करनेवाली सात प्रकृतियां हैं–मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व सम्यक्त्व प्रकृति, अनन्तानुबन्धि क्रोध, मान, माया, लोभ इन सातोके क्षयोपशमसे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है । सातोके उपशमसे उपशम सम्यक्त्व होता है, और सातोके क्षयसे क्षायिक सम्यक्त्व होता है । औपशमिक सम्यक्त्वकी जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्तकी है । क्षायिककी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्तकी है । उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त सहित अष्ट वर्ष कम दो करोड पूर्व अधिक तेतीस सागरकी है । क्षायोपशमिक सम्यक्त्वकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्तकी है और उत्कृष्ट स्थिति छयासठ सागरकी है । इसप्रकार स्थितिकी अपेक्षासे सम्यक्त्वके तीन भेद है । और भी उसके अनेक* भेद हैं परन्तु इन सब भेदोके रहते हुए भी सम्यक्त्व गुणमे वास्तव दृष्टिसे कोई भेद नहीं है । सभी भेदोमे आत्माको स्वानुभूत्यात्मक आनन्दका देनेवाला एक ही सम्यक्त्व गुण है । इन भेदोकी अपेक्षासे सम्यक्त्व गुणमे किसी प्रकारका भेद नही है । इसीलिये ग्रन्थकारने बतलाया है कि स्थितिबन्ध कृत ही भेद है । रसकी अपेक्षासे कोई भेद नही होता है अर्थात् उसके अनुभवमे कोई अन्तर नही है ।

अब स्थिति और अनुभागबन्धमें अन्तर दिखलानेके लिये चारों बन्धोंका स्वरूप दिखाते हैं

तद्यथाऽथ चतुर्भेदो बन्धोऽनादिप्रभेदतः ।
प्रकृतिश्च प्रदेशाख्यो बन्धौ स्थित्यनुभागकौ ॥९३६॥

अर्थः—प्रकृतिबन्ध, प्रदेशबन्ध, स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध इसप्रकार बन्धके चार भेद है । ये बन्धके भेद–प्रभेद अनादिकालसे चले आते है ।

---

* आज्ञामार्गसमुद्भवमुपदेशात्सूत्रबीजसंक्षेपात्, विस्तारार्थाभ्यां भवमवपरमावादिगाढञ्च ।

आत्मानुशासन ।

भावार्थः—ससारी आत्मायें अनादिकालसे ही चारो प्रकारके बन्धोंसे बन्धी हुई है, परिणामोकी मलिनताके भेदोंसे उस बन्धमे भी अनेक भेद–प्रभेद होते रहते हैं।

चारों बन्धोंका स्वरूप

प्रकृतिस्तत्स्वभावात्मा प्रदेशो देशसंश्रयः।
अनुभागो रसो ज्ञेयो स्थितिः कालावधारणम् ॥९३७॥

अर्थः—कर्मोंके भिन्न भिन्न स्वभावको प्रकृति कहते हैं। अनेक प्रदेशोंके समूहको प्रदेश कहते हैं, रसको अनुभाग कहते है और कालकी मर्यादाको स्थिति कहते हैं।

भावार्थः—प्रकृति नाम स्वभावका है, जैसे गुड़की मीठी प्रकृति अर्थात् गुड़का मीठा स्वभाव, निम्बूकी खट्टी प्रकृति–निम्बूका खट्टा स्वभाव, नीमकी कडुवी प्रकृति–नीमका कडुवा स्वभाव, मिरचकी चरपरी प्रकृति–मिरचका चरपरा स्वभाव, इत्यादि। इसीप्रकार ज्ञानावरण कर्मकी क्या प्रकृति ? ज्ञानको ढक देना, दर्शनावरण कर्मकी क्या प्रकृति ? दर्शनको ढक देना, मोहनीयकी क्या प्रकृति ? सम्यग्दर्शन तथा सम्यक्चारित्रको विपरीत स्वादु करना, अन्तरायकी क्या प्रकृति ? वीर्यशक्तिको ढक देना। इसप्रकार भिन्न भिन्न कर्मोंके भिन्न भिन्न स्वभावको ही प्रकृति कहते है। तथा स्वभाव नाम गुणका है इसलिये प्रकृति कर्मोका गुण है। परन्तु गुण गुणीमे अभेद विवक्षा होनेसे गुणके निमित्तसे गुणी भी प्रकृति शब्दसे व्यवहार किया जाता है। जैसे ज्ञानको ढकनेवाले कर्मको भी ज्ञानावरण प्रकृति कहते हैं, दर्शनको ढकनेवाले कर्मको भी दर्शनावरण प्रकृति कहते हैं। यद्यपि ज्ञान दर्शनको ढकना यह उन कर्मोकी प्रकृति (स्वभाव) है तथापि अभेद विवक्षासे उस स्वभाववाले कर्मोंको भी उसी शब्दसे व्यवहार करते है। इसप्रकार उस भिन्न भिन्न स्वभाववाले कर्मबन्धको प्रकृति बन्ध कहते है। प्रकृतिबन्धके ८ भेद हैं, ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र, अन्तराय। इनमे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार कर्म घातिया है अर्थात् आत्माके ज्ञानादि गुणोको घात करनेवाले हैं, और बाकीके चार अघातिया है अर्थात् आत्माके गुणोको घात नही करते है। यहाँ पर यह शका हो सकती है कि जब अघातिया कर्म आत्माके गुणोका घात ही नही करते है तो फिर आठो कर्मोके अभावसे आठ गुण सिद्धोमें किसप्रकार बतलाये गये है ? इसका उत्तर यह है कि गुण दो प्रकारके होते है, एक–अनुजीवी गुण, दूसरे प्रतिजीवी गुण। जो गुण भाव रूप हो, अर्थात् वास्तवमें अपनी सत्ता रखते हो उन्हे अनुजीवी गुण कहते हैं। ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य इत्यादि सब

प्रतिसमय यह जीव सिद्ध राशि (अनन्तानन्त)के अनन्तवे भाग और अभव्य जीव राशि (जघन्य युक्तानन्त)से अनन्त गुणे समय प्रवद्ध अर्थात् एक समयमें बँधनेवाले परमाणु समूहको बांधता है। परन्तु मन, वचन, कायकी प्रवृत्तिरूप योगोंकी विशेषतासे कभी कमती कभी बढती परमाणुओका भी बन्ध करता है परन्तु अनन्तसे कम बध नही करता है। क्योकि अनन्त वर्गोके समूहको एक वर्गणा कहते है, और अनन्तानन्त वर्गणाओके समूहको एक समय-प्रवद्ध कहते है, और इतने ही परमाणु प्रतिसमय इस जीवके उदयमें आते रहते है, उदय होनेवाले परमाणु समूहको निषेक कहते है। इसप्रकार यह बध उदयकी शृङ्खला तब तक बराबर होती रहती है जब तक कि यह जीव कर्मबंधकी कारणभूत कषाय विशिष्ट योगोंकी प्रवृत्तिको नही रोकता है। जो कर्म परमाणु इस जीवके बँधते है वे आठ उपर्युक्त प्रकृतियोंमें बँट जाते है, उस बँटवारेमे आयु कर्मका हिस्सा सबसे थोड़ा रहता है उससे कुछ अधिक नाम और गोत्र कर्मका समान हिस्सा रहता है, नाम गोत्रसे अधिक ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय इन तीन प्रकृतियोंका समान हिस्सा रहता है और उनसे अधिक मोहनीय कर्मका हिस्सा रहता है। उससे अधिक हिस्सा वेदनीय कर्मका रहता है। वेदनीय कर्मका भाग सबसे अधिक रहता है इसका कारण यह है कि वेदनीय कर्म सुख दु खका कारण है इसलिये इसकी निर्जरा अधिक होती है, इसीलिये सबसे अधिक द्रव्य इसमे चला जाता है।

स्थिति बध आत्माके साथ कर्मोके रहनेकी मर्यादाको कहते है। जो कर्मबध हुआ है वह कितने काल तक आत्माके साथ रहेगा इसीका नाम स्थिति बंध है। यह स्थिति बध दो प्रकारसे होता है। एक जघन्य एक उत्कृष्ट। सबसे जघन्य स्थितिबध अन्त-र्मुहूर्तका होता है परन्तु उदीरणा (असमयमे किसी कारणवश निर्जरा होनेवाले कर्म) होनेपर जघन्य स्थितिबध एक आवलि मात्र है, अर्थात् यदि किसी कर्मकी उदीरणा भी हो तो भी कमसे कम आवलि मात्र आबाधा काल पड़ेगा ही। तत्काल बध और तत्काल उदीरणा भी नही होती है, ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवे गुणस्थानमें जो तत्काल बंध और तत्काल उदय होता है वास्तवमे वह बध ही नही है। बध कषायके निमित्तसे होता है, उक्त गुणस्थानोमे कषायका उदय ही नही है इसलिये वहां पर योगके निमित्तसे जैसे कर्म आता है वैसे ही चला जाता है। उत्कृष्ट स्थितिबध सत्तर कोटाकोटि सागर प्रमाण होता है। मध्यके अनेक भेद है। कर्मोंका उदय आबाधा काल* के पीछे ही होता है।

* कम्म सरूवेणागय दव्व ण्णय एदि उदयरूवेण।
रूवेणुदीरणस्सव आवाहा जाव ताव हवे।

उदयकी अपेक्षासे आबाधा कालका प्रमाण सातो कर्मों (आयु कर्मको छोडकर) का एक कोडा कोडि सागर प्रमाण स्थितिका सौ वर्ष प्रमाण है, बाकी स्थितियोंका उनके त्रैराशिकके अनुसार जान लेना चाहिये। आयु कर्मका आबाधा काल कोड़ पूर्वके तीसरे भागसे लेकर आवलिके असख्यात भाग प्रमाण है। जैसे अन्य कर्मोंकी आबाधा स्थितिके अनुसार भाग करनेसे होती है वैसी आयु कर्मकी नही है। उदीरणाकी अपेक्षासे सब कर्मोंकी आबाधा आवलि प्रमाण है। परभवकी बंधी हुई आयुकी उदीरणा नही होती है। विना स्थिति बधके कर्म अपना फल इस आत्माको नही दे सकते है और स्थितिबध कषायसे होता है। इसलिये कषायोंको कम करना ही सुख चाहनेवालोंका परम कर्तव्य है।

अनुभागबन्ध—कर्मोंके फल देनेकी शक्तिकी हीनता व अधिकताको कहते हैं। वास्तवमे यही बन्ध साक्षात् आत्माको दु खका कारण है। क्योंकि कर्मोंका फल (विपाकावस्था) ही दु ख है और कर्मोंका फल अनुभागबन्धसे होता है। आत्माके गुणोका विभाव परिणमन इसीसे होता है। आत्मामे अशुद्धता इसीसे आती है। आत्माके सक्लेश परिणामोसे अशुभ प्रकृतियोमे तीव्र अनुभाग पडता है और शुभ प्रकृतियोमे जघन्य पडता है तथा शुभ परिणामोसे अशुभ प्रकृतियोमे जघन्य अनुभाग पडता है शुभोमे अधिक पडता है। चारो घातिया कर्म अशुभ है। उनका अनुभाग अर्थात् फल देनेकी शक्ति चार भेदोमे विभाजित की जाती है। कुछ कर्मोंमे फल देनेकी शक्ति लताके समान है। जैसे लता कोमल होती है वैसे ही उन कर्मोंकी फलदान शक्ति भी बहुत हलकी होती है। लताके समान फलदान शक्ति रखनेवाले कर्म आत्माके गुणोंका सम्पूर्णतासे घात नही कर सकते है किन्तु एक देश घात करते है। जैसे सम्यक्त्व प्रकृति लताके समान है वह सम्यग्दर्शनका सर्व घात नही कर सकती इसीलिये वह देशघाती प्रकृतियोमे गिनाई गई है। कुछ कर्म परमाणुओमें काष्ठके समान फलदान शक्ति है। काष्ठ, लतासे बहुत कठोर होता है, काष्ठके समान शक्ति रखनेवाले कर्मोंका बहुत थोडा (अनन्तवां) भाग देशघाती है। और बहु भाग सर्वघाती है। कुछ परमाणुओमे हड्डीके समान शक्ति है, यह शक्ति काष्ठकी अपेक्षासे और भी कठोर है और कुछ कर्म परमाणुओमे पत्थरके समान फलदान शक्ति है ये कर्म सर्व घाती है, अर्थात् ऐसी शक्ति

अर्थात्—आत्मामें बांधा हुआ कर्म जब तक उदय रूपसे और उदीरणा रूपसे निर्जरित नहीं हो तब तक उस कालको आबाधा काल कहते हैं।

गोमट्टसार कर्मकाण्ड।

रखनेवाले कर्म आत्माके गुणोंका सम्पूर्णतासे घात करते हैं। मिश्र प्रकृति और मिथ्यात्व प्रकृति इनका उदाहरण है। मिश्र प्रकृति काष्ठ भागके समान है। और मिथ्यात्व प्रकृति हड्डी और पत्थरके समान है। जिसप्रकार घातिया कर्म सब ही अशुभ हैं उसप्रकार अघातिया कर्म नहीं हैं किन्तु उनमे सातावेदनीय, शुभ आयु* शुभ नाम और उच्च गोत्र ये शुभ हैं, बाकीके—असातावेदनीय, अशुभ आयु, अशुभ नाम और नीच गोत्र ये अशुभ कर्म हैं। जो २ शुभ प्रकृतियाँ हैं उनमे भी चार प्रकारकी शक्तियाँ—गुड़, खाँड, शर्करा (मिश्री) और अमृतके समान समझना चाहिये। अर्थात् प्रशस्त कर्मोंमे कुछ भाग तक गुड़के समान फलदान शक्ति है, इसीप्रकार कुछ भाग तक खाँडके समान, कुछ भाग तक मिश्रीके समान और कुछ भाग तक अमृतके समान फलदान शक्ति है। अघातिया कर्मोंमे जो २ अशुभ प्रकृतियाँ हैं उनमें क्रमसे नीम, काञ्जीर, विष और हालाहलके समान शक्ति भेद समझना चाहिये। इन्हीं शक्ति भेदोके अनुसार यह जीव सुख दुःखकी अधिकता अथवा हीनताको भोगता है। यह शक्तिभेद ही फलदान शक्तिका तारतम्य कहलाता है। ऐसा तारतम्य अनुभाग बन्धमे होता है। इसलिये वास्तवमे अनुभाग बन्ध ही दुःखोंका मूल कारण है। अथवा दूसरे शब्दोमे यह कहना ठीक है कि अनुभागबन्ध ही दुःखस्वरूप है। इसको दूर करनेका उपाय भी कपायोकी हीनता है। जितनी २ कपायें पुष्ट होंगी उतना २ ही कर्मोंमे रस शक्तिका आधिक्य होगा, और जितनी २ कपायें निर्बल अथवा मन्द होगी उतनी २ ही कर्मोंमे रस शक्तिकी हीनता होगी। उपर्युक्त चारों प्रकारका ही बन्ध योग और कपायसे होता है। योगसे प्रकृति और प्रदेशबन्ध होता है। कपायसे स्थिति और अनुभाग बन्ध होता है इन योग और कपाय दोनोंके समुदायको लेश्या कहते है। लेश्याका लक्षण यही है कि "कपायोदयानुरञ्जिता योगप्रवृत्तिर्लेश्या+" अर्थात् कपायोंके उदय सहित जो योगोकी प्रवृत्ति है उसीका नाम

---

* देवायु, मनुष्यायु; तिर्यगायु ये तीनों ही आयु शुभ हैं। परन्तु गतियोंमें देवगति और मनुष्यगति ये दो गति शुभ हैं इसका कारण भी यह है कि तिर्यग्गतिमें कोई जीव जाना नहीं चाहता है क्योंकि वह दुःखका कारण है इसलिये तिर्यग्गति तो अशुभ है, परन्तु जो जीव तिर्यग्गतिमें है वह वहाँसे निकलना नहीं चाहता इसलिये तिर्यगायु शुभ है। और नरकमें तो कोई जाना भी नहीं चाहता और पहुँच कर वहाँ ठहरना भी कोई नहीं चाहता इसलिये नरकगति और नरकायु दोनों ही अशुभ हैं।

+ जोग पवित्ती लेस्सा कसाय उदयाणुरंजिया होई।
तत्तो दोण्णं कज्जं बन्धचउक्कं समुद्दिट्ठं॥

अर्थात् कपायोदयरञ्जित योगोंकी प्रवृत्ति लेश्या कहलाती है। इसलिये कपाय और योगरूप लेश्यासे ही चारों प्रकारका बन्ध होता है।

लेश्या है इसलिये यह लेश्या ही चारो वन्धोका कारण है। शुभ लेश्या अर्थात् शुभ राग और शुभ योग प्रवृत्ति पुण्यवन्धका कारण है और अशुभ लेश्या अर्थात् अशुभ राग और अशुभ योगोकी प्रवृत्ति पापवन्धका कारण है* इसलिये सवसे प्रथम अशुभ प्रवृत्तिका त्याग कर शुभ प्रवृत्तिमें लगना चाहिये। शुभ प्रवृत्तिमे लग जानेसे जो अशुभ प्रवृत्तिजन्य तीव्र दु खका कारण पापवन्ध होता है वह रुक जाता है।

अनुभागवन्धमें विशेषता

स्वार्थक्रिया समर्थोत्र वन्धः स्याद्रससञ्ज्ञिकः।
शेषवन्धत्रिकोप्येष न कार्यकरणक्षमः ॥९३८॥

अर्थः—ऊपर जो चारो वन्धोका स्वरूप कहा गया है उनमे अनुभाग वन्ध ही स्वार्थ क्रियाके करनेमे समर्थ है, वाकीके तीनो ही वन्ध कार्य करनेमे समर्थ नही हैं।

भावार्थ—प्रकृति बन्ध, प्रदेश वन्ध, स्थिति वन्ध इन तीनोसे आत्माको साक्षात् दु.ख नही होता है, साक्षात् दुःख देनेवाला और आत्माके गुणोका घात करनेवाला अनुभाग बन्ध ही है। क्योकि हरएक कर्म इस शक्ति अवस्थामे ही फल देनेमे समर्थ हैं, और इस शक्तिमे न्यूनाधिक्य अनुभाग वन्धसे आता है।

साराश

ततः स्थितिवशादेव सन्मात्रेप्यत्र संस्थिते।
ज्ञानसञ्चेतनायास्तु क्षतिर्न स्यान्मनागपि ॥९३९॥

अर्थः—इसलिये तीनो सम्यग्दर्शनोमे स्थितिवन्धकी अपेक्षासे सत्ता मात्रमे ही भेद है, उससे ज्ञानचेतनाकी किञ्चित्मात्र भी क्षति (हानि) नही है।

भावार्थः—पहले कहा गया है कि सम्यग्दर्शनके क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक ऐसे तीन भेद है, उन तीनो ही भेदोमे उस अलौकिक सम्यग्दर्शन गुणका अनुभवन समानतासे होता है, केवल कर्मोंकी स्थितिकी अपेक्षासे उन तीनोमे भेद हैं, वास्तवमें रसबन्ध कृत भेद नही है इसी बातको चारो बन्धोका स्वरूप बताकर स्पष्ट

---

* लिंपइ अप्पीकीरई एदीय णिय मपुण्ण पुण्ण च।
जीवोत्ति होदि लेस्सा लेस्सागुणजाणयक्खादा॥

अर्थात् जीव जिसके कारण पुण्य पापका ग्रहण करे उसीको लेश्याके जाननेवालोंने लेश्या कहा है।

गोमट्टसार।

किया गया है कि स्थितिके भेदसे ज्ञानचेतनाकी थोड़ी भी हानि नही होती है। अर्थात् सम्यग्दर्शनके साथ अविनाभावसे रहनेवाली ज्ञानचेतना तीनो ही में समान है।

सम्यग्दर्शनके साथ और भी सद्गुण होते हैं

एवमित्यादयश्चान्ये सन्ति ये सद्गुणोपमाः।
सम्यक्त्वमात्रमारभ्य ततोप्यूर्ध्वं च तद्वतः ॥९४०॥
स्वसंवेदनप्रत्यक्षं ज्ञानं स्वानुभवाह्वयम्।
वैराग्यं भेदविज्ञानमित्याद्यस्तीह किं बहु ॥९४१॥

अर्थः—इसीप्रकार सम्यग्दर्शनके साथ तथा उसके आगे और भी सद्गुण प्रकट होते है। वे सब सम्यग्दर्शन सहित है इसीलिये सद्गुण हैं। उनमेसे कुछ ये है—स्वसवेदन प्रत्यक्ष स्वानुभव ज्ञान, वैराग्य, और भेद विज्ञान। इत्यादि सभी गुण सम्यग्दर्शनके होने-पर ही होते हैं इससे अधिक क्या कहा जाय।

भावार्थः—सम्यग्दर्शनके होनेपर ही भेद विज्ञानादि उत्तम गुणोंकी प्राप्ति होती है। अन्यथा नही होती। दूसरा यह भी आशय है कि जो गुण सम्यग्दर्शनके साथमें होते हैं वे ही सद्गुण है। विना सम्यग्दर्शनके होनेवाले गुणोको सद्गुणोकी उपमा भले ही दी जाय, परन्तु वास्तवमें वे सद्गुण नही है। चौथे गुणस्थानसे पहले पहले भेदविज्ञानादि (सद्गुण) होते भी नही है।

चेतना तीन प्रकार है

अद्वैतेपि त्रिधा प्रोक्ता चेतना चैवमागमात्।
ययोपलक्षितो जीवः सार्थनामास्ति नान्यथा ॥९४२॥

अर्थः—यद्यपि चेतना एक है तथापि आगमके अनुसार उस चेतनाके तीन भेद हैं उस चेतनासे विशिष्ट जीव ही यथार्थ नाम धारी कहलाता है। अन्यथा नहीं।

भावार्थः—यद्यपि चेतना एक है तो भी कर्मके निमित्तसे उसके कर्म चेतना, कर्म फल चेतना और ज्ञान चेतना ऐसे तीन भेद हैं उनमें आदिकी दो चेतनाये मिथ्यात्वके साथ होनेवाली हैं, और तीसरी ज्ञान चेतना सम्यग्दर्शनके साथ होने वाली है। इन तीनो चेतनाओका खुलासा वर्णन पहले आ चुका है।

आशङ्का

ननु चिन्मात्र एवास्ति जीवः सर्वोपि सर्वथा।
किं तदाद्या गुणाश्चान्ये सन्ति तत्रापि केचन ॥९४३॥

अर्थः—क्या सम्पूर्ण जीव सर्वथा चैतन्यमात्र ही है अथवा चैतन्यके साथ उसके और भी गुण होते है ? उत्तर–हां होते है उनमेसे कुछ गुण नीचे बतलाये जाते है ।

सभी पदार्थ अनन्त गुणात्मक हैं

उच्यतेनन्तधर्माधिरूढोप्येकः सचेतनः ।
अर्थजातं यतो यावत्स्यादनन्तगुणात्मकम् ॥९४४॥

अर्थः—यह जीव यद्यपि अनन्तगुणोका धारी है तथापि एक कहा जाता है। जितना भी पदार्थ समूह है सभी अनन्तगुणात्मक है ।

भावार्थः—जितने भी पदार्थ है सभी अनन्त गुणात्मक है। अनन्तगुणात्मक होनेपर भी वे एक एक कहे जाते है, एक कहे जानेका कारण भी एक सत्ता गुण है। भिन्न २ सत्ता गुणसे ही पदार्थोमें भेद होता है। जीव द्रव्य भी अनन्तगुणोका अखण्ड पिण्ड है। भिन्न २ सत्ता रखनेवाले भिन्न भिन्न अनन्तगुणधारी जीव द्रव्य अनन्त हैं। प्रत्येक द्रव्यमें गुणोकी भेदविवक्षासे भेद होता है और अभेद विवक्षामे अभेद समझा जाता है। वास्तवमें गुण समूह हो द्रव्य है। और वे सभी गुण परस्पर अभिन्न हैं। इसीलिये द्रव्य और गुणोंका तादात्म्य सम्बन्ध है। परन्तु नैयायिक दार्शनिक गुण गुणीमे सर्वथा भेद मानते है और उन दोनोका समवाय सम्बन्ध बतलाते है, नैयायिक लोगोका यह सिद्धान्त न्यायकी दृष्टिसे सर्वथा बाधित है क्योकि वे ही स्वय ज्ञान और जीवका समवाय कहते है और समवाय सम्बन्ध उनके मतसे ही नित्य होता है फिर उन्हीके मतानुसार मुक्तात्माका ज्ञान गुण नष्ट हो जाता है। इसलिये उनका सिद्धान्त उनके मतसे ही बाधित हो जाता है। इसी आशयको हृदयमे रखकर ग्रन्थकार परीक्षकोको सूचना देते हैं—

अभिज्ञानं च तत्रापि ज्ञातव्यं तत्परीक्षकैः ।
वक्ष्यमाणमपि साध्यं युक्तिस्वानुभवागमात् ॥९४५॥

अर्थः—जीव अनन्तगुणात्मक है इस विषयका विशेष परिज्ञान परीक्षकोको करना चाहिये, यद्यपि जो हम सिद्ध करना चाहते हैं उसे आगे युक्ति, स्वानुभव और आगम प्रमाणसे कहेगे तथापि परीक्षकोको निर्णय कर लेना ही उचित है ।

जीवके विशेष गुण

थायथं जीवस्य चारित्रं दर्शनम् सुखम् ।
ज्ञानं सम्यक्त्वमित्येते स्युर्विशेषगुणाः स्फुटम् ॥९४६॥

अर्थः—चारित्र, दर्शन, सुख, ज्ञान और सम्यक्त्व ये जीवके विशेष गुण हैं।

जीवके सामान्य गुण

वीर्यं सूक्ष्मोवगाहः स्यादव्याबाधश्चिदात्मकः।
स्यादगुरुलघुसंज्ञं च स्युः सामान्यगुणा इमे ॥९४७॥

अर्थः—वीर्य, सूक्ष्म, अवगाह, अव्याबाध और अगुरुलघु ये जीवके सामान्य गुण हैं। भावार्थः—हर एक पदार्थमें सामान्य और विशेष गुण रहते हैं। जो गुण समान रीतिसे सभी पदार्थोंमें रहते हैं उन्हे सामान्य गुण कहते है जैसे अस्तित्व, वस्तुत्व, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व, अगुरुलघुत्व आदि। ये गुण सभी पदार्थोंमें समान हैं तथापि जुदे जुदे हैं। जो गुण असाधारण हों अर्थात् भिन्न २ पदार्थोंके जुदे २ हों, उन्हें विशेष गुण कहते हैं। विशेष गुण ही वस्तुओंमें परस्पर भेद करानेवाले हैं। जैसे जीवमे विशेषगुण ज्ञान, दर्शन, सुख आदि है। पुद्गलमें रूप, रस, गन्ध, वर्ण आदि है। इन्ही सामान्य और विशेष गुणोके समूहको द्रव्य कहते है।

सभी गुण स्वाभाविक हैं

सामान्या वा विशेषा वा गुणाः सिद्धाः निसर्गतः।
टंकोत्कीर्णा इवाजस्रं तिष्ठन्तः प्राकृताःस्वतः ॥९४८॥

अर्थः—जीवके सामान्यगुण अथवा विशेषगुण स्वभाव सिद्ध हैं। सभी गुण टांकीसे उकेरे हुए पत्थरके समान निरन्तर रहते हैं और स्वयं सिद्ध अनादिनिधन हैं।

तथापि प्रोच्यते किञ्चिच्छ्रूयतामवधानतः।
न्यायबलात्समायातः प्रवाहः केन वार्यते ॥९४९॥

अर्थः—तथापि उन गुणोके विषयमे थोड़ासा विवेचन किया जाता है उसे सावधानीसे सुनना चाहिये। गुणोका प्रवाह न्याय (युक्ति)के बलसे चला आ रहा है उसे कौन रोक सकता है? भावार्थः—द्रव्यकी सहभावी पर्यायको गुण कहते हैं द्रव्यकी अनादि कालसे होनेवाली अनन्त कालतक सभी पर्यायोमे गुण जाते है। गुणोका नाश कभी नहीं हो सकता है, इसीलिये कहा गया है कि गुणोका प्रवाह न्याय प्राप्त है उसे कौन रोक सकता है।

वैभाविकी शक्ति

अस्ति वैभाविकी शक्तिः स्वतस्तेषु गुणेषु च।
जन्तोः संसृत्यवस्थायां वैकृतास्ति स्वहेतुतः ॥९५०॥

अर्थः—उन्ही जीवके अनन्त गुणोंमे एक स्वतः सिद्ध वैभाविक नामा शक्ति है। वह शक्ति ससार अवस्थामे अपने कारणसे विकृत (विकारी) हो रही है।

भावार्थः—वैभाविक भी एक आत्माका गुण है। उस गुणकी दो अवस्थायें होती है। आत्माकी शुद्ध अवस्थामे उसकी स्वाभाविक अवस्था और आत्माकी अशुद्ध अवस्थामे उसकी वैभाविक अवस्था। अशुद्धताका कारण—राग द्वेषभाव है, उन्ही भावोंके निमित्तसे उस वैभाविक शक्तिका विभावरूप परिणमन होता है। तथा रागद्वेषके अभावमे उसका स्वभाव परिणमन होता है। आत्माकी ससारावस्थामे उसका विभावरूप परिणमन होता है और मुक्तावस्थामे स्वभाव परिणमन होता है। इसलिये स्वाभाविक और वैभाविक ऐसी दो अवस्थाये उसी एक वैभाविक नामा गुणकी है। कोई स्वाभाविक गुण पृथक् नही है।

दृष्टान्त

यथा वा स्वच्छताऽऽदर्शे प्राकृतास्ति निसर्गतः।
तथाप्यस्यास्यसंयोगाद्वैकृतास्त्यर्थतोपि सा ॥९५१॥

अर्थः—जिसप्रकार दर्पणमे स्वभावसे ही स्वच्छता (निर्मलता) सिद्ध है। तथापि सम्बन्ध होनेसे उसकी विकार अवस्था हो जाती है। और वह विकार वास्तविक है।

भावार्थः—मुखका प्रतिबिम्ब पडनेसे दर्पणका स्वरूप मुखमय हो जाता है। वह उसकी विकारावस्था है और वह केवल कल्पना मात्र नहीं है किन्तु वास्तवमे कुछ वस्तु है। क्योकि छाया पुद्‌गलकी पर्याय है। दर्पणकी मुखमय पर्याय सामने ठहरे हुए मुखके निमित्तसे होती है। उसीप्रकार जीवके रागद्वेष परिणामोसे उस वैभाविक गुणकी विकारावस्था हो रही है। ऐसी अवस्था इसकी अनादिकालसे है।

विकारावस्थामें पदार्थ सर्वथा अपने स्वरूपको नहीं छोडता है

वैकृतत्वेपि भावस्य न स्यादर्थान्तरं क्वचित्।
प्रकृतौ यद्विकारित्वं वैकृतं हि तदुच्यते ॥९५२॥

अर्थः—विकृत अवस्था होनेपर भी पदार्थ कही बदल नही जाता है। प्रकृतिमे जो विकृति होती है उसे ही उसका विकार कहते है। भावार्थः—पदार्थमे जो विकार होता है वह उसी पदार्थका विकार कहा जाता है। ऐसा नही है कि पदार्थ ही बदल कर दूसरे पदार्थरूप हो जाता हो। यदि ऐसा होता तो फिर उसे उसी पदार्थका विकार नही कहना चाहिये किन्तु पदार्थान्तर ही कहना चाहिये, इसलिये स्वभाव सिद्ध पदार्थमे जो विकृति

होती है वह उसी पदार्थकी निमित्तान्तरसे होनेवाली अशुद्ध अवस्था है जिस निमित्तसे वह अशुद्धावस्था हुई है उस निमित्तके दूर हो जाने पर वह पदार्थ भी अपने प्राकृतिक स्वरूपमें आ जाता है ।

दृष्टान्त

त पि वारुणीपानाद् बुद्धिर्नाऽबुद्धिरेव नुः ।
तत्प्रकारान्तरं बुद्धौ वैकृतत्वं तदर्थसात् ॥९५३॥

:—जिसप्रकार मदिरा पीनेसे मनुष्यकी बुद्धि बुद्धि ही रहती है वह अबुद्धि (पदार्थान्तर) नही हो जाती है किन्तु बुद्धिमें ही कुछ दूसरी अवस्था हो जाती है । जो बुद्धिकी दूसरी अवस्था है वही उसकी वास्तविक विकृति है । भावार्थः—सुबुद्धि रूप परिणमनको ही बुद्धिकी विकृतावस्था कहते है ।

प्राकृतं वैकृतं वापि ज्ञानमात्रं तदेव यत् ।
यावदत्रेन्द्रियायत्तं तत्सर्वं वैकृतं विदुः ॥९५४॥

अर्थः—स्वाभाविक ज्ञान हो, अथवा वैभाविक ज्ञान हो सभी ज्ञान ही कहा जायगा । क्योकि ज्ञानपना दोनो ही अवस्थाओमे है । परन्तु इतना विशेष है कि जितना भी इन्द्रियोसे ज्ञान होता है वह सब वैभाविक है ।

विकृतावस्थामें जीवकी वास्तवमें हानि है

अस्ति तत्र क्षतिर्नूनं नाक्षतिर्वास्तवादपि ।
जीवस्यातीवदुःखित्वात् सुखस्योन्मूलनादपि ॥९५५॥

अर्थः—जीवकी विकृत अवस्थामे वास्तवमे हानि है । विकृत अवस्थासे जीवकी वास्तवमे कुछ हानि न हो ऐसा नही है । क्योकि विकृतावस्थामे जीवको अत्यन्त दुःख होता है और इसका स्वाभाविक सुख गुण हो जाता है ।

भावार्थः—जो लोग सर्वथा निश्चय पर आरूढ है वे ऐसा कहते है कि कर्मबन्धसे वास्तवमे आत्माकी कोई हानि नही है, आत्मा सदा शुद्ध है । ऐसा कहनेवाले व्यवहारनयको सर्वथा मिथ्या समझते है परन्तु यह उनकी भूल है, कर्मबन्धसे ही जीव कष्ट भोग रहा है, अत्यन्त दुःखी हो रहा है, चारो गतियोमे घूमता फिरता है, रागद्वेषसे मूर्छित हो रहा है, अल्पज्ञानी हो रहा है इत्यादि अवस्थाये इसकी प्रत्यक्ष दीख रही हैं इसीलिये आचार्यने इस श्लोक द्वारा बतलाया है कि वास्तवमे भी इस जीवकी विकृतावस्थामें हानि हो रही है, केवल निश्चय नय पर आरूढ रहनेवालोको नयोके स्वरूपपर भी थोड़ा

विचार अवश्य करना चाहिये । उन्हे सोचना चाहिये कि निश्चय नय और व्यवहार नय कहते किसे है ? यथार्थमे नय नाम किसी अपेक्षासे पदार्थके निरूपण करनेका है । निश्चय नय आत्माके शुद्ध स्वरूपका निरूपण करता है, वह बतलाता है कि आत्मा कर्मोंसे सर्वथा भिन्न है, वह सदा शुद्ध ज्ञान शुद्ध दर्शनवाला है, वह चारो गतियोंके दु खका भोक्ता नही है इत्यादि, यह सब कथन आत्माके असली स्वरूपके विचारकी अपेक्षासे है, अर्थात् आत्माका शुद्ध स्वरूप, कर्मोंके निमित्तसे होनेवाली अवस्थासे सर्वथा भिन्न है, बस इसी शुद्ध स्वरूपको प्रकट करना ही निश्चय नयका कार्य है । परन्तु वर्तमानमे जो कर्मकृत अवस्था हो रही है वह मिथ्या नही है किन्तु वह जीवकी शुद्ध अवस्था नहीं है इसीलिये नयकी दृष्टिसे यह जीवकी विकृतावस्था मिथ्या प्रतीत होती है । वास्तवमे यह जीवकी निज अवस्था नही है इसको व्यवहार नय बतलाता है इसीलिये उसे भी मिथ्या कह दिया जाता है । अन्यथा यदि विकृतावस्था कुछ वस्तु ही न हो, केवल कल्पना अथवा भ्रमात्मक बोध ही हो तो फिर यह शरीरका सम्बन्ध और पुण्य पापका फल तथा जीवका अच्छा बुरा कर्तव्य कुछ नही ठहरता है, इसलिये ये सब बातें यथार्थ हैं और विकृतावस्थासे जीव वास्तवमे दु खी है और उसके सुख गुणकी हानि हो रही है*। इसी बातको ग्रन्थकार आगे स्पष्ट करते है—

अपि द्रव्यनयादेशाट्टंकोत्कीर्णोऽस्ति प्राणभृत् ।
नात्मसुखे स्थितः कश्चित् प्रत्युतातीव दुःखवान् ॥९५६॥

अर्थः—यद्यपि द्रव्यार्थिक नयसे यह जीव टाँकीसे उकेरे हुए पत्थरके समान सदा नित्य है तथापि पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे कोई ससारी जीव अपने सुखमे स्थित नही है किन्तु उल्टा अत्यन्त दु खी है ।

अपने स्वरूपमें स्थित समझना भी भूल है

नाङ्गीकर्तव्यमेवैतत् स्वस्वरूपे स्थितोस्ति ना ।
बद्धो वा स्यादबद्धो वा निर्विशेषाद्यथा मणिः ॥९५७॥

अर्थः—जिसप्रकार मणि मिली हुई (कीचड आदिमे) अवस्थामे भी शुद्ध है और भिन्न अवस्थामे भी शुद्ध है। उसीप्रकार यह मनुष्य भी चाहे कर्मोंसे बँधा हुआ हो चाहे मुक्त हो सदा अपने स्वरूपमे स्थित है ऐसा भी नही मानना चाहिये ।

---

* निश्चयनयपर ही चलनेवाले पूजन आदि शुभ कार्योंमें भी उदास हो जाते हैं यह उनकी भारी भूल है। उन्हे स्वामी समन्तभद्रादि आचार्योंकी कृतिपर ध्यान देना चाहिये कि जिन्होंने केवल आत्माको बनाते हुए भी भक्तिमार्गको कहाँ तक अपनाया है।

क्योंकि

यतश्चैवं स्थिते जन्तोः पक्षः स्याद् बाधितो बलात् ।
संसृतिर्वा विमुक्तिर्वा न स्याद्वा स्यादभेदसात् ॥९५८॥

अर्थः—क्योकि जीवको यदि सदा शुद्ध माना जाय तो वह मानना न्यायबलसे बाधित है। जीवको सदा शुद्ध माननेसे न तो संसार ही सिद्ध हो सकता है, और न मोक्ष ही सिद्ध हो सकती है। अथवा दोनोमे अभेद ही सिद्ध होगा।

भावार्थः—ससरण ससार' परिभ्रमणका नाम ही संसार है, वह बिना अशुद्धताके हो नही सकता है। और संसारके अभावमे मुक्तिका होना भी असम्भव है। क्योंकि मुक्ति ससार पूर्वक ही होती है। जो बँधा ही नही है वह मुक्त ही क्या होगा। इसलिये जीवको सदा शुद्ध माननेसे ससार और मोक्ष दोनों ही नही बनते है अथवा दोनोंमें कोई भेद सिद्ध नही होता है। इसीको स्पष्ट करते है—

स्वस्वरूपे स्थितो ना चेत् संसारः स्यात्कुतो नयात् ।
हटाद्वा मन्यमानेस्मिन्ननिष्टत्वमहेतुकम् ॥९५९॥

अर्थः—यदि मनुष्य सदा अपने स्वरूपमें ही स्थित रहे अर्थात् सदा शुद्ध ही बना रहे तो ससार किस नयसे हो सकता है? यदि जीवको हठ पूर्वक ही बिना किसी हेतुके शुद्ध माना जाय तो अनिष्टताका प्रसङ्ग आता है। उसे ही दिखाते है—

जीवश्चेत्सर्वतः शुद्धो मोक्षादेशो निरर्थकः ।
नेष्टमिष्टत्वमत्रापि तदर्थं वा वृथा श्रमः ॥९६०॥

अर्थः—यदि जीव सदा शुद्ध है तो फिर मोक्षका आदेश (निरूपण) व्यर्थ है। और यह वात इष्ट नही है। क्यो इष्ट नही है इसका उत्तर यही है कि मोक्षके लिये जो श्रम किया जाता है वह सब व्यर्थ होगा। **भावार्थः**—जीवको सर्वथा शुद्ध माननेसे मोक्षका विवेचन और उसकी प्राप्तिका उपाय आदि सभी बातें व्यर्थ ठहरती है, यह वात इष्ट नही है।

सर्वं विप्लवतेप्येवं न प्रमाणं न तत्फलम् ।
साधनं साध्यभावश्च न स्याद्वा कारकक्रिया ॥९६१॥

अर्थः—जव मोक्ष व्यवस्था और उसका उपाय ही निरर्थक है, तव न प्रमाण वनता है, न उसका फल वनता है, न साधन वनता है न साध्य बनता है, न कारण बनता है

और न क्रिया ही बनती है, सभीका विप्लव (लोप) हो जाता है। भावार्थः—जीवको पहले अशुद्ध माननेसे तो संसार, मोक्ष, उसका उपाय, साध्य, साधन, क्रियाकारक, प्रमाण, उसका फल सभी बातें सिद्ध हो जाती है परन्तु जीवको सर्वथा शुद्ध माननेसे ऊपर कही हुई बातोंमेसे एक भी सिद्ध नही होती है। इसलिये पहले जीवको अशुद्ध मानना ही युक्तिसङ्गत है।

सारांश

सिद्धमेतावताप्येवं वैकृता भावसन्ततिः ।
अस्ति संसारिजीवानां दुःखमूर्तिर्दुरुत्तरा ॥९६२॥

अर्थः—उपर्युक्त कथनसे यह बात भलीभांति सिद्ध हो चुकी कि संसारी जीवोंके भावोकी सन्तति विकृत है, दुःखकी मूर्ति है, और खोटे फलवाली है।

शंकाकार

ननु वैभाविका भावाः कियन्तः सन्ति कीदृशाः ।
किं नामानः कथं ज्ञेया ब्रूहि मे वदतां वर ॥९६३॥

अर्थः—वैभाविक भाव कितने है, वे कैसे है, किस नामसे पुकारे जाते है, और कैसे जाने जाते है? हे वक्ताओमें श्रेष्ठ! मुझे सब समझाओ।

उत्तर

शृणु साधो महाप्राज्ञ! वच्म्यहं यत्तवेप्सितं ।
प्रायो जैनागमाभ्यासात् किञ्चित्स्वानुभवादपि ॥९६४॥

अर्थः—शंकाकारको सम्बोधन करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं–हे साधो! हे महा विद्वान्! जो तुम्हे अभीष्ट है उसे मैं कहता हूँ, प्रायः सब कथन मैं जैन शास्त्रोके अभ्याससे ही करूंगा, कुछ कुछ स्वानुभवसे ही कहूँगा। तुम सुनो।

भावोंकी संख्या

लोकासंख्यातमात्राः स्युर्भावाः सूत्रार्थविस्तरात् ।
तेषां जातिविवक्षायां भावाः पञ्च यथोदिता ॥९६५॥

अर्थः—सूत्रोके अर्थके विस्तारसे जीवके भाव असंख्यातलोक प्रमाण हैं। तथा उन भावोकी जातियोकी अपेक्षासे पांच भाव कहे गये है।

पांच भावोंके नाम

तत्रौपशमिको नाम भावः स्यात्क्षायिकोपि च ।
क्षायोपशमिकश्चेति भावोप्यौदयिकोस्ति नुः ॥९६६॥

पारिणामिकभावः स्यात् पञ्चेत्युद्देशिताः क्रमात् ।
तेषामुत्तरभेदाश्च त्रिपञ्चाशदितीरिताः ॥९६७॥

अर्थः—औपशमिकभाव, क्षायिकभाव, क्षायोपशमिकभाव, औदयिकभाव और पारिणामिकभाव ये मनुष्य (जीव)के पाच भाव क्रमसे कहे गये है। इनके त्रेपन उत्तरभेद भी कहे गये है।

भावार्थः—ये पाच जीवके असाधारण भाव है। यद्यपि भेदकी अपेक्षासे असंख्यात लोकप्रमाण जीवके भाव है अथवा अनन्तभाव है परन्तु स्थूलरीतिसे इन्ही पाँचोमे सब गर्भित हो जाते है। जो जीवके चौदह गुणस्थान कहे गये है वे भी इन पाच भावोसे बाहर नही है अथवा दूसरे शब्दोमे यह कहना चाहिये कि इन पाचो भावोमें ही चौदह गुणस्थान बँटे हुए है।* जीवके गुणोमे सम्यग्दर्शन ही प्रधान गुण है, और उसके तीन भेदोमेसे पहले औपशमिक ही होता है इसलिये औपशमिक भावका पहले नाम लिया गया है। औपशमिककी अपेक्षासे क्षायिक भाववालोंका द्रव्य (जीव राशि) असख्यात गुणा है इसलिये औपशमिकके पीछे क्षायिकका नाम लिया गया है। क्षायिककी अपेक्षा क्षायोपशमिकका द्रव्य असख्यात गुणा है, तथा उपर्युक्त दोनो भावोके मेलसे यह होता है इसलिये तीसरी सख्या क्षायोपशमिकके लिये कही गई है। उन तीनोसे औदयिक पारिणामिक भावोका द्रव्य अनन्त गुणित है इसलिये अन्तमे इन दोनोका नाम लिया गया है। औपशमिक और क्षायिक भाव सम्यग्दृष्टिके ही होते है। मिश्र भाव भव्य और अभव्य दोनोके होता है, परन्तु इतना विशेष है कि भव्यके सम्यक्त्व और चारित्रकी अपेक्षासे भी होता है। अभव्यके केवल अज्ञानादिकी अपेक्षासे होता है। औदयिक और पारिणामिक ये दो भाव सामान्य रीतिसे सभी ससारी जीवोके होते है। औपशमिक भाव दो प्रकारका है, क्षायिक भाव नौ प्रकारका है, क्षायोपशमिक भाव अठारह प्रकारका है, औदयिक भाव इक्कीस प्रकारका है। और पारिणामिक भाव तीन प्रकारका है। इसप्रकार जीवके ये त्रेपन भाव है इनका खुलासा ग्रन्थकार स्वय आगे करेंगे।

---

* जेहि दुलक्खिजंते उदयादिसुसंभवेहिं भावेहिं।
जीवा ते गुणसण्णा णिद्दिट्ठा सव्वदरसीहिं ॥

औदयिकादिक यथासभव भावोंमें जीव पाये जाते हैं इसलिये उन भावोंका नाम ही गुणस्थान है। ऐसा सर्वज्ञ देवने कहा है।

गोमट्टसार।

औपशमिक भावका स्वरूप

कर्मणां प्रत्यनीकानां पाकस्योपशमात् स्वतः ।
यो भावः प्राणिनां स स्यादौपशमिकसंज्ञकः ॥९६८॥

अर्थः—विपक्षी कर्मोंके पाकका स्वयं उपशम होनेसे जो प्राणियोंका भाव होता है उसीका नाम औपशमिक भाव है । भावार्थः—कर्मोंके उपशम होनेसे जो जीवका भाव होता है उसीको औपशमिक भाव कहते है । "आत्मनि कर्मणः स्वशक्तेः कारणवशादनुद्भूतिरुपशमः ।" अर्थात् आत्मामे कर्मकी निज शक्तिका कारणवशसे उदय नही होना इसीको उपशम कहते है । जैसे कीचसे मिले हुए (गदीले) जलमे फिटकरी आदि द्रव्य डालनेसे कीच जलके नीचे बैठ जाती है और निर्मल जल ऊपर रहता है । इसीप्रकार जिन कर्मोंका उपशम होता है वे उस कालमे उदयमे नही आते है इसलिये आत्मा उस समय निर्मल जलकी तरह निर्मल हो जाता है ।

क्षायिक भावका स्वरूप

यथास्वं प्रत्यनीकानां कर्मणा सर्वतः क्षयात् ।
जातो यः क्षायिको भावः शुद्धः स्वाभाविकोऽस्य सः ॥९६९॥

अर्थः—विपक्षी कर्मोंका सर्वथा क्षय होनेसे जो आत्माका भाव होता है उसे क्षायिक भाव कहते है । यह क्षायिक भाव आत्माका शुद्ध भाव है, और उसका स्वाभाविक भाव है । भावार्थः—कर्मोंकी अत्यन्त निवृत्ति होनेसे जो आत्माका भाव होता है उसे ही क्षायिक भाव कहते है । जैसे फिटकरी आदिके डालनेसे जिससमय कीचड नीचे बैठ जाता है और निर्मल जल ऊपर रहता है उससमय उस निर्मल जलको यदि दूसरे बर्तनमे धीरेसे ले लिया जाय तो फिर वह जल सदा शुद्ध ही रहता है फिर उसके मलिन होनेकी सभावना भी नही हो सकती है । क्योकि मलिनता पैदा करनेवाला कीचड था वह सर्वथा हट गया है । इसी प्रकार क्षायिक भाव आत्मासे कर्मके सर्वथा हट जानेपर होता है । वह सदा शुद्ध रहता है, फिर वह कभी अशुद्ध नही हो सकता ।

क्षायोपशमिक भावका स्वरूप

यो भावः सर्वतो घातिस्पर्धकानुदयोद्भवः ।
क्षायोपशमिकः स स्यादुदयाद्देशघातिनाम् ॥९७०॥

अर्थः—सर्वघाति स्पर्धकोका अनुदय होनेपर और देशघातिस्पर्धकोका उदय होने पर जो आत्माका भाव होता है उसे ही क्षायोपशमिक भाव कहते है ।

भावार्थः—क्षायोपशमिक भावमें क्षय और उपशमकी मिश्रित अवस्था रहती है। जैसे मलिन जलमे थोडी फिटकरी डालनेसे कुछ तो निर्मल जल रहता है कुछ गदला रहता है, दोनोकी मिली हुई अवस्था रहती है। उसीप्रकार क्षायोपशमिक भाव भी दोनोकी मिश्रित अवस्था है। सर्वार्थसिद्धिमे मिश्रका ऐसा लक्षण किया है—"सर्वघातिस्पर्धकानामुदयक्षयात् तेषामेव सदुपशमाच्च देशघातिस्पर्धकानामुदये सति क्षायोपशमिको भावो भवति", अर्थात् जो कर्म सर्वथा गुणका घात करनेवाले है उनका (सर्वघाति स्पर्धकोका) उदयक्षय* होनेसे और उन्ही सर्वघाति स्पर्धकोका सत्तामे उपशम होनेसे तथा देशघाति स्पर्धकोका उदय होनेपर क्षायोपशमिक भाव होता है। यहाँपर यह शका हो सकती है कि क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन अथवा चारित्र आत्मीक भाव है, क्या आत्मीक भावोंमे भी कर्मका उदय कारण पड़ता है ? यदि पड़ता है तब तो वे आत्मीक भाव ही नहीं रहे, उन्हें कर्मकृत पर भाव कहना चाहिये। यदि कर्मोदय कारण नहीं पडता है तो फिर देशघाति स्पर्धकोका उदय मिश्र भावमें कारण क्यो बतलाया गया है ? इसका उत्तर यह है कि आत्मीक भावके प्रकट होनेमे कर्मोदय कारण नही पडता है, जितने अशमे कर्मोदय है उतने अशमे तो उस गुणका घात हो रहा है इसलिये कर्मोदय तो आत्मीक भावोके घातका ही कारण है, यहाँपर भी यही बतलाया है कि जिससमय मिश्र भाव होता है उससमय देशघाति कर्मका उदय रहता है, इसका यह अर्थ नही है कि देशघाती कर्मका उदय मिश्रभावका कारण है। सम्यक्त्व प्रकृति सम्यग्दर्शनमे चलता, मलिनता, अगाढता आदि दोष उत्पन्न करती ही है। इसलिये कर्मोदय मात्र ही आत्म गुणोका घातक है।

औदयिक भावका स्वरूप

कर्मणामुदयाद्यः स्याद्भावो जीवस्य संसृतौ।
नाम्नाप्यौदयिकाऽन्वर्थात्परं बन्धादिकारवान् ॥९७१॥

अर्थः—ससारी जीवके कर्मोके उदयसे जो भाव होता है वही औदयिक नामसे कहा जाता है और वही यथार्थ नामधारी है, तथा कर्मबन्ध करनेका वही अधिकारी है। भावार्थः—द्रव्य क्षेत्र काल भावके निमित्तसे कर्मोकी जो फलदान विपाक अवस्था है उसीको उदय कहते है, कर्मोके उदयसे जो आत्माका भाव होता है उसीको औदयिक भाव कहते है, यही भाव आत्माके गुणोका घातक, दु खदायक तथा कर्मबन्धका मूल कारण है।

* जो कर्म बिना फल दिये ही निर्जरित हो जाय उसे उदय क्षय अथवा उदयाभावी क्षय कहते हैं।

पारिणामिक भावका स्वरूप

कृत्स्नकर्मनिरपेक्षः प्रोक्तावस्थाचतुष्टयात् ।
आत्मद्रव्यत्वमात्रात्मा भावः स्यात्पारिणामिकः ॥९७२॥

अर्थः—कर्मोंके उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशमसे सर्वथा निरपेक्ष जो आत्माका स्वाभाविक भाव है उसे ही पारिणामिक भाव कहते हैं। भावार्थः—द्रव्यकी निज स्वरूपकी प्राप्तिको ही पारिणामिक भाव कहते हैं। इस भावमें कर्मोंकी सर्वथा अपेक्षा नही है, किन्तु आत्मद्रव्य मात्र है।

इत्युक्तं लेशतस्तेषां भावानां लक्षणं पृथक् ।
इतः प्रत्येकमेतेषां व्यासाचद्रूपमुच्यते ॥९७३॥

अर्थः—इसप्रकार उन भावोंका लेशमात्र लक्षण भिन्न २ कहा गया। अब उनमेंसे प्रत्येक भावका स्वरूप विस्तार पूर्वक कहा जाता है।

औदयिक भावके भेद

भेदाश्चौदयिकस्यास्य सूत्रार्थादेकविंशति ।
चतस्रो गतयो नाम चत्वारश्च कषायकाः ॥९७४॥
त्रीणि लिङ्गानि मिथ्यात्वमेकं चाज्ञानमात्रकम् ।
एकम्वाऽसंयतत्वं स्यादेकमेकास्त्यसिद्धता ॥९७५॥
लेश्याः षडेव कृष्णाद्या क्रमादुद्देशिता इति ।
तत्स्वरूपं प्रवक्ष्यामि नाल्पं नातीव विस्तरम् ॥९७६॥

अर्थः—सूत्रोंके आशयसे औदयिक भावके इक्कीस भेद है। वे इसप्रकार हैं—गति ४, कषाय ४, लिङ्ग ३, मिथ्यात्व १, अज्ञान १, असंयतत्व १, असिद्ध १, कृष्णादिलेश्या ६ ये क्रमसे इक्कीस भाव है, इनका स्वरूप अब कहते है, वह न तो अधिक संक्षिप्त ही होगा और न अधिक विस्तृत ही होगा।

गति-कर्म

गतिनामास्ति विख्यातं नामकर्मणि ।
चतस्रो गतयो यस्मात्तच्चतुर्धाधिगीयते ॥९७७॥

अर्थः—नाम कर्मके भेदोमे प्रसिद्ध एक गति नामा कर्म भी है। गतियाँ चार हैं इसलिये वह गति कर्म भी चार प्रकारका कहा जाता है।

गतिकर्मका विपाक

कर्मणोस्य विपाकाद्वा दैवादन्यतमं वपुः ।
प्राप्य तत्रोचितान्भावान् करोत्यात्मोदयात्मनः ॥९७८॥

अर्थः—इस गतिकर्मके विपाक होनेसे यह आत्मा अपने ही उदयवश देव, मनुष्य, तिर्यंच, नरक इन चार गतियोमेसे किसी एकको प्राप्त होकर उसके उचित भावोंको करता है । अर्थात् जिस गतिमे पहुँचता है वहाँकी द्रव्य क्षेत्र काल भाव सामग्रीके अनुसार ही अपने भावोको बनाता है ।

दृष्टान्त

यथा तिर्यगवस्थायां तद्वद्या भावसन्ततिः ।
तत्रावश्यं च नान्यत्र तत्पर्यायानुसारिणी ॥९७९॥

अर्थः—जिसप्रकार तिर्यञ्च अवस्थामे जो उसके योग्य भावसन्तति है वह उस पर्यायके अनुसार वहाँ अवश्य होती है, तिर्यंच अवस्थाके योग्य जो भाव सन्तति है वह वही पर होती है अन्यत्र नही होती ।

इसीप्रकार

एवं दैवेऽथ मानुष्ये नारके वपुपि स्फुटम् ।
आत्मीयात्मीयभावाश्च सन्त्यसाधारणा इव ॥९८०॥

अर्थः—इसीप्रकार देवगति, मनुष्यगति, नरकगतिमे भी अपनी २ गतिके योग्य भाव होते है । वे ऐसे ही होते है जैसे असाधारण हो ।

भावार्थ—जिस पर्यायमे भी यह जीव जाता है उसी पर्यायके योग्य उसे वहाँ द्रव्य क्षेत्र काल भावकी योग्यता मिलती है, और उसी सामग्रीके अनुसार उस जीवके भाव उत्पन्न होते है । जैसे भोगभूमिमे उत्पन्न होनेवाले जीवके वहाँकी सुखमय सामग्रीके अनुसार शान्तिपूर्वक सुखानुभव करनेके ही भाव पैदा होते है । कर्मभूमिमे उत्पन्न होनेवाले जोवके असि मस्यादि कारण सामग्रीके अनुसार कर्म (क्रिया) पूर्वक जीवन बितानेके भाव पैदा होते है । तथा जिसप्रकारका क्षेत्र मिलता है उसीप्रकारकी शरीर रचना आदि योग्यता भी मिलती है । इसलिये भावोके सुधार और विगाडमें निमित्त कारण ही प्रमुख है ।

शकाकार

ननु देवादिपर्यायो नामकर्मोदयात्परम् ।
तत्कथं जीवभावस्य हेतुः स्याद्घातिकर्मवत् ॥९८१॥

अर्थः—देवादिक गतियां केवल नामकर्मके उदयसे होती हैं। जब ऐसा सिद्धान्त है तब क्या कारण है कि नाम (देवादिगतियां) कर्म घातिया कर्मोंके समान जीवके भावोका हेतु समझा जाय ? भावार्थः—ऊपर कहा गया है कि जैसी गति इस जीवको मिलती है उसीके अनुसार इसके भावोंकी सृष्टि भी बनती है। इसी विषयमें शंकाकारका कहना है कि भावोके परिवर्तनका कारण तो घातिया कर्म ही हो सकते हैं, नाम कर्म तो अघातिया है उसमे भावोके परिवर्तन करनेकी सामर्थ्य कहांसे आई ?

उत्तर

सत्यं तन्नामकर्मापि लक्षणाच्चित्रकारवत् ।
नूनं तद्देहमात्रादि निर्मापयति चित्रवत् ॥९८२॥
अस्ति तत्रापि मोहस्य नैरन्तर्योदयोऽञ्जसा ।
तस्मादौदयिको भावः स्यात्तद्देहक्रियाकृतिः ॥९८३॥

अर्थः—जिसप्रकार चित्रकार अनेक प्रकारके चित्र बनाता है उसीप्रकार नाम कर्म भी नियमसे शरीरादिकी रचना करता है, साथ ही वहांपर मोहनीय कर्मका निरतर उदय रहता है, इसीलिये उस देह क्रियाके आकार औदयिक भाव होता है।

भावार्थः—यद्यपि नामकर्मका कार्य शरीरादिकी रचना मात्र है वह भावोंके परिवर्त्तनका कारण नही हो सकता है, यह ठीक है। तथापि उस नाम कर्मके उदयके साथ ही मोहनीय कर्मका उदय भी बराबर रहता है इसलिये उस पर्यायमे औदयिक भाव अपना कार्य करता है। यदि मोहनीय कर्मका उदय नाम कर्मके साथ न हो तो वास्तवमे वह पर्याय जीवके भावोमे सक्लेश नही कर सकती है, अरहन्त परमेष्ठीके नाम कर्मका उदय तो है परन्तु मोहनीय कर्म उनके नही है इसलिये स्वाभाविक भावोमे परिवर्त्तन नही होता है। अत मोहनीय कर्मका अविनाभाव ही वास्तवमे कार्यकारी है।

शंकाकार

ननु मोहोदयो नूनं स्वायत्तोऽस्त्येकधारया ।
तत्तद्वपुः क्रियाकारो नियतोऽयं कुतो नयात् ॥९८४॥

अर्थः—मोहनीय कर्मका उदय अनर्गल रीतिसे अपने ही अधीन है। वह फिर भिन्न भिन्न शरीरोकी क्रियाओके आकार किस नयसे नियत है ? अर्थात् भिन्न भिन्न शरीरानुसार मोहनीय कर्म क्यो फल देता है ?

उत्तर

नैवं यतोनभिज्ञोसि मोहस्योदयवैभवे ।
तत्रापि बुद्धिपूर्वं चाऽबुद्धिपूर्वं स्वलक्षणात् ॥९८५॥

अर्थः—शकाकारका उपर्युक्त कथन ठीक नही है। शंकाकारसे आचार्य कहते है कि मोहनीय कर्मका उदय वैभव कितना बढ़ा हुआ है, और वह अपने लक्षणके अनुसार वुद्धिपूर्वक अवुद्धिपूर्वक आदि भेदोमे बँटा हुआ है इस विषयमे तुम सर्वथा अजान हो।

भावार्थः—मोहनीय कर्मका बहुत बड़ा विस्तार है, वह कहाँ २ किस २ रूपमें उदयमे आ रहा है इसके समझनेकी बडी आवश्यकता है।

मोहनीय कर्मके भेद

मोहनान्मोहकर्मैकं तद्द्विधा वस्तुतः पृथक्।
दृङ्मोहश्चात्र चारित्रमोहश्चेति द्विधा स्मृतः ॥९८६॥

अर्थः—मूर्छित करनेसे सामान्य रीतिसे मोहकर्म एक प्रकार है। और वही दर्शनमोह और चारित्रमोहकी अपेक्षासे वास्तवमें दो प्रकार भी है।

भावार्थः—अन्य कर्मोकी अपेक्षा मोहकर्ममे बहुत विशेषता है, अन्यकर्म अपने प्रतिपक्षी गुणमे न्यूनता करते है उसे सर्वथा भी ढक लेते है परन्तु अपने प्रतिपक्षी गुणको मूर्छित नही करते है, जैसे ज्ञानावरण कर्म ज्ञानगुणको ढकता है परन्तु ज्ञानगुणको अज्ञानरूप नही करता है, इसीप्रकार अन्तराय कर्म वीर्यगुणको ढकता है परन्तु उसे उल्टे रूपमे नही लाता है। उल्टे रूपमे लानेकी विशेषता इसी मोहनीय कर्ममे है, मोहनीय कर्म अपने प्रतिपक्षीको सर्वथा विपरीत स्वादु बना डालता है। इसीलिये इसका नाम मोहनीय है अर्थात् मोहनेवाला–मूर्छित करनेवाला है। सामान्य रीतिसे वह ऐक है, और दर्शन मोहनीय तथा चारित्र मोहनीय ऐसे उसके दो भेद है। इसी मोहनीय कर्मके उदयसे सम्यग्दर्शन मिथ्यादर्शनरूप और सम्यक्चारित्र मिथ्याचारित्ररूप परिणत हो जाता है। इसीके निमित्तसे जीव अनन्त ससारमे भ्रमण करता फिरता है।

दर्शन मोहनीयके भेद

एकधा त्रिविधा वा स्यात् कर्ममिथ्यात्वसञ्ज्ञकम्।
क्रोधाद्याद्यचतुष्कञ्च, सप्तैते दृष्टिमोहनम् ॥९८७॥

अर्थः—दर्शन मोहनीय कर्म भी सामान्य रीतिसे मिथ्यात्वरूप एक प्रकार है, विशेष रीतिसे मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृतिमिथ्यात्व, भेदोसे तीन प्रकार है, और अनन्तानुबन्धि क्रोध, मान, माया, लोभ चार भेद प्रथम कषायके है। इसप्रकार ये सात भेद दर्शनमोहनीयके है।

भावार्थः—मूलमे दर्शनमोहनीयका एक ही भेद है—मिथ्यात्व । पीछे प्रथमोपशम सम्यक्त्वके होनेपर उस मिथ्यात्वके तीन टुकडे हो जाते हैं । एक सम्यक्त्व प्रकृति, दूसरा–सम्यङ् मिथ्यात्वप्रकृति, तीसरा मिथ्यात्वप्रकृति, ये तीन टुकडे ऐसे ही होते है जैसे धान्यको पीसनेसे उसके तीन टुकडे होते है, एक तो छिलकारूप, दूसरा सूक्ष्म कणरूप तीसरा मध्यमका सारभूत अश–मिगीरूप । जिसप्रकार छिलकेमे पुष्ट करनेकी शक्ति नही है, उसीप्रकार सम्यक्त्वप्रकृतिमे भी सम्यग्दर्शनको घात करनेकी पूर्ण शक्ति नही है तो भी उसमे चलता, मलिनता आदि दोप उत्पन्न करनेकी अवश्य थोडीसी शक्ति है । सम्यक्त्वप्रकृतिके उदय होनेपर सम्यग्दर्शनका घात नही होता है किन्तु उससमय क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है । जिसप्रकार सूक्ष्म धान्यकणमे पुष्ट करनेकी शक्ति है उसीप्रकार सम्यङ् मिथ्यात्वप्रकृतिमे भी सम्यग्दर्शनको घात करनेकी* शक्ति है सम्यङ् मिथ्यात्व प्रकृतिके उदयमे सम्यग्दर्शनका घात होकर तीसरा गुणस्थान इस जीवके हो जाता है । जिसप्रकार धान्यका बीचका अश पूर्ण पुष्टता उत्पादक है उसीप्रकार मिथ्यात्वप्रकृति भी पूर्णतासे सम्यग्दर्शनकी घातक है । इस प्रकृतिके उदयमे जीवके पहला गुणस्थान रहता है । इसप्रकार मिथ्यात्व प्रकृति एकरूप होनेपर भी तीन भेदोमे बँट जाती है इसलिये दर्शनमोहनीयके तीन भेद हैं । यद्यपि अनन्तानुबन्धि कपाय चारित्र मोहनीयके भेदोमे परिगणित है तथापि इस कषायमे दो शक्तियाँ होनेसे इस दर्शन मोहनीयके भेदोमे भी गिनाया गया है । अनन्तानुबन्धि कपायमे स्वरूपाचरण चारित्रको घात करनेकी भी

* यद्यपि यह प्रकृति सम्यग्दर्शनकी पूर्ण घातक है तथापि इसके उदयमें जीवके मिथ्यात्वरूप परिणाम नहीं होते हैं, किन्तु मिश्रित परिणाम होते हैं, इसीलिये इसे जात्यन्तर सर्व घाती प्रकृति बतलाया गया है ।

सम्मामिच्छुदयेणय जत्तर सव्वघादिकज्जेण ।
णय सम्म मिच्छपिय सम्मिस्सो होदि परिणामो ॥
दहिगुडमिव वा मिस्सं पुहभावं णेव कारिदु सक्कं ।
एवं मिस्सय भावो सम्मामिच्छोत्ति णायव्वो ॥

अर्थात सम्यङ् मिथ्यात्व प्रकृतिके उदय होनेपर न तो सम्यग्दर्शन रूप ही परिणाम होते हैं और न मिथ्यात्वरूप ही परिणाम होते हैं किन्तु मिले हुए दोनों ही रूप परिणाम होते हैं जिसप्रकार कि दही और गुड़के मिलनेसे खट्टे और मीठेका मिश्रित स्वाद आता है यद्यपि मिश्र प्रकृति वैभाविक भाव है तथापि मिथ्यात्व रूप वैभाविक भावसे हलका है ।

गोमट्टसार ।

शक्ति है और सम्यग्दर्शनको घात करनेकी भी शक्ति है। क्योंकि अनन्तानुबन्धि कषायकी किसी अन्यतम प्रकृतिका उदय होनेपर इस जीवके सम्यग्दर्शन गुणका घात होकर दूसरा गुणस्थान—सासादन हो जाता है, इसलिये इसको दर्शन मोहनीयमे भी परिगणित किया गया है। इसप्रकार ऊपर कही हुई सात प्रकृतियाँ दर्शन मोहनीयकी हैं।

दर्शनमोहनीय कर्मका फल

दृङ्मोहस्योदयादस्य मिथ्याभावोस्ति जन्मिनः।
स स्यादौदयिको नूनं दुर्वारो दृष्टिघातकः ॥९८८॥
अस्ति प्रकृतिरस्यापि दृ रोहस्य कर्मणः।
शुद्धं जीवस्य सम्यक्त्वं गुणं नयति विक्रियाम् ॥९८९॥

अर्थः—इस जीवके दर्शन मोहनीय कर्मके उदयसे मिथ्यारूप परिणाम होता है। वह मिथ्याभाव ही औदयिक भाव है और वही सम्यग्दर्शनका घात करनेवाला है। यह भाव आत्मासे कठिनतासे दूर होता है। जीवके शुद्ध सम्यग्दर्शन गुणको विपरीत स्वादु कर देना इस दर्शन मोहनीय कर्मका स्वभाव है। अर्थात् सम्यग्दर्शन गुणको मिथ्यादर्शन रूप कर देना दर्शन मोहनीय कर्मका कार्य है।

दृष्टान्त

यथा मद्यादिपानस्य पाकाद् बुद्धिर्विमुह्यति।
श्वेतं शंखादि यद्वस्तु पीतं पश्यति विभ्रमात् ॥९९०॥

अर्थः—जिसप्रकार मदिरा पीनेवाले पुरुषकी बुद्धि मदिराका नशा चढ़नेपर भ्रष्ट हो जाती है। वह पुरुष शंखादि सफेद पदार्थोंको भी विभ्रमसे पीले ही देखता है—समझता है।

दृष्टान्त

तथा दर्शनमोहस्य ॰णोस्तूदयादिह।
अपि यावदनात्मीयमात्मीयमनुते कु ॥९९१॥

अर्थः—उसी प्रकार दर्शन मोहनीय कर्मके उदयसे मिथ्यादृष्टि पुरुष इस संसारमें जो आत्मासे भिन्न पदार्थ है उन्हे भी अपने (आत्माके) मानता है, अर्थात् मिथ्यादृष्टि भिन्न पदार्थोंमे आत्मीयत्व बुद्धि करता है।

चापि लुम्पति सम्यक्त्वं दृङ्मोहस्योदयो यथा।
निरुणद्ध्यात्मनो ज्ञानं ज्ञानस्यावरणोदयः ॥९९२॥

अर्थः—जिसप्रकार दर्शन मोहनीय कर्मका उदय सम्यग्दर्शन गुणका लोप कर देता है, उसी प्रकार ज्ञानावरण कर्मका उदय भी आत्माके ज्ञान गुणको ढक देता है।

भावार्थः—यहांपर लुम्पति, क्रियाके दो आशय हैं (१) दर्शन मोहनीय कर्म सम्यक्त्वका लोप करता है उसे छिपा देता है किन्तु उसका नाश नहीं करता है, क्योंकि नाश किसी गुणका होता ही नही है (२) लोप करता है, सम्यक्त्वको सर्वथा छिपा देता है अर्थात् उसे विकृत बना देता है, उस रूपमें उसे नहीं रहने देता है। परन्तु ज्ञानावरण कर्म ज्ञानको रोकता है विकृत नहीं करता, इसीलिये निरुणद्धि क्रिया दी है।

यथा ज्ञानस्य निर्णाशो ज्ञानस्यावरणोदयात्।
तथा दर्शननिर्णाशो दर्शनावरणोदयात् ॥९९३॥

अर्थः—जिसप्रकार ज्ञानावरण कर्मके उदयसे ज्ञानका नाश हो जाता है उसी प्रकार दर्शनावरण कर्मके उदयसे दर्शनका नाश हो जाता है। भावार्थः—यहांपर ज्ञान और दर्शनके नाशसे उनके नष्ट होनेका तात्पर्य नहीं है किन्तु उन गुणोंके ढक जानेसे तात्पर्य है, वास्तव दृष्टिसे न तो किसी गुणका नाश होता है और न किसी गुणका उत्पाद ही होता है किन्तु पर्यायकी अपेक्षासे गुणोंके अशोंमे हीनाधिकता होती रहती है वह हीनाधिकता भी आविर्भाव तिरोभाव रूप होती है। वास्तवमें सभी गुण नित्य हैं इसी आशयको नीचे प्रकट करते हैं।

यथा धाराधराकारैः गुण्ठितस्यांशुमालिनः।
नाविर्भावः प्रकाशस्य द्रव्यादेशात् स्वतोपि वा ॥९९४॥

अर्थः—यद्यपि द्रव्यदृष्टिसे सूर्यका प्रकाश सदा सूर्यके साथ है उसका कभी अभाव नहीं हो सकता है तथापि मेघोंसे आच्छादित होनेपर सूर्यका प्रकाश छिप अवश्य जाता है। भावार्थः—उसीप्रकार ज्ञानादि गुण सदा आत्माके साथ है अथवा आत्मस्वरूप है उनका कभी नाश नहीं हो सकता है तथापि ज्ञानावरणादि कर्मोंके निमित्तसे वे ढक अवश्य जाते हैं।

अज्ञान औदयिक नहीं है

यत्पुनर्ज्ञानमज्ञानमस्ति रूढिवशादिह।
तन्नौदयि त्यस्ति क्षायोपशमिकं किल ॥९९५॥

अर्थः—जो ज्ञान ही रूढिवश अज्ञान कहा जाता है वह औदयिक नहीं है किन्तु निश्चयसे क्षायोपशमिक है। भावार्थः—यहांपर अज्ञानसे तात्पर्य मन्दज्ञानसे है। प्रायः

मन्दज्ञानीको अज्ञानी अथवा मन्द ज्ञानको अज्ञान कह दिया जाता है, वह अज्ञान औदयिक भाव नही है किन्तु क्षायोपशमिक भाव है तथा मिथ्यादृष्टिका ज्ञान भी अज्ञान कहलाता है वह भी क्षायोपशमिक ही है। क्योंकि ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे होता है। जो अज्ञानभाव औदयिक भावोमे गिनाया गया है वह कर्मके उदयकी अपेक्षासे है।

अथास्ति केवलज्ञानं यत्तदावरणावृतम्।
स्वापूर्वार्थान् परिच्छेतुं नालं मूर्छितजन्तुवत् ॥९९६॥

अर्थः—ज्ञानावरण कर्मोमे एक केवल ज्ञानावरण कर्म भी है, वह केवलज्ञानावरण कर्म आत्माके स्वाभाविक केवलज्ञान गुणको ढक लेता है। आवरणसे ढक जानेपर वह ज्ञान मूर्छित पुरुषकी तरह अपने स्वरूप और अनिश्चित पदार्थोंको जाननेके लिये समर्थ नही रहता है।

अथवा

यद्वा स्यादवधिज्ञानं ज्ञानं वा न[illegible]यम्।
नार्थक्रिया[illegible]र्थं[illegible] स्यात्तत्तदावरणावृतम् ॥९९७॥

[illegible]:—अथवा अवधिज्ञान वा मन पर्ययज्ञान ये भी अपने अपने आवरकसे जब आवृत होते है अर्थात् ढके जाते है तब अर्थक्रिया करनेमे अर्थात् पदार्थोंके जाननेमे समर्थ नही रहते है।

मतिज्ञानं श्रुतज्ञानं तत्तदावरणावृतम्।
यद्यावतोदयांशेनस्थितं तावदपन्हुतम् ॥९९८॥

अर्थः—इसी प्रकार मतिज्ञान और श्रुतज्ञान भी अपने अपने आवरणसे आच्छादित होते है, और उनके आवरक कर्मका जितने अशोंमे उदय रहता है उतने ही अंशोंमें ज्ञान भी तिरोभूत (ढका हुआ) रहता है।

क्षायिक भाव

यत्पुनः केवलज्ञानं व्यक्तं[illegible]र्थभासकम्।
स एव क्षायिको भावः कृत्स्नस्वावरणक्षयात् ॥९९९॥

[illegible]:—जो केवलज्ञान है वह प्रकटरीतिसे सम्पूर्ण पदार्थोंका प्रकाशक है वह अपने सम्पूर्ण आवरणोके क्षय होनेसे होता है इसलिये वही क्षायिक भाव है।

कर्मोंके भेद प्रभेद

कर्माण्यष्टौ प्रसिद्धानि मूलमात्रनया पृथक्।
चत्वारिंशच्छतं कर्माण्युत्तरसंज्ञया ॥१०००॥

अर्थः—कर्मोके मूल भेद आठ प्रसिद्ध है और उनके उत्तर भेद एकसौ अड़तालीस है। भावार्थः—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय ये आठ मूल भेद कर्मोके प्रसिद्ध है। उत्तर भेद १४८ इसप्रकार है—ज्ञानावरणके ५ भेद, दर्शनावरणके ९ भेद, वेदनीयके २ भेद, मोहनीयके २८ भेद, आयुके ४ भेद, नामके ९३ भेद, गोत्रके दो भेद, और अन्तरायके ५ भेद।

उत्तरोत्तरभेदैश्च लो ंख्यातमात्रकम्।
शक्तितोऽनन ंशं च सर्वकर्मकदम्बकम् ॥१००१॥

अर्थः—ये ही कर्म उत्तरोत्तर भेदोंसे असख्यात लोक प्रमाण हैं, और सर्व कर्म समूह शक्तिकी अपेक्षासे अनन्त भी है।

घातिया कर्म

तत्र घातीनि चत्वारि कर्माण्यन्वर्थसंज्ञया।
घातकत्वाद्गुणानां हि जीवस्यैवेति वाक्स्मृतिः ॥१००२॥

अर्थः—उन मूल कर्मोंमे चार घातिया कर्म हैं, और घातिया सज्ञा उनके लिये अर्थानुकूल ही है, क्योकि जीवके गुणोका वे कर्म घात करनेवाले है ऐसा सिद्धान्त है।

अघातिया कर्म

ततः शेषचतुष्कं स्यात् कर्माघाति विवक्षया।
गुणानां घातका भावशक्तेरप्यात्मशक्तिमत् ॥१००३॥

अर्थः—घातिया कर्मोसे बचे हुए बाकीके चार कर्म अघातिया कहलाते हैं। ये कर्म गुणोंके घात करनेकी शक्ति नही रखते हैं तो भी विवक्षावश* अपनी कर्मत्व, शक्ति रखते ही हैं। थः—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय ये चार कर्म घातिया हैं, और वेदनीय, आयु, नाम, गोत्र ये चार अघातिया है। घातिया कर्म तो साक्षात् आत्माके गुणोका घात करते ही हैं परन्तु अघातिया कर्म आत्माके गुणोका घात नही करते है किन्तु घातिया कर्मोके सहायक अवश्य हैं। तथा अरहन्त भगवानको बिना अघातिया कर्मोके नष्ट हुए मुंक्तिका लाभ नही हो पाता, इसलिये अघातिया कर्म कर्मत्व, शक्ति अवश्य रखते है।

* अघातिया कर्म यद्यपि अनुजीवी गुणोंका घात नहीं करते हैं। तथापि प्रतिजीवी गुणोंका अवश्य घात करते हैं, यही विवक्षाका आशय विदित होता है।

ज्ञानावरण

एवमर्थवशान्नूनं सन्त्यनेके गुणाश्रितः ।
गत्यन्तरात्स्यात्कर्मत्वं चेतनावरणं किल ॥१००४॥

अर्थः—इसप्रकार प्रयोजनवश आत्माके अनेक गुण कल्पना किये जा सकते हैं अर्थात् यदि कर्मोके मूल भेद आठ ही रक्खे जाये तो आत्मामे आठ कर्मोसे आच्छादित सम्यक्त्व ज्ञान दर्शन वीर्य सूक्ष्म अवगाहन अगुरुलघु अव्यावाध ये आठ गुण कल्पना किये जाते है। यदि कर्मोके एकसौ अड़तालीस या उससे भी अधिक भेदोकी अपेक्षा की जाय तो कर्मोके भेदानुसार आत्माके अधिक गुण कल्पना किये जाते है जैसे कि ज्ञानावरणके पाच भेद होनेसे ज्ञानके भी मतिज्ञान श्रुतज्ञान आदि पाच भेद मान लिये जाते है इसी-प्रकार आत्मगुणोकी हीनाधिक कल्पनासे कर्मोमे भी हीनाधिकता मानी जाती है। जैसे यदि चेतना गुणके ज्ञान दर्शन इन दो भेदोकी पृथक् २ कल्पना न करके केवल चेतना गुणकी ही अपेक्षा की जाय तो उस गुणका प्रतिपक्षी कर्म भी चेतनावरण एक ही माना जायगा और फिर ज्ञानावरण दर्शनावरणको अलग २ माननेकी आवश्यकता न होगी।

दर्शनावरण

दर्शनावरणेऽप्येष क्रमो ज्ञेयोस्ति कर्मणि ।
आवृतेरविशेषाद्वा चिद्गुणस्यानतिक्रमात् ॥१००५॥

अर्थः—यही क्रम दर्शनावरण कर्ममे भी जानना चाहिये जिसप्रकार चेतना आत्माका गुण है और उसको आवरण करनेवाला कर्म चेतनावरण कहलाता है उसी-प्रकार दर्शन भी आत्माका गुण है और उसको आवरण करनेवाला कर्म भी दर्शनावरण कहलाता है।

दर्शन मोहनीय

एवं च सति सम्यक्त्वे गुणे जीवस्य सर्वतः ।
तं मोहयति यत्कर्म दृङ्मोहाख्यं तदुच्यते ॥१००६॥

अर्थः—ज्ञान, दर्शनके समान आत्माका सम्यग्दर्शन गुण भी है, और उस सम्य-ग्दर्शन गुणको मूर्छित करनेवाला कर्म भी दर्शनमोहनीय कहलाता है।

दर्शनमोहनीय कर्म अन्तर्भावी नहीं है

नैवं ऽपि तच्चान्यमन्तर्भावीति न क्वचित् ।
तद्द्वयावरणादेतदस्ति जात्यन्तरं यतः ॥१००७॥

अर्थः—ज्ञानावरण, दर्शनावरणके समान यह कर्म भी कहीपर अन्तर्भूत नही हो सकता है क्योकि ज्ञानावरण, दर्शनावरणसे यह सर्वथा जुदा है इसलिये तीसरा ही कर्म इसे मानना चाहिये ।

सारांश

तत: सिद्धं यथा ज्ञानं जीवस्यैको गुणः स्वतः ।
सम्यक्त्वं च तथा नाम जीवस्यैको गुणः स्वतः ॥१००८॥

अर्थः—इसलिये यह बात सिद्ध हो चुकी है कि जिसप्रकार जीवका एक स्वत सिद्ध ज्ञान गुण है उसीप्रकार जीवका स्वत सिद्ध एक सम्यग्दर्शन भी गुण है ।

अतएव

पृथगुद्देश एवास्य पृथक् लक्ष्यं च लक्षणम् ।
पृथग्दृङ्मोहकर्म स्यादन्तर्भावः कुतो नयात् ॥१००९॥

अर्थः—सम्यग्दर्शनका भिन्न स्वरूप है, भिन्न ही लक्ष्य है, भिन्न ही लक्षण है, और भिन्न ही दर्शनमोहनीय कर्म है फिर किस नयसे इस कर्मका कही पर अन्तर्भाव (गर्भितपना हो सकता है ? अर्थात् कही पर नही हो सकता ।

चारित्र मोहनीय

एवं जीवस्य चारित्रं गुणोस्त्येकः प्रमाणमात् ।
तन्मोहयति यत्कर्म तत्स्याच्चारित्रमोहनम् ॥१०१०॥

अर्थः—इसीप्रकार जीवका एक प्रमाणसिद्ध गुण चारित्र भी है, उस चारित्र गुणको जो कर्म मूर्छित करता है उसीको चारित्र मोहनीय कहते हैं ।

अन्तराय

अस्ति जीवस्य वीर्याख्यो गुणोस्येकस्तदादिवत् ।
तदन्तरयतीहेदमन्तरायं हि कर्म तत् ॥१०११॥

अर्थः—पहले गुणोके समान जीवका एक वीर्य नामक भी गुण है, उस वीर्य गुणमे जो अन्तर डालता है उसे ही अन्तराय कर्म कहते हैं । भावार्थः—आत्माकी वीर्य शक्तिको रोकनेवाला अन्तराय कर्म है ।

सारांश

एतावदत्र तात्पर्यं यथा ज्ञानं गुणश्चितः ।
तथाऽनन्ता गुणा ज्ञेया युक्तिस्व भवागमात् ॥१०१२॥

अर्थः—यहांपर इतना ही तात्पर्य है कि जिसप्रकार आत्माका ज्ञान गुण है उसी-प्रकार अनन्त गुण है। ये सभी गुण युक्ति, स्वानुभव और आगमसे सिद्ध है।

भावार्थः—यहांपर अन्यान्य अनन्तगुणोकी सिद्धिमे ज्ञान गुणका दृष्टान्त दिया गया है, इसका तात्पर्य यह है कि आत्माके अनन्त गुणोमे एक ज्ञान गुण ही ऐसा है जो कि स्पष्टतासे प्रतीत होता है, अन्यान्य गुणोका विवेचन भी इसी ज्ञान गुणके द्वारा किया जाता है। सभी गुण निर्विकल्पक है, एक ज्ञान गुण ही सविकल्पक है। इसीलिये पहले कहा जा चुका है कि "ज्ञानाद्विना गुणाः सर्वे प्रोक्ता· सल्लक्षणाङ्किता.। सामान्याद्वा विशेषाद्वा सत्य नाकारमात्रका। ततो वक्तुमशक्यत्वान्निर्विकल्पस्य वस्तुनः। तदुल्लेख समालेख्य ज्ञानद्वारा निरूप्यते" अर्थात् ज्ञानके विना सभी गुण सत्तामात्र है, चाहे सामान्य गुण हो चाहे विशेप गुण हों सभी निर्विकल्पक है, निर्विकल्पक वस्तु कही नही जा सकती है इसलिये ज्ञानके द्वारा उसका निरूपण किया जाता है। इस कथनसे यह वात भलीभॉति सिद्ध हो जाती है कि सब गुणोसे ज्ञान गुणमे विशेषता है और यह बात हरएकके अनुभवमे भी आ जाती है कि ज्ञान गुण ही प्रधान है इसीलिये ज्ञानको दृष्टान्त बनाकर इतर गुणोका उल्लेख किया गया है।

एक गुण दूसरे गुणमें अन्तर्भूत नहीं है

न गुणः कोपि कस्यापि गुणस्यान्तर्भवः क्वचित्।
नाधारोपि च नाधेयो हेतुर्नापीह हेतुमान् ॥१०१३॥

अर्थः—कोई भी गुण कभी किसी दूसरे गुणमे अन्तर्भूत नही हो सकता है अर्थात् दूसरे गुणमे मिल नही जाता है, और न एक गुण दूसरे गुणका आधार ही है और न आधेय ही है, न हेतु ही है और न हेतुमान् (साध्य)ही है।

किन्तु

किन्तु सर्वोपि स्वात्मीयः स्वात्मीयः शक्तियोगतः।
नानारूपा ह्यनेकेपि सता सम्मिलिता मिथः ॥१०१४॥

अर्थः—किन्तु सभी गुण अपनी अपनी भिन्न भिन्न शक्तिके धारण करनेसे भिन्न भिन्न अनेक है, और वे सव परस्पर पदार्थके साथ तादात्म्य रूपसे मिले हुए हैं।

भावार्थः—इन दोनो श्लोकोमे गुणोको भिन्न भिन्न बतलाते हुए भी पदार्थके साथ उनका सम्मेलन बताया गया है, इसका तात्पर्य यह है कि वास्तवमे पदार्थ और गुण भिन्न भिन्न वस्तु नही है, जो पदार्थ है सो ही गुण है और जो गुण है सो ही पदार्थ हैं

अर्थात् गुणोंका समूह ही पदार्थ है और एक पदार्थमें रहनेवाले अनन्तगुणोकी एक ही सत्ता है इसलिये सभी गुण परस्परमें अभिन्न हैं, और अभिन्नताके कारण ही एक गुणके कहनेसे सभी अनन्तगुणोका ग्रहण हो जाता है, जीवको ज्ञानी कहनेसे सम्पूर्ण जीवका ही ग्रहण होता है, परन्तु एक एक गुणका भिन्न भिन्न कार्य है, भिन्न भिन्न कार्य होनेसे उन गुणोके भिन्न भिन्न लक्षण किये जाते हैं, इसप्रकार भिन्न भिन्न लक्षणो वाली भिन्न भिन्न अनन्त शक्तियाँ जलमे जलकल्लोलकी तरह कभी उदित कभी अनुदित होती रहती है। साराश यह है कि द्रव्यसे भिन्न गुणोकी विवक्षा करनेसे (भेद विवक्षा करनेसे) सभी गुण भिन्न है, उनमे परस्पर आधार–आधेय भाव, हेतु हेतुमद्भाव आदि कुछ भी उससमय नही है तथा अभेद विवक्षा करनेसे वे सभी गुण अभिन्न है। जो एक गुणका आधार है वही इतर सब गुणोका आधार है, जो एक गुणकी सत्ता है वही इतर सब गुणोकी सत्ता है, जो एक गुणका काल है वही सब गुणोका काल है आदि सभी बातें सबोकी एक ही हैं। इसी बातको "द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणा:" यह सूत्र प्रकट करता है। अर्थात् जो द्रव्यके आश्रयसे रहे और निर्गुण हो उन्हे गुण कहते हैं, यहाँपर आचार्यने दोनो बातोको बतला दिया है, 'द्रव्याश्रया' कहनेसे तो गुण और द्रव्यमे अभेद बतलाया है, *जिससमय किसी एक गुणका विवेचन किया जाता है तो उससमय बाकीका गुण समुदाय (द्रव्य) उसका आश्रय पड जाता है, इसीप्रकार चालिनी न्यायसे सभी गुण सभी गुणोके आधारभूत हो जाते हैं क्योकि गुण समुदायको छोडकर और कोई द्रव्य पदार्थ नही है और निर्गुणा कहनेसे गुणोमे परस्पर भेद बतलाया है। एक गुणकी विवक्षासे वही उसका आधार है वही उसका आधेय है। एक गुण दूसरे गुणमे नही रहता है इसलिये गुण परस्परमे कथञ्चित् भिन्न है और कथञ्चित् अभिन्न भी हैं। लक्षण भेदादिकी अपेक्षासे भिन्न हैं, तादात्म्य सम्बन्धकी अपेक्षा अभिन्न है हरएक पदार्थकी सिद्धि अनेकान्तके अधीन है, अपेक्षा पर दृष्टि न रखनेसे सभी कथन अव्यवस्थित प्रतीत होता है। इसी बातको पूर्वार्द्धमे स्पष्ट किया गया है "तन्नयतोऽनेकान्तो बलवानिह खलु न सर्वथैकान्त.। सर्वं स्यादविरुद्ध तत्पूर्वं तद्विना विरुद्ध स्यात्" अर्थात् अनेकान्त ही बलवान है सर्वथा एकान्त ठीक नही है, अनेकान्त पूर्वक सभी कथन अविरुद्ध हो जाता है और उसके बिना सभी विरुद्ध हो जाता है।

गुणानां चाप्यनन्तत्वे वाग्व्यवहारगौरवात्।
गुणाः केचित् समुद्दिष्टाः प्रसिद्धाः पूर्वसूरिभि ।।१०१५।।

---

* 'द्रव्याश्रया:'का यह भी आशय है कि द्रव्यके आश्रयसे गुण अनादि अनन्तकाल रहते हैं।

अर्थः—गुण अनन्त है, सब कहे नही जा सकते है। उनमेसे कुछ अधिक भी यदि कहे जांय तो भी वचन गौरव होता है इसलिये पूर्वाचार्योने उनमेसे प्रसिद्ध कुछ गुणोका निरूपण किया है।

यत्पुनः क्वचित् कस्यापि सीमाज्ञा नेकधा।
मनःपर्ययज्ञानं वा तद्द्वयं भावयेत् समम् ॥१०१६॥
तत्तदावरणस्योच्चैः योपशमिकत्वतः।
स्याद्यथालक्षिचाद्भावात्स्यादत्राप्यपरा गतिः ॥१०१७॥

अर्थः—जो कही किसीके अवधिज्ञान होता है वह भी अनेक प्रकार है, इसीप्रकार मन:पर्यय ज्ञान भी अनेक प्रकार है, इन दोनोको समान ही समझना चाहिये। दोनोंही अपने अपने आवरण कर्मका क्षयोपशम होनेसे होते है और कभी कभी यथायोग्य भावोके अनुसार उनकी दूसरी भी गति होती है।

भावार्थः—अवधिज्ञानावरणी कर्मके क्षयोपशमसे अवधिज्ञान होता है, परन्तु देव और नारकियोके भवप्रत्यय भी अवधिज्ञान होता है भवप्रत्ययसे होनेवाला अवधिज्ञान तीर्थंकरके भी होता है, अपवाद नियमसे तीर्थंकरका ग्रहण होता है। यद्यपि भवप्रत्यय अवधिमे भी क्षयोपशम ही अन्तरङ्ग कारण है तथापि बाह्य कारणकी प्रधानतासे भव प्रत्ययको ही मुख्य कारण कहा गया है। देव नारक और तीर्थंकर पर्यायमे नियमसे अवधिज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम हो जाता है, इसलिये भवकी प्रधानतासे भवप्रत्यय और क्षयोपशम निमित्तक ऐसे अवधिज्ञानके दो भेद किये है। और भी अनेक भेद है। अवधिज्ञान भवसे भवान्तर और क्षेत्रसे क्षेत्रान्तर जाता है उसे अनुगामी कहते हैं, कोई नही जाता है उसे अननुगामी कहते है, कोई अवधिज्ञान विशुद्ध परिणामोकी वृद्धिसे वढता है और बाल सूर्यके समान बढता ही चला जाता है उसे वर्धमान कहते है, कोई सक्लेश परिणामोके निमित्तसे घटता ही चला जाता है उसे हीयमान कहते है, कोई समान परिणामोसे ज्योका त्यो बना रहता है उसे अवस्थित कहते है, और कोई अवधिज्ञान कभी विशुद्ध परिणामोसे वढता है, कभी सक्लेश परिणामोसे घटता भी है उसे अनवस्थित कहते है। कर्मोके क्षयोपशमके भेदसे अवधिज्ञानके भी अनेक भेद हो जाते हैं, जैसे देशावधि, परमावधि, सर्वावधि। देशावधिके भी अनेक भेद है, इसीप्रकार परमावधि और सर्वावधिके भी अनेक भेद हैं। इतना विशेष है कि परमावधि और सर्वावधि ये दो ज्ञा चरम शरीरी विरतके ही होते हैं। छठे गुणस्थानसे नीचे नहीं

होते है। सर्वावधिज्ञान क्षेत्रकी अपेक्षा तीनो लोकोको विपय करता है, द्रव्यकी अपेक्षा एक पुद्गल परमाणु तक विषय करता है + इसप्रकार अवधिज्ञानका वहुत वडा विस्तार है। कभी मिथ्यात्वोदयके साथ होनेसे कु-अवधिज्ञान (विभगज्ञान) भी हो जाता है यह भी "अपरागति"का आशय है। अवधिज्ञानके समान मन पर्यय ज्ञानके भी अनेक भेद है। इतना विशेष है कि चाहे ऋजुमति मन.पर्यय ज्ञान हो, चाहे विपुलमति हो, छठे गुणस्थानसे नीचे होता ही नही है विपुलमति मन पर्यय तो एकवार होकर छूटता भी नही है, वह चरम शरीरीके होता हुआ भी अप्रतिपाती है अर्थात् फिर गिरता नही, नियमसे बारहवें गुणस्थान तक जाता है। हाँ ऋजुमतिवाला गिर भी जाता है। बहुतसे मनुष्य ऐसी शका करते हैं कि ऋजुमति मन·पर्यय ज्ञान ईहामतिज्ञान पूर्वक होता है और ईहामतिज्ञान इन्द्रियजन्य ज्ञान है इसलिये यह भी इन्द्रियजन्य हुआ। ऐसी शंका करनेवालोको यह जान लेना चाहिये कि ईहा मतिज्ञान वहाँपर केवल वाह्यमें आपेक्षिक है, वास्तवमें ऋजुमति मन पर्यय तो मनमे ठहरी हुई वातका साक्षात्कार करता है, इद्रिय जन्य ज्ञान पदार्थका प्रत्यक्ष नही कराता है। मन.पर्यय ज्ञानमे तो पदार्थका आत्म प्रत्यक्ष हो जाता है इसलिये उक्त शङ्का निर्मूल है। मन·पर्यय ज्ञान क्षेत्रकी अपेक्षा ढाई द्वीप तक ही जान सकता है आगे नही। द्रव्यकी अपेक्षा अवधिज्ञानके विषयभूत पदार्थके अनन्तवें भाग जान सकता है। मन पर्यय ज्ञानावरण कर्मके भेदोकी अपेक्षासे मन.पर्यय ज्ञानके भी अनेक भेद हो जाते हैं, परन्तु अवधिज्ञानकी तरह इसमे मिथ्यापन नही आता है।

मति · ज्ञानमेतन्मात्रं सदातनम्। *
स्य तरतमैर्भावैर्यथा हेतूपलब्धिसात् ॥१०१८॥

अर्थः—मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ये दोनो तो इस जीवके ससारावस्थामे सदा ही रहते है, इतना विशेष है कि जैसा निमित्त कारण मिल जाता है वैसे ही इन ज्ञानोमे भी तरतम भाव होता रहता है।

ज्ञानं यथावदर्थानामस्ति ग्राहकशक्तिमत्।
क्षायोपशमि ·तावदस्ति नौदयिकं भवेत् ॥१०१९॥

+ यह कथन गोम्मटसारकी अपेक्षासे है।

* सनातनम् इत्यपि पाठः।

अर्थः—पदार्थोंके ग्रहण करनेकी शक्ति रखनेवाला जितना भी ज्ञान है वह सब क्षायोपशमिक ज्ञान है, औदयिक नही है ।

सु-अवधि और कु-अवधि

अस्ति द्वेधावधिज्ञानं हेतोः कुतश्चिदन्तरात् ।
ज्ञानं स्यात्सम्यगवधिरज्ञानं कुत्सितोऽवधिः ॥१०२०॥

अर्थः—किसी कारणवश अवधिज्ञानके दो भेद हो जाते है। सम्यक् अवधिको ज्ञान कहते है तथा मिथ्या-अवधिको अज्ञान कहते है। **भावार्थः**—ज्ञानसे तात्पर्य सम्यग्ज्ञानका है । जो ज्ञान मिथ्यादर्शनके उदयके साथ होता है उसे ही मिथ्या अवधि कहते हैं । सम्यग्दर्शनके साथ होनेवाले अवधिज्ञानको सम्यक् अवधि कहते है । प्राय अवधिज्ञान कहनेसे सम्यक् अवधिका ही ग्रहण किया जाता है। मिथ्या अवधिको विभङ्गज्ञान शब्दसे उच्चारण किया जाता है ।

मतिश्रुत भी दो प्रकार है

अस्ति द्वेधा मतिज्ञानं श्रुतज्ञानं च स्याद्द्विधा ।
सम्यङ् मिथ्याविशेषाभ्यां ज्ञानमज्ञानमित्यपि ॥१०२१॥

अर्थः—मतिज्ञान भी दो प्रकार है और श्रुतज्ञान भी दो प्रकार है, एक ज्ञान एक अज्ञान । सम्यग्ज्ञानको ज्ञान कहते है, और मिथ्याज्ञानको अज्ञान कहते है ।

त्रिषु ज्ञानेषु चैतेषु यत्स्यादज्ञानमर्थतः । *
क्षायोपशमिकं तत्स्यान्नस्यादौदयिकं क्वचित् ॥१०२२॥

अर्थः—इन तीनो ज्ञानोमे अर्थात् कुमति, कुश्रुत, कुअवधिमें जो अज्ञान है वह वास्तवमे क्षायोपशमिक ज्ञान है वह अज्ञान कही औदयिक नही है ।

भावार्थः—मिथ्याज्ञान भी अपने अपने आवरणोके क्षयोपशमसे ही होते है इसलिये वे भी क्षायोपशमिक भाव हैं, वे मिथ्यादर्शनके उदयके साथ होते है इसीलिये मिथ्याज्ञान कहलाते है । मिथ्यात्वके उदयसे उसके अविनाभावी ज्ञान भी पदार्थको विपरीत रूपसे ही जानते है । परन्तु जानना क्षायोपशमिक ज्ञान है ।

औदयिक ज्ञान

अस्ति यत्पुनरज्ञानरर्थादौदयिकं स्मृतम् ।
तदस्ति शून्यतारूपं यथा निश्चेतनं वपुः ॥१०२३॥

* संशोधित पुस्तकमें 'यदज्ञानत्वमर्थतः' ऐसा पाठ है । क्योंकि अज्ञानोंमें अज्ञानत्व धर्म रहता है।

अर्थः—जो अज्ञानभाव औदयिक भावोमे कहा गया है वह शून्यतारूप है, जैसे कि चेतनके निकल जानेपर शरीर रह जाता है ।

भावार्थः—जीवके इक्कीस औदयिक भावोमे अज्ञान भी है । वह अज्ञानभाव जीवकी औदयिक अवस्था है । जब तक इस आत्मामें सर्व पदार्थोंका ज्ञान नही होता है अर्थात् जबतक केवलज्ञानकी उत्पत्ति नही होती है तब तक उसके अज्ञानभाव रहता है । यह भाव ज्ञानावरण कर्मके उदयसे होता है । पदार्थ विषयक अज्ञान होना ही उसका स्वरूप है । अर्थात् जितने अशोमे ज्ञानावरण कर्मका उदय रहता है उतने ही अशोमे अज्ञान भाव रहता है, जैसे अवधिज्ञानावरण, मन पर्यय ज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण कर्मोका आजकल यहाँपर सब जीवोके उदय हो रहा है इसलिये वे सव अज्ञान भाव सहित है । वह अज्ञान क्षायोपशमिक नही है, यदि वह क्षायोपशमिक होता तो औदयिक भावोमे नही गिनाया जाता, इसका कारण भी यही है कि क्षायोपशमिक ज्ञान भी आत्माका गुण है. जितने अशोमे भी ज्ञान प्रकट हो जाता है वह आत्माका गुण ही है, और जो आत्माका गुण है वह औदयिक भाव हो नही सकता, क्योकि उदय तो कर्मोका ही होता है, कही आत्माके गुणोका उदय नही होता है । इसलिये कर्मोके उदयसे होने-वाली आत्माकी अज्ञान अवस्थाको ही अज्ञानभाव कहते है वही अज्ञान औदयिक है । जो भाव ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे होता है वह क्षायोपशमिक भाव है । इसलिये ही कुमति, कुश्रुत और कुअवधिको क्षायोपमिक भावोमे शामिल किया गया है ।

साराश

एतावतास्ति यो भावो दृङ्मोहस्योदयादपि ।
पाकाच्चारित्रमोहस्य सर्वोप्यौदयिकः स हि ॥१०२४॥

अर्थः—इस कथनसे यह बात भी सिद्ध हुई कि जो भाव दर्शन मोहनीयके उदयसे होता है और जो भाव चारित्र मोहनीयके उदयसे होता है वह सभी औदयिक है ।

तथा

न्यायादप्येवमन्येषां मोहादिघातिकर्मणाम् ।
यावाँस्तत्रोदयाज्जातो भावोस्त्यौदयिकोऽखिलः ॥१०२५॥

अर्थः—इसीप्रकार और भी मोहको आदि लेकर जितने घातिया कर्म है उन सबके उदयसे जो आत्माका भाव होता है वह सब भी न्यायानुसार औदयिक भाव है ।

विशेष

तत्राप्यस्ति विवेकोऽयं श्रेयानत्रोदितो यथा ।
वैकृतो मोहजो भावः शेषः सर्वोपि लौकिकः ॥१०२६॥

अर्थः—ऊपर कहे हुए कथनमे इतना समझ लेना और अच्छा है कि घातिया कर्मोंमे मोहनीय कर्मके उदयसे जो भाव होता है वही वैकृत (वैभाविक) भाव है। वाकीके सभी कर्मोके उदयसे जो भाव होता है वह लौकिक है।

भावार्थः—वास्तवमे जो भाव मोहनीय कर्मके उदयसे होता है वही विकारी है। वही भाव आत्माकी अशुद्धताका कारण है, उसीसे सम्पूर्ण कर्मोका वन्ध होता है और उसीके निमित्तसे यह आत्मा अशुद्धरूप धारण करता हुआ अनन्त ससारमें भ्रमण करता रहता है, वाकीके कर्म अपने प्रतिपक्षी गुणको ढकते मात्र है। न तो वे कर्मवन्ध ही करनेमे समर्थ है और न उस घातिकी अशुद्धता ही करते है।

स यथाऽनादिसन्तानात् कर्मणोऽच्छिन्नधारया ।
चारित्रस्य दृगश्च स्यान्मोहस्यास्त्युदयाचितः ॥१०२७॥

अर्थः—वह विकृत–मोहरूप भाव दर्शनमोहनीय तथा चारित्र मोहनीय कर्मके उदयसे होता है। इन दोनों कर्मोका उदय बरावर अनादि सन्तति रूपसे ससारी जीवोके हो रहा है। इन्ही दोनो कर्मोके उदयसे आत्माकी जो विकारावस्था हो रही है उसे ही मोहरूप औदयिक भाव कहते है।

तत्रोल्लेखो यथासूत्रं दृङ्मोहस्योदये सति ।
तत्त्वस्याऽप्रतिपत्तिर्वा मिथ्यापत्तिः शरीरिणाम् ॥१०२८॥

अर्थः—सूत्रानुसार उस दर्शनमोहनीयके विषयमे ऐसा उल्लेख (कथन) है कि दर्शनमोहनीय कर्मके उदय होनेपर जीवोको तत्त्वकी प्रतीति (श्रद्धान) नही होती है अथवा मिथ्या प्रतीति होती है। भावार्थः—दर्शनमोहनीय कर्मके उदय होनेपर इस जीवकी विपरीत ही वुद्धि हो जाती है। उसे उपदेश भी दिया जाय तो भी ठीक ठीक पदार्थोको वह ग्रहण नही करता है, यदि करे भी तो उल्टे रूपसे ही ग्रहण करता है। मिथ्यात्वका ऐसा ही माहात्म्य है। *

---

* मिच्छाइट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं ण सद्दहदि ।
सद्दहदि असब्भावं उवइट्ठं वा अणुवइट्ठं ॥
गोमट्टसार ।

इसीका खुलासा

अर्थादात्मप्रदेशेषु कालुष्यं दृग्विपर्ययात् ।
तत्स्यात्परिणतिमात्रं मिथ्याजात्यनतिक्रमात् ॥१०२९॥

अर्थः—अर्थात् सम्यग्दर्शनकी विपरीत अवस्था हो जानेसे आत्माके प्रदेशोमे कलुषता आ जाती है और वह कलुषता आत्माका मिथ्यात्वरूप परिणाम विशेष है।

तत्र सामान्यमात्रत्वादस्ति वक्तुमशक्यता ।
ततस्तल्लक्षणं वच्मि संक्षेपाद्बुद्धिपूर्वकम् ॥१०३०॥

अर्थः—वह मिथ्यात्वरूप परिणाम सामान्य स्वरूपवाला है इसलिये उसके विषयमे कहा नही जा सकता। अतएव बुद्धिपूर्वक उसका लक्षण सक्षेपसे कहते हैं।

भावार्थः—एकेन्द्रियादि जीवोके जो मिथ्यात्वका उदय हो रहा है वह अबुद्धिपूर्वक है—सामान्य है इसलिये विवेचनमे नही आ सकता है। अत· उसका बुद्धिपूर्वक लक्षण संक्षेपसे कहा जाता है।

अबुद्धिपूर्वक मिथ्यात्वकी सिद्धि

निर्विशेषात्मके तत्र न स्याद्धेतोरसिद्धता ।
स्वसंवेदनसिद्धत्वाद्युक्तिस्वानुभवागमैः ॥१०३१॥

अर्थः—सामान्य अर्थात् अबुद्धिपूर्वक मिथ्यात्वकी किसी हेतुसे असिद्धि नही हो सकती है। क्योकि अबुद्धिपूर्वक मिथ्यात्व स्वसवेदन ज्ञानसे भलीभाँति सिद्ध है। तथा युक्ति, अपने अनुभव और आगमसे भी सिद्ध है। भावार्थः—हर एक ससारी जीवके मिथ्यात्वका उदय हो रहा है यह बात आगमसे तो सिद्ध है ही, किन्तु युक्ति और अपने अनुभवसे भी सिद्ध है। इसी बातको नीचेके श्लोकसे स्पष्ट करते है—

सर्वसंसारिजीवानां मिथ्याभावो निरन्तरम् ।
स्याद्विशेषोपयोगीह केषाञ्चित् संज्ञिनां मनः ॥१०३२॥

अर्थः—सम्पूर्ण ससारी जीवोके निरन्तर मिथ्याभाव हो रहा है, परन्तु किन्ही सज्ञी जीवोका मन उस मिथ्याभावकी ओर विशेष उपयोगवाला हो रहा है।

भावार्थः—यद्यपि सामान्य रीतिसे असंज्ञी जीवो तक तो सभीके मिथ्यात्व कर्मका उदय हो रहा है, सज्ञियोमे भी बहु भाग जीव मिथ्यात्वसे ग्रसित हो रहे है, वे सभी उस मिथ्यात्वके उदयसे उसीप्रकार मूर्छित हो रहे है जिसप्रकार कि गाढ़ रीतिसे मदिरा

पीनेवाला मूर्च्छित हो जाता है। जिसप्रकार मद्यपायी पुरुषको कुछ खबर नही रहती है उसीप्रकार उन जीवोको भी कुछ खबर नही है, कर्मोके फलको भोगते जाते है और नवीन कर्मोका वन्ध भी करते जाते है। अनन्तकाल तक उनकी ऐसी ही अवस्था रहती है। वे अपने समीचीन गुण पुञ्जको खो चुके है, निपट अज्ञानी भी वन चुके है, परन्तु उनकी यह अवस्था अज्ञानभावोमें ही लिप्त रहती है असज्ञी जीव कर्मवन्ध करनेमे तथा उसका फल भोगनेमे वुद्धिपूर्वक उपयुक्त नही हो सकते है। वुद्धिपूर्वक उपयोग लगानेमे सज्ञी जीव ही समर्थ है इसलिये कितने ही संज्ञी जीव अपने उपयोगको उस मिथ्याभावकी ओर विशेषतासे लगाते है, अर्थात् वे मिथ्या सेवनमें जान वूझ कर अपनी प्रवृत्ति करते हैं। तथा दूसरे जीवोंको भी उसमे लगाते है ऐसे ही जीव वुद्धिपूर्वक मिथ्यात्व सेवी कहे जाते हैं।

अथवा

तेषां वा संज्ञिनां नूनमस्त्यनवस्थितं मनः।
कदाचित् सोपयोगि स्यान्मिथ्याभावार्थभूमिषु ॥१०३३॥

अर्थः—अथवा उन सज्ञी जीवोका मन चञ्चल रहता है इसलिये मिथ्याभाव पूर्वक पदार्थोंमें कभी कभो उपयुक्त होता है। **भावार्थः**—कोई सज्ञी जीव मिथ्यात्व प्रवृत्तिमें सदा लगे रहते है और कोई कभी कभी लगते है।

साराश

ततो न्यायागतो जन्तोर्मिथ्याभावो निसर्गतः।
दङ्मोहस्योदयादेव वर्चते वा प्रवाहवत् ॥१०३४॥

अर्थः—इसलिये यह वात न्यायसगत है कि इस जीवके दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे ही स्वयं मिथ्याभाव हो रहा है, और उसका प्रवाह अनादिकालसे अनन्तकाल तक चला जाता है।

मिथ्यात्वका कार्य

कार्यं तदुदयस्योच्चैः प्रत्यक्षात्सिद्धमेव यत्।
स्वरूपानुपलब्धिः स्यादन्यथा कथमात्मनः ॥१०३५॥

अर्थः—दर्शनमोहनीय कर्मके उदयका कार्य प्रत्यक्षसे ही सिद्ध है कि आत्माके स्वरूपकी प्राप्ति नही होने पाती। यदि दर्शनमोहनीय कर्मका उदय न होता तो अवश्य ही आत्माके निज स्वरूपकी उपलब्धि हो जाती। इसलिये आत्माके स्वरूपको नष्ट करना ही दर्शनमोहनीय कर्मका कार्य है।

स्वरूपानुपलब्धिका फल

स्वरूपानुपलब्धौ तु बन्धः स्यात्कर्मणो महान् ।
अत्रैवं शक्तिमात्रं तु वेदितव्यं सुदृष्टिभिः ॥१०३६॥

अर्थः—आत्माके स्वरूपकी अनुपलब्धि होनेसे कर्मोंका तीव्र बन्ध होता है। इसप्रकार सम्यग्दृष्टियोको जान लेना चाहिये कि दर्शनमोहनीय कर्ममे ऐसी शक्ति है।

प्रसिद्धैरपि भास्वद्भिरलं दृष्टान्तकोटिभिः ।
अत्रेत्थमेवमेवं स्यादलङ्घ्या वस्तुशक्तयः ॥१०३७॥

अर्थः—प्रसिद्ध तथा ज्वलन्त (पुष्ट) ऐसे करोड़ो दृष्टान्त भी यदि दिये जांय तो भी यही बात सिद्ध होगी कि मोहनीय कर्ममे इसीप्रकारकी शक्ति है, जिस वस्तुमे जो शक्ति है वह अनिवार्य है। मोहनीय कर्ममे आत्माके स्वरूपको नष्ट करनेकी शक्ति है, इस शक्तिको उस कर्मसे कोई दूर नही कर सकता है। क्योकि भिन्न भिन्न पदार्थोंकी भिन्न भिन्न ही शक्तियाँ होती हैं और जो जिसका स्वभाव है वह अमिट है।

शङ्का

सर्वे जीवमया भावा दृष्टान्तो बन्धसाधकः ।
एकत्र व्यापकः कस्मादन्यत्राऽव्यापकः कथम् ॥१०३८॥

अर्थः—जब कि जीवोके सभी भाव बन्धके साधक है और इसमे दृष्टान्त भी मिलता है, जैसे क्रोध मान मतिज्ञान आदि। फिर यह नियम जिसप्रकार अन्यभावोमे व्याप्त होकर रहता है उसीप्रकार स्वरूपोपलब्धिमे क्यो नही व्याप्त होकर रहता ?

उत्तर

अथ तत्रापि केषाञ्चित् संज्ञिनां बुद्धिपूर्वकः ।
मिथ्याभावो गृहीताख्यो मिथ्यार्थाकृतिसंस्थितः ॥१०३९॥

अर्थः—किन्ही २ सञ्ज्ञी जीवोके बुद्धिपूर्वक—गृहीत मिथ्यात्व होता है, वह पदार्थोंमे मिथ्या भावको लिये हुए होता है। भावार्थः—बन्धका कारण असलमे मिथ्यात्व भाव है और इसके मूल मिथ्यादर्शन व मिथ्याचारित्र ये दो भेद हैं और उत्तर भेद असख्यात लोक हैं। मिथ्यात्वके सम्बन्धसे ही अन्य भाव भी बन्धके कारण कहलाते है इसलिये मिथ्यात्वके सहचारी भावोमे बन्धके साधकपनेका नियम व्याप्त होकर रह जाता है और स्वरूपोपलब्धि मिथ्यादर्शनका सहचारी भाव नही है इसलिये उसमे यह नियम व्याप्त होकर नही रहता।

अर्थादेकविधः स स्याज्जातेरनतिक्रमादिह ।
लोकासंख्यातमात्रः स्यादालापापेक्षयापि च ॥१०४०॥

अर्थः—अर्थात् वह मिथ्याभाव जातिकी अपेक्षासे एक प्रकार है, अर्थात् मिथ्याभावोंके जितने भी भेद हैं उन सबोंमें मिथ्यात्व है इसलिये मिथ्यात्वकी अपेक्षासे तो कौनसा ही मिथ्या भाव क्यों न हो सब एक ही है, और आलाप (भेदों)की अपेक्षासे वह असंख्यात लोक प्रमाण है।

आलापोंके भेद

आलापोऽप्येकजातिर्यो नानारूपोऽप्यनेकधा ।
एकान्तो विपरीतश्च यथेत्यादिक्रमादिह ॥१०४१॥

अर्थः—जो एक जातिका आलाप (भेद) है वह भी अनेक रूपोंमें विभक्त होनेसे अनेक प्रकार है। जैसे—एकान्त मिथ्यात्व, विपरीत मिथ्यात्व इत्यादि।

भावार्थः—मिथ्यात्व कर्मके अनेक भेद हैं परन्तु जो एक भेद है वह भी अनेक प्रकारका है, कभी इस जीवके विपरीत भाव होता है, कभी एकान्तभाव होता है, कभी संशयभाव होता है, कभी अज्ञानभाव होता है कभी विनयभाव होता है इत्यादि सभी भाव मिथ्यात्वके एक भेदमें ही गर्भित हैं। इसका खुलासा इसप्रकार है कि हर एक कर्मके अनेक भेद होते हैं और उन अनेक भेदोंमें प्रत्येक भेदका भी तरतमस्वरूप अनेक प्रकार होता है। दृष्टान्तके लिये ज्ञानावरण कर्मको ही ले लीजिये ज्ञानावरण कर्मके सामान्य रीतिसे पाच भेद हैं—मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण मनःपर्ययज्ञानावरण, केवल ज्ञानावरण। उनमें जो मतिज्ञानावरण है वह भी अनेक प्रकार है, किसी वर्गणामें* तीव्र अनुभाग बन्ध होता है और किसीमें कम होता है, किसी वर्गणाकी स्थिति अधिक पड़ती है, किसीकी कम पड़ती है। तथा एक प्रकारकी रसशक्ति रखनेवाले भी कर्म भिन्न २ कार्यों द्वारा फलीभूत होते हैं। इन्हीं कर्मोंके भेद प्रभेदोंसे आत्माके भाव भी अनेक प्रकारके होते रहते हैं। वास्तवमें आत्माका ज्ञान गुण एक है, उसके मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आदि भेद केवल कर्मोंके निमित्तसे हुए हैं, और उन भेदोंमें भी अनेक भेद हैं। किसी जीवके अधिक मतिज्ञान पाया जाता है किसीके कम पाया जाता है, जितने भी मतिज्ञान धारी हैं सभी कुछ न कुछ भेदको लिये हुए हैं।

---

* वर्गोंके समूहको वर्गणा कहते हैं। समान अविभाग प्रतिच्छेदोंको धारण करनेवाले कर्मपरमाणुको वर्ग कहते हैं। भिन्न २ वर्ग समूहकी भिन्न २ वर्गणायें होती हैं।

इसीप्रकार सभी कर्मोके अनेक भेद हैं और उन्हीके निमित्तसे उनके प्रतिपक्षी गुणोमें न्यूनाधिकता पाई जाती है। प्रकृतमे मिथ्यात्वके असंख्यात भेद तो वतलाये गये, अव उसीके शक्तिकी अपेक्षासे अनन्त भेद वतलाये जाते हैं—

अथवा शक्तितोऽनन्तो मिथ्याभावो निसर्गतः।
यस्मादेकैकमालापं प्रत्यनन्ताश्च शक्तयः ॥१०४२॥

अर्थः—अथवा शक्तिकी अपेक्षासे वह मिथ्यात्व परिणाम स्वभावसे अनन्त प्रकार है क्योकि एक एक आलापके प्रति अनन्त २ शक्तियाँ होती हैं। भावार्थः—प्रत्येक आलाप अनन्तानन्त वर्गणाओका समूह है और प्रत्येक वर्गणामे अनन्तानन्त परमाणुओका समूह रहता है, इसलिये प्रत्येक परमाणुमें प्रतिपक्षी गुणको घात करनेकी शक्ति होनेसे उस कर्मके तथा उसके प्रतिपक्षी गुणके भी अनन्त भेद हो जाते हैं, तथा अविभाग प्रतिच्छेदोकी अपेक्षा भी अनन्त भेद है।

तथा

जघन्यमध्यमोत्कृष्टभावैर्वा परिणामिनः।
शक्तिभेदात्क्षणं यावदुन्मज्जन्ति पुनः पृथक् ॥१०४३॥
कारुं कारुं स्वकार्यत्वाद्बन्धकार्यं पुनः क्षणात्।
निमज्जन्ति पुनश्चान्ये प्रोन्मज्जन्ति यथोदयात् ॥१०४४॥

अर्थः—उन कर्मोकी जितनी भी शक्तियाँ है वे सब प्रतिक्षण परिणमनशील हैं, इसलिये वे यथायोग्य जघन्य, मध्यम तथा उत्कृष्ट भावो द्वारा परिणमन करती हुई भिन्न रूपसे प्रगट होती हैं। और बन्धरूप कार्य कर करके शीघ्र ही शान्त हो जाती हैं। उनके शान्त होते ही दूसरी शक्तियाँ अपने उदयानुसार प्रगट हो जाती हैं। उन शक्तियोका बन्ध करना ही एक कार्य है।

भावार्थः—जो कर्म जिस भावसे उदय होता है अर्थात् जघन्यरूपसे अथवा उत्कृष्टरूपसे जितनी भी फलदान शक्तिको लेकर उदयमे आता है वह उसी रूपसे अपना फल देता है साथ ही नवीन कर्मोका बन्ध करता है, इतना कार्य कर वह नष्ट हो जाता है और दूसरा कर्म उदयमे आने लगता है। इसीप्रकार वह भी अपनी अपनी शक्तिके अनुसार फल देकर तथा नवीन कर्मोका बन्ध करके नष्ट हो जाता है, इसी क्रमसे पहले पहले बाँधे हुए कर्म उदयमें आते हैं और नवीन २ कर्म बँधते रहते हैं, यह क्रम तबतक बराबर रहता है जबतक कि कारणभूत मोहनीय कर्म शान्त नही होता है।

बुद्धिपूर्वक मिथ्यात्वके कतिपय दृष्टान्त

बुद्धिपूर्वकमिथ्यात्वं लक्षणाल्लक्षितं यथा ।
जीवादीनामश्रद्धानं श्रद्धानं वा विपर्ययात् ॥१०४५॥

अर्थः—बुद्धिपूर्वक मिथ्यात्वका जो लक्षण किया गया है वह इसप्रकार है—जीवादिक पदार्थोंका श्रद्धान नही करना, अथवा उनका उल्टा श्रद्धान करना ।

तथा

सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रागेवात्रापि दर्शिताः ।
नित्यं जिनोदितैर्वाक्यैर्ज्ञातुं शक्या न चान्यथा ॥१०४६॥
दर्शितेष्वेपि तेपूच्चैर्जैनैः स्याद्वादिभिः स्फुटम् ।
न स्वीकरोति तानेव मिथ्याकर्मोदयादपि* ॥१०४७॥

अर्थः—सूक्ष्म पदार्थ–परमाणु धर्मादि द्रव्य, अन्तरित पदार्थ–राम रावणादि, दूरवर्त्ती पदार्थ–सुमेरु अकृत्रिम चैत्यालय आदि । इसका वर्णन पहले भी आ चुका है । ये पदार्थ जिनेन्द्र कथित–आगमसे ही जाने जा सकते है अन्यथा नही । इन पदार्थोका स्याद्वाद पारंगत आचार्योने अच्छी तरह शास्त्रोमे विवेचन किया है परन्तु मिथ्यात्व कर्मके उदयसे मिथ्यादृष्टि पुरुष उनको नही स्वीकार करता है ।

भावार्थः—जैनाचार्योने प्रथमानुयोग–शास्त्रोमे मोक्षगामी–उत्तम पुरुषोंके जीवन चरित्र लिखे है परन्तु मिथ्यादृष्टि पुरुष उस कथनको ही मिथ्या समझता है, वह समझता है कि जिन राम रावणादिका चरित आचार्योने लिखा है वह केवल काल्पनिक है वास्तवमे राम रावण आदिक हुए नही है । यह आचार्योकी कल्पना उपन्यासकी तरह समझानेके लिये है । इसीप्रकार सुमेरु, विदेह आदि जो उसके सर्वथा परोक्ष है उन्हें भी वह मिथ्या समझता है । मिथ्यात्व कर्मने उसकी आत्मापर इतना गहरा प्रभाव डाल दिया है जिससे कि उसकी बुद्धि सत्पदार्थोंकी ओर जाती ही नही है । वास्तवमें जबतक तीव्र कर्मका प्रकोप इस आत्मापर रहता है तबतक इसका कल्याण होता ही नही है । जिन जीवोका कर्म शान्त हो जाता है उनके अन्तरग किवाड़ तुरन्त खुल जाते हैं और उसीसमय वे सुपथमे लग जाते है । स्वामी विद्यानन्दि गौतम गणधर आदिके ऐसे अनेक उदाहरण है जो कि पहले मिथ्यात्व कर्मके उदयसे उन्ही पदार्थोको भ्रमरूप समझते थे परन्तु पीछे निमित्तवश मिथ्यात्व कर्मके हट जानेसे उन्ही पदार्थोको यथार्थ समझने लगे । जो लोग उन्ही आचार्योकी कही हुई तत्त्व फिलासिफी (तत्त्व सिद्धान्त)को

* मिथ्याकर्मोदयाद्धी ऐसा संशोधित पुस्तकमें पाठ है ।

ठीक मानते है और उन्ही आचार्योंकी कही हुई प्रथमानुयोग कथनीको काल्पनिक समझते है उन्हे सोचना चाहिये कि आचार्योंको ऐसी क्या आवश्यकता पड़ी थी जो कि बिना किसी प्रयोजनके कल्पना करके लोगोको ठगते ? यदि यही कर्तव्य उनको करना शेष था तो क्यों सासारिक सुखका परित्याग कर कठिन तप करनेके लिये भयास्पद जंगलको उन्होने निवास स्थान बनाया था ? यदि कहा जाय कि अपना कल्याण करनेके लिये तो दूसरे लोगोको प्रतारण करना आत्मकल्याण नही कहा जा सकता है ? इसलिये आचार्योंकी कृतिको जो मिथ्या बतलाते है वे विचारे मिथ्यात्व कर्मोदयके सताये हुए है। दूसरी बात यह है कि कल्पनासे शिक्षा अवश्य मिलती है परन्तु निश्चय पथका परिज्ञान कभी नही हो सकता, और बिना निश्चय पथका परिज्ञान हुए उस शिक्षाको सुखद शिक्षा नही कहा जा सकता। पद्मपुराणमे लिखा है कि रावणने कैलाश पर्वत उठानेके पीछे उस पर्वत पर जब चैत्यालय और मुनि महाराजके दर्शन किये तब भक्तिके वश अपने हाथकी नशको चिकाड़ा बनाकर उनके गुणोका गद्गद गान किया। इसीप्रकार वज्रजघने मुनिमहाराजके दर्शन कर अणुव्रतोको ग्रहण किया, अथवा रामचन्द्रको सीताके जीवने बहुत कुछ विचलित करनेका उद्योग किया, परन्तु वे ध्यानमे दृढ ही बने रहे, किञ्चिन्मात्र भी विचलित न हो सके, इत्यादि बातोको यदि ठीक माना जाता है तब तो मनुष्य उसीप्रकारकी क्रियाओसे अपने भावोका सुधार कर सकते है और रावणके समान भक्तिरसमे मग्न हो सकते हैं, वज्रजघके समान अपने अनर्थोको छोड़ सकते हैं, रामचन्द्रके तुल्य ध्यानमें निश्चल-उपयोगी बन सकते हैं। अजनचोर सरीखे पुरुषोके आगे पीछेके कर्त्तव्योसे भावोका वैचित्र्य जान सकते है। परन्तु इन सब बातोको काल्पनिक समझनेसे कुछ कार्य सिद्ध नही हो सकता है, क्योकि कल्पनामे रावण-उसकी भक्ति, रामचन्द्र-उनका ध्यान, वज्रजघ-उसका सुधार, अजनचोर-उसकी काया पलट, ये सब कार्य मिथ्या ही प्रतीत होंगे। ऐसी अवस्थामें किस आधार पर और किस आदर्शसे सुधारकी यथार्थ शिक्षा ली जा सकती है। किसीने पाप किया वह नरकको गया, किसीनें पुण्य किया वह स्वर्गको गया, यह पाप पुण्यका फल भी मिथ्या ही प्रतीत होगा, क्योकि कल्पनामे न कोई स्वर्ग गया और न नरक गया, ऐसी अवस्थामे नरक स्वर्ग व्यवस्था भी उड़ जाती है। केवल वे ही बातें शेष रह जाती हैं जो कि ससारमे-व्यवहारमें आ रही है, परोक्ष पदार्थ कुछ पदार्थ नही ठहरते। परोक्ष पदार्थोंमें बुद्धि न जानेसे अज्ञानी पुरुष लोकको भी उतना ही समझता है जितना कि वह देखता है। ऐसा विपरीत भाव मिथ्यात्व कर्मके उदयसे होता है।

मिथ्यात्व कर्मोदयसे होनेवाले भाव

ज्ञानानन्दौ यथा स्यातां मुक्तात्मनो यदन्वयात् ।
विनाप्यक्षशरीरेभ्यः प्रोक्तमस्त्यस्ति वा न वा ॥१०४८॥

अर्थः—ज्ञान और सुख आत्माके गुण है इसलिये वे इन्द्रिय और शरीरके बिना भी मुक्त जीवके निरन्तर रहते है, इसी विषयमे मिथ्यादृष्टि विचार करता है कि यह कहना ठीक है अथवा ठीक नही है।

भावार्थः—ज्ञान और सुख आत्माके निज गुण है। गुणोका कभी नाश नही होता है, यदि गुणोका ही नाश हो जाय तो द्रव्यका भी नाश हो जाय, और द्रव्यका नाश होनेसे शून्यताका प्रसग आवेगा इसलिये गुण पुञ्ज—द्रव्य सदा टङ्कोत्कीर्णके समान अखण्ड रहता है परन्तु ससारमे ज्ञान और सुखका अनुभव शरीर और इन्द्रियोके द्वारा ही होता रहता है। यद्यपि इन्द्रियोसे आत्मीक सुखका स्वाद नही आता है। आत्माका सुख तो आत्मामे ही स्वय होता है, इन्द्रियाँ तो उसकी वाधक है इन्द्रियो द्वारा जो सुख होता है वह केवल शुभ कर्मका फलस्वरूप है, तथापि मिथ्यादृष्टि उसी सुखको आत्मीक सुख समझने लगता है, इन्द्रियजन्य ज्ञानको ही वह यथार्थ—प्रत्यक्ष और पूर्ण ज्ञान समझता है। और उसी समझके अनुसार वह यह भी कल्पना करता है कि विना इन्द्रिय और शरीरके सुख और ज्ञान हो ही नही सकते है। इसीलिये वह मुक्तात्माओके ज्ञान, सुखमे सन्देह करता है कि विना शरीर और इन्द्रियोंके मुक्तात्माओके ज्ञान और सुख जो बताया है वह हो सकता है या नही ? वास्तवमे इन्द्रियजन्य ज्ञान सीमावद्ध और परोक्ष होता है, जहांपर इन्द्रियोसे रहित—अतीन्द्रिय ज्ञान होता है वही पर उसमे पूर्णता और निर्मलता आती है। मुक्त जीवोके जो ज्ञान होता है वह अतीन्द्रिय होता है। इसीप्रकार उनके जो सुख होता है वह इन्द्रियोसे सर्वथा विलक्षण होता है, इन्द्रियजन्य जो सुख है वह कर्मोदय जनित है इसलिये दु ख ही है। मिथ्यादृष्टि दु खको ही सुख समझता है।

और भी

स्वतः सिद्धानि द्रव्याणि जीवादीनि किलेति षट् ।
प्रोक्तं जैनागमे यत्तत्स्याद्वा नेच्छेदनात्मवित् ॥१०४९॥

अर्थः—जैन शास्त्रोमे स्वत सिद्ध जीवादिक छह द्रव्य कहे गये है वे हो सकते है या नही ? ऐसी भी आशका वह आत्मस्वरूपको नहीं जाननेवाला—मिथ्यादृष्टि करता है।

और भी

नित्यानित्यात्मकं तत्त्वमेकं चैकपदे च यत् ।
स्याद्वा नेति विरुद्धत्वात् संशयं कुरुते कुदृक् ॥१०५०॥

अर्थः—पदार्थ नित्यानित्यात्मक है, एक ही पदार्थमें नित्यत्व और अनित्यत्व धर्म रहते है। इस विषयमे भी मिथ्यादृष्टि सशय करता है कि एक पदार्थमें नित्यत्व और अनित्यत्व दो धर्म रह सकते है या नही ? वह समझता है कि नित्यत्व और अनित्यत्व धर्म परस्पर विरोधी है इसलिये उनका एक पदार्थमे रहना अशक्य है।

भावार्थः—पदार्थ द्रव्य दृष्टिसे सदा रहता है उसका कभी भी नाश नही होता है। परन्तु पर्याय दृष्टिसे वह अनित्य है। जैसे मनुष्य मरकर देव हो जाता है। यहाँ पर जीवकी मनुष्य पर्यायिका तो नाश हो गया और देव पर्यायिका उत्पाद हो गया परन्तु जीवका न तो नाश हुआ है और न उत्पाद हुआ है। जो जीव मनुष्य पर्यायमे था वही जीव अब देव पर्यायमे है, इसलिये जीवद्रव्यकी अपेक्षासे तो जीव नित्य है परन्तु जीवकी पर्यायोकी अपेक्षासे जीव अनित्य है अतः जीवमे कथचित् नित्यता, और कथचित् अनित्यता दोनों ही धर्म रहते हैं, परन्तु जिस अपेक्षासे नित्यता है उस अपेक्षासे अनित्यता नही है, यदि जिस अपेक्षासे जीवमें नित्यता है उसी अपेक्षासे उसमे अनित्यता भी मानी जावे तब तो अवश्य विरोध सम्भव है परन्तु अपेक्षाके न समझनेसे ही मिथ्यादृष्टि इन धर्मोंको विरोधी समझता है।

और

अप्यनात्मीयभावेषु यावन्नोकर्मकर्मसु ।
अहमात्मेति बुद्धिर्या दृङ्मोहस्य विजृम्भितम् ॥१०५१॥

अर्थः—कर्म–ज्ञानावरणादि, नो कर्म–शरीरादि जो आत्मासे भिन्न पदार्थ है उन पदाथोमे मैं आत्मा हूँ, इसप्रकार जो बुद्धि होती है वह दर्शनमोहकी चेष्टा है।

भावार्थः—दर्शन मोहनीयके उदयसे यह जीव शरीरादि जड़ पदार्थोंको ही आत्मा समझता है।

और

अदेवे देवबुद्धिः स्यादगुरौ गुरुधीरिह ।
अधर्मे धर्मवज्ज्ञानं दृङ्मोहस्यानुशासनात् ॥१०५२॥

परिवर्तन होता है, अर्थात् सामग्रीके अनुसार कर्मोदय विशेष रीतिसे विपच्यमान होता है। इसीलिये गति कर्मके उदयसे होनेवाले भाव भी औदयिक हैं। इनमें अन्तरंग कारण मोहनीय कर्मका उदय ही समझना चाहिये।

यत्र कुत्रापि वान्यत्र रागांशो बुद्धिपूर्वकः।
स स्याद्द्वैविध्यमोहस्य पाकाद्वान्यतमोदयात् ॥१०५५॥

अर्थः—जहां कहीं भी बुद्धिपूर्वक राग होता है वह दर्शनमोह और चारित्रमोहके पाकसे ही होता है अथवा दोनोमेंसे किसी एकके पाकसे होता है।

भावार्थः—जहाँ पर दर्शनमोहका उदय है वहां पर चारित्रमोहका भी उदय नियमसे रहता है ऐसे स्थल पर दोनो ही बुद्धिपूर्वक रागके कारण है, और जहांपर चारित्रमोहका उदय रहता है वहां दर्शनमोहका उदय रहे या न रहे नियम नहीं है, चौथे गुणस्थानसे ऊपर केवल चारित्रमोहका ही उदय है इसलिये वहां केवल चारित्र-मोहके उदयसे राग होता है। जहांपर दोनोंसे होता है वहां पर दर्शनमोह आत्माकी मिथ्या बुद्धि करता है। चारित्रमोह राग करता है। चौथे गुणस्थानसे लेकर ऊपरके गुणस्थानोमे बुद्धिपूर्वक राग तो होता है परन्तु वहां पर मिथ्या बुद्धिपूर्वक राग नहीं होता है। जैसे—मिथ्यादृष्टि शरीरादि भिन्न पदार्थोंमे आत्मत्व बुद्धिसे राग कर सकता है परन्तु सम्यग्दृष्टि शरीरादिमे राग अवश्य कर सकता है किन्तु आत्मत्व बुद्धिसे नहीं कर सकता है। क्योकि शरीरादिमे आत्मबुद्धि करनेवाला तो केवल दर्शनमोह है।

सारांश

एवमौदयिका भावाश्चत्वारो गतिसंश्रिताः।
केवलं बन्धकर्तारो मोहकर्मोदयात्मकाः ॥१०५६॥

अर्थः—इसप्रकार गतिकर्मके आश्रयसे चार औदयिक भाव होते हैं। परन्तु बन्धके करनेवाले केवल मोहकर्मके उदयसे होनेवाले ही भाव है। भावार्थ—विना मोहनीय कर्मके गति कर्मका उदय कुछ नही कर सकता है, केवल उदयमे आकर खिर जाता है।

कषाय भाव

कषायाश्चापि चत्वारो जीवस्यौदयिकाः स्मृताः।
क्रोधो मानोऽथ मायाः च लोभश्चेति चतुष्टयात् ॥१०५७॥

ते चाऽऽत्मोचरभेदैश्च नामतोप्यत्र षोडश ।
पञ्चविंशतिकाश्चापि लोकासंख्यातमात्रकाः ॥१०५८॥
अथवा शक्तितोऽनन्ताः कषायाः कल्मषात्मकाः ।
यस्मादेकैकमालापं प्रत्यन्ताश्च शक्तयः ॥१०५९॥

अर्थ—क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार कषाये भी जीवके औदयिक भाव हैं। और उन कपायोके जितने उत्तर भेद है वे सब भी औदयिक भाव है। कषायोके उत्तर भेद नामकी अपेक्षासे सोलह भी है तथा पच्चीस भी है। परन्तु सूक्ष्म दृष्टिसे उनके असख्यात लोक प्रमाण भी भेद है। अथवा शक्तिकी अपेक्षासे उन कषायोके अनन्त भी भेद है। क्योकि एक २ भेदके प्रति अनन्त अनन्त शक्तियाँ है। ये सब कषायें पाप रूप हैं। अर्थात् सभी कषाये आत्माके गुणोका घात करनेवाली है।

भावार्थ—सामान्य रूपसे क्रोध मान माया लोभ ये कषायोके चार भेद है, अनन्तानुवन्धि, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और सज्वलन इन भेदोकी अपेक्षासे उनके सोलह भेद है। अर्थात् इन चारो भेदोमें क्रोध मान माया लोभ जोड़ देनेसे सोलह भेद हो जाते हैं इन्हीमें हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पु वेद, नपुंसक वेद इन नौ नोकपायोको जोड़ देनेसे उनके पच्चीस भेद हो जाते है। अन्तर्भेद और शक्तियोकी अपेक्षासे उनके असंख्यात लोकप्रमाण और अनन्त भेद भी है। –अनन्तानुबंधी कपाय आत्माके स्वरूपाचरणचारित्रका घात करती है। ×अप्रत्याख्यानावरण कषाय आत्माके देश चारित्रका घात करती है। प्रत्याख्यानावरण कषाय। *आत्माके सकल चारित्रका घात करती है। तथा सज्वलन कषाय+ आत्माके यथाख्यातचारित्रका घात

— अनन्त-अनन्तसंसारं, अनुवन्धाति स अनन्तानुवन्धी, अर्थात् जो अनन्त ससारको बाँधे-पड़ावे उसे अनन्तानुवन्धी कहते हैं। अनन्तानुवन्धीकपाय सम्यग्दर्शनका भी घात करती है इसलिये इस ससारमें अनन्तकाल तक भ्रमण करानेवाली है।

× अ-ईषत्, प्रत्याख्यानं-चारित्र, आवृणोति-रुणद्धि असौ अप्रत्याख्यानावरणः। अर्थात जो थोड़े भी-एक देश भी चारित्रको न होने दे उसे अप्रत्याख्यानावरण कहते हैं।

* प्रत्याख्यान-सकलचारित्र, आवृणोतीति प्रत्याख्यानावरण। अर्थात् जो सकलचारित्रको न होने दे उसे प्रत्याख्यानावरण कहते हैं।

+ यो यथाख्यात सज्वलयति-भस्मसात् करोति स सज्वलनः अर्थात् जो यथाख्यात चारित्रको न होने दे उसे सज्वलन कहते हैं।

करती है। अनन्तानुबन्धी कषायका दूसरे गुणस्थान तक उदय रहता है। अप्रत्याख्याना-वरण कषायका चौथे गुणस्थान तक उदय रहता है। प्रत्याख्यानावरण कषायका पांचवें गुणस्थान तक उदय रहता है। संज्वलन कषायका दशवें गुणस्थान तक उदय रहता है। इन कषायोंका जहां २ तक उदय है वहां २ तक ये अपने प्रतिपक्षी गुणोंको नहीं होने देती है। इन कषायोंका वासनाकाल इसप्रकार है—संज्वलन कषायका अन्तर्मुहूर्त, प्रत्याख्यान कषायका एक पक्ष अर्थात् १५ दिन, अप्रत्याख्यान कषायका छह महीना और अनन्तानुबन्धिका संख्यात, असंख्यात तथा अनन्त भव। वासनाकालका अभिप्राय यह है कि इतने काल तक इनका संस्कार आत्मामें बैठा रहता है। जैसे संज्वलन कषायके संस्कार केवल अन्तर्मुहूर्त तक ही रह सकते हैं। प्रत्याख्यान कषायके संस्कार एकबारके बैठे हुए १५ दिन तक रह सकते हैं। इसीप्रकार औरोंका संस्कारकाल समझना चाहिये। इन सबोंमें अनन्तानुबन्धिका संस्कारकाल सबसे अधिक है। उसके संस्कार अनन्त भव तक रह सकते है।

चारित्रमोहनीयका कार्य

अस्ति जीवस्य चारित्रं गुणः शुद्धत्वशक्तिमान्।
वैकृतोस्ति स चारित्रमोहकर्मोदयादिह ॥१०६०॥

अर्थः—जीवका एक चारित्र गुण है, वह शुद्ध स्वरूप है परन्तु इस संसारमें चारित्र मोहनीय कर्मके उदयसे वह विकृत हो रहा है अर्थात् अनादि कालसे चारित्र मोहनीय कर्मके उदयसे वह अशुद्ध हो रहा है।

चारित्रमोहके भेद

तस्माच्चारित्रमोहश्च तद्भेदाद्द्विविधो भवेत्।
पुद्गलो द्रव्यरूपोस्ति भावरूपोस्ति चिन्मयः॥१०६१॥

अर्थः—इसलिये उसके भेदसे चारित्र मोह दो प्रकार है एक द्रव्य रूप, दूसरा भावरूप द्रव्यरूप चारित्र मोह पुद्गल स्वरूप है और भावरूप चारित्र मोह चैतन्य स्वरूप है। भावार्थः—चारित्रमोह कर्मके उदयसे जो आत्माके चारित्र गुणकी राग द्वेष रूप वैभाविक अवस्था है उसीसे चारित्र मोहनीय कर्मके दो भेद हो जाते है, एक द्रव्य मोह दूसरा भाव मोह। पौद्गलिक चारित्र मोह द्रव्य मोह है और उसके निमित्तसे होनेवाले आत्माके रागद्वेषरूप भाव, भावमोह है।

द्रव्य मोह

अस्त्येकं मूर्तिमद्द्रव्यं नाम्ना ख्यातः स पुद्गलः ।
वैकृतः सोस्ति चारित्रमोहरूपेण संस्थितः ॥१०६२॥

अर्थः—रूप रस गन्ध स्पर्शका नाम मूर्ति है । जिस द्रव्यमें ये चारो गुण पाये जाँय उसे मूर्तिमान द्रव्य कहते है, ऐसा मूर्तिमान द्रव्य छहो द्रव्योमेसे एक है और वह पुद्गलके नामसे प्रसिद्ध है । उसी पुद्गलकी एक वैभाविक पर्याय चारित्रमोहरूप है ।

पृथ्वीपिण्डसमानः स्यान्मोहः पौद्गलिकोऽखिलः ।
पुद्गलः स स्वयं नात्मा मिथो बन्धो द्वयोरपि ॥१०६३॥

अर्थः—पौद्गलिक जितना भी मोह है सभी पृथ्वी पिण्डके समान है, वह स्वय पुद्गल है आत्मा नही है पौद्गलिक द्रव्यमोह और आत्मा इन दोनोका परस्पर बन्ध होता है ।

भाव मोह

द्विविधस्यापि मोहस्य पौद्गलिकस्य कर्मणः ।
उदयादात्मनो भावो भाव मोहः स उच्यते ॥१०६४॥

अर्थः—दोनो प्रकारके पौद्गलिक मोहनीय कर्मोके उदयसे आत्माका जो भाव होता है उसे ही भाव मोह कहते है । भावार्थः—द्रव्यमोहके उदयसे होनेवाली आत्माकी वैभाविक अवस्थाका नाम ही भावमोह है ।

भाव मोहका स्वरूप

जले जम्बालवन्नूनं स भावो मलिनो भवेत् ।
बन्धहेतुः स एव स्यादद्वैतश्चाष्टकर्मणाम् ॥१०६५॥

अर्थः—जलमें जिसप्रकार काई (हरा मल)के जम जानेसे जल मलिन हो जाता है उसीप्रकार वह भाव भी (रागद्वेषरूप) मलिन होता है, तथा वही अकेला आठो कर्मोके बन्धका कारण है ।

भावार्थः—विना कषाय भावोके कर्म आत्माके साथ बँध नही सकते हैं, जैसे आते हैं वैसे ही चले जाते हैं, कषाय भाव ही उनके बन्धका कारण है, इसीलिये दशवें गुणस्थान तक ही कर्मबन्ध होता है, उससे ऊपर कर्मबन्ध नही होता किन्तु योगोंके निमित्तसे जिस समयमें कर्म आते हैं उसीसमयमें खिरते भी जाते हैं ।

भाव मोह ही अनर्थोंका मूल है

अपि यावदनर्थानां मूलमेकः स एव च ।
यस्मादनर्थमूलानां कर्मणामादिकारणम् ॥१०६६॥

अर्थः—संसारमे जितने भी अनर्थ हैं उन सबका मूल-कारण वही भाव मोह है क्योकि अनर्थके मूल कारण कर्म हैं और उन कर्मोका भी आदि कारण वह भाव मोह है।

और भी

अशुचिर्घातको रौद्रो दुःखं दुःखफलं च सः ।
किमत्र बहुनोक्तेन सर्वासां विपदां पदम् ॥१०६७॥

अर्थः—यह भाव मोह अपवित्र है, आत्माके गुणोका घातक है, रौद्रस्वरूप है, दु खरूप है, और दु खका फल स्वरूप है, अथवा दु ख ही उसका फल है। उस भाव मोहके विषयमे अधिक क्या कहा जाय, सम्पूर्ण आपत्तियोका वह स्थान है।

भावमोहमें परस्पर कार्यकारण भाव

कार्यकारणमप्येष मोहो भावसमाह्वयः ।
* सर्वबद्धानुवादेन प्रत्ययास्रवसंचयात् ॥१०६८॥

अर्थः—यह भाव मोह कार्य भी है और कारण भी है। पूर्वमे बांधे हुए कर्मोके उदयसे होता है इसलिये तो कार्यरूप है, तथा नवीन कर्मोके आस्रवका सञ्चय करता है इसलिये कारणरूप है। नीचेके श्लोकोमे भाव मोहका परस्पर कार्य कारण भाव ग्रन्थकार स्वय कहते है—

यदोच्चैः पूर्वबद्धस्य द्रव्यमोहस्य कर्मणः ।
पाकाल्लब्धात्मसर्वस्वः कार्यरूपस्ततो नयात् ॥१०६९॥

अर्थः—जिससमय पहले बांधे हुए द्रव्यमोह कर्मके उदयसे भाव मोह आत्मलाभ करता है उससमय वह कार्यरूप है।

निमित्तमात्रीकृत्योच्चैस्तमागच्छन्ति पुद्गलाः ।
ज्ञानावृत्यादिरूपस्य तस्माद्भावोस्ति कारणम् ॥१०७०॥

अर्थः—उस भाव कर्मके निमित्तसे ज्ञानावरणादि रूप पुद्गल कर्म आते हैं (आत्माके साथ बंधते है) इसलिये वह कारणरूप है।

* संशोधित पुस्तकमें 'पूर्वबद्धानुवादेन' पाठ है।

भावार्थः—भाव कर्मोके निमित्तसे नवीन कर्मोका वन्ध होता है, उन कर्मोके निमित्तसे नवीन भाव मोह पैदा होता है, फिर उससे नवीन कर्म बँधते है उन कर्मोके निमित्तसे दूसरा भाव मोह पैदा होता है। इसप्रकार यह परस्पर कार्यकारण भाव सन्तति अनादि कालसे चली आ रही है। एक वार द्रव्य मोह कारण पड़ता है भाव मोह उसका कार्य पड़ता है। इसप्रकार परस्पर इन दोनोमें निमित्त नैमित्तिक भाव है।

विशेष

विशेषः कोप्ययं कार्यं केवलं मोहकर्मणः।
मोहस्यास्यापि वन्धस्य कारणं सर्वकर्मणाम् ॥१०७१॥

अर्थः—इस भावमोहमे इतनी कोई विशेषता है कि यह कार्य तो केवल मोहनीय कर्मका है, परन्तु कारण उसे मोहनीय कर्म तथा सम्पूर्ण कर्मोके बन्धका है।

भावार्थः—द्रव्य मोहके उदयसे ही भाव मोह होता है इसलिये वह कार्य तो केवल मोह कर्मका ही है। परन्तु सम्पूर्ण कर्मोमे स्थिति अनुभाग डालनेवाला वही एक भाव मोह है इसलिये वह कारण सव कर्मोका है।

साराश

अस्ति सिद्धं ऽन्योन्यं जीवपुद्गलकर्मणोः।
निमित्तनैमित्तिकोभावो यथा कुम्भकुलालयोः ॥१०७२॥

अर्थः—इसलिये यह बात सिद्ध हो चुकी कि जिसप्रकार कुम्हार और घटका निमित्तनैमित्तिक भाव है उसीप्रकार जीव और पुद्गल कर्मोका परस्पर निमित्त नैमित्तिक भाव है। यहां पर दृष्टान्तका उद्दिष्ट अंश ही लेना चाहिये, दृष्टान्त स्थूल है।

अन्तर्दृष्ट्या कषायाणां कर्मणां च परस्परम्।
निमित्तनैमित्तिकोभावः स्यान्नस्याज्जीवकर्मणोः ॥१०७३॥

अर्थः—वाह्य दृष्टिसे तो जीव और कर्मोका परस्पर निमित्तनैमित्तिक भाव है परन्तु अन्तरंग दृष्टिसे कषायोका निमित्तनैमित्तिक भाव है। अन्तर्दृष्टिसे जीव कर्मका नही है।

भावार्थः—जीवके चारित्र गुणका विकार राग द्वेष है और वही राग द्वेष कर्म वन्धका हेतु है इसलिये अन्तर्दृष्टिसे कषाय भाव चारित्र गुणकी वैभाविक अवस्था और कर्मोका ही उपर्युक्त सम्वन्ध है। स्थूल दृष्टिसे जीवका भी कहा जा सकता है।

यदि जीवका ही उपर्युक्त भाव माना जाय तो

यतस्तत्र स्वयं जीवे निमित्ते सति कर्मणाम् ।
नित्या स्यात्कर्तृता चेति न्यायान्मोक्षो न कस्यचित् ॥१०७४॥

अर्थः—यदि कर्म बंधका निमित्त कारण स्वय जीव ही माना जाय तो जीव सदा कर्म बन्धका कर्त्ता ही बना रहेगा। फिर किसी जीवको कभी भी मोक्ष नही हो सकेगी। इसलिये कर्म बन्धके करनेवाले आत्माके वैभाविक भाव कषाय भाव ही हैं। जबतक उन भावोकी सत्ता है, तभी तक आत्मा कर्म बन्ध करता है, उनके अभावमे कर्म बन्ध नही करता है। जीव स्वय कर्मबन्धका कारण नही है किन्तु अशुद्ध जीव है।

इत्येवं ते कषायाख्याश्चत्वारोऽप्यौदयिकाः स्मृताः ।
चारित्रस्य गुणस्यास्य पर्याया वैकृतात्मनः ॥१०७५॥

अर्थः—इसप्रकार वे चारो ही कषायें औदयिक कही गई हैं। वे कषायें आत्माके चारित्र गुणकी वैभाविक पर्यायें हैं।

नोकषाय

लिङ्गान्यौदयिकान्येव त्रीणि स्त्रीपुन्नपुंसकात् ।
भेदाद्वा नोकषायाणां कर्मणामुदयात् किल ॥१०७६॥

अर्थः—स्त्रीवेद, पु वेद, नपु सक वेदके भेदसे तीन प्रकारके लिङ्ग भी औदयिक भाव है। ये भाव नो कषाय कर्मोंके उदयसे होते है।

चारित्र मोहके भेद

चारित्रमोहकर्मैतद्द्विविधं परमागमात् ।
आद्यं कषायमित्युक्तं नोकषायं द्वितीयकम् ॥१०७७॥

अर्थः—जैनागममे चारित्र मोह कर्मके दो भेद किये है। पहला–कषाय, दूसरा नोकषाय। भावार्थः—जो आत्माके गुणोको कषै अर्थात् उन्हे नष्ट करै उसे कषाय कहते हैं, और कुछ कम कषायको नोकषाय कहते हैं। नो नाम ईषत्–थोड़ेका है, ये दो भेद चारित्र मोहनीयके हैं।

नो कषायके भेद

तत्रापि नोकषायाख्यं नवधा स्वविधानतः ।
*हास्यो रत्यरती शोको भीर्जुगुप्सेति त्रिलिङ्गकम् ॥१०७८॥

---

* 'हास्यो रत्यरती शोको भीर्जुगुप्सा त्रिलिङ्गकम्। सशोधित पुस्तकमें ऐसा पाठ है। यही शुद्ध प्रतीत होता है।

अर्थः—नो कषायके नौ भेद है-हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पु वेद, नपु सकवेद ।

भावार्थः—जिसके उदयसे हँसी आवे उसे हास्य 'नोकषाय' कहते है । जिसके उदयसे विषयोमे उत्सुकता (रुचि) हो उसे रति कहते है । जिसके उदयसे अरुचि हो उसे अरति कहते है । जिसके उदयसे शोक हो उसे शोक कहते हैं । जिसके उदयसे उद्वेग (भय) हो उसे भय कहते है । जिसके उदयसे दूसरेके दोषोको यह जीव प्रकट करे और अपने दोषोको छिपावे उसे जुगुप्सा कहते है । अथवा दूसरेसे घृणा करना भी जुगुप्सा है । जिसके उदयसे स्त्रीत्व भाव हो अर्थात् पुरुषके साथ रमण करनेकी वाञ्छा हो उसे स्त्री वेद कहते है । जिसके उदयसे पु स्त्व भाव हो अर्थात् स्त्रीके साथ रमण करनेकी वाञ्छा हो उसे पु वेद कहते हैं । जिसके उदयसे नपु सकत्व भाव हो अर्थात् स्त्री पुरुष दोनोसे रमण करनेकी वाञ्छा हो उसे नपु सक वेद कहते है । ये नौ नो कषाय कर्मोके भेद हैं । इन्हीके उदयसे ऊपर कहे हुए कार्य होते है । इतना विशेष है कि कही पर जैसा भाव वेद होता है वैसा ही द्रव्य वेद होता है परन्तु कही कही पर द्रव्य वेद दूसरा होता है और भाव वेद दूसरा । आत्माके भावोको भाव वेद कहते हैं और शरीरके आकारको द्रव्य वेद कहते है । यदि कोई पुरुष पुरुषके साथ रमण करनेकी वाञ्छा करे तो उसके द्रव्य वेद तो पुरुष वेद है परन्तु भाव वेद स्त्री वेद है । प्रायः अधिकतर द्रव्यके अनुकूल ही भाव होता है, किन्तु कही २ पर विषमता भी हो जाती है । इन तीनों वेदोके उदयसे जैसे इस जीवके परिणाम होते है उसका क्रम आचार्योने इसप्रकार वतलाया है । पुरुषकी काम वासना तृणकी अग्निके समान है । जिसप्रकार तृणकी अग्नि उत्पन्न भी शीघ्र होती है और भस्म होकर शान्त भी शीघ्र ही हो जाती है । स्त्रीकी काम वासना कण्डेकी अग्नि (उपलोकी अग्नि)के समान होती है, कण्डेकी अग्नि उत्पन्न भी देरसे होती है और ठहरती भी अधिक काल तक है । इसीप्रकार स्त्रियोकी काम वासना विना निमित्तकी प्रवलताके सदा दवी ही रहती है परन्तु प्रवल निमित्तके मिलने पर उत्पन्न होकर फिर शान्त भी देरसे होती है । इसीलिये आवश्यक है कि स्त्रियोको ऐसे निमित्तोसे बचाया जावे । और सदा सदुपदेशकी उन्हे शिक्षा दी जावे । ऐसी अवस्थामे उनकी कामवासना कभी दीप्त नही हो सकती है परन्तु आजकलके शिक्षितम्मन्य अतत्वज्ञ अपने भावोसे उनकी तुलना करके उनके जीवनको कलंकित और दुखदाई वनानेका व्यर्थ ही उद्योग करते है । यह उनका दयाका परिणाम केवल हिंसामय है और अनर्थोका घर है । यदि स्वभावमृदु स्त्रियोको सदा सन्मार्गकी शिक्षा दी

जावे तो वे कभी उन्मार्गकी ओर पैर नहीं रक्खेंगी । और ऐसी ही निष्कलंक स्त्रियोंकी सन्तान ससारका कल्याण करनेमे समर्थ हो सकती है । नपुंसककी काम वासना ईटोंके पाक (अवा)के समान होती है अर्थात् उसकी अग्नि दोनोंकी अपेक्षा अत्यन्त दीप्त होती है । ससारी जीव इन्हीं वेदोंके उदयसे सताये हुए है । वास्तवमे विचार किया जाय तो ज्यो २ विषय सेवनकी तरफ यह मनुष्य जाता है त्यों २ इसकी अशान्ति और लालसा वढती ही जाती है, खेद तो इस बातका है कि इनके अधिक सेवनसे मनुष्य तृप्तिकी वाञ्छा करता है परन्तु उस अज्ञको विदित नहीं है कि अग्निको शान्त करनेके लिये क्या उसमे लकडी डालनेकी आवश्यकता है ? यदि विषय सेवन तृप्तिका मार्ग है तो अनादिकालसे अभी तक क्यो नहीं तृप्ति हो पाती ? इसलिये इनसे जितना जल्दी सम्बन्ध छुडाया जाय और इनकी ओर विरक्तता की जाय उतना ही परम सुख समझना चाहिये ।

ततश्चारित्रमोहस्य कर्मणो ह्युदयाद्ध्रुवम् ।
चारित्रस्य गुणस्यापि भावा वैभाविका अमी ॥१०७९॥

अर्थः—इसलिये चारित्र मोहनीय कर्मके उदयसे होनेवाले ये नोकषाय भी चारित्र गुणके वैभाविक भाव है ।

प्रत्येकं द्विविधान्येव लिङ्गानीह निसर्गतः ।
द्रव्यभावविभेदाभ्यां सर्वज्ञाज्ञानतिक्रमात् ॥१०८०॥

अर्थः—सर्वज्ञकी आज्ञा–आगमके अनुसार प्रत्येक लिङ्ग स्वभावसे ही द्रव्य वेद, भाव वेद इन भेदोसे दो दो प्रकार हे । इन दोनोका वर्णन पहले श्लोकमे सविस्तार किया गया है ।

नाम कर्म–स्वरूप

अस्ति यन्नामकर्मैकं नानारूपं च चित्रवत् ।
पौद्गलिकर्मचिद्रूपं स्यात्पुद्गलविपाकि यत् ॥१०८१॥

अर्थः—आठ कर्मोमे एक नाम कर्म है वह चित्रोके समान अनेक रूपवाला है, अर्थात् जिसप्रकार चित्रकार अपने हस्त कौशलसे अनेक प्रकारके चित्र बनाता है उसीप्रकार यह नाम कर्म भी अपने अनेक भेदोसे अनेक आकार बनाता है । शरीर, सहनन, गति, जाति, आङ्गोपाङ्ग आदि सभी रचना इस नामकर्मके उदयसे ही होती

है। इसका बहुत बडा विस्तार है। नाम कर्म पौद्गलिक है, पुद्गलकी वैभाविक व्यञ्जन पर्याय है। इसीलिये वह जड है, और पुद्गल विपाकी है * ।

भावार्थः—कुछ कर्म तो ऐसे हैं जिनका पुद्गलमे ही विपाक होता है। अर्थात् शरीरमे ही उनका फल होता है, कुछ कर्म ऐसे हैं जिनका क्षेत्रमे ही विपाक होता है, अर्थात् उनका उदय तभी आता है जब कि ससारी जीव एक शरीरको छोडकर दूसरे शरीरको धारण करनेके लिये जाता हुआ विग्रह गतिमे होता है। कुछ कर्म ऐसे है जो भवविपाकी है अर्थात् मनुष्यादि पर्यायोमे ही उनका फल होता है, और कुछ कर्म ऐसे हैं जो जीवविपाकी है, अर्थात् उनका जीवमे फल होता है। उनमे ६२ प्रकृतियाँ पुद्गल विपाकी है। पाँच शरीरोसे लेकर स्पर्श पर्यन्त× ५० प्रकृतियाँ, तथा निर्माण, आताप, उद्योत, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, प्रत्येक, साधारण, अगुरुलघु, उपघात परघात ये नाम कर्मकी ६२ प्रकृतियाँ पुद्गल विपाकी है इनका फल शरीरमे ही होता है। नरकादि चारो आयु भव विपाकी है। आयुका कार्य प्राप्त हुई पर्यायमें नियमित स्थिति तक रोकना है। इसलिये आयुका फल नरकादि चारो पर्यायोमे हो होता है। चार आनुपूर्वी प्रकृतियाँ क्षेत्र विपाकी है। आनुपूर्वी कर्म उसे कहते है कि जिससमय जीव पूर्व पर्यायको छोड़कर उत्तर पर्यायमे जाता है, उससमय जबतक वहाँ नही पहुँचा है, तबतक मध्यमे उस जीवका पहली पर्यायका आकार बनाये रक्खे। चार गतियाँ हैं इसलिये आनुपूर्वी प्रकृतियाँ भी चार ही है। जिस आनुपूर्वीका भी उदय होता है वह पहली पर्यायके आकारको रखती है। इसीलिये आनुपूर्वी प्रकृतियाँ क्षेत्र विपाकी है। इनका फल परलोक गमन करते समय जीवकी मध्य अवस्थामे ही आता है। निम्न लिखित ७८ प्रकृतियाँ जीव विपाकी है वेदनीयकी २, गोत्रकी २, घातिया कर्मोकी ४७ और २७ नाम कर्मकी। नाम कर्मको २७ प्रकृतियाँ इसप्रकार है। तीर्थंकर, उच्छ्वास, बादर, सूक्ष्म, पर्याप्त, अपर्याप्त, सुस्वर, दुस्वर, आदेय, अनादेय, यशस्कीर्ति, अयशस्कीर्ति, त्रस, स्थावर, शुभविहायोगति, अशुभ विहायोगति, सुभग, दुर्भग, नरकगति, तिर्यञ्चगति, मनुष्यगति, देवगति, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पचेन्द्रिय जाति, ये प्रकृतियाँ जीव विपाकी है।

---

* सभी नामकर्म पुद्गल विपाकी नहीं हैं। २७ प्रकृतियाँ उसमें जीव विपाकी भी हैं, परन्तु अधिक प्रकृतियाँ पुद्गल विपाकी ही हैं, इसीलिये (बाहुल्यकी अपेक्षासे) उपर्युक्त कथन है।

× ५ शरीर, ३ आङ्गोपाङ्ग, ५ बन्धन, ५ सघात, ६ सस्थान, ६ सहनन, ८ स्पर्श, ५ रस, २ गन्ध, ५ वर्ण।

अंगोपाङ्ग और शरीरनामकर्मके कार्य

अङ्गोपाङ्गं शरीरं च तद्भेदोस्तोप्यभेदवत् ।
तद्विपाकात्त्रिलिङ्गानामाकाराः सम्भवन्ति च ॥१०८२॥

अर्थः—उसी नाम कर्मके भेदोमे एक अगोपाग और एक शरीर नाम कर्म भी है। ये दोनो ही भेद नाम कर्मसे अभिन्न है। इन्ही दोनोके उदयमे स्त्रीवेद, पु वेद और नपु सक वेदके आकार होते है।

भावार्थः—शरीर और अगोपाग नाम कर्मके उदयसे इस जीवके शरीर और अग तथा + उपाग बनते है, शरीरके मध्य तीनो वेदोके आकार भी इन्ही दोनो कर्मोंके उदयसे बनते है। वेदोसे यहां पर द्रव्य वेद समझना चाहिये।

द्रव्य वेदसे भाव वेदमें सार्थकता नहीं आती

त्रिलिङ्गाकारसम्पत्तिः कार्यं तन्नामकर्मणः ।
नास्ति तद्भावलिंगेपु मनागपि करिष्णुता ॥१०८३॥

अर्थः—स्त्रीवेद अथवा पुरुपवेद अथवा नपु सकवेदके आकारका पाना नाम कर्मका कार्य है। इस आकारकी भावलिंगोमे कुछ भी कार्यकारिता नही है। भावार्थः—नाम कर्म केवल द्रव्यवेद–शरीरमे लिंगाकृतिको बनाता है, स्त्री पुरुपोके भावोमे जो रमण करनेकी वाञ्छा होती है वह भाव वेद कहलाता है। ऐसा भाव वेद नाम कर्मके उदयसे नही होता है। जवतक भाव वेदका उदय न हो तवतक केवल द्रव्य वेद कुछ नही कर सकता है, केवल आकार मात्र है। इसीलिये नवमे गुणस्थानसे ऊपर केवल वेदोंका द्रव्याकार मात्र है।

भाव वेदका कारण

भाववेदेपु चारित्रमोहकर्मांशकोदयः ।
कारणं नूनमेकं स्यान्नेतरस्योदयः क्वचित् ॥१०८४॥

अर्थः—भाववेदोके होनेमे केवल एक चारित्र मोहकर्मका उदय ही निश्चयसे कारण है, किसी दूसरे कर्मका उदय उनके होनेमे कारण नही है।

+ णलया वाहू य तहा णियव पुट्ठी उरोय सीसोय।
अट्ठेव दु अगाइं देहे सेसा उवगाइ ॥

अर्थ—दो पैर, दो हाथ, नितम्ब, (चूतड़), पीठ, पेट, शिर ये आठ तो अग कहलाते हैं बाकी सब उपाग कहलाते हैं। जैसे उंगलियाँ, कान, नाक, मुह, ऑखें आदि। गोमट्टसार।

वेदोंके कार्य

रिरंसा द्रव्यनारीणां पुंवेदस्योदयात्किल ।
नारी वेदोदयाद्वेदः पुंसां भोगाभिलाषिता ॥१०८५॥
नालं भोगाय नारीणां नापि पुंसामशक्तितः ।
अन्तर्दग्धोस्ति यो भावः क्लीबवेदोदयादिव ॥१०८६॥×

अर्थः—पुंवेदके उदयसे द्रव्य स्त्रियोके साथ रमण करनेकी वांछा होती है। स्त्री वेदके उदयसे पुरुषोके साथ भोग करनेकी अभिलाषा होती है। और जो अशक्त सामर्थ्य हीन होनेसे न तो स्त्रियोके साथ ही भोग कर सकता है और न पुरुषोके साथ ही कर सकता है किन्तु दोनोकी वांछा रखता हुआ हृदयमें ही जला करता है ऐसा भाव नपुंसक वेदके उदयसे होता है। —

वेदोंकी सम विषमता

द्रव्यलिंगं यथा नाम भावलिंगं तथा क्वचित् ।
क्वचिदन्यतमं द्रव्यं भावश्चान्यतमो भवेत् ॥१०८७॥

अर्थः—कही पर जैसा द्रव्यलिग होता है वैसा ही भावलिग भी होता है। कही पर द्रव्यलिग दूसरा होता है और भावलिग दूसरा होता है।

उदाहरण

यथा दिविजनारीणां नारीवेदोस्ति नेतर ।
देवानां चापि सर्वेषां पाकः पुंवेद एव हि ॥१०८८॥

अर्थः—जितनी भी चारो निकायोके देवोकी देवियां हैं उन सबके स्त्रीवेद ही भाववेद होता है, दूसरा नही होता। और जितने भी देव है उन सबके पुवेद ही भाववेद होता है दूसरा नही होता। भावार्थ—देव देवियोके द्रव्यवेद और भाववेद दोनो एक ही होते है।

भोग भूमौ च नारीणां नारीवेदो नचेतरः ।
पुंवेदः केवलः पुंसां नान्यो वाऽन्योन्यसंभवः ॥१०८९॥

× संशोधित पुस्तकमें क्लीववेदोदयादिति, पाठ है। इसका कोई अर्थ भी नहीं निकलता है।

— णेवित्थी णेव पुम णउंसओ उहयलिंगविदिरित्तो।
इट्टावग्गिसमाणग वेदणगरुओ कलुसचित्तो ॥

यह नपुंसकका स्वरूप है। गोमट्टसार।

अर्थः—भोगभूमिमे स्त्रियोके स्त्रीवेद ही भाववेद होता है दूसरा नही होता ? और वहांके पुरुपोके केवल पु वेद ही भाववेद होता है, दूसरा नही होता अथवा इन दोनोमे भी परस्पर विपमता नही होती ।

भावार्थः—देव देवियोके समान इनके भी समान ही वेद होता है, देव देवियां और भोगभूमिके स्त्री पुरुप इनके नपु सक वेद तो दोनो प्रकारका होता ही नही पु वेद और स्त्रीवेद भी द्रव्यभाव समान ही होता है विपम नही ।

नारकाणां च सर्वेपां वेदश्चैको नपुंसकः ।
द्रव्यतो भावतश्चापि न स्त्रीवेदो न वा पुमान् ॥१०९०॥

अर्थः—सम्पूर्ण नारकियोके एक नपु सक वेद ही होता है । वही तो द्रव्यवेद होता है और वही भाववेद होता है । नारकियोके द्रव्यसे अथवा भावसे स्त्रीवेद, पुरुपवेद सर्वथा नही होते ।

तिर्यग्जातौ च सर्वेपां एकाक्षाणां नपुंसकः ।
वेदो विकलत्रयाणां क्लीवः स्यात् केवलः किल ॥१०९१॥
पञ्चाक्षासंज्ञिनां चापि तिरश्चां स्यान्नपुंसकः ।
द्रव्यतो भावतश्चापि वेदो नान्यः कदाचन ॥१०९२॥

अर्थः—तिर्यञ्च जातिमे सभी एकेन्द्रिय जीवोके नपु सकवेद ही होता है, जितने भी विकलत्रय (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय) है उन सबके केवल नपु सक वेद ही होता है। और जितने भी असञ्ज्ञी पचेन्द्रिय है उन सबके भी केवल नपु सक वेद ही होता है । वही द्रव्य वेद होता है और वही भाव वेद होता है । दूसरा वेद कभी नही होता ।

कर्मभूमौ मनुष्याणां मानुषीणां तथैव च ।
तिरश्चां वा तिरश्चीनां त्रयो वेदास्तथोदयात् ॥१०९३॥
केषाञ्चिद्द्रव्यतः साङ्गः पुंवेदो भावतः पुनः ।
स्त्रीवेदः क्लीववेदो वा पुंवेदो वा त्रिधापि च ॥१०९४॥
केषाञ्चित्क्लीववेदो वा द्रव्यतो भावतः पुनः ।
पुंवेदो क्लीबवेदो वा स्त्रीवेदो वा त्रिधोचितः ॥१०९५॥
कश्चिदापर्ययन्यायात्क्रमादस्ति त्रिवेदवान् ।
कदाचित्क्लीबवेदो वा स्त्री वा भावात् क्वचित् पुमान् ॥१०९६॥

अर्थः—कर्मभूमिमें होनेवाले मनुष्योके, मानुषियोके, तिर्यञ्चोंके और तिर्यञ्चिनियोके कर्मोदयके अनुसार तीनो ही वेद होते है। किन्हीके द्रव्य वेद तो पु वेद होता है अर्थात् उनके शरीरमे पुरुषवेदका चिह्न होता है, परन्तु भाव वेद उनके स्त्रीवेद, अथवा नपु सक वेद होता है। अथवा द्रव्यवेदके अनुसार भाववेद भी पुरुषवेद ही होता है। इसप्रकार एक द्रव्यके होते हुए भाववेद कर्मोदयके अनुसार तीनों ही हो सकते हैं। ऐसे ही किन्हीके द्रव्य वेद तो नपु सक वेद होता है परन्तु भाववेद पुंवेद, अथवा नपुंसक वेद अथवा स्त्री वेद तीनो ही हो सकते है। इसीप्रकार यह भी समझ लेना चाहिये कि किन्हीके द्रव्य वेद तो स्त्री वेद होता है परन्तु भाव वेद पुंवेद अथवा नपु सक वेद अथवा स्त्री वेद तीनो ही हो सकते है। कोई आपर्यय न्यायसे अर्थात् क्रमसे परिवर्त्तन करता हुआ तीनो वेदवाला भी हो जाता है, कभी भावसे नपु सक वेदवाला, कभी स्त्रीवेदवाला और कभी पुरुष वेदवाला। इसका आशय यह है कि कोई तो ऐसे होते हैं जिनके द्रव्य वेदके समान ही भाव वेद होता है, कोई ऐसे है जिनके द्रव्य वेद दूसरा ही सदा रहता है जैसे कि जनखा हिंजड़ा आदि। परन्तु कोई ऐसे होते है जिनके कर्मोदयके अनुसार भाव वेद बदलता भी रहता है। किन्तु द्रव्य वेद सदा सभीके ऐक ही होता है और वह आजन्म नही बदल सकता।

त्रयोपि भाववेदास्ते नैरन्तर्योदयात्किल।
नित्यंचाबुद्धि पूर्वाःस्युः क्वचिद्वै बुद्धिपूर्वकाः ॥१०९७॥

अर्थः—ये तीनो ही भाव वेद निरन्तर कर्मोके उदयसे होते है। किन्हीके अबुद्धि पूर्वक होते है और किन्हीके बुद्धिपूर्वक होते है।

भावार्थः—बुद्धिपूर्वक भाव उन्हे कहते है कि जहांपर समझ पूर्वक–जान करके स्त्रीत्व पु स्त्व भावोमे चित्तको लगाया जाता है। और जहांपर केवल पु वेदादि चारित्र मोह कर्मोका ही उदय रहता है, स्त्रीत्व पु स्त्व भावकी वाछा मात्र भी नहीं है वहां अबुद्धि पूर्वक भाव होते है एकेन्द्रियसे लेकर असज्ञी पंचेन्द्रिय तक जीवोके अबुद्धिपूर्वक ही भाव वेद होता है। केवल कर्मोदय मात्र है। तथा नवमे गुणस्थान तक जो ध्यानी मुनियोके भाव वेद वतलाया गया है वह भी केवल कर्मोदय मात्र अबुद्धिपूर्वक ही है। जहां पर मैथुनोपसेवनकी वाछा होती हे वही बुद्धिपूर्वक भाव वेद है।

तेपि चारित्रमोहान्तर्भाविनो बन्धहेतवः।
संक्लेशाङ्गैकरूपत्वात् केवलं पापकर्मणाम् ॥१०९८॥

अर्थः—दोनों प्रकारके भी भाववेद चारित्रमोहके उदयसे होते है इसलिये उसीमे उनका अन्तर्भाव हो जाता है। तथा सक्लेश स्वरूप होनेसे वे केवल पाप कर्मोंके ही बन्धके कारण है।

द्रव्यवेद बन्धका हेतु नहीं है

द्रव्यलिंगानि सर्वाणि नात्रबन्धस्य हेतवः।
देहमात्रैकवृत्तत्वे बन्धस्याऽकारणात्स्वतः ॥१०९९॥

अर्थः—जितने भी द्रव्य लिंग है वे सभी बन्धके कारण नही हैं। क्योंकि शरीरमे उनका चिह्न मात्र है और चिह्न मात्र बन्धका स्वय कारण नही हो सकता। शरीराकृति बन्धका कारण नही हो सकती है।

मिथ्यादर्शन

मिथ्यादर्शनमाख्यातं पाकान्मिथ्यात्वकर्मणः।
भावो जीवस्य मिथ्यात्वं स स्यादौदयिकः किलः ॥११००॥

अर्थः—मिथ्यात्व कर्मके उदयसे जीवका जो मिथ्या भाव होता है वही मिथ्यादर्शन कहलाता है। वह जीवका औदयिक भाव है।

मिथ्यादर्शनका कार्य

अस्ति जीवस्य सम्यक्त्वं गुणश्चैको निसर्गजः।
मिथ्याकर्मोदयात्सोपि वैकृतो विकृताकृतिः ॥११०१॥

अर्थः—जीवका एक स्वाभाविक सम्यक्त्व गुण भी है, वह भी मिथ्यादर्शनके उदयसे विकारी–वैभाविक हो जाता है।

उक्तमस्ति स्वरूपं प्राङ् मिथ्याभावस्य जन्मिनाम्।
तस्मान्नोक्तं मनागत्र पुनरुक्तभयात्किल ॥११०२॥

अर्थः—जीवोको मिथ्या भाव कितना दु ख दे रहा है उससे जीवोकी कैसी अवस्था हो जाती है इत्यादि कथन पहले विस्तार पूर्वक किया जा चुका है इसलिये पुनरुक्तिके भयसे यहाँ उसका थोडा भी स्वरूप नही कहा है।

अज्ञान भाव

अज्ञानं जीवभावो यः स स्यादौदयिकः स्फुटम्।
लब्धजन्मोदयाद्यस्माज्ज्ञानावरणकर्मणः ॥११०३॥

अर्थः—ज्ञानावरण कर्मके उदयसे होनेवाला अज्ञान भाव भी जीवका औदयिक भाव है।

अज्ञानका स्वरूप

अस्त्यात्मनो गुणो ज्ञानं स्वापूर्वार्थविभासकम् ।
मूर्छितं मृतकं वा स्याद्वपुः स्वावरणोदयात् ॥११०४॥

अर्थः—आत्माका एक ज्ञान गुण है वह अपने स्वरूपका और दूसरे अनिश्चित पदार्थोंका प्रकाशक है, परन्तु ज्ञानावरण कर्मके उदयसे वह ज्ञान गुण मूर्छित हो जाता है अथवा मृतकके समान हो जाता है ।

भावार्थः—जिसप्रकार जीवके चले जानेसे मृतक शरीर जड़–अज्ञानी है उसीप्रकार ज्ञानावरण कर्मने आत्माके ज्ञान गुणको इतना ढक दिया है कि वह अज्ञानी प्रतीत होता है । यही अज्ञान अवस्था जीवका अज्ञान भाव कहलाता है । यह भाव जबतक आत्मामें केवलज्ञान नही होता है तबतक बराबर उदित रहता है ।

अज्ञानभाव बन्धका कारण नहीं है

अर्थादौदयिकत्वेपि भावस्यास्याऽप्यवश्यतः ।
ज्ञानावृत्त्यादिबन्धेस्मिन् कार्ये वै स्यादहेतुता ॥११०५॥

अर्थः—यद्यपि अज्ञानभाव औदयिक भाव अवश्य है तथापि वह नियमसे ज्ञानावरणादि कर्मोंके बन्धका कारण नही है ।

नापि संक्लेशरूपोऽयं यः स्याद् बन्धस्य कारणम् ।
यः क्लेशो दुःखमूर्तिः स्यात्तद्योगादस्ति क्लेशवान् ॥११०६॥

अर्थः—अज्ञान भाव सक्लेश रूप भी नही है जो कि बन्धका कारण हो, परन्तु जो क्लेश दु.खकी मूर्ति समझा जाता है, उसके सम्बन्धसे अवश्य क्लेशवान् हैं ।

भावार्थः—अज्ञान भाव बन्धका कारण नही है परन्तु दु'खमूर्ति अवश्य है । जो सक्लेश बन्धका कारण समझा जाता है उस सक्लेश रूप अज्ञान भाव नही है परन्तु जो क्लेश दु ख स्वरूप समझा जाता है उस क्लेश रूप अवश्य है ।

दुःखमूर्तिश्च भावोऽयमज्ञानात्मा निसर्गतः ।
वज्रघात इव ख्यातः कर्मणामुदयो यतः ॥११०७॥

अर्थः—यह अज्ञान रूप भाव स्वभावसे ही दु खकी मूर्ति है । क्योंकि कर्मोंका उदय मात्र ही वज्रके आघात (चोट)के समान दु खदाई है ।

भावार्थः—यद्यपि बन्धका कारण तो केवल मोहनीय कर्म है परन्तु आत्माको दु ख देनेवाला सभी कर्मोंका उदय है ।

शंकाकार

ननु कश्चिद्गुणोऽप्यस्ति सुखं ज्ञानगुणादिवत् ।
दुःखं तद्वैकृतं पाकात्तद्विपक्षस्य कर्मणः ॥११०८॥
तत्कथं मूर्छितं ज्ञानं दुःखमेकान्ततो मतम् ।
सूत्रे द्रव्याश्रयाः प्रोक्ता यस्माद्वा निर्गुणा गुणाः ॥११०९॥
न ज्ञानादिगुणेषूच्चैरस्ति कश्चिद्गुणः सुखम् ।
मिथ्याभावाः कषायाश्च दुःखमित्यादयः कथम् ॥१११०॥

अर्थः—क्या ज्ञानादि गुणोके समान कोई सुख गुण भी है ? उस सुख गुणका ही वैभाविक भाव–दुःख है ? और वह दुःख सुखके विपक्षी कर्मके उदयसे होता है । फिर यहाँ पर मूर्छित ज्ञानको सर्वथा दुःख कैसे कहा गया है ? क्योकि 'द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणा' ऐसा सूत्र है, उसका यही आशय है कि जो द्रव्यके आश्रय रहे और जो निर्गुण हो उन्हे ही गुण कहते है । यदि ज्ञानादि गुणोमे कोई सुख गुण नही है तो मिथ्या भाव, और कषाय इत्यादि दुःख क्यो कहे जाते हैं ?

भावार्थः—शंकाकारका अभिप्राय यह है कि क्या ज्ञानादि गुणोके समान कोई सुख गुण भी है ? और क्या दुःख उसीकी वैभाविक अवस्था है ? यदि है तो फिर अज्ञान भाव, मिथ्या भाव कषाय भाव इनको ही दुःख क्यो कहा गया है क्योकि गुणोमे गुण तो रहते नही है जब दुःख सुखकी वैभाविक अवस्था है तो वह मूर्छित ज्ञान, वैभाविक दर्शन, वैभाविक चारित्रमे कैसे रह सकती है ? यदि ज्ञानादि गुणोके समान कोई सुख गुण नही है तो फिर मिथ्याभावादिको दुःख किस दृष्टिसे कहा जाता है ?

उत्तर

सत्यं चास्ति सुखं जन्तोर्गुणो ज्ञानगुणादिवत् ।
भवेत्तद्वैकृतं दुःखं हेतोः कर्माष्टकोदयात् ॥११११॥

अर्थः—ठीक है, ज्ञानादि गुणोके समान इस जीवका एक सुख गुण भी है, उसीका वैभाविक भाव दुःख है, और वह आठों कर्मोंके उदयसे होता है ।

भावार्थः—सुख गुण भी आत्माका एक अनुजीवी गुण है, उस गुणको घात करनेवाला कोई खास कर्म नही है जैसे कि ज्ञान, दर्शनादिके है किन्तु आठो ही कर्म उसके घातक है, आठो कर्मोंके उदयसे ही उस सुख गुणकी दुःखरूप वैभाविक अवस्था होती है । यहाँ पर यदि कोई शंका करे कि आठो ही कर्मोंमे भिन्न भिन्न प्रतिपक्षी गुणोके

घात करनेकी * भिन्न भिन्न शक्ति है, फिर उन्हीमें सुखके घात करनेकी शक्ति कहाँसे आई? इसीका उत्तर देते हैं—

अस्ति शक्तिश्च सर्वेषां कर्मणामुदयात्मिका।
सामान्याख्या विशेषाख्या द्वैविध्याच्चद्रसस्य च ॥१११२॥

अर्थः—सम्पूर्ण कर्मोके उदयमे दो प्रकारकी शक्तियाँ है। एक सामान्य शक्ति, एक विशेषशक्ति। इसलिये उनका रस भी दो प्रकार ही होता है।

सामान्य शक्तिका स्वरूप

सामान्याख्या यथा कृत्स्नकर्मणामेकलक्षणात्।
जीवस्याकुलतायाः स्याद्धेतु पाकागतो रसः ॥१११३॥

अर्थः—सामान्य शक्ति सभी कर्मोकी एक ही है, और वह यही है कि—सम्पूर्ण कर्मोका उदय रस जीवकी आकुलताका कारण है।

भावार्थः—आठो ही कर्मोके उदयसे जीव व्याकुल होता है। कर्मोका उदय मात्र ही जीवकी व्याकुलताका कारण है, और जहाँ व्याकुलता है वहाँ सुख कहाँ? इसलिये सभी कर्मोमे सामान्य शक्ति एक है, उसीसे सुख गुणका घात होता है। विशेष शक्ति उनमे भिन्न २ गुणोके घात करनेकी है। एक पदार्थमे दो शक्तियाँ भी होती है इसीको दृष्टान्त पूर्वक दिखाते हैं।

न चैतदप्रसिद्धं स्याद दृष्टान्ताद्विपभक्षणात्।
दुःखस्य प्राणघातस्य कार्यद्वैतस्य दर्शनात् ॥१११४॥

अर्थः—कर्मोमे सामान्य और विशेष ऐसी दो शक्तियाँ है यह बात अप्रसिद्ध—असिद्ध भी नही है। दृष्टान्त भी है—विष खानेसे दु ख भी होता है और प्राणोका नाश भी होता है। इसीप्रकार ज्ञानावरण कर्म ज्ञानका घात भी करता है और दु ख भी देता है। अन्यान्य कर्मोमे भी यही बात है। एक ही विषमे दो कार्य देखनेसे कर्मोमे भी दो कार्य भलीभाँति सिद्ध है।

साराश

कर्मा विपक्षि स्यात् सुखस्यैकगुणस्य च।
अस्ति किञ्चिन्न कर्मैकं तद्विपक्षं ततः पृथक् ॥१११५॥

---

* अघातिया कर्मोंमें प्रतिजीवी गुणोंके घात करनेकी शक्ति है।

अर्थः—इसलिये आठों ही कर्म सुख गुणके विपक्षी हैं, कोई जुदा नाम कर्म सुख गुणका विपक्षी नहीं है।

वेदनीय कर्म सुखका विपक्षी नहीं है

वेदनीयं हि कर्मैकमस्ति चेत्तद्विपक्षि च ।
न यतोऽस्याप्यघातित्वं प्रसिद्धं परमागमात् ॥११६॥

अर्थः—यदि वेदनीय कर्मको सुख गुणका विपक्षी कर्म माना जाय तो भी ठीक नहीं है, क्योंकि जैन सिद्धान्तमें यह कर्म अघातिया प्रसिद्ध है। भावार्थः—वेदनीय कर्म अघातिया कर्म है, अघातिया कर्म अनुजीवी गुणोंका घात नहीं कर सकता है। सुख गुण आत्माका अनुजीवी गुण है। इसलिये वेदनीय कर्म उसका घातक-विपक्षी नहीं कहा जा सकता है। *

असंयत भाव

असंयतत्वमस्यास्ति भावोऽप्यौदयिको यतः ।
पाकाच्चारित्रमोहस्य कर्मणो लब्धजन्मवान् ॥११७॥

अर्थः—चारित्र मोहनीय कर्मके उदयसे होनेवाला असंयतत्व भाव भी आत्माका औदयिक भाव है।

भावार्थः—चारित्रमोहनीय कर्म आत्माके चारित्र गुणका घात करता है। चारित्रका नाम ही संयत-संयम है। जबतक चारित्र मोहनीय कर्मका उदय रहता है तबतक आत्मामें संयम नहीं प्रकट होता है। किन्तु असंयम रूप अवस्था बनी रहती है।

* इसीप्रकार मोहनीय कर्म भी सुखका विपक्षी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि मोहनीय कर्मका नाश दशवें गुणस्थानके अन्तमें हो जाता है, यदि मोहनीय कर्म ही उसका विपक्षी हो तो वहीं पर अनन्त सुख प्रकट हो जाना चाहिये, परन्तु अनन्त सुख तेरहवें गुणस्थानमें प्रकट होता है, जब कि ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय ये तीनों कर्म भी नष्ट हो जाते हैं, इसलिये सिद्ध होता है कि चारों ही घातिया कर्मोंमें सुख गुणके घात करनेकी शक्ति है। ऊपर जो आठों ही कर्मोंको सुखका विघातक कहा गया है वह आत्माके पूर्ण स्वरूपकी अप्राप्तिकी अपेक्षासे कहा गया है, वास्तवमें अनुजीवी गुणोंका घात घातिया कर्मोंसे ही होता है। हाँ दशवें गुणस्थान तक मोहनीयका सम्बन्ध होनेसे आठों ही कर्म सुखके विघातक हैं। चौथे गुणस्थानमें सम्यग्दर्शनके साथ कुछ अंशोंमें आत्माका सुख गुण भी प्रकट होता है, वह इसीलिये होता है कि घातिया कर्मोंमेंसे अन्यतम मोहनीयका वहाँ उपशम अथवा क्षय अथवा क्षयोपशम हो जाता है। इससे भी यह बात भलीभाँति सिद्ध है कि सुखका घातक कोई एक कर्म नहीं है किन्तु सम्मिलित कर्मोंकी सामान्य शक्ति है।

इसलिये चारित्रमोहके उदयसे होनेवाला असयत भाव भी आत्माका औदयिक भाव है। इतना विशेष है कि चारित्र मोहनीय कर्मकी उत्तरोत्तर मन्दतासे उस असयत भावमें भी अन्तर पडता चला जाता है। जैसे—चौथे गुणस्थान तक सर्वथा असयत भाव है* क्योकि वहाँ तक अप्रत्याख्यानावरण कषायका उदय रहता है और अप्रत्याख्यानावरण कषाय एकदेश संयम भी नही होने देती है। पाँचवे गुणस्थानमें एकदेश संयम प्रगट हो जाता है। परन्तु वहांपर भी प्रत्याख्यानावरण कषायका उदय होनेसे सकल संयम नही होने पाता। छठे गुणस्थानसे दशवे गुणस्थान तक सकल संयम तो प्रकट हो जाता है परन्तु सज्वलन कषायका उदय होनेसे यथाख्यात सयम नही होने पाता। यद्यपि बारहवें गुणस्थानमे प्रतिपक्षी कर्मका सर्वथा नाश हो जानेसे पूर्ण संयम प्रगट हो जाता है तथापि योगादि आनुषङ्गिक दोषोके कारण उसकी पूर्ण पूर्णता चौदहवे गुणस्थानके अन्तमे ही कही गई है। जहाँ पर पूर्ण सयम है उसीके उत्तर क्षणमें मोक्ष हो जाती है। यहाँ पर शका हो सकती है कि जब चारित्रका नाम ही सयम है तब चारित्र मोहनीयके उदयसे होनेवाले कषाय भावोका नाम ही असयत है फिर औदयिक भावोमे कषाय भाव और असयत भावको जुदा जुदा क्यो गिनाया गया है? इसका उत्तर यही है कि असयत व्रताभावको कहते हैं और कषाय आत्माके कलुषित परिणामोको कहते हैं। यद्यपि जहाँपर कलुषित परिणाम है वहाँपर व्रत भी नही हो सकते है तथापि कार्य कारणका दोनोमे अन्तर है। कषाय भाव व्रताभावमे कारण हैं। इसीलिये अन्तर्भेदकी अपेक्षासे दोनोको जुदा २ गिनाया गया है, अर्थात् आत्माकी एक ऐसी अवस्था भी होती है कि जहाँपर वह व्रतोको धारण नही कर सकता है और वह अवस्था आत्माके कलुषित भावोसे होती है। कलुपित भावोका नाम ही कषाय है।

सयमके भेद

संयमः क्रियया द्वेधा व्यासाद्द्वादशधाऽथवा।
शुद्धस्वात्मोपलब्धिः स्यात् संयमो निष्क्रियस्य च ॥११९८॥

अर्थः—क्रियाकी अपेक्षासे संयमके दो भेद है। अथवा विस्तारकी अपेक्षासे उसके बारह भेद हैं। तथा अपने आत्माकी शुद्धोपलब्धि—शुद्धताका होना ही निष्क्रिय—क्रिया रहित सयमका स्वरूप है।

भावार्थः—निष्क्रिय सयमका लक्षण इसप्रकार है—"संसारकारणनिवृत्तिम्प्रत्यागूर्णस्य

* सूक्ष्म दृष्टिसे वहाँ भी स्वरूपाचरण संयम है और वह अनन्तानुबन्धी कर्मके अभावसे होता है।

ज्ञानवत: कर्मादाननिमित्तक्रियोपरम: सम्यक् चारित्रम्" ससारके कारणोंको दूर करनेवाले सम्यग्ज्ञानीके जिन क्रियाओसे कर्म आते है उन क्रियाओका शान्त हो जाना ही निष्क्रिय सयम है, अर्थात् ससारको बढानेवाली बाह्य और अभ्यन्तर क्रियाओका रुक जाना ही निष्क्रिय संयम है। जितनी शुभ अशुभ प्रवृत्ति रूप क्रियायें है सब बाह्य क्रियायें हैं। तथा आत्माके जो अविरतादिरूप परिणाम है वे सब अभ्यन्तर क्रियायें है, इन दोनों प्रकारकी क्रियाओको निवृत्ति हो जाना ही निष्क्रिय सयम है, और वही आत्माकी शुद्धावस्था है। सक्रिय सयम शुभ प्रवृत्ति रूप है उसके दो भेद हैं, अब उन्हे ही कहते है।

सक्रिय सयमका पहला भेद

पञ्चानामिन्द्रियाणाञ्च मनसश्च निरोधनात् ।
स्यादिन्द्रियनिरोधाख्यः संयमः प्रथमो मतः ॥१११९॥

अर्थः—सक्रिय सयमके पहले भेदका नाम इन्द्रिय निरोध सयम है। वह पाँचो इन्द्रियाँ और मनके रोकनेसे होता है।

सक्रिय सयमका दूसरा भेद

स्थावराणां च पञ्चानां त्रसस्यापि च रक्षणात् ।
असुसंरक्षणाख्यः स्याद्द्वितीयः प्राणसंयमः ॥११२०॥

अर्थः—सक्रिय सयमके दूसरे भेदका नाम असुसरक्षण है उसीको प्राण सयम भी कहते है। वह पाँच स्थावर और त्रस जीवोंकी रक्षा करनेसे होता है।

प्रश्न

ननु किं नु निरोधित्वमक्षाणां मनसस्तथा ।
संरक्षणं च किन्नाम स्थावराणां त्रसस्य च ॥११२१॥

अर्थः—मन और इन्द्रियोको रोकना तो क्या है और स्थावर तथा त्रस जीवोकी रक्षा करना क्या है? अर्थात् इन दोनोका स्वरूप क्या है?

उत्तर

सत्यमक्षार्थसम्बन्धाज्ज्ञानं नासंयमाय यत् ।
तत्र रागादिबुद्धिर्या संयमस्तन्निरोधनम् ॥११२२॥
त्रसस्थावरजीवानां न वधायोद्यतं मनः ।
न वचो न वपुः क्वापि प्राणिसंरक्षणं स्मृतम् ॥११२३॥

अर्थः—इन्द्रिय और पदार्थके सम्बन्धसे जो ज्ञान होता है वह असयम नही करता है किन्तु इन्द्रिय पदार्थके सम्बन्ध होने पर उस पदार्थमें जो रागद्वेष परिणाम होते है वे ही असयमको करनेवाले है । उन रागद्वेषरूप परिणामोको रोकना ही इन्द्रिय निरोध सयम है । तथा त्रस स्थावर जीवोको मारनेके लिये मन वचन कायकी कभी प्रवृत्ति नही करना ही प्राण सयम है ।

भावार्थः—इन्द्रिय सयम और प्राण सयम इन दोनोमे इन्द्रिय संयम पहले किया जाता है, प्राण सयम पीछे होता है । उसका कारण भी यह है कि बिना इन्द्रिय सयमके हुऐ प्राण सयम हो नही सकता । इन्द्रियो लालसाओका रुक जाना ही इन्द्रिय सयम कहलाता है । जवतक शक्तियोकी लालसा नही रुकती तबतक जीवोका रक्षण होना असम्भव है । जितने अनर्थ होते है सब इन्द्रियोकी लालसासे ही होते है* अभक्ष्य तथा हरितादि सजीव पदार्थोका भक्षण भी यह जीव इन्द्रियोकी लालसासे ही करता है । यद्यपि पुरुष जानता है कि कन्द मूलादि पदार्थोमे अनन्त जीवराशि है, तथा अचार आदि पदार्थोमे त्रस राशि भी है तथापि इन्द्रियोकी तीव्र लालसासे उन्हे छोड नही सकता । इसलिये सबसे पहले इन्द्रिय सयमको धारण करनेकी बडी आवश्यकता है । बिना इन्द्रियोको वशमे किये किसी प्रकारका धर्म निर्विघ्न नही पल सकता है । इसीलिये सचित्त त्याग प्रतिमावाला पदार्थोको अचित्त बनाकर खाता है । हरीको नही खाता है, जलको प्रासुक बनाकर पीता है । यद्यपि ऐसा करनेसे वह जीव हिंसासे मुक्त नही होता, तथापि जितेन्द्रिय अवश्य हो जाता है । स्वादिष्ट पदार्थोको अस्वादिष्ट बनानेसे इन्द्रियोकी लालसायें कम हो जाती है — इन्द्रिय सयम पालनेवाला हो आगे चलकर आठवी आरभ त्याग प्रतिमामे प्राण सयम भी पालने लगता है । परन्तु सकल्पी हिंसाका त्यागी पहलेसे ही होता है । आठवी प्रतिमामे आरम्भ जनित हिंसाका भी वह त्यागी हो जाता है ।

---

* मद्यमासादि अभक्ष्य पदार्थोंके सेवन करनेवाले अनेक त्रसजीवोंका घात करते हैं ।

— इन्द्रियोंकी लालसा घट जानेसे मनुष्य अपना तथा परका बहुत कुछ उपकार कर सकता है । अनेक कर्तव्योंमें सफलता प्राप्त कर सकता है । परन्तु उनकी वृद्धि होनेसे मनुष्यका बहुतसा समय इन्द्रिय भोग्य योग्य पदार्थोंकी योजनामें ही चला जाता है । तथा विषयासक्ततामें वह निज कर्तव्यको भूल भी जाता है ।

इत्युक्तलक्षणो यत्र संयमो नापि लेशतः । ×
असंयतत्वं तन्नाम भावोऽस्त्यौदयिकः स च ॥११२४॥

अर्थः—ऊपर कहा हुआ दोनो प्रकारका संयम जहांपर लेश मात्र भी नहीं पाया जाता है वही पर असंयत भाव होता है, वह आत्माका औदयिक भाव है।

शङ्काकार

ननु चाऽसंयतत्वस्य कपायाणां परस्परम् ।
को भेदः स्याच्च चारित्रमोहस्यैकस्य पर्ययात् ॥११२५॥

अर्थः—असंयत भाव और कषायोंमें परस्पर क्या अन्तर है क्योंकि दोनो ही एक चारित्र मोहनीयकी पर्याय हैं । अर्थात् दोनो ही चारित्र मोहके उदयसे होते है ?

उत्तर

सत्यंचारित्रमोहस्य कार्यं स्यादुभयात्मकम् ।
असंयमः कपायाश्च पाकादेकस्य कर्मणः ॥११२६॥

अर्थः—ठीक है चारित्र मोहनीयके ही दो कार्य हैं । उसी एक कर्मके उदयसे असंयम भाव और कषाय भाव होते है ।

चारित्र मोहनीयके भेद

पाकाच्चारित्रमोहस्य क्रोधाद्याः सन्ति षोडश ।
नव नोकषायनामानो न न्यूना नाधिकास्ततः ॥११२७॥

× लेशतः पाठसे यह बात प्रकट होती है कि उक्त दोनों संयम यथाशक्ति जघन्य अवस्थामें भी पाले जाते हैं । इसीलिये जो नियम रूपसे पाँचवीं प्रतिमामें नहीं हैं वे भी पाक्षिक अवस्थामें भी अभ्यास रूपसे हरितादिका त्याग कर देते हैं । कुछ नये विद्वान् पाँचवीं प्रतिमासे नीचे हरितादिके त्यागका निषेध करते हैं, प्रत्युत हरितादि भक्षणका विधान करते हैं यह उनकी बड़ी भूल है, क्योंकि विधानका कहीं उपदेश नहीं है जितना भी कथन है सब निषेध मुखसे है चाहे वह थोडे ही अंशोंमें क्यों न हो । पाँचवीं प्रतिमामें तो हरितादिका त्याग आवश्यक है, उससे नीचे यद्यपि आवश्यक नहीं है तथापि अभ्यास रूपसे उसका करना प्रशस्य ही है । जितने अंशोंमें भी त्याग मार्ग है उतना ही अच्छा है । इसलिये जो पुरुष अव्रती हैं, यदि वे हरीका पर्वोंमें त्याग करते हैं, उपवासादि धारण करते हैं कन्दमूलका त्याग करते हैं तो ऐसी अवस्थामें अवश्य वे शुभ प्रवृत्तिवाले हैं । भले ही वे मन्द ज्ञानी हों परन्तु अनन्त स्थावर जीवोंके वधसे बच जॉयगे । जितनी भी प्रतिमायें हैं सभी त्यागकी मर्यादाको आवश्यक बतलाती हैं परन्तु उनसे नीची श्रेणीवाला भी लेश मात्र त्यागी अथवा अभ्यस्त दशामें पूर्ण त्यागी भी बन सकता है ।

अर्थः—चारित्र मोहनीय कर्मके पाकसे क्रोधादिक सोलह कषाये और नव नो कषाये होती है। इन पच्चीससे न कम होती है और न अधिक ही होती है।

कषायोंका कार्य

पाकात्सम्यक्त्वहानिः स्यात् तत्रानन्तानुबन्धिनाम् ।
पाकाच्चाप्रत्याख्यानस्य संयतासंयतक्षतिः ॥११२८॥
प्रत्याख्यानकषायाणामुदयात् संयमक्षतिः ।
संज्वलननोकषायैर्न यथाख्यातसंयमः ॥११२९॥

अर्थः—अनन्तानुबन्धि कषायके उदयसे सम्यग्दर्शनका घात होता है। अप्रत्याख्यान कषायके उदयसे सयमासयमका घात होता है। प्रत्याख्यान कषायके उदयसे सकल सयमका घात होता है और संज्वलन और नो कषायोंके उदयसे यथाख्यात सयमका घात होता है।

इत्येवं सर्ववृत्तान्तः कारणकार्ययोर्द्वयोः ।
कषायनोकषायाणां संयतस्येतरस्य च ॥११३०॥

अर्थः—यह सम्पूर्ण कथन कषाय नोकषाय संयम और असयमके कार्य कारणको प्रकट करता है। भावार्थः—कषाय नोकषायका असयमके साथ कार्य कारण भाव है, और उनके अभावका सयमके साथ कार्य कारण भाव है। इतना विशेष है कि जहाँ जितनी कषाये है वहाँ उतना ही असयम है।

किन्तु तच्छक्तिभेदाद्वा नासिद्धं भेदसाधनम् ।
एकं स्याद्वाप्यनेकं च विषं हालाहलं यथा ॥११३१॥

अर्थः—किन्तु चारित्र मोहनीयमे शक्ति भेदसे भेद साधन असिद्ध नही है। जिसप्रकार विषके विष, हालाहल इत्यादि अनेक भेद हो जाते है, उसीप्रकार उक्त कर्म भी एक तथा अनेक रूप हो जाता है।

अस्ति चारित्रमोहे ऽपि शक्तिद्वैतं निसर्गतः ।
एकश्चाऽसंयतत्वं स्यात् कषायत्वमथापरम् ॥११३२॥

अर्थः—चारित्र मोह कर्ममे भी स्वभावसे दो शक्तियां है–(१) असयत (२) कषाय।

शंकाकार

ननु चैवं सति न्यायात्तत्संख्या चाभिवर्धताम् ।
यथा चारित्रमोहस्य भेदाः षड्विंशतिः स्फुटम् ॥११३३॥

अर्थः—यदि कषाय और असंयतभाव दोनो चारित्र मोहके ही भेद हैं तो चारित्र-मोहनीयकी संख्याका बढना भी न्याय संगत है। पचीसके स्थानमे असंयत भावको मिलाकर छब्बीस भेद उसके होने चाहिये ?

उत्तर

सत्यं यज्जातिभिन्नास्ता यत्र कार्माणवर्गणाः।
* आलापापेक्षया ऽसंख्यास्तत्रैवान्यत्र न क्वचित् ॥११३४॥
नात्र तज्जातिभिन्नास्ता यत्र कार्माणवर्गणाः।
किन्तु शक्तिविशेषोस्ति सोपि जात्यन्तरात्मकः ॥११३५॥

अर्थः—ठीक है जहाँपर भिन्न भिन्न जातियोमे बँटी हुई कार्माण वर्गणायें होती है, वही पर आलाप (भेद)की अपेक्षासे असंख्यात वर्गणायें भिन्न २ होती है। अथवा जहाँ भिन्न जातिवाली वर्गणायें होती है वही पर आलापकी अपेक्षासे संख्या भेद होता है, जहाँ ऐसा नही होता वहाँ कर्मोंकी संख्या भी भिन्न नही समझी जाती है। यहाँ पर भिन्न जातिवाली वर्गणाये नही है किन्तु एक चारित्र मोहनीयकी ही हैं इसलिये चारित्र मोहकी छब्बीसवी संख्या नही हो सकती है परन्तु शक्ति भेद अवश्य है, वह भी भिन्न स्वभाववाला है।

भावार्थः—जहाँ पर जातिकी अपेक्षासे वर्गणाओमे भेद होता है वही पर कर्मोंके नाम भी जुदे २ हो जाते है जैसे—मतिज्ञानावरण श्रुतज्ञानावरण आदि। परन्तु जहाँ पर जातिभेद नही है किन्तु शक्ति भेद है वहाँ पर कर्मोंकी नाम संख्या जुदी जुदी नही होती। जैसे—एक ही मतिज्ञानावरण क्षयोपशमके भेदसे अनेक भेदवाला है। दृष्टान्तके लिये धत्तूरको ही ले लीजिये। धत्तूरकी जड भिन्न काममे आती है उसके पत्ते भिन्न काममे आते है तथा उसके फल भिन्न काममे आते है परन्तु वृक्ष एक धत्तूरके नामसे ही कहा जाता है। इसलिये जहाँ पर शक्ति भेद होता है वहाँ पर नाम भेद नही भी होता। यदि बिना जातिभेदके केवल शक्तिभेदसे ही नाम भेद माना जाय तो चारित्र मोहनीयका ही भेद—अनन्तानुबन्धी कषाय सम्यक्त्व और चारित्रको घात करनेकी शक्ति रखता है, उसके भेदसे भी चारित्र मोहनीयके छब्बीस भेद होने चाहिये। इसीप्रकार सञ्ज्वलन कषायके कुछ स्पर्धक प्रमत्त भावको पैदा करते है, कुछ नही करते वहाँ भी

* 'आलापापेक्षया संख्या तत्रैवान्यत्र न क्वचित्' ऐसा संशोधित पुस्तकमें पाठ है। यही ठीक प्रतीत होता है इसीलिये ऊपरसे दूसरा अर्थ लिखा गया है।

शक्ति भेदसे चारित्र मोहके अधिक भेद होने चाहिये ? इसलिये जहाँ जातिभेद होता है वही पर संख्या भेद भी होता है यहाँ पर जातिभेद नही है। जहाँ पर जिस जातिकी कषाय है वहाँ पर उसी जातिका व्रताभाव—असयत है।

कषाय और असंयमका लक्षण

तत्र यन्नाम कालुष्यं कषायाः स्युः स्वलक्षणम् ।
व्रताभावात्मको भावो जीवस्यासंयमो मतः ॥११३६॥

अर्थः—जीवके कलुषित भावोका नाम ही कषाय है यही कषायका लक्षण है। तथा जीवके व्रत रहित भावोका नाम ही असयम है।

भावार्थः—कषायका स्वरूप गोमट्टसारमे भी इसप्रकार कहा है "सुहदुःखसुबहुसस्सं कम्मक्खेत्त कसेदि जीवस्स, ससारदूरमेर तेण कसाओत्ति ण वेति। सम्मत्तदेससयल चरित्तजहखाद चरण परिणा॥ घादंति वा कषाया चउसोल असखलोगमिदा" जिसप्रकार कोई किसान एक बीघा, दो बीघा दश बीघा खेतको जोतता है, जोतनेके पीछे उसमें धान्य पैदा करता है। उसीप्रकार यह कषाय तो किसान है, जीवका कर्मरूपी खेत है, उस खेतकी अनन्त ससार हद (मर्यादा) है, उस खेतको यह कषायरूपी किसान बराबर जोतता रहता है, फिर उससे सासारिक सुख दु खरूपी धान्य पैदा करता है। अर्थात् जो जीवके परिणामोको हलके समान कषता रहे उसे, कषाय कहते है। अथवा सम्यक्त्व, देशचारित्र, सकलचारित्र, यथाख्यातचारित्ररूप जीवके शुद्ध परिणामोको जो घाते उसे कषाय कहते हैं। कषाये चार है–(१) क्रोध (२) मान (३) माया (४) लोभ। ये चारो ही क्रमसे चार चार प्रकारके होते हैं उनके दृष्टान्त इसप्रकार है–एक तो ऐसा क्रोध जैसे कि पत्थर पर रेखा। एक ऐसा जैसे पृथ्वी पर रेखा। एक ऐसा जैसे धूलिपर रेखा। एक ऐसा जैसे पानीपर रेखा। पत्थर पर की हुई, रेखा गाढ होती है, बहुत काल तक तो ऐसी ही बनी रहती है। पृथ्वीपर की हुई उससे कम कालमे नष्ट हो जाती है, इसीप्रकार धूलि और जल–रेखाये क्रमसे अति शीघ्र मिट जाती है। क्रोध कषायका यही भेद क्रमसे नरक, तिर्यक्, मनुष्य देवगतियोमे जीवको ले जाता है। जैसे क्रोधकी तीव्रमन्दादिकी अपेक्षासे चार शक्तियाँ है उसीप्रकार मान, माया, लोभ की हैं। मानके दृष्टान्त–पर्वत, हड्डी, काठ, बेंत। मान कषायको कठोरताकी उपमा दी गई है। पर्वत बिलकुल सीधा रहता है थोडा भी नही मुड़ता। इसीप्रकार तीव्र मानी सदा पर्वतके समान कठोर और सीधा रहता है, इससे कम दर्जेवाले मानीको हड्डीकी उपमा दी है। हड्डी यद्यपि

कठोर है तथापि पर्वतकी अपेक्षा कम है। काठ और बेंतमे क्रमसे बहुत कम कठोरता है। ये चारो मान कषाये भी क्रमसे नरकादि गतियोमे ले जानेवाली हैं। मायाको वक्रता (कुटिलता–टेढापना–मुडा हुआ)की उपमा दी है उसके दृष्टान्त ये है–वेणुके नीचेका भाग, भैसका सीग, गौका मूत्र, खुरपा। वेणुके नीचेका भाग बहुत गाँठ गँठीला होता है तथा उत्तरोत्तर कम कुटिलता है। वे चारो माया कषायें भी क्रमसे नरकादि गतियोमे ले जानेवाली हैं। लोभकी चिक्कणतामे उपमा दी है। उसके दृष्टान्त ये है–कृमि राग, अर्थात् हिरमिजीका रङ्ग पहियेकी ओंगन, शरीरका मल, हल्दीका रङ्ग। ये चारो लोभ कषाये भी क्रमसे नरकादि गतियामे ले जानेवाली हैं। जीवके व्रत रहित भावोका नाम असयम है, किन्ही परिणामोमे यह जीव अष्टमूल गुणोको भी धारण नही कर सकता है। किन्ही परिणामोमे अष्ट मूल गुणोको धारण कर लेता है परन्तु अणुव्रतोको नही धारण कर सकता है। कहीपर अणुव्रतोको तो धारण कर लेता है परन्तु उनके अतिचारोको नही छोड सकता है। कही पर महाव्रतोको धारण नही कर सकता है। जबतक असयम भावका उदय रहता है तबतक आत्मा व्रतोको धारण करनेके लिये तत्पर नही होता है।

कषाय और असयमका कारण

एतद्द्वैतस्य हेतुः स्याच्छक्तिद्वैतैककर्मणः।
चारित्रमोहनीयस्य नेतरस्य मनागपि ॥११३७॥

अर्थः—कषाय भाव और असयम भावका कारण–दो शक्तियोको धारण करनेवाला केवल चारित्र मोहनीय कर्मका उदय है। किसी दूसरे कर्मका उदय इन दोनोमे सर्वथा कारण नही है।

दोनों साथ ही होते हैं

यौगपद्यं द्वयोरेव कषायासंयतत्वयोः।
समं शक्तिद्वयस्योच्चैः कर्मणोस्य तथोदयात् ॥११३८॥

अर्थः—कषायभाव और असयतभाव ये दोनो साथ साथ होते है, क्योकि समान दो शक्तियोको धारण करनेवाले चारित्र मोहनीय कर्मका उदय ही वैसा होता है।

दृष्टान्त

अस्ति तत्रापि दृष्टान्तः कर्मानन्तानुबन्धि यत्।
घातिशक्तिद्वयोपेतं मोहनं चरित्रयोः ॥११३९॥

अर्थः—दो शक्तियोको धारण करनेवाले कर्मके उदयसे एक साथ दो भाव उत्पन्न होते हैं इस विषयमें अनन्तानुवन्धी कषायका दृष्टान्त भी है—सम्यग्दर्शन और सम्यक्-चारित्रको घात करने रूप दो शक्तियोको धारण करनेवाली अनन्तानुवन्धि कषाय जिससमय उदयमे आती है उससमय सम्यग्दर्शन और चारित्र दोनो ही गुण नष्ट हो जाते हैं ।

शंकाकार

ननु चाप्रत्याख्यानादिकर्मणामुदयात् क्रमात् ।
देशकृत्स्नव्रतादीनां क्षतिः स्याचत्कथं स्मृतौ ॥११४०॥

अर्थः—जव कि अप्रत्याख्यानके उदयसे देशव्रतकी और प्रत्याख्यानके उदयसे महाव्रतकी क्रम क्रमसे क्षति होती है तव अप्रत्याख्यानके उदय समयमें महाव्रत क्यों नही हो जाता क्योकि उससमय महाव्रतको रोकनेवाला प्रत्याख्यानका तो उदय रहता ही नही और यदि अप्रत्याख्यानके उदयकालमें प्रत्याख्यानका भी उदय माना जाय तो दोनोका क्रमक्रमसे उदय क्यो कहा है ?

उत्तर

सत्यं तत्राविनाभावो वन्धसत्वोदयं प्रति ।
द्वयोरन्यतरस्यातो विवक्षायां न दूषणम् ॥११४१॥

अर्थः—अप्रत्याख्यानके उदयकालमें प्रत्याख्यानका भी उदय रहता है इसलिये तो अप्रत्याख्यानके उदयकालमे महाव्रत नही होता और पाँचवें गुणस्थानमे अप्रत्याख्यानके उदयका अभाव होनेपर भी प्रत्याख्यानका उदय रहता है इसलिये कथञ्चित् क्रमसे उदय कहा जाता है तथा अप्रत्याख्यानका उदय कहनेसे प्रत्याख्यानका भी उदय आ जाता है क्योकि अप्रत्याख्यानके वन्ध उदय और सत्त्व प्रत्याख्यानके वन्ध उदय और सत्त्वके साथ अविनाभावी है, अर्थात् प्रत्याख्यानके वन्धोदय सत्त्वके बिना अप्रत्याख्यानके वन्ध उदय सत्त्व नही हो सकते । इसलिये चौथे गुणस्थान तक दोनोका उदय रहते हुए भी अप्रत्याख्यानका उदय कहनेमे कोई दोष नही आता । अविनाभावी पदार्थोमे एकका कथन करनेसे दूसरेका कथन स्वय हो जाया करता है । यहाँ यह शका हो सकती है कि जव अन्यतरहका हो (किसी एकका) प्रयोग करना इष्ट है तव अप्रत्याख्यानके स्थानमे प्रत्याख्यानका ही प्रयोग क्यो नही किया जाता अर्थात् जैसे अप्रत्याख्यानके उदयसे प्रत्याख्यानके उदयका वोध होता है उसीप्रकार प्रत्याख्यानका उदय कहनेसे अप्रत्या-ख्यानके उदयका भी वोध हो जाना चाहिये परन्तु इसका उत्तर यह है कि अप्रत्याख्यान

व प्रत्याख्यानके उदयकी परस्पर विषम व्याप्ति है क्योंकि चौथे गुणस्थान तक अप्रत्याख्यानका उदय तो विना प्रत्याख्यानके उदयके नहीं रहता किन्तु पांचवें गुणस्थानमे प्रत्याख्यानका उदय अप्रत्याख्यानके उदयके विना भी रह जाता है। इसलिये अप्रत्याख्यानकी जगह प्रत्याख्यानका प्रयोग नहीं हो सकता।

असिद्धत्वभाव

असिद्धत्वं भवेद्भावो नूनमौदयिको यतः।
व्यस्तादा स्यात्समस्तादा जातेः कर्माष्टकोदयात् ॥११४२॥

अर्थः—असिद्धत्वभाव भी औदयिक भाव है। यह भाव आठों कर्मोंके उदयसे होता है। भिन्न २ कर्मोंके उदयसे भी होता है और आठों कर्मोंके सम्मिलित उदयसे भी होता है।

सिद्धत्वगुण

सिद्धत्वं कृत्स्नकर्मभ्यः पुंसोवस्थान्तरं पृथक्।
ज्ञानदर्शनसम्यक्त्ववीर्याद्यष्टगुणात्मकम् ॥११४३॥

अर्थः—सम्पूर्ण कर्मोंसे रहित पुरुषकी शुद्ध अवस्थाका नाम ही सिद्धत्वगुण अथवा सिद्धावस्था है। वह अवस्था ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्व, वीर्यादि आठ गुण स्वरूप है।

भावार्थः—ज्ञानावरण कर्मने आत्माके ज्ञानगुणको ढक रक्खा है। जीवोमे ज्ञानकी जो न्यूनाधिकता पाई जाती है वह ज्ञानावरण कर्मकी न्यूनाधिकताके निमित्तसे ही पाई जाती है। मूर्खोंसे विद्वानोमे, विद्वानोसे महाविद्वानोमे ज्ञानका आधिक्य पाया जाता है उनसे ऋषियोमे, तथा उनसे महर्षियो और गणधरोमे ज्ञानका आधिक्य उत्तरोत्तर होता गया है परन्तु यह सब ज्ञान क्षयोपशमरूप ही है। जहाँ पर ज्ञानावरणरूपी पर्दा सर्वथा हट जाता है वही पर यह आत्मा समस्त लोकालोकको जाननेवाला सर्वज्ञ हो जाता है। उस सर्वज्ञ–ज्ञानमे समस्त पदार्थोंकी समस्त पर्यायें साक्षात् झलकती है। हर एक आत्मामे सर्वज्ञ–ज्ञानको प्राप्त करनेकी शक्ति है परन्तु ज्ञानावरण कर्मने उस शक्तिको मेघोसे ढके हुए सूर्यके समान छिपा दिया है। इसीप्रकार दर्शन गुणको दर्शनावरण कर्मने ढक रक्खा है। ससारमे जो जीव देखे जाते है उनमे कितने तो ऐसे है जो केवल पदार्थोंको छूना ही जानते है, उनके मुँह, नाक, आँख, कान, नही होते, दृष्टान्तके लिये वृक्षको ही ले लीजिये। वृक्षके केवल एक स्पर्शन इन्द्रिय है उसीसे वह पानीका स्पर्श कर वृद्धि पाता है। इसी कोटिमे पृथिवीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय वाले

जीव भी है। इन जीवोके पृथिवी आदि ही शरीर है इसलिये हम सिवा उस पृथ्वी जल आदि स्थूल शरीरके उनका प्रत्यक्ष नही कर सकते हैं। उन जीवोकी चेतना कर्मोसे गहरी आच्छादित है इसलिये केवल वृक्ष पर्वतादिकी वृद्धिसे उनका अनुमान कर लेते है। कुछ जीव पदार्थोको छूने है और चखते है। उनके पहले जीवोकी अपेक्षा एक मु ह (रसना इन्द्रिय) अधिक है। इन जीवोकी चेतना कर्मोके कुछ मन्द होनेसे पदार्थके रसका अनुभव भी कर सकती है। कुछ जीवोमे पदार्थोकी गन्ध जाननेकी भी शक्ति है ऐसे जीवोके नासिका इन्द्रिय भी होती है इस श्रेणीमे चीटियाँ, मकोड़े आदि जीव आते हैं। इन जीवोके आँखे कान नही होते हैं। भ्रमर, वर्रें, मक्खी आदि जीव देख भी सकते है। और कुछ जीव सुन भी सकते है। और कुछ जीव ऐसे होते है जो मनमे पदार्थोका अनुभव भी करते है। इस श्रेणीमें मनुष्य पशु आदि आते है। यहाँपर विचारनेकी यह वात है कि जैसे मनुष्य आँखसे जितना देखता है क्या वह उतनी ही देखनेकी शक्ति रखता है? नही, वह सम्पूर्ण आत्मासे समस्त पदार्थोके देखनेकी शक्ति रखता है, परन्तु देखता क्यो नही? देखता इसलिये नही, कि वह आँख रूपी झरोखेसे परतन्त्र हो रहा है। दर्शनावरण कर्मने उसके दर्शन गुणको ढक दिया है केवल थोड़ासा क्षयोपशम होनेसे वह आँख रूपी झरोखेसे देख सकता है। जिन जीवोके इतना भी क्षयोपशम नही होता वे विचारे इतना भी नही देख सकते अर्थात् उनके आँख भी नही होती, जैसा कि पहले कहा गया है। इसका दृष्टान्त स्पष्ट ही है जैसे एक आदमी वन्द मकानमे वन्द कर दिया जाय तो वह वाहरकी वस्तुओको नही देख सकता है। परन्तु उस मकानकी यदि एक खिडकी खोल दी जाय तो वह खिडकीके सामने आये हुए पदार्थोको देख सकता है यदि दूसरी खिड़की भी खोल दी जाय तो उसके सामने आए हुए पदार्थोको भी वह देख सकता है। इसीप्रकार पूर्व पश्चिमकी तरह उत्तर दक्षिणकी तरफकी खिडकी भी यदि खोल दी जाय तो उधरके पदार्थोको भी वह देख सकता है। यदि सव मकानकी भित्तियोको गिरा दिया जाय और चौपट कर दिया जाय तो वह आदमी चारो ओरके पदार्थोको देख सकता है। दूसरा दृष्टान्त दर्पणका ले लीजिये। एक विशाल दर्पण पर यदि काजल पोत दिया जाय तो उसमे सर्वथा मु ह दिखाई नही देता है। परन्तु उसी दर्पण पर एक अगुली फेर कर उसका अंगुलीके बराबरका भाग स्वच्छ कर दिया जाय तो उतने ही भागमे दीखने लगेगा। यदि दो अगुली फेरो जॉय तो कुछ अधिक दीखने लगेगा इसीप्रकार तीन चार पाँच अगुलियोके फेरनेसे वहुत अच्छा दीखने लगेगा। कपड़ेसे अच्छी-तरह पूरे दर्पणको साफ कर दिया

जाय तो सर्वथा स्पष्ट और पूर्णतासे दीखने लगेगा। इसीप्रकार आत्मामें सम्पूर्ण पदार्थोंके देखनेकी शक्ति है परन्तु दर्शनावरण कर्मने उस शक्तिको ढक रक्खा है। उसीके निमित्तसे आत्मा इन्द्रियरूपी झरोखोंके बन्धनमें पड़कर पदार्थको स्पष्टतासे नहीं देख सकता है। और न सूक्ष्म और दूरवर्ती पदार्थको ही देख सकता है। आत्मा जब दर्शनावरण कर्मके बन्धनसे मुक्त होता है तब वह इन्द्रियोंकी सहायतासे नहीं देखता है, किन्तु आत्मासे साक्षात् देखने लगता है उसीसमय अखिल पदार्थोंका वह प्रत्यक्ष भी कर लेता है जैसे कि खिड़कीमें देखनेवाला मकानको फोड़ देनेसे खिड़कियोंकी सहायताके बिना आसपासके समस्त पदार्थोंको देख लेता है। वेदनीय कर्म अनेक प्रकारसे सांसारिक सुख दुःख देता रहता है। यद्यपि वेदनीय कर्म अघातिया है तथापि रति कर्म और अरति कर्मका सम्बन्ध होनेके कारण वह आत्माको आघात पहुँचाता है* इसीलिये वेदनीय कर्मका पाठ घातिया कर्मोंके बीचमें दिया है। जबतक वेदनीय कर्मका सम्बन्ध रहता है तबतक आत्मा सांसारिक सुख दुःखकी बाधासे बाधित रहता है। वेदनीय कर्मके दो भेद हैं (१) साता (२) असाता। असाताके उदयसे तो इस जीवको असाता होती ही रहती है परन्तु साताके उदयसे जो साता होती है वास्तवमें वह भी असाता ही है। संसारी जीव सदा दुःखोंसे सन्तप्त रहता है इसलिये साताके उदयसे जो सुखसा प्रतीत होने लगता है उसे ही वह सच्चा सुख समझता है। वास्तवमें वह सुख नहीं है किन्तु दुःखकी कमी है। सांसारिक सुखका उदाहरण ऐसा है जैसे किसी आदमीमें कोई मुद्गरकी मार लगावे और लगाते २ थक जाय तो उससमय पिटनेवाला समझता है कि अब कुछ साता मिली है। ठीक इसीप्रकार दुःखकी थोड़ी कमीको ही यह जीव सुख समझने लगता है। सांसारिक सुखके विषयमें स्वामी समन्तभद्राचार्यने कहा है 'कर्मपरवशे सान्ते दुःखैरन्तरितोदये। पापबीजे सुखेऽनास्था श्रद्धानाकांक्षणा स्मृता। अर्थात् (१) सांसारिक सुख कर्मोंके अधीन है। जबतक शुभ कर्मोंका उदय है तभी तक है। (२) इसीलिये उसका अन्त भी शीघ्र हो जाता है (३) बीच बीचमें उसके दुःख भी आते रहते है (४) और पापका बीज है अर्थात् जिन बातोंमें संसारी सुख समझता है वे ही बातें पापबन्धकी कारणभूत है इसलिये सांसारिक सुख दुःखका कारण अथवा दुःख रूप ही है। वेदनीय कर्मका अभाव हो जानेसे आत्मा अव्याबाध गुणका

---

* ग्यारहवें, बारहवें, तेरहवें गुणस्थानोंमें रति अरतिका उदय न होनेसे वेदनीय कर्म कुछ नहीं कर सकता।

भोक्ता हो जाता है। आत्माके उस निराकुल स्वरूप अव्याबाध (बाधा रहितपना) गुणको वेदनीय कर्मने ढक रक्खा है मोहनीय कर्मके विषयमें पहले बहुत कुछ कहा जा चुका है। आठो कर्मोमें एक यही कर्म अनर्थोका मूल है। यह कर्म सब कर्मोका राजा है। यही आठो कर्मोके बन्धका कारण है। मोहनीय कर्ममें दूसरे कर्मोसे एक बड़ी विशेषता यही है कि दूसरे गुण तो अपने प्रतिपक्षी गुणोको ढकते ही है परन्तु मोहनीय कर्म अपने प्रतिपक्षी गुणको विपरीत स्वादु बना देता है। यह कर्म आत्माके प्रधान गुण सम्यक्त्व और चारित्रका घात करता है। इसी कर्मने जीवोको कुपथगामी–भ्रष्ट–अनाचारी तथा रागी द्वेषी बना रक्खा है। इस कर्मके दूर हो जानेसे आत्मा परम वीतराग–शुद्धात्मानुभवी हो जाता है। आयु कर्म बेड़ीका काम करता है। जिसप्रकार किसी दोषीको बेडीसे जकड़ देने पर फिर वह कही जा नही सकता, इसीप्रकार यह ससारी जीव भी गतिरूपी जेलखानोमे आयुरूपी बेडीसे जकड़ा रहता है जबतक आयु कर्म रहता है तबतक इसे मृत्यु भी नही उठा सकती है। नरकगतिमे वर्णनातीत दु खोको सहन करता है परन्तु आयु कर्म वहाँसे टलने नही देता है। आयु कर्मके चार भेद है, उनमे तिर्यगायु, मनुष्यायु, देवायु ये तीन आयु शुभ है। नरकायु अशुभ है। आयु कर्मके उदयसे यह जीव कभी किसी शरीरके आकारमे बँधा रहता है कभी किसी शरीरके आकारमे बँधा रहता है परन्तु अपने वास्तविक स्वरूपका अवगाहन नही करता है, अर्थात् अपने स्वरूपमे नही ठहर पाता है। इसलिये आयुकर्मने जीवके अवगाहन गुणको छिपा रक्खा है।

नाम कर्मने आत्माके सूक्ष्मत्व गुणको रोक रक्खा है। इस कर्मके उदयसे आत्मा गति, जाति, शरीर, अग, उपाग, आदि अनेक प्रकारके अनेक रूपोको धारण करता हुआ स्थूल पर्यायी बन गया है। वास्तवमे गत्यादिक विकारोसे रहित–अमूर्तिक आत्माका सूक्ष्म स्वरूप है। परन्तु नाम कर्मने उस सूक्ष्मताको छिपा दिया है। जिसप्रकार किसी कारखानेका एक इञ्जन अनेक कार्योको करता हे, उसीप्रकार नामकर्म भी आत्माको अनेक रूपोमे घुमाता है। नाम कर्मको उपमा एक वहु रूपधारी–वहुरूपियासे ठीक घटती है। जिसप्रकार बहु रूपोको धारण करनेवाला वहुरूपिया अपने असली सूक्ष्म स्वरूपको छिपा रखता है, उसीप्रकार नाम कर्मने आत्माके असली–सूक्ष्म स्वरूपको छिपा रक्खा है और स्थूल पर्यायोसे उसे वहु रूपधारी–वहुरूपिया वना रक्खा है।

आत्मा अनन्त गुणधारी, निर्विकार शुद्ध है उसमे न नीचता हे और न उच्चता है वह सदा एकसा है, परन्तु गोत्र कर्मने उसे ऊँच नीच वना रक्खा है। नीच गोत्रके

उदयसे यही अनन्त गुण धारी आत्मा कभी नीच कहलाने लगता है और उच्च गोत्रके उदयमे कभी उच्च कहलाने लगता है। गोत्र कर्मका कार्य गोमट्टसारमे इसप्रकार है 'संताणकमेणा- गय जीवायरणस्स गोदमिदि सण्णा, उच्चं णीचं चरणं उच्चं णीचं हवे गोदं, अर्थात् कुल परम्परासे चला आया जो जीवका आचरण है उसकी गोत्र संज्ञा है। उस कुल परम्परामे यदि उच्च आचरण है तो वह उच्च गोत्र कहलाता है। यदि निंद्य हीन आचरण हो तो वह नीच गोत्र कहलाता है। यद्यपि उच्च नीच गोत्रमे आचरणकी अवश्य प्रधानता है, परन्तु साथ ही कुल परम्पराकी भी प्रधानता अवश्य है। अन्यथा किसी क्षत्रिय राजाके जो पुत्र होता है वह जन्म दिनसे ही उच्च कहलाने लगता है। इसीप्रकार एक चाण्डालके जो पुत्र होता है वह जन्म दिनसे ही नीच कहलाने लगता है। यदि उच्च नीचका आचरणसे ही सम्बन्ध हो तो जन्म दिनमे लोक उन्हे उत्तम और नीच क्यो समझने लगते हैं। उन्होने अभी कोई आचरण नही प्रारम्भ किया है। यदि कहा जाय कि उन्होने आचरण भले ही न किया हो परन्तु उनके माता पिता तो अपने आचरणोसे उच्च नीच बने हुए है, उन्हीके यहां जो बालक जन्म लेता है वह भी उसी श्रेणीमे शामिल किया जाता है तो सिद्ध हुआ कि साक्षात् आचरण उच्च नीचका कारण नही है, किन्तु कुल परम्परा ही प्रधान कारण है। गोत्र कर्मका लक्षण बनाते हुए स्वामी पूज्यपादने सर्वार्थसिद्धिमे भी यही कहा है—यस्योदयाल्लोकपूजितेषु कुलेषु जन्म तदुच्चैर्गोत्रं, यदुदयाद्गर्हितेषु कुलेषु जन्म तन्नीच्चैर्गोत्रम्, जिसके उदयसे लोकपूजित कुलोमे जन्म हो उसे उच्चगोत्र कहते है। और जिसके उदयसे निंद्य कुलोमे जन्म हो उसे नीचगोत्र कहते है। इस उच्चगोत्र नीचगोत्रके लक्षणसे यह बात स्पष्ट है कि कुल परम्परासे ही उच्चता नीचताका व्यवहार होता है। साक्षात् आचरणोसे नही होता। इसका कारण भी यही है कि गोत्र कर्मका उदय वहीसे प्रारम्भ हो जाता है जहांसे कि यह जीव एक पर्यायको छोड़कर दूसरी पर्यायमे जाने लगता है। अर्थात् विग्रहगतिमे ही उच्च अथवा नीच कर्मका उदय प्रारम्भ हो जाता है, और जैसा कर्मका उदय होता है वैसी ही इस जीवको पर्याय मिलती है इसीलिये—उस कर्मोदयके कारण ही उस जीवको जन्म समयसे ही संसार उच्च नीचका व्यवहार करने लगता है। लोकमे यह व्यवहार भी प्रसिद्ध है कि कोई आदमी यदि ब्राह्मण कुलमे जन्म लेकर शिल्पीका कार्य करने लगे तो लोग उसे यही कहकर पुकारते है कि यह जातिका तो ब्राह्मण है परन्तु हीन कर्म करता है, उसे हीन कर्म करते हुए भी उस पर्यायमे शूद्र कोई नही कहता है। यदि साक्षात् आचरणोसे ही वर्ण व्यवस्था मान ली जाय तो उच्च गोत्र कर्म और नीच गोत्र कर्मका

उदय ही निरर्थक है। कर्मोदयको निरर्थक मान लेनेसे ससारका सब रहस्य ही उठ जाता है। आयु कर्मका बन्ध नित्य होता है वह छूटता नही है और जीवको उस पर्यायमें नियमसे ले जाता है। यदि इसको भी अकिञ्चित्कर समझ लिया जाय तो फिर जीवका घूमना ही बन्द हो जाय परन्तु जबतक कर्म है तबतक ऐसा होना असम्भव है। वे अपना शुभाशुभ फल देते ही है। दूसरी बात यह भी है कि एक मनुष्यने जीवन भरमें कोई काम न किया हो, वैसे हो पड़े २ आनन्दसे जीवन बिताया हो तो उस जीवनमें ससार उसे किस वर्णका कहकर पुकारेगा ? उससे उच्चताका व्यवहार किया जायगा या नीचताका ? क्योकि उसने साक्षात् आचरण तो कोई किया नही है। बिना साक्षात् आचरणके वर्ण व्यवस्था नही माननेवालोके मतसे उसे वर्ण रहित कहे अथवा चारो वर्णोसे अतिरिक्त कुल हीन—पञ्चमवर्णवाला कहे ? क्योकि उसके साथ उच्चता अथवा नीचताका कुछ न कुछ व्यवहार करना ही होगा। उस व्यवहारका आधार वहाँ आचरण तो है नही, इसलिये बिना कुल परम्परासे आई हुई उच्चता नीचताको स्वीकार किये किसी प्रकार काम नही चल सकता। जो लोग कुलागत वर्ण व्यवस्थाका लोप करते है वे अविचारितरम्य—कर्म विजयी साहसी हैं। आश्चर्य तो यह है कि ऐसे लोग भी माता पिताको उपदेश देते हुए कहा करते है यदि तुम योग्य पुत्र चाहते हो तो अपने भाव उन्नत रक्खो, तुम्हारे जैसे भाव होगे पुत्रमे भी वे भाव होगे, इस उपदेशसे स्वभावकृत सस्कारोका ही प्राधान्य सिद्ध होता है।* इसलिये गुण कर्मसे नही, किन्तु स्वभावसे ही

* यदि स्वभावकृत उच्चता नीचता न हो, और सस्कारोंको कारणता न मानी जाय तो भारतवासी क्यों लार्ड घरानो–राज घरानोंके शासकोंको चाहते हैं ? इसीलिये न, कि वे स्वभावसे उदारचेता होते हैं ? स्वभावसे जैसे कुलमें यह जीव उत्पन्न होता है वैसे मार्गपर स्वय चलने लगता है, इस विषयमें एक दृष्टान्त है कि किसी जङ्गलमें एक गीदड़का बच्चा सिंहिनीके हाथ लग गया। सिंहिनीने उसे छोटा–प्यारा होनेके कारण पाल लिया। जब सिंहिनीके बच्चे पैदा हुए तब वह गीदड उन्हींके साथ खेलने लगा। एकवार सब बच्चे किसी दूसरे जङ्गलमें निकल गये, वहाँ हाथियोंका झुण्ड देखकर उन पर वे सिंहिनीके बच्चे, सिंह टूट पड़े, परन्तु इस भयास्पद कौतुकसे गीदड़ डरकर पीछे भागा। सिंहिनीके बच्चे भी अपने बडे भाईको लौटता हुआ देख लौट तो पडे परन्तु उनसे न रहा गया, वे मातासे बोले माँ! आज हमें बड़े भाईने हाथियोंकी शिकारसे रोक दिया है यह ठीक नहीं किया है। सिंहिनीने मनमें सोचा कि इसका कुल तो गीदड़ोंका है इसलिये इसमें डरपोक स्वभाव मेरे पास रहनेपर भी आ ही जाता है। उसने एकान्तमें उस गीदड़को बुलाकर उसे हितकर यह उपदेश दिया "शूरोसि कृतविद्योसि दर्शनीयोसि पुत्रक। यस्मिन् कुले त्वमुत्पन्नो गजस्तत्र न हन्यते" हे पुत्र! तू शूरवीर है, विद्यावान् है, देखनेमें योग्य है, परन्तु

गोत्र व्यवस्था न्यायसङ्गत है। परम्परा गुण कर्म भी कारण हैं। इसप्रकारकी उच्चता और नीचता इस गोत्र कर्मके कारण ही आत्मा प्राप्त करता है, गोत्र कर्मके अभावमें वह अगुरुलघु है। न तो वडा है और न छोटा है, यह छोटा वडा उच्च नीच व्यवहार कर्मसे होता है। गोत्र कर्मने आत्माके उस अलौकिक अगुरुलघु गुणको छिपा दिया है। अन्तराय कर्मने आत्माकी वीर्य शक्तिको नष्ट कर रक्खा है। वीर्य शक्ति आत्माका निज गुण है, उसीको आत्मिक वलके नामसे पुकारा जाता है। शारीरिक वल और आत्मिक वलमे वहुत अन्तर है। शारीरिक वलवालोसे जो कार्य नही हो सकते हैं वे आत्मिक वल वालोसे अच्छी तरह हो जाते हैं। योगियोमे यद्यपि शारीरिक वल नहीं है वे तपस्वी हैं साथ ही क्षीण शरीरी भी हैं परन्तु आत्मिक वल उनमे वहुत वढा हुआ है उसीका प्रभाव है कि वे इतने साहसी हो जाते है कि सिंहोसे भरे हुए अति भयानक जङ्गलमे निर्भय होकर ध्यान लगाते हैं। यह उनके आत्मिक वलका ही परिणाम है। वहुतसे विद्वान् मानसिक वलको ही आत्मीक वल समझते हैं उन्हे यह पूंछना चाहिये कि वह मानसिक वल ज्ञानसे भिन्न है या अभिन्न ? यदि भिन्न है तव तो सिद्ध हो चुका कि ज्ञानसे वल दूसरा गुण है, परन्तु ज्ञानमे वह सहायक अवश्य है, उसीके निमित्तसे मानसिक ज्ञानमे उसकी उपचरित कल्पना कर ली जाती है। जितनी जिसकी आत्मिक वल शक्ति प्रवल है, उतना ही उसका ज्ञान भी पुष्ट होता है यदि ज्ञानसे वह अभिन्न है तो उसमे वल शब्दका प्रयोग किस आशयसे किया जाता है ? इसलिये यह वात निर्धारित है कि ज्ञानसे अतिरिक्त एक वीर्य नामा भी आत्माकी शक्ति है। उस शक्तिका शारीरिक वलसे सम्बन्ध अवश्य है। वाह्य शक्ति अन्तरङ्ग शक्तिमे सहायक है। आत्मा जितना किसी पदार्थका ज्ञान करता है उतनी अन्तरङ्ग वल शक्ति भी साथ ही उसमे सहायता पहुँचाती है। इसीलिये आचार्योंने केवलज्ञानके अन्तर्गत अनन्त वीर्यका सद्भाव वतलाया है। जहाँ पर आत्मामे वह अनन्त वीर्य शक्ति प्रकट हो जाती है वहाँ फिर शारीरिक वलकी उसे आवश्यकता नही पडती है उस अनन्त वीर्य शक्तिको अन्तराय कर्मने रोक रक्खा है। जितना २ अन्तराय कर्मका क्षयोपशम होता जाता है उतना २ ही आत्मिक वल क्षयोपशम रूपसे ससारी जीवोमे पाया जाता है। उसी अन्तराय कर्मके दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय ऐसे

जिस कुलमें तू पैदा हुआ है उस कुलमें हाथी नहीं मारे जाते इसलिये तू शीघ्र ही अव यहाँसे भाग जा, अन्यथा ये मेरे बच्चे तुझे कहाँ तक बचाये रक्खेंगे। तात्पर्य यही है कि कुलका सस्कार कितना ही विद्यावान् क्यों न हो, आ ही जाता है। वह उस पर्यायमें नहीं मिटता।

पांच भेद है । किसी सेठके यहाँ बहुतसा धन भी है परन्तु उसके देनेके परिणाम नहीं होते, समझना चाहिये उसके दानान्तराय कर्मका उदय है । दो आदमी एक दिन और एक ही साथ व्यापार करने निकलते है, एक उसमे हानि उठाता, एक लाभ उठाता है, समझना चाहिये कि एकका अन्तराय कर्म तीव्र है, एकका मन्द है । भोग्य-योग्य सामग्री रक्खी हुई है परन्तु उसे किसी कारणसे भोग नहीं सकता है, समझना चाहिये उसके भोगान्तराय कर्मका उदय है । अन्तराय कर्मने आत्माकी वीर्यादि शक्तियोको रोक रक्खा है । इसप्रकार आठों ही कर्मोने आत्माकी अनन्त अचिन्त्य शक्तियोंको छिपा दिया है इसलिये आत्माकी असली अवस्था प्रकट नहीं हो पाती । आत्मा अल्पज्ञानी नहीं है, अल्पदृष्टा भी नहीं है, मिथ्यादृष्टि भी नहीं है, दुखी भी नहीं है, शरीरावगाही भी नहीं है, स्थूल भी नहीं है, छोटा बड़ा भी नहीं है, और अशक्त भी नहीं है, किन्तु वह अनन्त ज्ञानी-सर्वज्ञ है, सम्यग्दृष्टि है, सर्व दृष्टा है, अनन्त शक्तिशाली है, सूक्ष्म हैं, अगुरुलघु है, आत्मावगाही है, अव्याबाध-बाधा रहित है । इन्हीं अचिन्त्य शक्तियोसे जब आत्मा विकसित होने लगता है अर्थात् जब ये आठ गुण उसके प्रकट हो जाते हैं तभी वह सिद्ध कहलाने लगता है । आत्माकी शुद्ध अवस्थाका नाम ही सिद्ध है । अथवा ज्ञानादि-शक्तियोके पूर्ण विकाशका नाम ही सिद्ध है । इसी अवस्थाका नाम मोक्ष है । आत्माकी शुद्धावस्था-सिद्धावस्थाको छोडकर मोक्ष और कोई पदार्थ नहीं है । कर्म मल कलङ्कसे रहित आत्माकी स्वाभाविक अवस्थाको ही मोक्ष कहते हैं * जबतक कर्मोका सम्बन्ध रहता है तबतक आत्मा मुक्त नहीं कहा जा सकता । अर्हन्त देवके यद्यपि घातिया कर्मोके नष्ट हो जानेसे स्वाभाविक गुण प्रकट हो गये हैं तथापि अघातिया कर्मोके सद्भावमे प्रतिजीवी गुण प्रकट नहीं हुए हैं आयुकर्मने अभी तक उन्हें शरीरावगाही ही बना रक्खा है । वेदनीय कर्म यद्यपि अर्हन्त देवके कुछ सुख दुःख नहीं पहुँचा सकता है क्योंकि उसके परम सहायक मोहनीय कर्मको वे नष्ट कर चुके हैं, अपने सखाके वियोगमें वेदनीय भी सर्वथा क्षीण हो चुका है + तथापि योगके निमित्तसे अभी तक

---

* निरवशेषनिराकृतकर्ममलकलङ्कस्याशरीरस्यात्मनोऽचिन्त्यस्वाभाविकज्ञानादिगुणमव्याबाधसुखमात्यन्तिकमवस्थान्तरं मोक्ष इति । अर्थात् समस्त कर्म मल कलङ्कसे रहित अशरीर आत्माकी अचिन्त्य-स्वाभाविक ज्ञानदर्शन सुखवीर्य अव्याबाधा स्वरूप अवस्थाका नाम ही मोक्ष है ।

सर्वार्थसिद्धि ।

+ णट्ठा य राय दोसा इंदियणाणं च केवलिम्हि जदो ।
तेण दु सादासादजसुहदुक्खं णत्थि इंदियजं ॥

गोमट्टसार ।

कर्मोंका आना जाना लगा हुआ है, यद्यपि अब उन कर्मोंको आत्मामें स्थान नहीं मिल सकता है, स्थान देनेवाली आकर्षण शक्तिको तो वे पहले ही नष्ट कर चुके हैं तथापि योगद्वारके खुले रहनेसे अभी तक वेदनीयके आने जानेकी बाधा सी (वास्तवमें कुछ बाधा नहीं है) लगी हुई है। इसप्रकार अघातिया कर्मोंने आत्माकी प्रतिजीवी शक्तियोंको × छिपा रक्खा है। और घातिया कर्मोंने इसकी अनुजीवी शक्तियोंको छिपा रक्खा है। उपर्युक्त कथनसे यह बात भलीभांति सिद्ध हो जाती है कि आठों ही कर्मोंके उदयसे असिद्धत्व भाव होता है और उनके अभावमें आत्मा सिद्ध हो जाता है।*

अर्थात् केवली भगवानके (अर्हन्तके) रागद्वेष सर्वथा नष्ट हो चुका है, इन्द्रियजन्य ज्ञान भी नष्ट हो चुका है, इसलिये उनके साता असाता वेदनीयसे होनेवाला इन्द्रियजन्य सुखदुःख नहीं होता है।

× सत्तात्मक गुणत्व रहित-कर्मोंके अभावमें होनेवाली अवस्थाको ही प्रतिजीव शक्ति कहते हैं।

* अट्ठवियकम्मवियला सीदीभूदा णिरजणा णिच्चा।
अट्ठगुणा किदकिच्चा लोयग्गणिवासिणो सिद्धा॥

गोमट्टसार।

अर्थ.—सिद्धोंका स्वरूप इसप्रकार है—(१) अष्टकर्मसे रहित (२) वीतरागी-परमशान्त (३) रागद्वेष-मलसे सदाके लिये मुक्त (४) नित्य फिर संसारमें कभी नहीं लौटनेवाले (५) अष्टगुण सहित (६) कृतकृत्य-निष्क्रिय-सृष्टिके निर्माता नहीं (७) लोकाग्रभागमें निवास करनेवाले। इन विशेषणोंसे परमतोंका खण्डन भी हो जाता है। पर मतवाले ईश्वरका स्वरूप-मुक्त जीवका स्वरूप इसप्रकार मानते हैं—'सदाशिव सदाकर्मा साख्यो मुक्त सुखोज्झित, मस्करी किल मुक्ताना मन्यते पुनरागतिं। क्षणिकं निर्गुणं चैव बुद्धो यौगश्च मन्यतेऽकृतकृत्य तमीशानो मण्डली चोर्ध्वगाभिनम्, अर्थात शिव मतवाले मुक्त जीव ईश्वरको सदा कर्म रहित मानते हैं, उसे अनादिसे ही कर्म रहित मानते हैं, परन्तु वास्तवमें ईश्वर ऐसा नहीं है। सभी जीवोंके पहले कर्ममल होते हैं पीछे उनका नाश करनेवाले ईश्वरीय अवस्थाको प्राप्त करते हैं। संसार पूर्वक ही मुक्ति होती है। जो कर्मबन्धनसे छूटता है वही मुक्त कहलाता है इसी बातको प्रकट करनेके लिये सिद्धोंका विशेषण-अष्ट कर्म रहित, दिया है अर्थात् पहले वे कर्मोंसे सहित थे पीछे कर्मोंसे छूटे हैं। साख्य सिद्धान्त मुक्त जीवको सुख रहित मानता है, परन्तु वास्तवमें मुक्त जीवके ससारी जीवोंकी अपेक्षा परम-अलौकिक-अनन्त सुख प्रकट हो जाता है—इसीलिये सिद्धोंका परम शान्त-परम सुखी ऐसा विशेषण दिया है। मस्करी-मस्कफूर मतवाले मुक्त जीवका फिर ससारमें आना स्वीकार करते हैं इसको मिथ्या सिद्ध करनेके लिये सिद्धोंका विशेषण-निरञ्जन दिया है, अब उनके रागद्वेष अञ्जन नहीं है इसलिये अब वे कभी कर्मोंके जालमें नहीं आ सकते हैं। कर्मोंका कारण रागद्वेष है। जब कारण ही नहीं तो कार्य भी किसी प्रकार नहीं हो सकता है। इसलिये एकबार मुक्त हुए जीव

जबतक संसार है सिद्धावस्था नहीं होती

नेदं सिद्धत्वमेति स्यादसिद्धत्वमर्थतः ।
यावत्संसारसर्वस्वं महानर्थास्पदं परम् ॥११४४॥

अर्थः—जबतक महा अनर्थोका घर ससार ही इस जीवका सब कुछ है । तबतक इसके सिद्धत्वभाव नही होता है किन्तु असिद्धत्व रहता है। भावार्थः—जबतक इस जीवके अष्ट कर्मोका सम्बन्ध है तवतक इसके सिद्ध पर्याय नही होती है । जीवकी अशुद्ध पर्याय ससारावस्था है । इसके छूटने पर उसकी शुद्ध पर्याय प्रकट हो जाती है । उसीका नाम सिद्ध पर्याय है ।

फिर ससारमें कभी नहीं लौटते। आर्य समाज भी मुक्त जीवका लौटना स्वीकार करते हैं, उनका सिद्धान्त भी मिथ्या है। वौद्ध दर्शन मुक्त जीव (पदार्थ मात्र)को क्षणिक मानता है परन्तु सर्वथा क्षणिकता सर्वथा वाधित है, सर्वथा क्षणिक मानने पर मुक्ति संसार आदि किसी पदार्थकी व्यवस्था नहीं वन सकती है इसीलिये सिद्धोंका नित्य विशेषण दिया है। सिद्ध सदा नित्य हैं वे सदा सिद्ध पर्यायमें ही रहेंगे। उनमें अनित्यता कभी नहीं आ सकती है। योगदर्शन मुक्त जीवको निर्गुण मानता है, नैयायिक और वैशेषिक भी मुक्त जीवके बुद्धि सुखादि गुणोंका नाश मानते हैं। ऐसा मानना सर्वथा मिथ्या है, क्योंकि जीव गुण स्वरूप ही है। गुणोंका नाश माननेसे जीवका ही नाश हो जाता है। दूसरे-गुण नित्य होते हैं उनका नाश होना ही असम्भव है। तीसरे-उक्त दर्शनवाले ही जीवका और गुणोंका समवाय सम्बन्ध वतलाते हैं और समवाय सम्बन्ध उन्हींके मतमें नित्य स्वीकार किया है, नित्य भी कहना और नाश भी कहना स्वयं उनके मतसे ही उनका मत वाधित करना है। इसलिये गुणोंका सिद्धोंमें नाश नहीं होता किन्तु उनमें गुण पूर्ण रूपसे प्रकट हो जाते हैं इसीसे सिद्धोंका 'अष्ट गुणसहित' विशेषण दिया है। ईशान मतवाले मुक्त जीवको कृतकृत्य नहीं मानते हैं अर्थात् मुक्त जीवको भी अभी काम करना वाकी है ऐसा उनका सिद्धान्त है इसी सिद्धान्तके अन्तर्गत ईश्वरको सृष्टि कर्ता माननेवाले आते हैं। परन्तु शरीर रहित, इच्छा रहित, क्रिया रहित मुक्त जीवके सृष्टिका करना हरना कुछ नहीं हो सकता है। सृष्टि सदासे है। उसका करना, हरना भी असिद्ध ही है। और उपर्युक्त तीन वातोंसे रहित मुक्त जीवके भी उसका करता, हरता असिद्ध है। इसीलिये सिद्धोंका 'कृतकृत्य' विशेषण दिया है। सिद्ध सदा वीतराग-अलौकिक-आत्मोत्थ-परमानन्दका आस्वादन करते हैं उन्हें कोई कार्य करना नहीं है। मण्डली नामक सिद्धान्त मुक्त जीवको सदा ऊर्ध्वगमन करता हुआ ही मानता है अर्थात मुक्त जीव जवसे ऊपर गमन करता है तवसे वरावर करता ही रहता है कहीं ठहरता ही नहीं। इस सिद्धान्तका निराकरण-'लोकाग्र-निवासी, इस विशेषणसे हो जाता है। जहाँ तक धर्म द्रव्य है वहीं तक अनन्त शक्ति होनेके कारण एक समयमें ही मुक्त जीव चला जाता है, धर्म द्रव्यके अभावसे आगे नहीं जा सकता। धर्म द्रव्य लोक तक है इसलिये सिद्ध जीव लोकाग्रमें ठहर जाते हैं।

लेश्या-भाव

लेश्या षडेव विख्याता भावा औदयिकाः स्मृताः ।
यस्माद्योगकषायाभ्यां द्वाभ्यामेवोदयोद्भवाः ॥११४५॥

अर्थः—लेश्याओके छह भेद हैं—१ कृष्ण २ नील ३ कापोत ४ पीत ५ पद्म ६ शुक्ल । इन्ही छह भेदोसे लेश्याये प्रसिद्ध है । लेश्यायें भी जीवके औदयिक भाव है । क्योकि लेश्याये योग और कषायोके उदयसे होती है । कर्मोके उदयसे होनेवाले आत्माके भावोका नाम ही औदयिक भाव है ।

भावार्थः—कषायोके उदयसे रजित योग प्रवृत्तिका नाम लेश्या है । गोमट्टसारमे भी लेश्याका लक्षण इसीप्रकार है—जोग पउत्ती लेस्सा कषाय उदयाणु–रजिया होई । तत्तोदोण्ण कज्ज वध चउक्कं सुद्दिट्ठ । अर्थात् कषायोके उदयसे अनुरजित (सहित) योगोकी प्रवृत्तिका नाम ही लेश्या है । कर्मके ग्रहण करनेकी शक्तिका नाम योग है अर्थात् अगोपाग और शरीर नाम कर्मके उदयसे मनोवर्गणा, वचनवर्गणा और कायवर्गणा इन तीन वर्गणाओमेसे किसी एक वर्गणाका अवलम्बन करनेवाली–कर्म ग्रहण करनेकी जो जीवकी शक्ति है उसीका नाम योग है । उस योगके उक्त तीन वर्गणाओके अवलम्बन करनेसे तीन भेद हो जाते है (१) मनोयोग (२) वचनयोग (३) काययोग । जिस वर्गणाका अवलम्बन होता है, योगका नाम भी वही होता है, परन्तु किसी भी एक योगसे कर्म नोकर्म सभीका ग्रहण होता है । इतना विशेष है कि एक समयमे एक ही योग होता है । योगोसे प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध होते है । जिस जातिकी योगप्रवृत्ति होती है उसी जातिका कर्मग्रहण होता है । इस जीवके प्रति समयमे अनन्तानन्त वर्गणाओका समूहरूप–एक समय प्रवद्ध * आता है । उसके आनेमे योग ही कारण है । योगके निमित्तसे ज्ञानावरणादि अष्टकर्म और आहारादि नोकर्म अनन्तानन्त परमाणुओके परिणामको लिये हुए खिच आते है । जो कर्म आते है उनमे तीन प्रकारकी वर्गणाये होती है (१) गृहीत–जिनको इस जीवने पहले भी कभी ग्रहण किया था

---

* परमाणूहिं अणंतहिं वग्गणसण्णा हु होदि एक्का हु ।
ताहि अणतहिं णियमा समयपवद्धो हवे एक्को ।

गोमट्टसार ।

अर्थात् अनन्त परमाणुओंकी मिलकर वर्गणा सज्ञा है । ऐसी ऐसी अनन्त वर्गणाओंका समूह समय प्रवद्ध कहलाता है ।

(२) अगृहीत–जिनको पहले कभी ग्रहण नही किया था (३) गृहीतागृहीत जिनमेसे कुछको पहले ग्रहण किया था, कुछको नवीन ग्रहण किया है। योगके साथ ही कषायोका उदय रहता है। वह आए हुए कर्मोमे स्थिति अनुभाग बन्ध डालता है। आये हुए कर्म–आत्माके साथ बँधे हुए कर्म कितने काल ठहरेगे, और उनमे कितना रस पड़ा है यह कार्य कषायोका है। अर्थात् कर्मोमे नियमित काल तक स्थिति डालना और उनकी इस शक्तिमे हीनाधिकता करना कषायोका कार्य है। जिसप्रकार योगोकी तीव्रतासे अधिक कर्मोका ग्रहण होता है उसीप्रकार कषायोकी तीव्रतासे कर्मोमे स्थिति बन्ध और अनुभाग बन्ध अधिक पडता है। मन्द कषायोसे मन्द पडता है। इसप्रकार प्रकृतिबन्ध* प्रदेशबन्ध योगसे होते हैं। स्थितिबन्ध अनुभागबन्ध कषायसे होते हैं। योग कषायके समुदायका नाम ही लेश्या है। इसलिये लेश्या ही चारो बन्धोका कारण है। लेश्याके दो भेद है (१) भावलेश्या (२) द्रव्यलेश्या। वर्णनाम कर्मके उदयसे जो शरीरका रंग होता है उसे ही द्रव्य लेश्या कहते है। द्रव्य लेश्या जन्म पर्यन्त एक जीवके एक ही होती है। जिसका जैसा शरीरका रङ्ग होता है वही उसकी द्रव्य लेश्या समझनी चाहिये। द्रव्य लेश्याके रङ्गोके भेदसे अनेक भेद हो जाते हैं। स्थूलतासे द्रव्य लेश्याके कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म, शुक्ल ऐसे छह भेद है। तथा प्रत्येकके उत्तर भेद अनेक है। वर्णकी अपेक्षासे भ्रमरके समान कृष्णलेश्या, नीलमणि (नीलम)के समान नीललेश्या, कबूतरके समान कापोती लेश्या, सुवर्णके समान पीत लेश्या, कमलके समान पद्मलेश्या, शखके समान शुक्ललेश्या होती है। इनमे प्रत्येकके तरतम वर्णोंकी अपेक्षासे अथवा मिश्रकी अपेक्षासे अनेक भेद है। तथा इन्द्रियोसे ग्राह्यताकी अपेक्षासे सख्यात भेद है। स्कन्धोकी अपेक्षासे असख्यात भेद है। परमाणुओकी अपेक्षासे अनन्त भेद हैं। गतिओकी अपेक्षासे सामान्य रीतिसे द्रव्यलेश्याका विधान इसप्रकार है–सम्पूर्ण

---

* प्रकृति स्वभावको कहते हैं। जैसे अमुक पुरुषका कठोर स्वभाव है, अमुकका सरल है, स्वभावके निमित्तसे उस स्वभावी पुरुषका भी वही नाम पड़ जाता है जैसे–कठोर स्वभाववाले पुरुषको कठोर कह देते हैं। सरल स्वभाववाले पुरुषको सरल कह देते हैं। इसीप्रकार किन्हीं कर्मोंमें ज्ञानके घात करनेकी प्रकृति-स्वभाव है। उस प्रकृतिके निमित्तसे उस कर्मको भी उसी प्रकृतिके नामसे कह देते हैं जैसे–ज्ञानावरण कर्म। यद्यपि ज्ञानावरण–ज्ञानका आवरण करना उसका स्वभाव है तथापि स्वभाव स्वभावीमें अभेद होनेसे स्वभावीको भी ज्ञानावरण कह देते हैं। सभी कर्मोंको इसीप्रकार समझना चाहिये। इसप्रकार आठों प्रकृतियोंवाले आठो कर्मोंका बन्ध होना प्रकृति बन्ध कहलाता है। इतना विशेष है कि आयुकर्मका बन्ध उदयागत आयुके त्रिभागमें होता है। शेष सातों कर्मोंका प्रति समय होता है।

नारकियोके कृष्णलेश्या ही होती है। कल्पवासी देवोके जैसी भाव लेश्या होती है वैसी ही द्रव्यलेश्या भी होती है। भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी, मनुष्य, तिर्यञ्च, इनके छहों द्रव्यलेश्यायें होती है। उत्तम भोगभूमिवालोकी सूर्यके वर्णके समान, मध्यम भोग भूमिवालोकी चन्द्रके वर्णके समान, जघन्य भोगभूमिवालोकी हरित द्रव्यलेश्या होती है। विग्रहगतिवाले जीवोकी शुक्ललेश्या होती है। इसप्रकार शरीर नाम कर्म और वर्ण नाम कर्मके उदयसे यह जीव जैसा शरीर ग्रहण करता है वैसी ही द्रव्यलेश्या उसके होती है। परन्तु द्रव्यलेश्या कर्मबन्धका कारण नही है। कर्मबन्धका कारण केवल भाव लेश्या है। कषायोदय जनित–परिस्पन्दात्मक आत्माके भावोका नाम ही भाव लेश्या है। द्रव्य लेश्याके समान भावलेश्याके भी कृष्णादिक छह भेद है, परन्तु द्रव्यलेश्याके समान भावलेश्या सदा एकसी नही रहती है किन्तु वह बदलती रहती है। यहांपर भावलेश्याका थोडासा विवेचन कर देना आवश्यक है, क्योंकि भावलेश्याके अनुसार ही यह जीव शुभाशुभ कर्मोंका * बन्ध करता है। कषायोके उदयस्थान असख्यात लोक प्रमाण होते हैं। उनमे बहु भाग तो अशुभ लेश्याओके सक्लेशरूप स्थान होते हैं और एक भाग प्रमाण शुभ लेश्याओके विशुद्ध स्थान होते है। परन्तु सामान्यतासे ये दोनो भी असख्यात लोक प्रमाण ही होते है। कृष्णादि छहो लेश्याओके शुभ स्थानोमे यह आत्मा जघन्यसे उत्कृष्ट पर्यन्त मद मदतर मन्दतम रूपसे परिणमन करता है और उन्हीके अशुभ स्थानोमे उत्कृष्टसे जघन्य पर्यन्त तीव्रतम, तीव्रतर, तीव्र रूपसे परिणमन करता है। इसप्रकार प्रत्येकमे इन छह रूपोसे हानि वृद्धि होती रहती है। इस आत्माके सक्लेश परिणामोकी जैसी २ कमी होती है, वैसे २ ही यह आत्मा कृष्णको छोडकर नील लेश्यामे आता है, और नीलको छोडकर कापोती लेश्यामे आता है। तथा सक्लेशकी क्रमसे वृद्धि होनेपर कपोतसे नील और नीलसे कृष्ण लेश्यामे आता है। इसप्रकार सक्लेश भावोकी हानि वृद्धिसे यह आत्मा तीन अशुभ लेश्याओमे परिणमन करता है। तथा विशुद्धिकी वृद्धि होनेसे क्रमसे पीतसे पद्म तथा पद्मसे शुक्लमे आता है। और विशुद्धिकी हानि होनेसे क्रमसे शुक्लसे पद्म और पद्मसे पीत लेश्यामे आता है, इसप्रकार विशुद्ध भावोकी हानि वृद्धिसे यह आत्मा शुभ लेश्याओमे परिणमन करता

* लिम्पइ अप्पी कीरइ एदाये णियमपुण्ण पुण्ण च, जीवोत्ति होदि लेस्सा, लेस्सा गुण जाणयक्खादा। गोमट्टसार।

अर्थात जिन भावोंसे यह आत्मा पुण्य पापका बन्ध करता है उन्हीं भावोंको आचार्योंने लेश्या कहा है।

है। सामान्य रीतिसे चौथे गुणस्थान तक छहो लेश्याये होती है। पाँचवे, छठे, सातवे इन तीन गुणस्थानोमें पीतपद्मशुक्ल ही होती है। ऊपरके गुणस्थानोमे केवल शुक्ल लेश्या ही होती है। लेश्याओकी सत्ता तेरहवे गुणस्थान तक बतलाई गई है वह उपचारकी अपेक्षासे बतलाई गई है। वास्तवमे लेश्याओका सद्भाव दशवे गुणस्थान तक ही है क्योकि वही तक कषायोके उदय सहित योगोकी प्रवृत्ति है। ऊपरके गुणस्थानोमें कषायोदय न होनेसे लेश्याओका लक्षण ही नही जाता है। इसलिये ग्यारहवे बारहवे और तेरहवे गुणस्थानोमें उपचारसे लेश्या कही गई है * उपचारका भी यह कारण है कि इन गुणस्थानोमे अभी योग प्रवृत्तिका सद्भाव है। यद्यपि कषायोदय नही है तथापि दशवे गुणस्थानतक कषायोदयके साथ २ होनेवाली योग प्रवृत्ति अब भी है। इसलिये योग प्रवृत्तिके सद्भावसे तथा भूतपूर्व नयकी अपेक्षासे उपर्युक्त तीन गुणस्थानोमे उपचारसे लेश्याका सद्भाव कहा गया है + चौदहवे गुणस्थानमे योग प्रवृत्ति भी नही है इसलिये वहाँ उपचारसे भी लेश्याका सद्भाव नही है। विशेष—नारकियोके कृष्ण नील कापोत ये तीन अशुभ लेश्याये ही (भावलेश्या) होती है। मनुष्य तिर्यञ्चोके छहो लेश्याये हो सकती है। भवनवासी व्यन्तर ज्योतिष्क देवोके आदिसे पीत पर्यन्त लेश्याये होती है परन्तु इनकी अपर्याप्त अवस्थामे अशुभ होती है। तथा आदिके चार स्वर्गो तक पीत लेश्या होती है तथा पद्मका जघन्य अश होता है। बारहवे स्वर्ग तक पद्म लेश्या तथा शुक्ल लेश्याका जघन्य अश होता है। इनसे ऊपर शुक्ल लेश्या होती है। परन्तु नौ अनुदिश और पाँच अनुत्तर विमानोमे शुक्ल लेश्याका उत्कृष्ट अश होता है। सम्पूर्ण लेश्याओका जघन्य काल अन्तर्मूहूर्त मात्र है। कृष्णलेश्याका उत्कृष्ट काल तेतीस सागर है। नील लेश्याका सत्रह सागर है। कापोत लेश्याका सात सागर है। पीत लेश्याका दो सागर है। पद्मलेश्याका अठारह सागर है (शुक्ल लेश्याका कुछ अधिक तेतीस सागर है। छहो लेश्याओवाले जीवोकी पहचानके लिये उन लेश्याओवाले जीवोके कार्य इसप्रकार हैं—कृष्ण लेश्यावाला जीव—तीव्र क्रोध करता है, वैरको नही छोड़ता है। युद्धके लिये सदा प्रस्तुत रहता है, धर्म, दयासे रहित होता है, दुष्ट होता है, और किसीके वशमे नही

---

* "मुख्याभावे, सति प्रयोजने निमित्ते चोपचार प्रवर्तते" अर्थात् जहाँ पर मुख्यका अभाव हो परन्तु कोई प्रयोजन अथवा निमित्त अवश्य हो वहीं पर उपचार कथन होता है।

+ णट्ठकसाये लेस्सा उच्चदि सा भूदपुव्व गदिणाया, अहवा जोगपउत्ती मुक्खोत्ति तहिं हवे लेस्सा। गोमट्ट

आता है । = नील लेश्यावाला जीव–मन्द, विवेकहीन, अज्ञानी, इन्द्रियलम्पट, मानी मायावी, आलसी, अभिप्रायको छिपानेवाला, अति निद्रालु, ठग, और धन धान्य लोलुप होता है । % कपोत लेश्यावाला जीव–क्रोधी, अन्यकी निंदा करनेवाला, दूसरोको दोषी कहनेवाला, शोक और भय करनेवाला दूसरेकी सम्पत्ति पर डाह करनेवाला, दूसरेका तिरस्कार करनेवाला, अपनी प्रशसा करनेवाला, दूसरे पर विश्वास नही करनेवाला, अपने समान दूसरोको (दुष्ट) समझनेवाला स्तुति करनेवाले पर प्रसन्न होनेवाला, अपने हानि लाभको नही समझनेवाला, रणमे मरनेकी इच्छा रखनेवाला, अपनी प्रशसा करनेवालेको धन देनेवाला, और कार्य अकार्यको नही समझनेवाला होता है । ÷ पीत लेश्यावाला जीव–कार्य अकार्य तथा सेव्य असेव्यको समझनेवाला, सबोपर समान भाव रखनेवाला, दया रखनेवाला, और दान देनेवाला, होता है । ॐ पद्म लेश्यावाला जीव–दानी, भद्र परिणामी, सुकार्यकारी, उद्यमी, सहनशील, और साधु–गुरु पूजक होता है ÷ शुक्ल लेश्यावाला जीव–पक्षपात रहित, निदान बन्ध नही करनेवाला समदर्शी

= चण्डो ण मुचइ वेरं, भडण सीलो च य धर्मदय रहिओ।
दुट्ठो णय एदि वस लक्खणमेय तु किण्हस्स ॥

% मदो बुद्धिविहीणो णिव्विणाणी य विसयलोलोय।
माणी मायी य तहा आलस्सो चेव भेज्जो य।
णिद्दा वचण बहुलो धण धण्णे होदि तिव्वसण्णाय।
लक्खणमेय भणिय समासदो णीललेस्सस्स।

+ रूसइ णिंदइ अण्णे दूसइ बहुसो य सोय भय बहुलो।
असुयइ परिभवइ पर पससये अप्पयं बहुसो ॥
णय पत्तियइ पर सो अप्पाण यिव परपि मण्णतो।
थूसइ अभित्थुवतो णय जाणइ हाणि वड्ढि वा ॥
मरण पत्थेइ रणे देइ सुबहुग वि थुव्वमाणोदु।
ण गणइ कज्जाकज्ज लक्खणमेय तु काउस्स ॥

* जाणइ कज्जाकज्ज सेयमसेय च सव्व समपासी।
दयदाणरदो य मिदू लक्खणमेय तु तेउस्स ॥
– चागी भद्दो चोक्खो उज्जव कम्मो य खमदि बहुगंपि।
साहु गुरु पूजण रदो लक्खणमेय तु पम्मस्स ॥

इष्ट अनिष्ट पदार्थोंसे राग द्वेष रहित, और कुटुम्बसे ममत्व रहित होता है × छहों लेश्याओवाले जीवोके विचारोके विषयमे एक दृष्टान्त भी प्रसिद्ध है–छह पथिक जङ्गलके मार्गसे जा रहे थे, मार्ग भूलकर वे घूमते हुए एक आमके वृक्षके पास पहुँच गये। उस वृक्षको फलोसे भरा हुआ देखकर कृष्णलेश्यावालेने अपने विचारोके अनुसार कहा कि मैं इस वृक्षको जड़से उखाड़कर इसके आम खाऊँगा, नीललेश्यावालेने अपने विचारोके अनुसार कहा कि मैं जडसे तो इसे उखाड़ना नही चाहता किन्तु स्कन्ध (जड़से ऊपरका भाग)से काटकर इसके आम खाऊँगा। कपोतलेश्यावालेने अपने विचारोके अनुसार कहा कि मैं तो वडी वड़ी शाखाओको ही गिरा कर आम खाऊँगा। पीतलेश्यावालेने अपने विचारोके अनुसार कहा कि मैं वडी वड़ी शाखाओको तोडकर समग्र वृक्षकी हरियालीको क्यो नष्ट करूँ, केवल इसकी छोटी २ डालियो (टहनियो)को तोड़कर ही आम खाऊँगा। पद्मलेश्यावालेने अपने विचारोके अनुसार कहा कि मैं तो इसके फलोंको ही तोडकर खाऊँगा। शुक्ललेश्यावालेने अपने विचारोंके अनुसार कहा कि तुम तो फलोके खानेकी इच्छासे इतना इतना वड़ा आरम्भ करनेके लिये उद्यत हो, मैं तो केवल वृक्षसे स्वय टूटकर गिरे हुए फलोको ही वीनकर खाऊँगा। इन्ही लेश्यागत भावोके अनुसार यह आत्मा आयु और गतियोका वन्ध करता है। जैसी इसकी लेश्या (भाव) होती है उसीके अनुसार आयु और गतिका वन्ध इसके होता है। परन्तु सम्पूर्ण लेश्यागत भावोसे आयुका वन्ध नही होता है किन्तु मध्यके आठ अंशो द्वारा ही होता है। अर्थात् लेश्याओके सव छव्वीस अश है। उनमे मध्यके आठ अंश ऐसे होते हैं जो कि आयु वन्धकी योग्यता रखते हैं। उन्हीमे आयुका वन्ध हो सकता है। वाकीके अशोमे नही हो सकता। ये मध्यके आठ अश आठ अपकर्ष कालोमे होते हैं। अपकर्ष नाम घटनेका है अर्थात् भुज्यमान आयुके दो भाग घट जानेपर अवशिष्ट एक भागके प्रमाण अन्तर्मुहूर्त प्रमाण कालका नाम अपकर्षकाल है। इन्ही कालोमे आयुवन्धके योग्य लेश्याओके मध्यके आठ अश होते हैं। परन्तु जिस अपकर्षमे आयुवन्धके योग्य आठ मध्यम अशोमेसे कोई अंश होगा उसी अपकर्षमें आयुका वन्ध होगा औरोंमें नही। इसीलिये किसीके आठो अपकर्षोमे आयुका वन्ध हो सकता है, किसीके सव अपकर्षोमें

× गाय कुणइ पक्खवाय णविय णिदाण समोय सव्वेसिं।
णत्थि य रायदोसा णेहोवि य सुक्कलेस्सस्स॥

गोमट्टसार।

नही होता किन्तु किसी २ मे होता है। किसीके आठो ही अपकर्षोमे नही होता है। जिसको आठो ही अपकर्षोमे वन्धकी योग्यता नही मिलती है उसके आयुके अन्त समयमे एक आवलिका असख्यातवाँ भाग शेप रह जाने पर उससे पहले अन्तर्मुहूर्त्तमे अवश्य आयु बन्ध होता है। दृष्टान्तके लिये—कल्पना करिये एक मनुष्यकी ६५६१ वर्ष की भुज्यमान (वर्तमान—उदय प्राप्त) आयु है। उसके पहला अपकर्ष काल २१८७ वर्ष शेप रह जाने पर पडेगा। इस कालके प्रथम अन्तर्मुहूर्तमे यदि आयुवन्धके योग्य आठ मध्यम अशोमेसे कोई अश हो तो परभवकी आयुका वन्ध हो सकता है। यदि यहाँ पर कोई अश न पडे तो ७२९ वर्ष शेप रहने पर दूसरा अपकर्ष काल पडेगा वहाँ आयुका वन्ध हो सकता है। यदि वहाँ भी आयुवन्धकी योग्यता नही मिली तो तीसरा अपकर्ष-काल २४३ वर्ष शेप रह जाने पर पडेगा। इसीप्रकार ८१ वर्ष शेप रहने पर चौथा, २७ वर्ष शेप रहने पर पाँचवाँ, ९ वर्ष शेप रहने पर छठा, ३ वर्ष शेप रह जानेपर सातवाँ और भुज्यमान आयुमे कुल १ वर्ष शेप रह जानेपर आठवाँ अपकर्षकाल पडेगा। उन आठोमेसे जहाँ बन्धकी योग्यता हो वही पर आयुका वन्ध हो सकता है। सवोमे योग्यता हो तो सवोमे हो सकता है। यदि कही भी योग्यता न हो तो मरण समयमे अवश्य ही परभवकी आयुका वन्ध होता है। इतना विशेप कि जिस अपकर्षमे जैसा लेश्याका अश पडता है उसीके अनुसार शुभ या अशुभ आयुका वन्ध होता है। इसीलिये आचार्योका उपदेश है कि परिणामोको सदा उज्ज्वल वनाओ, नही मालूम किससमय आयुका त्रिभाग पड जाय। मरण कालमेसे तो अवश्य ही क्रोधादिका त्याग कर शान्त हो जाओ क्योकि मरणकालमे तो आयुवन्धकी पूर्ण सम्भावना है। इसीलिये समाधि मरण करना परम आवश्यक तथा परम उत्तम कहा गया है। *

उपर्युक्त आयुबन्धके योग्य आठ अशोको छोडकर बाकीके अठारह अश योग्यतानुसार चारो गतियोके कारण होते है। अठारह अशोमेसे जैसा अश होगा उसीके योग्य गति बन्ध होगा। शुक्ललेश्याके उत्कृष्ट अशसे मरे हुए जीव नियमसे सर्वार्थसिद्धि जाते है। उसीके जघन्य अशसे मरे हुए जीव बारहवे स्वर्ग तक जाते है तथा मध्यम अशसे मरे हुए आनतसे ऊपर सर्वार्थसिद्धिसे नीचे तक जाते हैं। पद्मलेश्याके उत्कृष्ट अशसे मरे हुए

---

* देव नारकियोंके भुज्यमान आयुके छह महीना, और भोग भूमियोंके नौ महीना शेष रह जानेपर परभवकी आयुका बन्ध होता है। उनके उतने ही कालमें आठ अपकर्षकालकी योग्यता होती है। इनकी किसी कारण वश अकालमृत्यु नहीं होती है इसलिये इनमें विशेषता है।

जीव सहस्रार स्वर्ग जाते है उसके जघन्य अशसे मरे हुऐ जीव सनत्कुमार माहेन्द्र स्वर्ग जाते हैं और मध्यम अंशसे मरे हुऐ इनके मध्यमें जाते हैं। पीतलेश्याके उत्कृष्ट अशसे मरे हुए सनत्कुमार माहेन्द्र तक जाते है। उसके जघन्य अशसे मरे हुए सौधर्म ईशान स्वर्ग तक जाते है और मध्यम अंशसे इनके मध्यमें जाते है। इसप्रकार इन शुभलेश्याओंके अशों सहित मरकर जीव स्वर्ग जाते है। और कृष्णलेश्या, नीललेश्या कापोतीलेश्याओके उत्कृष्ट जघन्य मध्यम अशोंसे मरे हुए जीव सातवे नरकसे लेकर पहले नरक तक यथायोग्य जाते है। तथा भवनत्रिकसे लेकर सर्वार्थसिद्धि तकके देव और सातो पृथिवियोके नारकी अपनी अपनी लेश्याओके अनुसार मनुष्यगति अथवा तिर्यञ्च गतिको प्राप्त होते है। इतना विशेष है कि जिस गति सम्बन्धी आयुका बन्ध होता है उसी गतिमे जाते है, बाकीमें नही। क्योकि आयुवन्ध छूटता नही है। गतिबन्ध छूट भी जाता है। आयुका अविनाभावी ही गतिबन्ध उदयमे आता है। बाकीकी उदीरणा हो जाती है। तथा गतिबन्धके होनेपर भी मरण समयमें जैसी लेश्या होती है उसीके अनुसार उसी गतिमे नीचा अथवा ऊँचा स्थान इस जीवको मिलता है। उपर्युक्त लेश्याओके विवेचनसे यह बात भलीभाँति सिद्ध है कि अनर्थोंका मूल कारण लेश्यायें ही है। इस पचपरावर्तनरूप अनादि अनन्त—मर्यादारहित ससार समुद्रमे यह आत्मा इन्ही लेश्याओके निमित्तसे गोते खा रहा है। कभी अशुभलेश्याओके उदयसे नरक तिर्यंच गतिरूप गहरे भ्रमरमे पडकर घूमता हुआ नीचे चला जाता है, और कभी शुभ लेश्याओके उदयसे मनुष्य, देव गतिरूप तरङ्गोमे पडकर ऊपर उछलने लगता है, जिससमय यह आत्मा नीचे जाता है उससमय अति व्याकुल तथा चेतना हीनसा हो जाता है, जिससमय ऊपर आता है उससमय भी यद्यपि तीव्र तरङ्गोके झकोरोसे शान्ति लाभ नही करने पाता है तथापि नीचेकी अपेक्षा कुछ शान्ति समझने लगता है। इसीलिये कतिपय विचारशील उस भ्रमरजालसे बचनेके लिये अनेक शुभ उद्योग करते है। बुद्धिमान पुरुषोका कर्तव्य है कि वे छहों लश्याओके स्वरूपको उनके कार्योंको उनसे होनेवाले आयु बन्ध और गति बन्ध आदिको समझकर अशुभलेश्याओको छोड दे, और शुभ लेश्याओको ग्रहण करें। अर्थात् तीव्र क्रोध, धर्महीनता, निर्दयता, स्वात्म प्रशसा, परनिंदा, मायाचार आदि अशुभ भावोका त्यागकर समता, दया भाव, दानशीलता, विवेक धर्मपरायणता आदि शुभ भावोको अपनावे इसीलिये गोमट्टसारके आधार पर लेश्याओका इतना विवेचन किया गया है। परन्तु सूक्ष्मदृष्टिसे वास्तविक विचार करनेपर लेश्याये इस ससारसमुद्रमे ही डुवानेवाली है। अशुभ लेश्या तो ससार समुद्रमे डुवाती

ही हैं परन्तु शुभ लेश्या भी उससे उद्धार नही कर सकती क्योंकि वह भी तो पुण्य बन्धका ही कारण है, और जबतक इस आत्माके साथ बन्ध लगा हुआ है तबतक यह आत्मा परम सुखी नही हो सकता है। इसलिये जो अशुभ तथा शुभ दोनों प्रकारकी लेश्याओसे रहित हैं वे ही परमसुखी–सदाके लिये कर्मबन्धनसे मुक्त–अनन्त गुण तेजोधाम, वीतराग–निर्विकार–कृतकृत्य–स्वात्मानुभूतिपरमानन्दनिमग्न–सिद्ध परमेष्ठी है। उन्ही परम मङ्गलस्वरूप सिद्ध भगवानके ज्ञानमय चरणारविन्दोको हृदय मन्दिरमे स्थापित कर तथा उन्हीकी बार बार भावना कर इस ग्रन्थराजकी यह सुबोधिनी टीका यही समाप्त की जाती है।

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैन–धर्मोस्तु मंगलं ॥१॥

(मार्गशीर्ष कृष्णा दशमी वीर सं० २४४४.)